मूल्य ६)

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

अध्ययन के पृष्ठ

१—लोक-सिद्धान्त

अनन्तलाल गोस्वामी : भारतीय सस्कृति में लोक-जीवन

लक्ष्मीधर वाजपेयी : भारतीय लोक-सस्कृति का आधार

कोमलसिंह सोलंकी : लोक-सस्कृति की आत्मा

कालिदास कपूर : लोक-सस्कृति की रक्षा

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी : लोक-सस्कृति की आत्मा

सूर्यनारायण व्यास : मानव सस्कृति की वैदिक और पौराणिक पुरातन-परम्परा

भरतसिंह उपाध्याय : बुद्धकालीन लोक-जीवन

२ – लोक-गीत

शिवशेखर मिश्र . भारतीय लोक-सस्कृति मे लोकगीतो की अभिव्याप्ति

त्रिलोकीनारायण दीक्षित : सन्तो के लोकगीत

प्रभुदयाल मीतल : व्रज के उत्सवो और त्यौहारो के लोक-गीत

सत्यव्रत अवस्थी : अवधी लोकगीतो मे सास्कृतिक तत्त्व

नर्मदेश्वर उपाध्याय : धरती की उसास

कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकगीतो मे 'दिव्य' की प्रथा

विश्वम्भर सहाय प्रेमी : कुरुप्रदेश के लोकगीत

श्रीकान्त व्यास : गुजराती लोकगीतो मे विरह-वर्णन

अमृता प्रीतम : पजावी लोकगीतो मे समय के पद-चिह्न

शम्भुप्रसाद बहुगुणा : लोक साहित्य मे लोक-जीवन की व्यापक अनुभूति

गोविन्द चातक : गढवाल के चरवाहे-गीत, वाजूवन्द

कन्हैयालाल 'सहल' : राजस्थानी लोकगीतो मे शिशु भावना

विनयमोहन शर्मा : वस्तर के वनो मे

प्यारेलाल गुप्त : छत्तीसगढ के ग्राम-जीवन मे रसधारा

माया गुप्त : छोटा नागपुर के लोकगीतो मे जन-जीवन का प्रतिफलन

कन्हैयालाल मिण्डा : नैपाली लोकगीतो द्वारा सुन्दर की सृष्टि

पृथ्वीनाथ 'पुष्प' : कश्मीरी लोकगीतो मे लोक-जीवन की व्याख्या

सदाशिव कृष्ण फडके : मराठी लोकगीत

अनसूयाप्रसाद पाठक : उत्कल के लोकगीत

वेनीप्रसाद वाजपेयी : पूर्वीबगाल के ग्रामगीतो मे रागात्मक अनुभूति

लक्ष्मीकान्त वर्मा : लोकगीतो मे काव्यगत सौन्दर्य

सर्वेश्वरदयाल · प्रयोगवादी काव्य मे लोकगीतो की अभिव्यक्ति

कुमारी सरोज लोकगीतो मे नारी जीवन की अभिव्यक्ति

३ – लोक-कला

ओकारनाथ ठाकुर : भारतीय लोक-सगीत की आत्मा

राहुल सांकृत्यायन : थापे

के० एस० रामस्वामी शास्त्री · भारत की शास्त्रीय और लोक-कला का मूल

कुमार गन्धर्व · भारतीय सगीत का मूलाधार लोक-सगीत

मोतीचन्द . प्राचीन भारतीय कला मे लोक-जीवन की व्याख्या

एस० श्रीकण्ठ शास्त्री : तेरहवी शताब्दी का दाक्षिणात्य सगीत

वासुदेव उपाध्याय : भारतीय कला मे लोक-सस्कृति का प्रदर्शन

परमेश्वरीलाल गुप्त : गगा घाटी के मिट्टी के खिलौने

महेशनारायण सक्सेना · लोकगीतो का सगीत पक्ष

कृष्णदत्त वाजपेयी : व्रज का लोक-सगीत

जगदीशचन्द्र माथुर लोक-रगमच का रूप और सगठन

रामगोपाल विजयवर्गीय · लोक-जीवन मे कला की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ

मार्कण्डेय . लोक-कला का उदय

शान्ती अवस्थी . लोक-नृत्य और लोक-वाद्यो मे लोक-जीवन की व्याख्या

हरिचरणलाल विश्व का प्रथम कलाकार

प्रेम कपूर लोक-नृत्य

प्रजेश बनर्जी . मणिपुरी नृत्य

श्याम परमार : मालव जनपद की आंकिक लोकाभिव्यक्ति
अनूपजी : मालवा के लोक-नृत्य एवं नृत्य-गीत
तारा पाण्डेय : कुमाऊँ की महिलाओं की कलात्मक-प्रवृत्ति
वीरेन्द्रमोहन रतूडी : गढवाल के लोक-नृत्य
कुसुमपाल : काठियावाड और गुजरात के गरबे

४—लोकायन

भोलानाथ तिवारी : लोकायन और लोक-साहित्य
वृन्दावनलाल वर्मा : नया वर्ष एक भावचित्र
कन्हैयालाल मिश्र . बोलना उनसे सीखिए, जो पढे-लिखे नही हैं !
धर्मदेव शास्त्री : बहुपति प्रथा
रमानाथ शास्त्री : द्विगर्त प्रदेश का कलात्मक जीवन
मन्मथनाथ गुप्त : रवीन्द्रनाथ और लोक-साहित्य
जनार्दन मुक्तिदूत : लोक-जीवन मे टोने और टोटके की मान्यता
नेमीचन्द्र जैन . भीली महीने और मान्यताए
रमेश जोशी : कुमाऊँ का लोक-जीवन

सम्पादकीय

सभ्यता और सस्कृति

मस्कृति ब्रह्म की भाति, अवर्णनीय हे। वह व्यापक, अनेक तत्वो का बोध करानेवाली, जीवन की विविध प्रवृत्तियो से मम्बन्धित हे, अत विविध अर्थो एव भावो मे उसका प्रयोग होता हे। इम प्रकार यह एक पकड मे न आनेवाला शब्द बन गया हे। सकुचित माम्प्रदायिकता मे लेकर उच्च मानवादर्शो की अभिव्यक्ति तक इसका क्षेत्र है। यह सब होते हुए भी, प्रयोग की इस विविधता के बीच भी, उसका एक निश्चित अर्थ तो हे ही। समाज-जीवन के शरीर को लेकर जिन बाह्याचारो की सृष्टि हुई है, मानव-मनकी बाह्य प्रवृत्ति-मूलक प्रेरणाओ मे जो कुछ विकास हुआ है, उसे 'मभ्यता' कहेगे और उमकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो मे जो कुछ बना है, उमे 'मस्कृति' कहेगे। शरीर और आत्मा की भाति सभ्यता एव सस्कृति जीवन की दो भिन्न प्रेरणाओ को व्यक्त करती हे। दीपक की लौ मभ्यता है, उमके अन्दर भरा स्नेह मस्कृति है। मभ्यता जीवन का रूप है, मस्कृति उसका सौन्दर्य है, जो रूप मे भिन्न भी है, अभिन्न भी है—जो उसके पीछे से झाँकता है और जीवन के अवगुण्ठन से भी बाहर फूटा पडता है पर वस्तुत अन्तर मे समाया हुआ हे। इसी लिए मस्कृति अदृश्य जीवन-तत्वो की भाति कुछ रहस्यमय एव दुर्बोध हो जाती है। शब्दो की पकड मे ठीक-ठीक नही आती। फिर भी इतना कह मकते है कि मस्कृति किसी जाति या देश की आत्मा है। इससे उसके उन सब मस्कारो का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या मामाजिक जीवन के आदर्शो का निर्माण करता है। वह विशिष्ट मानव समूह के उन उदात्त गुणो को सूचित करती है, जो मानव जाति मे सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते है और जिनपर जीवन मे अधिक जोर दिया जाता है।

भारतीय सस्कृति

इस दृष्टि से तत्वत मस्कृति मार्वदेशिक है—मानवीय है, परन्तु विशिष्ट गुणो के आरोप से उसका रूप देशिक या राष्ट्रीय हो जाता है। इसी मर्यादा मे भारतीय मस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है। अपने आन्तरिक स्वरूप मे यह सार्वदेशिक है, किन्तु जीवन के कतिपय आदर्शो एव विशिष्टताओ पर अधिक जोर देने के कारण इसका निजी रूप है। अपने दीर्घ अनुभव, तप -पूतज्ञान और चिन्तन-द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत् मे दो प्रकार के तत्व है, एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है, दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल मे है, अव्यक्त हे पर उसी के कारण और उसी को लेकर जगत् की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओ, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थो का अस्तित्व है। जगत् के पीछे जो यह अव्यक्त शक्ति

है, उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव करने मे यह ऊपर मे असहाय, दुर्बल, अशक्त दिखने वाला मानव-जीवन असीम कल्याणकारी शक्तियो से पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्ति का जो अक्षय कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज और सिद्धि मे ही मानव-जीवन का आदर्श पूर्ण हो सकता है। भारतीय सामाजिक जीवन की विविध श्रेणिया अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार इसी दिशा मे, इसी गन्तव्यस्थल की ओर परिचालित की गई थी।

दृष्टिदोष के कारण अथवा इस सस्कृति के मूल अनुबन्ध को न समझ सकने के कारण अनेक छिद्रान्वेषी आलोचक यह आक्षेप करते है, कि भारतीय सस्कृति स्वप्नो और कल्पनाओ की अस्थिर भूमि पर खडी है और जगत की दृढभूमि मे उसका सम्बन्ध ही मिट गया है। यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय सस्कृति खडी तो इसी भूमि पर है, परन्तु उसका सिर, स्वभावत आकाश की ओर उठा हुआ है। मानव चलता जमीन पर है पर देखता आगे की ओर या ऊपर है। भारतीय सस्कृति भी जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर उसके अनन्त रहस्यो को जानने के लिए विकल हुई थी। यह विशुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति थी। उसने आध्यात्मिकता मे जो उन्नति की थी, उसमे पदार्थ-विद्या की उपेक्षा न थी बल्कि उसकी मूल प्रकृति को जानने के लिए यह आवश्यक था। उसने पदार्थ-विद्या, शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तु-कला, युद्धविद्या, जननविज्ञान, गणित, ज्योतिष, कृषि सूर्यविज्ञान, वायुविज्ञान, रसायन इत्यादि भौतिक विद्याओ के क्षेत्र मे कुछ कम प्रगति न की थी। वह वायुविज्ञान की सहायता से समय और दूरी के व्यवधान पर विजय प्राप्त कर सकी थी वह सूर्य-विज्ञान के द्वारा वस्तुओ के रग को तुरन्त बदल देने, एक जाति के पदार्थ को दूसरी जाति मे बदल देने तथा मृत्यु पर भी, एक सीमा तक, विजय प्राप्त करने मे समर्थ हुई थी, उसकी समाज-व्यवस्था मे व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सुविधाओ के होते हुए भी समाज या समूह के अन्तिम हित की भावना प्रधान थी, उसकी अर्थविद्या समाज के शोषण का कारण न बनकर उसके सरक्षण और सवर्द्धन का साधन बन सकी थी, धन ने जीवन पर प्रभुत्व न प्राप्त किया था। हठयोगियो ने शरीर की अनेक ऐसी शक्तियो एव शक्ति-सस्थानो का पता लगाया था जिनका ज्ञान आधुनिक शरीर-शास्त्रियो को अबतक नही लग सका है अथवा लगने पर भी वे उसका उपयोग नही जान पाये है। काम-विज्ञान —जैसे अति आधुनिक समझे जानेवाले विषय मे उसके ज्ञान एव शोध का आज प्रमाण माना जाता है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नही, जिसे उसने अछूता छोडा हो। हा, एक अन्तर अवश्य है और वही इसकी विशेषता है। वह यह कि इन सब शास्त्रो अथवा विज्ञानो के मूल मे उसी परम-पुरुषार्थ या आदर्श की प्रेरणा थी। सब विद्याए उसी ओर प्रधावित थी, सबका आधार वही था। जीवन का यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय सस्कृति की विशेषता है।

मानव-समाज मे दो प्रकार की प्रवृत्तिया पाई जाती है। एक को हम केन्द्रोन्मुखी (सेट्रीपेटल) प्रवृत्ति कहते है और दूसरी को वृत्तोन्मुखी। पहली परिधि से केन्द्रविन्दु की ओर

जाती है, कही रहे केन्द्र के साथ वह बँधी है, केन्द्र मे ध्यानस्थ है। दूसरी वह है, जो केन्द्र से परिधि की ओर जाती है। भारतीय सस्कृति अपने मूल रूप मे केन्द्रोन्मुखी रही है। वह जगत् मे रहकर भी आदर्शोन्मुख है, वह बाहर रहकर भी अन्त स्थ, आत्मस्थ, है। इसके विपरीत यूनानी अथवा उसकी सन्तति युरोपीय वा पाश्चात्य सस्कृति वृत्तोन्मुखी है, बाह्य प्रसारी है, वह बाहर की ओर जाती है, केन्द्र से दूर फैलने की ओर उसकी प्रवृत्ति है।

इन दो भिन्न प्रवृत्तियो से दो सभ्यताओ का जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ मूलत भिन्न थी तो उनकी साधना के रूपो मे भी भिन्नता आई। भारतीय सस्कृति आचरण-प्रधान हुई, उसमे अन्त प्रवृत्तियो के उत्कर्ष पर जोर दिया गया, उसमे समाज की प्रत्येक इकाई या घटक से आत्म-शुद्धि की आशा पहले की गई। उसमे व्यक्ति के जीवन को त्याग की ओर बढाया गया क्योकि त्याग, आत्मनियत्रण और आत्म-शुद्धि के बिना समाज के घटको मे सच्चे सामाजिक-कल्याण की भावना तथा तदनकूल आचरण का होना कठिन है।

हमारी समाज-व्यवस्थाये श्रमिक से लेकर ज्ञानदाता तक (शास्त्र की शब्दावली मे शूद्र से ब्राह्मण तक) सबकी उपयोगिता थी, सबको उचित स्थान मिला था। पर क्षात्रिय और वैश्यवर्ग (अर्थात् शासन और धनसत्ता) मिलकर भी ज्ञानदाता को, साधक को उसके सर्वोच्च स्थान से नीचे न गिरा सके थे। जिस व्यक्ति या वर्ग मे त्याग की जितनी ही क्षमता थी, उसे समाज मे उतना ही ऊँचा स्थान मिला था, उसके शब्द, उसके आदेश उतने ही मान्य थे। समाज-नीति का नियत्रण राजा के हाथ मे न था, बल्कि उन महात्माओ के हाथ मे था जो अपने सुखोपभोग की समस्त् बाह्य सामग्रियो एव सुविधाओ का त्याग करके केवल आत्मचिन्तन तथा अपने अनुभव एव ज्ञान से समाज के कल्याण के लिए जीते थे, जो समाज से कमसे कम लेते और अधिक से अधिक देते थे, जिनको स्वय बाह्य सुविधाओ या अधिकारो की आवश्यकता न थी। इसीलिए शासन-शक्ति के लिए भी उनके पथ-प्रदर्शन की अवहेलना सभव न थी।

ऐसा नही, कि हमारे यहाँ भोग नही था; या विलास के लिए भूमि अनुर्वर थी। ससार मे जो अन्यत्र हुआ है, वह सब और उसका प्रलम्बित रूप हमे यहा मिलता है। इस विशाल महादेश के इतिहास मे विकास की विविध श्रेणियाँ समाज-पथिक द्वारा निर्मित पगडडियो के समान देखी जा सकती है। वैदिक युग के समाज मे भी अनेक प्रथाएँ मिलेगी जिनपर लोग उँगली उठा सकते है। परन्तु किसी सस्कृति मे मुख्य बात यह होती है कि वह जीवन के मूल्य और मान मे किस बात पर सर्वाधिक जोर देती है। सब बुरा-भला होते हुए भी हमारे देश की सस्कृति मे एक प्रबल स्वर त्याग और तप, सत्यान्वेषण और साधना का रहा है। यही आत्मबल की प्रतिष्ठा, ससार के सम्पूर्ण शक्ति-केन्द्रो के ऊपर साधुत्व, त्याग, तप की प्रतिष्ठा भारतीय सस्कृति की मुख्य विशेषता रही है। समाज जीवन के आदर्शों और उच्च प्रेरणाओ के लिए ऋषियो और तपस्वियो की ओर देखना था। त्याग, न कि भोग, जीवन का आदर्श था।

संस्कृति की कसौटी

विद्या, धन और शक्ति की अवज्ञा हमारे यहा नही थी। यह सबने माना है, कि औसत व्यक्ति, वर्ग या समाज को उनकी आवश्यकता है पर उनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है, इसे देखकर ही संस्कृति का अनुमान किया जाता है। रावण परम विद्वान् था, शक्तिमान भी था, उसने विद्या और शक्ति का दुरुपयोग किया इसलिए राक्षस कहलाया। आज ससार मे विद्या की कमी नही, शक्ति की कमी नही, धन की कमी नही बल्कि उनके महत्त्व मे पूर्वकाल से कही अधिक वृद्धि हो गई है। तब भी उनके द्वारा मानव-जाति और मानव-शक्तियो का भयकर विनाश हो रहा है। भयकर आविष्कारो ने मानव-जाति के भविष्य को खतरे मे डाल दिया है। यह विद्या का व्यभिचार है। उसे सस्कृति नही कह सकते। भारतवर्ष मे इन साधनो पर साधुत्व का, आत्म-बल का नियत्रण सिद्ध करता है, कि हमारी सस्कृति न केवल श्रेष्ठ थी बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी उसने श्रेष्ठ उदाहरणो एव प्रतीको को जन्म दिया था। इसलिए सभ्यता के रूपो मे, शासन एव समाज-व्यवस्था मे परिवर्तन हुए है पर हमारे जीवन के मौलिक आदर्श एव मूल्य ज्यो के त्यो है। युग बीतते गये है, क्रान्तिया एव खड-क्रान्तिया हुई है, अनेक जातियाँ बाहर से आई है, साम्राज्यो का उत्थान-पतन हुआ है, किन्तु भारतीय सस्कृति की मूल धारा आज तक वही है—आत्मशुद्धि, त्याग एव तप के जीवन द्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यता का निर्माण। हमारे धर्म मे, हमारी समाज-व्यवस्था मे, हमारे शिक्षा-क्रम मे, हमारे चिकित्साशास्त्र मे, हमारे साहित्य एव हमारी कला मे जीवन की इसी उदात्त कल्पना और सस्कृति की धारा है—अन्धकार से उठकर प्रकाश, असत्य से सत्य और मृत्यु से अमरत्व के स्रोत की ओर यात्रा करने की वृत्ति।

लोक-सस्कृति

ऐसा हुआ है कि शिक्षा-मूढवर्ग जब हमारी सस्कृति की उस धारा को छोडकर पथ-भ्रष्ट हो गया है, जब वह धारा से कट कर दूर चला गया है और जीवन की गुलकारियाँ उसके आत्म-ओज पर छा गई है, तब भी अशिक्षित सामान्य जनता ने अपने युग-युग के सचित आदर्शो को अपने हृदय के रक्त से सीचकर जीवित रखा है। मस्तिष्क के अहकार मे जब सम्पन्न एव सभ्य वर्गो के पाँव डगमग हो गये है, तब शताब्दियो की अमृत-ज्योति को देश के अगणित जनपदो मे फैले अदृश्य हृदयो की स्नेह-धारा प्राप्त हुई है। जाति के जीवन की वानी इस अटपटे बैन मे, उनकी अकृत्रिम वाणी मे, उनकी व्यथा एव अनुभूति मे, उनके रोने और गाने मे, उनके जीवन-क्रम मे सिमिट-सिमिट कर फिर-फिर जी उठी है। जब साहित्य राजप्रासादो के विलास-कक्षो मे बन्द हो गया तब प्रणय का पावनकारी मुक्तिनाद ग्रामवधूटियो एव ग्राम-तरुणो के कण्ठो मे अमराइयो के बीच फूटा, तब साहित्य की सरस्वती सहस्रधा होकर लोक-कण्ठ पर तरगित हुई, तब सस्कृति अतर्क्य विश्वासो एव प्रेरणाओ का आधार लेकर मीरा की भक्ति के चरणो मे

घुघरू बन गई, तब वह लक्ष-लक्ष ग्राम-निवासो की दीवारो पर शिल्प बनकर उभरी, तब उसने सहस्रश शिलाओ को जीवित अहिल्या का रूप दिया, सगीत और वाद्य उसकी झकार से मुखरित हो गये। जीवन अगणित तरगो मे बह।, अगणित वाद्यो मे बजा और अगणित गीतो मे फूट उठा। यही सब समष्टिगत आत्म-प्रकाश लोक-सस्कृति है। इसमे हृदय का उद्रेक अत स्वाभाविकता अधिक है। इसमे मानव-हृदय का अमृत अकृत्रिम रूप मे विद्यमान है। तभी तो श्रद्धेय श्री भगवानदासजी ने ग्रामगीतो मे सचित काव्य-माधुरी एव रस को व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति से अधिक बताया है।

लोक-सस्कृति का क्षेत्र इतना विशाल एव विविध है कि उसकी एक सक्षिप्त आलोचना भी कठिन कार्य है। फिर भी इस क्षेत्र मे कार्य करना अत्यावश्यक है। यह बडे महत्व का कार्य है। सम्मेलन-पत्रिका का सपादन जब मेरे हाथ मे आया तभी से मै लोक-सस्कृति-सम्बन्धी एक विशेषाक निकालना चाहता था। वह इच्छा आज आशिक रूप मे पूरी हुई है। आशिक इसलिए कि परिस्थितियो की विषमता के कारण इच्छा होते हुए भी बहुत से अधिकारी गुरुजन एव मित्र समय पर रचनाए न भेज सके, फिर भी इतनी सामग्री एकत्र हो गई कि स्थान-सकोच से लेखो को बहुत सक्षिप्त करना पडा तथा कुछ चित्र एव सामग्री दी भी नही जा सकी। निश्चय ही यह एक अधूरा प्रयत्न है पर यह इस प्रकार का पहला प्रयत्न है और लोक-सस्कृति के प्रेमियो एव विद्यार्थियो को इसमे उसके विराट् रूप की एक झलक अवश्य मिल जायगी।

मुझे सपादन कार्य मे श्री देवदत्त शास्त्री से बहुत अधिक सहायता मिली है। सम्मेलन मुद्रणालय के व्यवस्थापक श्री सीताराम गुठे ने यदि अपनी सुरुचि एव कलाप्रियता का पूर्ण उपयोग इस अक के लिए न किया होता तो वह कभी इतने अच्छे एव सुदर्शन रूप मे नही निकल सकता था। सम्मेलन के रिसीवर भाई जगदीशस्वरूपजी ने भी हमे सब प्रकार की आवश्यक सहायता दी जिससे अक निकल सका। इन सब के प्रति सम्पादक हृदय से आभारी है।

—श्रीरामनाथ 'सुमन'

आशीर्वाद और प्रेरणाएँ

लोक-संस्कृति का आशय

मं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की त्रैमासिक सम्मेलन-पत्रिका के अको को बडी रुचि से देख लेता हू। आद्योपान्त पढना तो अब मेरे लिए असम्भव हो गया है। तथापि पन्ने उलट लेता हूँ और जो लेख विशेष आकर्षक होते हैं, उनको सम्पूर्ण पढ जाता हूँ। प्राय लेख बहुत खोज और विद्वत्ता के होते हैं। पत्रिका बहुत अच्छा काम कर रही है। मं आशा करता हूँ, कि इसका प्रचार बहुत दूर तक होगा।

यह विदित हुआ, कि पत्रिका का आगामी अक . लोक-सस्कृति-विषयक-विशेषाक होगा। लोक-सस्कृति शब्द का क्या आशय है, उसको विशद करने के लिए मुझे एक छपी सूची मिली है । उससे तो जान पडता है, कि इसका विषय वह है, जिसको अग्रेजी मे 'हिस्ट्री आफ दी एवोल्यूशन आफ सिविल रिलीजेशन कहेगे। यह तो बीसियो मोटी मोटी सचिकाओ मे लिखा जा सकता है, और पश्चिम के विद्वानो ने लिखने का यत्न भी किया है। एक अक मे क्या लिखा जा सकता है, इसका मुझे बडा कुतूहल है, और जब वह अक छप कर मुझे मिलेगा तब मैं बडी रुचि से उसे पढूगा।

—भगवान्दास (काशी)

लोक-साहित्य की बुनियाद

आजकल की दुनिया मे चारो तरफ लडाई, दगा, फसाद हो रहा है। हिन्दुस्तान मे भी काफी फसाद है और तरह-तरह की बहसे पेश होती है। ऐसे मौके पर यह और भी आवश्यक होता है, कि हम अपनी नई सस्कृति की ऐसी बुनियाद रक्खे, जिसमे आजकल की दुनिया के विचार जम सके। और जब हमारे सामने पेचीदे मसले आये तो हम बहके-बहके न फिरे। सस्कृति तो एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए, जिसमे हर चीज की आजमाइश हो सके। अगर किसी जाति के पास यह नही है, तो वह दूर तक नही जा सकती। हमे अपने सास्कृतिक मूल्य कायम करने है और उनको अपने साहित्य की और सभी काम की बुनियाद बनाना है।

—जवाहरलाल नेहरू
(प्रधान मन्त्री, भारत सरकार)

लोक-संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा

समय न मिलने से लेख लिख सकने में विवश हूँ, पर पत्रिका के 'लोक संस्कृति विशेषांक' के लिए मैं अपनी शुभकामनाएँ भेज रहा हूँ। संस्कृति, वायुयान, फिल्म, हाइड्रोजन की भाँति केवल साधन-सम्पत्ति नहीं है। इसका आधार तो विशिष्ट जनसमुदाय के मानस में स्थित चिरन्तन भावनाएं हैं। जहाँ तक मानव समुदाय के मानस के भीतर गुह्य रूप से रहने वाले संस्कार, आशा एवं प्रेरणा के दर्शन करते हैं वहाँ तक हम संस्कृति का रहस्य देख न सकेंगे। भारत की सांस्कृतिक शृंखला अतीत काल से अविच्छिन्न चली आ रही है। इसने अपना सातत्य कायम रखा है। हर युग में हमने देखा है, कि सांस्कृतिक परम्पराओं की जीवन्तता सचेत रही है। स्पष्ट दिखायी देता है कि हमारे सामुदायिक मानस में जो भावना अन्तर्निहित है वह आज भी सजीव है। प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का ही अभ्यास करना, उन्हीं के अनुसार आचार-विचार और व्यवहार रखना और भविष्य के निर्माण के लिए उन्हें मूर्तिमान करना यह भारतीय युगधर्म का मुख्य प्रयोजन है। इसका अभिप्राय यह नहीं, कि हम अर्वाचीन साधन-सम्पत्ति का तिरस्कार करें या अर्वाचीन जीवन के नवीन मूल्यों को स्वीकार न करें—यह सब तो करना ही होगा, हर एक युग में ऐसा होता आया है, लेकिन यह सब जीवन के बाह्य अंग हैं। जहाँ तक भारत अपने सनातन मूल्यों पर कायम रहेगा वहाँ तक ही उसका भविष्य उज्ज्वल होता जायगा।

—क० मा० मुनशी
(राज्यपाल, उत्तर प्रदेश)

लोक-संस्कृति की आत्मा

यह जान कर मुझे हर्ष हुआ कि आप 'सम्मेलन पत्रिका' का 'लोक संस्कृति विशेषांक' प्रकाशित कर रहे हैं। लोक-संस्कृति की आत्मा आजकल तो शारीरिकश्रम पर निहित है। देश और जीवन को विकसित करने का सब से महान उपाय यही है। मैं आशा करती हूँ, कि आपकी पत्रिका इस विचारधारा को पल्लवित करने में अधिक सफल होगी।

—लीलावती मुनशी
(पत्नी राज्यपाल, उत्तर प्रदेश)

लोक-संस्कृति की संजीवनी शक्ति

यह जान कर कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से संचालित 'सम्मेलन-पत्रिका' का 'लोक संस्कृति विशेषांक' प्रकाशित होने वाला है मुझे हर्ष हुआ। सम्मेलन ने साहित्य की उन्नति में विशेष भाग लिया है और इस पत्रिका का हमारे साहित्यिक जगत् में ऊँचा स्थान है।

आशीर्वाद और प्रेरणाएँ

लोक-संस्कृति का आशय

मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की त्रैमासिक सम्मेलन-पत्रिका के अंकों को बड़ी रुचि से देख लेता हूं। आद्योपान्त पढ़ना तो अब मेरे लिए असम्भव हो गया है। तथापि पन्ने उलट लेता हूँ और जो लेख विशेष आकर्षक होते हैं, उनको सम्पूर्ण पढ़ जाता हूँ। प्राय लेख बहुत खोज और विद्वत्ता के होते हैं। पत्रिका बहुत अच्छा काम कर रही है। मैं आशा करता हूँ, कि इसका प्रचार बहुत दूर तक होगा।

यह विदित हुआ, कि पत्रिका का आगामी अंक . लोक-संस्कृति-विषयक-विशेषांक होगा। लोक-संस्कृति शब्द का क्या आशय है, उसको विशद करने के लिए मुझे एक छपी सूची मिली है। उससे तो जान पड़ता है, कि इसका विषय वह है, जिसको अंग्रेजी में 'हिस्ट्री आफ दी एवोल्यूशन आफ सिविल रिलीजन' कहेंगे। यह तो बीसियो मोटी मोटी संचिकाओं में लिखा जा सकता है, और पश्चिम के विद्वानों ने लिखने का यत्न भी किया है। एक अंक में क्या लिखा जा सकता है, इसका मुझे बड़ा कुतूहल है, और जब वह अंक छप कर मुझे मिलेगा तब मैं बड़ी रुचि से उसे पढ़ूंगा।

—भगवान्दास (काशी)

लोक-साहित्य की बुनियाद

आजकल की दुनिया में चारों तरफ लड़ाई, दंगा, फसाद हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी काफी फसाद है और तरह-तरह की बहसें पेश होती हैं। ऐसे मौके पर यह और भी आवश्यक होता है, कि हम अपनी नई संस्कृति की ऐसी बुनियाद रक्खें, जिसमें आजकल की दुनिया के विचार जम सकें। और जब हमारे सामने पेचीदे मसले आयें तो हम बहके-बहके न फिरें। संस्कृति तो एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए, जिसमें हर चीज की आजमाइश हो सके। अगर किसी जाति के पास यह नहीं है, तो वह दूर तक नहीं जा सकती। हमें अपने सांस्कृतिक मूल्य कायम करने हैं और उनको अपने साहित्य की और सभी काम की बुनियाद बनाना है।

—जवाहरलाल नेहरू
(प्रधान मन्त्री, भारत सरकार)

लोक-संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा

समय न मिलने से लेख लिख सकने में विवश हूँ, पर   पत्रिका के 'लोक संस्कृति विशेषांक' के लिए मैं अपनी शुभकामनाएँ भेज रहा हूँ। संस्कृति, वायुयान, फिल्म, हाइड्रोजन की भाँति केवल साधन-सम्पत्ति नहीं है। इसका आधार तो विशिष्ट जनसमुदाय के मानस में स्थित चिरन्तन भावनाएं हैं। जहाँ तक मानव समुदाय के मानस के भीतर गुह्य रूप में रहने वाले संस्कार, आशा एवं प्रेरणा के दर्शन करते हैं वहाँ तक हम संस्कृति का रहस्य देख न सकेंगे। भारत की सांस्कृतिक श्रृंखला अतीत काल से अविच्छिन्न चली आ रही है। इसने अपना सातत्य कायम रखा है। हर युग में हमने देखा है, कि सांस्कृतिक परम्पराओं की जीवन्तता सचेत रही है। स्पष्ट दिखायी देता है कि हमारे सामुदायिक मानस में जो भावना अन्तर्निहित है वह आज भी सजीव है। प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का ही अभ्यास करना, उन्हीं के अनुसार आचार-विचार और व्यवहार रखना और भविष्य के निर्माण के लिए उन्हें मूर्तिमान करना यह भारतीय युगधर्म का मुख्य प्रयोजन है। इसका अभिप्राय यह नहीं, कि हम अर्वाचीन साधन-सम्पत्ति का तिरस्कार करें या अर्वाचीन जीवन के नवीन मूल्यों को स्वीकार न करें——यह सब तो करना ही होगा, हर एक युग में ऐसा होता आया है, लेकिन यह सब जीवन के बाह्य अंग हैं। जहाँ तक भारत अपने सनातन मूल्यों पर कायम रहेगा वहाँ तक ही उसका भविष्य उज्ज्वल होता जायगा।

——क० मा० मुनशी
(राज्यपाल, उत्तर प्रदेश)

लोक-संस्कृति की आत्मा

यह जान कर मुझे हर्ष हुआ कि आप 'सम्मेलन पत्रिका' का 'लोक संस्कृति विशेषांक' प्रकाशित कर रहे हैं। लोक-संस्कृति की आत्मा आजकल तो शारीरिकश्रम पर निहित है। देश और जीवन को विकसित करने का सब से महान उपाय यही है। मैं आशा करती हूँ, कि आपकी पत्रिका इस विचारधारा को पल्लवित करने में अधिक सफल होगी।

——लीलावती मुनशी
(पत्नी राज्यपाल, उत्तर प्रदेश)

लोक-संस्कृति की संजीवनी शक्ति

यह जान कर कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से संचालित 'सम्मेलन-पत्रिका' का 'लोक संस्कृति विशेषांक' प्रकाशित होने वाला है मुझे हर्ष हुआ। सम्मेलन ने साहित्य की उन्नति में विशेष भाग लिया है और इस पत्रिका का हमारे साहित्यिक जगत् में ऊँचा स्थान है।

अब इसके क्षेत्र को और भी विस्तृत और विकसित करने की आवश्यकता है। सस्कृति के सम्बन्ध मे कभी-कभी सकीर्ण विचार भी प्रगट किये जाते है और लोक कला की ओर ध्यान भी बहुधा कम गया है। अब हमें इन क्षतियो को दूर करना है। विदेशी राज्य मे लोक-सस्कृति की उपेक्षा की गई पर तब भी वह जीवित है और सजीवता, ओज और लालित्य सभी उसमे विद्यमान है। उससे स्फूर्ति मिलती है, जीवन प्रफुल्लित होता है और उसके द्वारा जनसमुदाय मे इन गुणो का प्रादुर्भाव किया जा सकता है। सस्कृति बाहर से थोपी नही जा सकती वह तो स्वय ही विकसित होती है। देश और समय के अनुकूल हो कर ही उसका विकास होता है। मुझे आशा है यह विशेषाक सस्कृति के मार्मिक तत्वो की रूपरेखा दिखलायेगा और सत्य, शिव, सुन्दरम की ओर समाज को अग्रसर करने मे सहायक होगा।

—गोविन्द वल्लभ पंत
(मुख्य मन्त्री, उत्तर प्रदेश)

लोक-जीवन और शिष्टजीवन

आतरिक और स्वाभाविक प्रेरणा से बहने वाला लोक-जीवन और अुच्च अभिरुचि और अुच्च आदर्श के बधनो का स्वीकार कर के बहने वाला शिष्ट जीवन—दोनो मिल कर विराट सामाजिक जीवन बनता है। लोक जीवन का वीर्य और शिष्ट जीवन की सस्कारिता दोनो जब ओत-प्रोत होते है तब राष्ट्र का चरम अुत्कर्ष होता है। अगर लोक जीवन मे असयम आ जाये और शिष्ट जीवन मे कृत्रिमता और दभ आ जाये तो राष्ट्र क्षीण होता है।

हम लोगो ने अपनी सामान्य जनता के स्वाभाविक विकास मे बहुत कम दिलचस्पी रखी और जहाँ हो सके बाधाअे डाली। अिस राष्ट्रीय दोष या पाप का फल हम आज तक भुगत रहे है। अब हमे लोक जीवन के प्रति श्रद्धा और आदर के साथ ध्यान देना चाहिये।

लोक जीवन मे सस्कृति के बहुत अच्छे तत्व होते है और विकृति नही के बराबर होते है। जनता की सेवा करते हमे अिस बात का ख्याल रखना चाहिए कि अुनमे हमारी विकृति न आ जाये। प्राकृतिक प्रवाह मे जो जोश और वीर्य होता है, अुसी के कारण वह शुद्ध रहता है। विकृति आने से पुरुषार्थ व पराक्रम क्षीण होते है और सच्ची सस्कृति दूर ही रहती है।

—काका कालेलकर

लोक-साहित्य

साहित्य शिष्ट समुदाय के लिए भी होता है और जनसाधारण के लिए भी। सस्कृति और शिष्ट साहित्य सीमित-साहित्य है। जो साहित्य बहुजन-हिताय होता है, वही अमर हो सकता है। इसका अभिप्राय यह नही है कि जनता के साहित्य का स्तर ऊँचा न हो। सूर,

तुलसी कबीर की रचनाए पंडितो के लिए भी है और जनसाधारण के लिए भी। इसी प्रकार अन्य भाषा के साहित्य मे भी जो उच्चकोटि की कृतियाँ हो उनका रसास्वादन पंडित भी कर सकेगे और साधारण जनता भी। इस प्रकार के उच्चकोटि के साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमे भाव, विचार चाहे कितने भी ऊँचे स्तर पर हो भाषा ऐसी हो जो सब के हृदयगम हो सके, इसलिए क्लिष्ट, अप्रचलित, अपरिचित शब्दो का यथासाध्य प्रयोग न होना चाहिए।

आज के हिन्दी साहित्य मे बहुधा हम यह देखते है, कि उन शब्दो का बहिष्कार हो रहा है, जिनको हम ग्रामीण कहते है। इससे राष्ट्रभाषा की बडी हानि हो रही है। हमे चाहिए कि इन तथाकथित ग्रामीण शब्दो को फिर अपने साहित्य में खपाये और उनका उपयोग करे। हमारे नाटको मे आजकल जो सवाद लिखे जाते है, वे बहुत ही कृत्रिम और अस्वाभाविक होते है। हमसे निज की भाषा बहुत दूर रहती है। लोक गीत, कहावते, आख्यायिकाये हमारे साहित्य के महत्त्वपूर्ण अग है, हम उन्हे भूल रहे है। जनता से हमे सम्पर्क स्थापित करना है। भाषा और साहित्य को जनता के समीप लाना है। हमारा साहित्य एक छोटे समुदाय का साहित्य रह कर जीवित और उन्नत नही हो सकता है।

——अमरनाथ झा

(अध्यक्ष, लोक सेवाआयोग, बिहार)

लोक-संस्कृति का प्रकृत रूप

भारतीय जीवन के अनन्त स्रोतो का मूल उद्‌गम लोक सस्कृति ही है। सस्कृति-शब्द बहुत ही व्यापक और गभीर अर्थ का बोधक है। मेरी समझ मे सुधरे हुए, सँवारे हुए सस्कारो और आचार-विचारो का समुच्चय ही सस्कृति है। भारतीय सस्कृति का सस्कार लोक सस्कृति द्वारा ही हुआ है। यह लोक सस्कृति अपने प्रकृत रूप मे आज भी हमारे गावो, जगलो और पर्वतो मे प्रकृति की छाया मे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।

लोक-सस्कृति की आत्मा गावो और जगलो मे रहने वालो के रीति-रिवाजो, लोक-गीतो और आचार-विचारो मे निहित है। अपने देश और सस्कृति की समृद्धि के लिए हमे लोक-सस्कृति के सरक्षक, सन्देशवाहक आदिम जातियो और किसान-मजदूरो मे तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। उन्हे अशिक्षित, असभ्य या वनेचर कह कर यदि हम उनकी एव उनके लोकाचार की उपेक्षा करेगे तो इसमे सन्देह नही कि हम न तो देश का हित कर सकेगे और न अपनी सस्कृति का सरक्षण ही।

यह ठीक है कि सस्कृति कभी मरती नही, किन्तु यह भी सत्य है कि समयानुसार सस्कृति मे परिवर्तन तो हुआ ही करते है। परिवर्तन बुरा नही किन्तु आमूल परिवर्तन विनाशक भी होता है। इस यान्त्रिक युग मे हमे लोक-सस्कृति के आधारभूत उद्योग-धन्धो, लोक-साहित्य और लोक-कला के सवर्द्धन का उपाय करना चाहिए।

लोक-संस्कृति के अन्तर्गत जितने सार्वभौम तथ्य हैं प्राय उन सभी का समावेश सम्मेलन पत्रिका के सुयोग्य सम्पादक द्वारा बनायी गई विषय-सूची में है। इस सूची के अन्तर्गत सभी विषय अध्ययन के नये सूत्र प्रदान करते हैं। हिन्दी या भारतीय साहित्य में सम्भवत अब तक लोक-संस्कृति संबंधी कोई सुसम्बद्ध साहित्य प्रकाशित नहीं है। इस दृष्टि से सम्मेलन पत्रिका का यह प्रयत्न नि सन्देह प्रशंसनीय है। प्रशंसा और शुभकामना के लिए अधिक से अधिक जितने शब्द और भाव हैं उन्हें व्यक्त करते हुए मैं यह आशा रखता हूँ कि यह विशेषांक प्रकाशित होने पर सर्वसाधारण के लिए महान कल्याणकर होगा। यदि मुझे समय मिलता तो मैं अवश्य लेख लिख कर अपनी इच्छा की पूर्ति करता। समयाभाव होने हुए भी सपादक का अनुरोध सहसा न स्वीकार करना मेरे लिए असभव है, अत अल्प समय मे अल्प शब्दों द्वारा मैंने अपनी सदिच्छाये व्यक्त कर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया।

—आचार्य युगलकिशोर
(उपकुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय)

शुभ अनुष्ठान

सम्मेलन पत्रिका का 'लोक संस्कृति' विशेषांक निकालने का जो आयोजन किया गया है उसका मैं स्वागत करता हूँ। खेद है कि अस्वस्थता के कारण मैं स्वयं इसकी सफलता मे हाथ बटाने मे असमर्थ हूँ। फिर भी जहा तक मानसिक सहयोग है, उसका मेरे पास अभाव नहीं है। यदि इस आयोजन को आधी भी सफलता प्राप्त हो जाय और उत्कृष्ट लेखों से यह विशेषांक अलंकृत हो सके, तो यह सामग्री हिन्दी की अपूर्व निधि होगी। आगे आने वाले लोगों के लिए यह सन्दर्भ ग्रन्थ का काम करेगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस शुभानुष्ठान मे सम्पादक जी को सफलता मिले।

—अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी (लखनऊ)

लोक-साहित्य की व्यापक आवश्यकता

लोक-साहित्य जनता की चीज है। अन्न, जल, मास की तरह ही उसके जीवन का अभिन्न अंग है। इधर संस्कृतिवान और साहित्य के विद्यार्थियों मे भी इस विषय की ओर रुचि बढ रही है। किसी-किसी विश्वविद्यालय मे आधुनिक भारतीय साहित्य की उच्चतम कक्षाओं मे भी यह विषय पाठ्यस्थान पा रहा है। यह सभी के लिए हर्ष की बात है।

लोक-साहित्य और लोक संस्कृति अत्यन्त रोचक विषय है। यह कहने की जरूरत नहीं है। यो तो सभी इसका रसास्वादन करते हैं और विशेषकर गावों की जनता और शहरों के कल-कारखानों के मजदूर जो गावों के किसानों की ही सन्तान है। लेकिन रसास्वादन और वैज्ञा-

निव गवेषण तथा अध्ययन-अध्यापन एक चीज नही है। लोक साहित्य और सस्कृति के वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन और मनन के लिए समाजशास्त्र, नृतत्त्व, जातितत्त्व, तुलनात्मक भाषा विज्ञान, लोक साहित्य सबधी सिद्धातो का ज्ञान बहुत जरूरी है। ग्रिम्म बन्धुओ ने इस विज्ञान का श्रीगणेश किया। अगस्त १८४६ की अथेनी इस-पत्रिका मे अमबासे मार्टन के छद्म नाम से विलियम जान टाम्स ने Folk-Lore शीर्षक एक लेख लिखा। कुछ परिवर्तन के साथ यूरप की सभी भाषाओ मे इसका अनुवाद हुआ। भारतीय भाषाओ के लोक साहित्य, लोक सस्कृति, लोकगीत, लोककला आदि के पीछे टाम्स साहब की देन है--सभवत यह कहना ठीक ही होगा। इसके बाद यह विषय विश्वव्यापी महत्त्व का बन गया है। यूरप, एशिया, अमरीका आदि मे 'फोकलोर' सोसायटी और काग्रेस भी होती है। कलकत्ता और बम्बई मे भी एक फोकलोर सोसायटी बनी थी। इस विषय मे ससार मे काफी काम हो रहा है। आज Folk.losisties एक विज्ञान बन गया है।

किसी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी सामग्री का ज्ञान आवश्यक है। अतएव सामग्री की सूची बहुत जरूरी है। भारत की आधुनिक भाषाओ मे शायद एकमात्र बगला मे ही इस विषय की सूची बनाने का प्रारम्भिक प्रयास हुआ है। अपनी हारामणि (१९८०) के अन्त मे अध्यापक मनसूर अहमद ने जो सूची दी है, उसे किसी ने आगे नही बढाया है। हिन्दी के विद्वानो को भी इस विषय की एक सूची बनाने का प्रयास करना चाहिए। किसी साहित्य के इतिहास को लोक साहित्य के विवेचन के बगैर सम्पूर्ण नही कहा जा सकता।

--डा० महादेव साहा (कलकत्ता)

ग्रामगीतों में हिन्दू-संस्कृति

इस समय शास्त्रो के बाद ग्रामगीतो ही मे हिन्दू-सस्कृति की झलक मिल सकती है।

हमारी सस्कृति का मूल है---दूसरो के लिए जिओ। यह छोटा-सा वाक्य हमारी शिक्षा का पहला पाठ होना चाहिए। यदि यह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे समा जाय तो ससार मे कोई दुखी ही न रहे, न लड़ाइया हो और न कम्यूनिज्म, सोशलिज्म आदि कोई "इज्म' ही पैदा हो। ग्रामगीतो मे विश्वबन्धुत्व का यह गुर नीचे से ऊपर तक ओतप्रोत है। यहा उदाहरण के तौर पर मै एक गीत देता हू ---

कुँअना खनाये कवन फल हे मोरे साहब।
भोखवन भरें पनिहारि, तवे फल होइहै ॥१॥
पोखरा खनाये कवन फल हे मोरे साहब।
गोआ पिअई जूड पानि, तवे फल होइहै ॥२॥

बगिया लगाये कवन फल, हे मोरे साहब !
राहे बाटे अमवा जे खइहें, तबे फल होइहें ॥३॥
तिरिया के जनमे कवन फल हे मोरे साहब !
पुतवा जनम जब होइहें, तबै फल होइहें ॥४॥
पुतवा के जनमे कवन फल, हे मोरे साहब !
दुनिया अनन्द जब होइ, तबै फल होइहें ॥५॥

कैसी उच्च भावना है ! कुँवा और तालाब खुदाना और बाग लगाना गाव वालो मे ये तीन पुण्य के काम गिने जाते है। कोई समय था जब फल और दूध का बेचना पाप समझा जाता था। प्रत्येक गृहस्थ के घर मे ये दोनो अतिथियो के लिए सुरक्षित रक्खे जाते थे। यही नही शिक्षा, औषधि और न्याय भी सब को मुफ्त मिलते थे। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति और समाज अपनी सारी शक्तियाँ दूसरो ही के कल्याण मे लगाते रहते थे और सभी सुखी थे। अब सस्कृति पैसे के प्रवाह मे डूब गई है, और हर एक वस्तु दाम देने पर मिलने लगी है।

और पुत्र के जीवन का लक्ष्य कैसा सुन्दर था। जिसके जन्म से ससार सुखी हो जाए, उसी पुत्र का जन्म लेना सफल माना जाता था। एक माता-पिता से जन्म ले कर मानो वह ससार का पुत्र हो जाता था। हरएक पुत्र ऐसा ही हो तब तो सारा ससार वही एक कुटुम्ब-सा बन जायगा। वह ससार कितना सुन्दर होगा !

—रामनरेश त्रिपाठी

प्रिय श्री रामनाथ 'सुमन',

आपका पत्र मिला, धन्यवाद। मै अभी लम्बी यात्रा करके लौटा हू, इसलिए 'लोक-सस्कृति विशेषाक' के लिए लेख लिखने मे असमर्थ हू, किन्तु अपनी शुभ कामनाओ के साथ मुझे विश्वास है, कि विशेषाक बहुत सफल होगा।

—एस० राधाकृष्णन्
(उपराष्ट्रपति, भारत)

प्रिय भाई,

खेद है, कि स्वास्थ्य ठीक न होने से तथा अत्यधिक सरकारी कार्य के कारण मेरे लिए लेख लिखना सभव नही है। आशा है, ऐसी अवस्था मे मुझे क्षमा करेगे।

मेरी शुभकामना है, कि आप अपने उद्देश्य मे सफल हो।

—श्रीप्रकाश
(राज्यपाल, मद्रास)

लोकसिद्धान्त

भारतीय संस्कृति में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति

महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम० ए०

अध्ययन जहाँ साधना बनकर मूर्त्तिमान हो गया है और जीवन जहाँ श्रेय मे समाहित है, भारतीय विद्वानो मे शिरोमणि, अपने प्रति मौन और विज्ञान-वारिधि के विस्तार के प्रति कुतूहल और जिज्ञासा मे खोये हुए—ऐसे गोपीनाथ जी है। अनेक भाषाओ और अनेक विद्याओ के ज्ञाता और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान। अपने को इतना छिपाकर रखने वाले कि उनसे लेख प्राप्त कर लेना भी एक घटना है—सपादक

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न देशो की सस्कृतियाँ भिन्न हुआ करती हैं। विश्व की समस्त प्राचीन सस्कृतियो का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो प्रत्येक देश की सस्कृति मे भारतीयसस्कृति के बीज निहित मिलते है। मिस्र, असीरिया, ईरान, बेबीलोनिया, चीन और रोम की सस्कृति बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु इन देशो मे प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री मे भारतीय सस्कृति का व्यापक और प्रमुख प्रभाव है। मिस्र का हीलोलिन (हलिन), ईरान का अहुरमज्द (असुरमहत्), मिस्र का ओसारिस (उषारस) आदि भारतीय वैदिक देवता है। पाली ग्रन्थ 'बावरु जातक' मे बेबीलोनिया की कथाए है। वहाँ मयूर पक्षी नही होता था वह यही भारत से ले जाया गया है। सस्कृति की परिभाषा या उसका स्वरूप अध्ययन से नही वरन् अनुभव से जाना जाता है। जैसे गुड बहुत मीठा होता है, इतना कह देने या सुन लेने मात्र से गुड की मिठास का परिचय नही मिलता, अपितु खाकर अनुभव करने से माधुर्य का वास्तविक बोध होता है।

'सस्कृति' मे परिवर्तन और परिवर्द्धन कालक्रमानुसार हुआ करते है, किन्तु उसकी सत्ता सदैव अक्षुण्ण रहा करती है। सस्कृति मरती नही, मिटती नही। इतिहास के उदय काल से अब तक की भारतीय सस्कृति का समालोचन करने से यह बात बहुत सरलता से स्पष्ट होती है। वैदिक युग मे वैदिक (आर्य) और अवैदिक (अनार्य) दो सस्कृतियो का सघर्ष भारतवर्ष मे रहा। तमिल सस्कृति, जिसे द्रविड सभ्यता या सस्कृति कहा जाता है, से वैदिक सस्कृति का सर्वप्रथम सघर्ष आरम्भ होता है। उपनिषद् काल, स्मृति काल, मन्त्रकाल, पुराणकाल, तन्त्रकाल, बौद्धकाल और मुस्लिमकाल से अब तक लगातार यह सस्कृति-सघर्ष चल रहा है, किन्तु इतने पर भी हमारी

भारतीय संस्कृति विनष्ट नहीं हुई। हां, विकार भले ही इसमें उत्पन्न हो गए हैं। यूनान, मिस्र, रोम और चीन की प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्तप्राय हो गई हैं, किन्तु हमारी भारतीय संस्कृति अपनी सत्ता ज्यों की त्यों सुरक्षित बनाये हुए हैं, इसलिए कि भारतीय संस्कृति की आत्मा लोक-संस्कृति है। यही इसका वैशिष्ट्य है।

लोकसंस्कृति की आत्मा

भारतीय लोक-संस्कृति की आत्मा भारतीय साधारण जनता है, जो नगरों से दूर गांवों, वन-पर्वतों में निवास करती है। 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' यही भारतीय लोक संस्कृति का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त का स्वभावतः पालन करती हुई भारतीय साधारण जनता ब्रह्मतत्त्व और मायातत्त्व को अनजाने समझती है। भारतीय ग्रामवासिनी-संस्कृति के मूलाधार, जिन्हें आजकल की परिभाषा में अपढ़, वनेचर कहा जाता है, भारतीय संस्कृति के जीवित, जाग्रत प्रहरी है। जिस मायातत्त्व को हर्बर्ट-स्पेन्सर आजीवन समझने में असमर्थ रहा, उसे हमारे अपढ़ भारतीय किसान सरलता से समझते हैं। भारतीय लोक-संस्कृति के संरक्षक, प्रतिष्ठापक ये ग्रामीण, परमहंस अथवा अबोध बालक की भांति स्वयं अपने को कुछ भी नहीं समझा करते। इनके मर्म और वास्तविक स्वरूप को अध्ययन-मननशील विद्वान् ही समझते हैं। अभी दो वर्ष पहले अमेरिका से आए हुए एक पर्यटक यहीं (काशी में) ठहरे हुए थे, एक दिन वह मेरे पास आये—मैंने उनसे पूछा—कि आपने जवाहरलाल नेहरू से भेंट की है? उन्होंने कहा कि वह शिक्षित हैं, विद्वान् हैं, अच्छे वक्ता हैं, कुशल राजनीतिज्ञ हैं, आधुनिक युग में व्यक्ति की ये विशेषताएँ सर्वत्र हैं, मैं उनसे भेंट क्या करूँ। मैंने फिर पूछा कि आपने भारतीय नगरों को देखा है? उन्होंने कहा कि मैं नगरों को भी नहीं देखना चाहता क्योंकि ये सब पाश्चात्य नगरों के अनुकरणमात्र हैं, मैं तो भारत के उन व्यक्तियों, उन स्थानों को देखना चाहता हूँ, जहाँ भारतीय आत्मा बसती हो। मैंने कहा तभी आप अपने उद्देश्य में सफल भी होंगे जब भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा साधारण जनता के दर्शन करेंगे जो ग्रामों, गिरि-कान्तारों में निवास करती हुई भारतीय संस्कृति का संरक्षण कर रही है। लोक-संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को जो सब से महत्त्वपूर्ण दान दिया है, वह है 'आत्मीयता'। अपने समान सभी को समझना यह भाव भारत के अतिरिक्त किसी भी देश की संस्कृति में नहीं है। बहुत दिन पहले जर्मन तत्त्ववेत्ता पॉलड्यूसेन भारत आया हुआ था। वह जब अपने देश लौटने लगा तो बम्बई में आयोजित अपनी एक विदाई सभा में भारतवासियों के आतिथ्य, औदार्य की प्रशंसा करते हुए उसने कहा कि बाइबिल में हमने पढ़ा था, कि अपने पड़ोसी को अपना ही समझना चाहिए। उसे पढ़ कर मैं यह सोचा करता था कि पराये को अपना क्यों समझा जाय? इसका हेतु क्या है? सारी बाइबिल में मुझे इसका हेतु कहीं नहीं मिला, भारत आने पर आत्मा की एकता का अनुभव मैंने उसी प्रकार किया जैसा कि उपनिषदों में पढ़ा था।

लोकसंस्कृति की विशेषता

भारतीय लोक संस्कृति की यह अनवद्य विशेषता कथा-प्रणाली द्वारा प्राप्त हुई है। भारतीय संस्कृति में पौराणिक कथाओं, तीर्थाटन व्रत, उत्सव और पर्वों की जो प्रणाली परम्परागत चली आ रही है, उसी मे लोक-संस्कृति का सम्पादन हुआ है। इस प्रशस्त-प्रणाली ने भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति और भारत देश को प्राणवान् एवं जागृत बनाये रखने में बड़ा योग दिया है। कैलाश से कन्याकुमारी और परशुराम कुंड (आसाम) से सिन्धु तक की भाषा, रहन-सहन की विभिन्नता होते हुए भी तीर्थाटन प्रणाली देश की एकता को अविच्छिन्न बनाये हुए है। लोकगीत, लोकचित्र, लोकनृत्य लोक भिनय और लोकचर्चायें आदि सभी कथा-प्रणाली से समुद्भूत हैं। इस प्रणाली ने हमारे राष्ट्रीय, सांस्कृतिक इतिहास को जनसाधारण के मानस-पट पर ऐसा अंकित किया है कि उसे काल, परिस्थिति की हरताल मिटा नहीं सकती। कवीन्द्र रवीन्द्र जब प्रथम बार यूरोप भ्रमण करने गए थे, उसी यात्रा के प्रसंग में उन्होंने 'यूरप प्रवास पत्र और यूरोप' यात्री डायरी दो पुस्तक भी लिखी हैं। लिवरपूल या मैनचेस्टर के देहातों में बसते हुए टगोर ने रास्ता चलते हुए कुछ लोगों से पूछा कि—'तुम ईसाई हो'? उन्होंने कहा कि 'हमने आपकी बात नहीं समझी। टगोर ने कहा कि 'तुम ईसा-क्राइस्ट को जानते हो?' उन लोगों ने कहा कि 'क्या वह कोई कुली है। अपने देवता और धर्म के प्रति इस प्रकार की यह अज्ञानता उस देश की साधारण जनता की है जो आज विश्व में अपनी सभ्यता की उच्चता का ढिंढोरा पीट रहा है। लेकिन भारत के जंगली अपढ व्यक्ति से भी यदि राम और कृष्ण के संबंध में पूछा जाय तो वह व्यास, वाल्मीकि और तुलसी के भावों के साकार रूप प्रस्तुत कर देगा, क्योंकि लोक-संस्कृति द्वारा वह शिक्षित और चैतन्य बनाया गया है। लोक संस्कृति में ऐसे प्राणदायी स्रोत हैं, जो भारतीय जन-जीवन और भारतीय संस्कृति को सशक्त एवं प्राणवान् बनाये हुए हैं।

लोक-संस्कृति और समन्वय

प्रागैतिहासिक काल की बात न कर हम इतिहास के उदय काल से अब तक के समय का यदि समालोचन करते हैं तो भारत में विभिन्न धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक विचार-धाराओं का समन्वय लोकसंस्कृति द्वारा हुआ जाना जाता है। यह समन्वय-भावना विश्व के अन्यान्य देशों में भी पनपी है। शक, मग, पारसीक, यवन आदि जो भी विदेशी एवं अवैदिक यहां आये हैं, उन्हें अपनाने में हमारी संस्कृति ने कभी भी संकोच नहीं किया है। भारत में वैदिक युग से ही विभिन्न संस्कृतियों का समागम होना प्रारम्भ हुआ है। यह परम्परा अब तक प्रचलित है। भारतीयों ने विदेशों में जाकर और विदेशियों ने भारत में आकर सांस्कृतिक आदान-प्रदान किया है। यह आदान-प्रदान लोकोत्तर संस्कृति

के उन प्रतिनिधियों द्वारा हुआ है जो शिक्षित, उपदेशक या राजनीतिज्ञ कहे जाते है। इसमे हमारी भारतीय सस्कृति मे परिवर्तन हुए, विकार भी उत्पन्न हुए किन्तु वह विनष्ट या लुप्त इसलिये नही हुई कि इस आदान-प्रदान मे लोक-सस्कृति अलग रही। वह निष्कलुष, निर्विकार बनी रहकर भारतीय सस्कृति के पौधे को पनपाती और परिमार्जित करती रही। वैदिक, उपनिषद् काल के बाद तन्त्रयुग मे लोक-सस्कृति ने भारतीय सस्कृति को बहुत बल प्रदान किया। उस समय निगम और आगम इन दो भिन्न विचार-धाराओ का प्रवाह बह रहा था। कुछ लोगो का कहना है कि तत्र मध्ययुगीन—बौद्धकाल के है, किन्तु जैसे ब्राह्मणधर्मावलम्बी जनता बौद्ध बनी उसी प्रकार परम्परागत आगमजन्य तत्र भी बौद्धतत्र कहलाये। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त वस्तुओ द्वारा पुरातत्त्ववेत्ताओ ने तात्रिक सभ्यता को बौद्ध काल से बहुत प्राचीन सिद्ध किया है। कीच मे एक सिहवाहिनी चतुर्भुजी मूर्ति मिली थी,जो त्रिशूल धारण किए हुए थी। इससे यह सिद्ध होता है, कि शक्ति-साधना समस्त भूमण्डल मे व्याप्त थी। यह साधना लोकसस्कृति की प्रमुख साधना रही है। अब भी जगलो, पर्वतो मे रहने वाली जनता विविध ढग से शक्ति-साधन किया करती है। इस साधना की पृष्ठभूमि समन्वय भावना है। द्वैत को अद्वैत के रूप मे पहचानने और सब को आत्मवत् समझने तथा 'माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या' की भावना को व्यापक बनाने का प्रशिक्षण इसी साधना द्वारा नि सृत हुआ है। श्रुति, स्मृति, पुराण, बौद्ध, जैन, चार्वाक, पाशुपत, लाकुलीश आदि विभिन्न धर्मो की विभिन्न विचारधाराओ का समन्वय लोक-सस्कृति द्वारा हुआ है। मध्यकाल मे प्रादुर्भूत श्री, मध्व, (गोडीय सहित), निम्बार्क और वल्लभ यही चार सम्प्रदाय प्रमुख है, इसके बाद अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हुए है। इन सभी सम्प्रदायो के विभिन्न दृष्टिकोणो का समन्वय लोक-सस्कृति ने ही किया है। क्योकि सम्प्रदायवाद के आधार पर विभिन्न धार्मिक आन्दोलन भी मुखरित हुए किन्तु अन्त मे लोक-सस्कृति द्वारा सभी का सास्कृतिक समन्वय किया गया। भारतीय लोक-सस्कृति की व्यापकता और महत्ता को सूफी मत ने भी स्वीकार किया है। सूफी धर्म पर भारतीय लोक-सस्कृति का व्यापक प्रभाव स्पष्ट है।

लोक-संस्कृति और लोकेतर संस्कृति

लोक-सस्कृति और लोकेतर सस्कृति मे उतना ही अन्तर है जितना श्रद्धा और तर्क, सहज और सजावट मे होता है। लोक सस्कृति प्रकृति की गोद मे पलती और पनपती है, लोकेतर सस्कृति आग उगलती हुई चिमनियो, हुकार करती हुई मशीनो और विद्युत्-बल्बो से प्रदीप्त नगरो मे निवास करती है। लोक सस्कृति के उपासक या सरक्षक बाहर की पुस्तके न पढ कर अन्दर की पुस्तके पढते है, उनके हृदय-सरोवर मे श्रद्धा के सुमन सदैव फूले रहते है, लोकेतर सस्कृति के उपासको, सरक्षको मे धन, पद, शिक्षा का स्वाभिमान रहता है, उनके हृदयो मे तर्क की चिनगारियाँ सुलगती रहती है। लोक-सस्कृति की शिक्षा प्रणाली मे श्रद्धा-भक्ति की प्राथमिकता रहती है।

उसमे अविश्वास, तर्क का कोई स्थान नही रहता। इसी से ज्ञान और सिद्धि की सहज प्राप्ति भी होती है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्पर सयतेन्द्रिय' यह सिद्धान्त लोक-सस्कृति के उन्नायक भगवान् कृष्ण के मुख से उच्चरित हुआ है । लोकसस्कृति मे श्रद्धा भावना की परम्परा शाश्वत है, वह अन्त सलिला सरस्वती की भाँति जनजीवन मे सतत प्रवाहित हुआ करती है। वस्तुत लोक-सस्कृति एव लोकेतर सस्कृति तथा विश्व की सभी सस्कृतियो का बीज एक ही है। स्थान, काल, वातावरण की विभिन्नता से ही वह विभिन्न रूप धारण करता है। जैसे जल वास्तव मे एक ही है किन्तु उसके बूद नीम के वृक्ष मे पड कर कडवाहट पैदा करते है और आम के वृक्ष मे पड कर वही रसाल बन जाते है। यह बीज लोक सस्कृति ही है, जो भारतीय सस्कृति और भारत देश को जीवन्त बनाये हुए है, इसलिए कि इसमे जीवन है, प्राणद स्पर्श और समन्वय के अनन्त स्रोत है। अतएव इस यथार्थ सस्कृति का सरक्षण, सवर्द्धन करना हमारा सास्कृतिक कर्त्तव्य है।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न

डा० सम्पूर्णानद डी-लिट्, गृहमत्री, उत्तर प्रदेश

ब्राह्मण की विद्या और तपस्या, क्षत्रिय की ओजस्विता, वणिक की व्यावहारिकता और शूद्र की लोकसेवा-भावना की समन्वित मूर्ति, जिनकी बाह्य राजसिकता के मूल मे विद्या और सस्कृति की भावना अन्त सलिला की भाँति छिपी हुई है—परिस्थिति-वश राजनीतिज्ञ पर मूलत तत्त्वचिन्तक—ऐसे है सम्पूर्णानद जी । हिन्दी और भारतीय सस्कृति को उनसे वडी आशाए है । इस लेख मे उन्होने हमारी मुख्य समस्या का सक्षिप्त पर मार्मिक निरूपण किया है—सपादक

किसी देश या समाज-विशेष की सस्कृति का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध मे मतैक्य मिलना कठिन होता है । यदि कही भारत और भारतीय-समाज के विषय मे विचार हो रहा हो तो मतवैषम्य का ठिकाना नही रहता । इस प्रश्न का उत्तर केवल बुद्धि के सहारे नही दिया जाता, भावना भी काम करती है । धर्म और राजनीति-विषयक मान्यताए बीच मे आ पडती है और ठण्डा वातावरण आवेश से गरमा उठता है । शब्द के नये होने से और अडचन पडती है । व्याकरण से व्युत्पत्ति चाहे सैकडो वर्ष पूर्व हुई हो परन्तु पश्चिम के 'कल्चर' शब्द ने ही, जिसका अर्थ स्वय विवाद से परे नही है, 'सस्कृति' को व्यवहार मे स्थान दिलाया है । हमारा सस्कृत पण्डित समुदाय प्राय उन सब विषयो मे अनभिज्ञ है, जिनकी चर्चा सस्कृति के प्रसग मे होती है । न उसे वास्तु विद्या का ज्ञान है, न गानवाद्य नृत्य का, कला के स्वरूप का उसे पता नही है, दर्शन और जीवन के परस्पर प्रभाव का उसने नाम भी नही सुना है, उसको सतत चिन्ता रहती है कि हमारे खँडहर की जर्जर दीवारो को कोई एकाध धक्का और न लगादे, इसलिए सस्कृति का नाम सुनते ही उसका ध्यान वर्णव्यवस्था-जैसी सस्थाओ की को ओर जाता है ।

वस्तुत सस्कृति पद्धति, रवाज या सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सस्था नही है । नाचना-गाना, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, गृहनिर्माण इन सब का अन्तर्भाव सभ्यता मे होता है । सस्कृति अन्त करण है, सभ्यता शरीर है । सस्कृति अपने को सभ्यता द्वारा व्यक्त करती है । सस्कृति वह साचा है, जिसमे समाज के विचार ढलते है, वह विन्दु है जहा से जीवन की समस्याए देखी जाती है । बात है तो स्थूल परन्तु उदाहरण का काम दे जायगी । स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि यूरोप मे चीजो को इस दृष्टि से देखा जाता है कि यह

धनोपार्जन मे कहा तक सहायक होगी। भारत मे यह परख की जाती है कि इससे मोक्ष-लाभ होगा या नही। न हर यूरोपियन लोभी है, न हर भारतीय मुमुक्षु, परन्तु इन दोनो दृष्टियो की प्रधानता अस्वीकार नही की जा सकेगी। भारतीय आदर्शवादी स्वप्न देखनेवाला माना जाता है, यूरोपियन या अमेरिकन व्यवहार-बुद्धि, वस्तुस्थिति-द्रष्टा समझा जाता है। जहा पश्चिम मे इहलोक मे सफलता लक्ष्य रहा है वहा भारत मे हर बात की परख परलोक की कसौटी पर होती रही है। इस बात के लिए प्रमाण की आवश्यकता न होनी चाहिये कि जहा ध्येय मे इतना अन्तर होगा वहा साधनो मे भेद होगा, हेयोपादेय मे भेद होगा। एक जगह सग्रह का आदर होगा, दूसरी जगह त्याग का, एक जगह धर्म सिंहासन का दर्बारी होगा, दूसरी जगह मुकुट लँगोटी को सिर झुकायेगा। दोनो जगहो मे चित्र भिन्न होगे, गाने भिन्न होगे।

संस्कृति-भेद केवल लोकपरलोक के आधार पर नही होता। एक जगह व्यक्ति प्रधान है, दूसरी जगह समाज। एक जगह माना जाता है कि समाज व्यक्ति के विकास का साधन है, दूसरी जगह माना जाता है कि समाज मे पृथक व्यक्ति का कोई मूल्य नही है। दोनो देशो के रहनसहन मे, शिक्षा मे, विधान मे, कला मे, साहित्य मे, आकाश पाताल का अन्तर होगा। कम्युनिस्ट समाज का रूप कदापि सर्वोदय समाज जैसा नही हो सकता।

संस्कृति सदा एक-सी नही रहती। नये लोगो के सम्पर्क का प्रभाव पडता है, विज्ञान के आविष्कार न जाने कितनी मान्यताओ की जड हिला देते है। यदि विज्ञान की अन्तिम शिक्षा यह हो कि जीव की नित्य सत्ता नही है, चेतना जड पदार्थो का आगन्तुक गुण है, मनुष्य की उन्नति सघर्ष और परघात से ही हो सकती है तो फिर कर्तव्याकर्तव्य का रूप बदल जायगा। धर्म के बन्धन श्लथ हो जायगे, लक्ष्य कुछ का कुछ हो जायगा। लक्ष्य के अनुरूप ही साधन ढूढे जायगे। जीवन के सारे दृष्टिकोण मे उलट-फेर हो जाने से कला, साहित्य, आर्थिक और सामाजिक सघटन, सब के रूप परिवर्तित हो जायगे।

परन्तु संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता जल्दी बदलती है और उसका अनुकरण भी हो सकता है। संस्कृति क्रमश वृद्धिमान् की जा सकती है परन्तु उसका अनुकरण नही हो सकता। हजारो भारतीयो ने अग्रेजो-जैसी वेषभूषा बना ली बँगलो मे रहने लगे। अंग्रेजी बोलने का अभ्यास डाल लिया पर यह सब होते हुए भी उनके मस्तिष्क के भीतर चोर की भाति पुराना दृष्टिकोण, पुरानी धर्मभीरुता छिपी बैठी थी। न पतलून पहिनने से संस्कृति बदलती है, न धोती पहिनने से। [illegible] दिमागो की रगो मे बहती [illegible] बदलती है। भारतीय संस्कृति पर निश्चय ही पश्चिम का प्रभाव पडा है पर वह प्रभाव विचारो ने डाला है। पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करते हुए भी इस देश मे पुरानी संस्कृति के अभ्युदय की जो भावना जाग उठी थी, अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध इस भावना ने जिस प्रकार सिर उठाया था, वह इस बात का प्रमाण है कि पाश्चात्य प्रभाव के होते हुए भी पुरानी संस्कृति की आग बुझी नही थी।

संस्कृति केवल दार्शनिक विचारों पर अवलंबित नहीं होती। विचारों की अव्यक्त-भूमिका में श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धा शब्द श्रत् से बना है। श्रत् का अर्थ है सत्य। जहा यह भाव हो कि यह सत्य है, चाहे आज इसका प्रत्यक्ष न हो रहा हो परन्तु एक दिन हो कर रहेगा, वहीं श्रद्धा का निवास होता है। केवल दार्शनिक विचार किसी को पण्डित बना सकते हैं परन्तु उनमे सर्जन शक्ति नहीं होती। भारत में वेदान्त के सहस्रों पण्डित हैं परन्तु उनसे कला और साहित्य को कोई स्फूर्ति नहीं मिलती। रूस में आज नया विचार और उसके साथ दृढ श्रद्धा है। उसने नयी कला, नये साहित्य को जन्म दिया है, जीवन को नया रूप दिया है, शिक्षा की दिशा बदल दी है।

न तो विचारो की नकल हो सकती है, न श्रद्धा की। इसलिए संस्कृति का भी अनुकरण नहीं हो सकता है, उसकी मुख्य अभिव्यक्तियो की भी नकल नहीं हो सकती। यूरोप मे आज से कई सौ वर्ष पहिले रेफेल, माइकेल ऐन्जेलो, लिओनार्दो दा विञ्जि प्रसिद्ध चित्रकार और मूर्तिकार हो गये हैं। इनकी कृतियो के विषय ईसा के जीवन मे लिये गये हैं। यह कृतिया अमर हैं। चित्रकार और मूर्तिकार आज भी हैं पर वह काम नहीं कर पाते। कई पुराने गिरजाघर है, पानी की भाति रुपया बहाकर भी वैसी इमारत नहीं बन पाती। देखने वाले को ऐसा लगता है कि कुछ कमी है। वस्तुत इन सब चीजो मे एक कमी है, वह पुरानी श्रद्धा नहीं है। आज हमारे कलाकार अजन्ता और एलोरा की नकल करते है। नुकीली नाक, कान तक फैली आख, घुटने तक लंबी बाह,—यह सब बनता है पर वह बात नहीं आती। स्त्रिया बनती है, पुरुष बनते है, कुछ की आकृति प्राकृतिक होती है, कुछ प्रकृति से विलक्षण। परन्तु जो बात उन पुरानी कृतियो से झलकती है वह इनमे नहीं आ पाती। कुछ कमी-सी लगती है। यह कमी श्रद्धा की है। कलाकार मे वह श्रद्धा नहीं है जो पूर्ववर्तियो मे थी। प्रत्येक महापुरुष किन्ही भावनाओ और आदर्शों का प्रतीक होता है। जब तक कलाकार उन चैतस कृतियो से स्वयं स्पन्दित न होता हो तब तक वह यथार्थ चित्रण नहीं कर सकता। अन्त करण, आखो मे, स्मित मे, मुद्रा मे छलकता रहता है, जो उसको नहीं पहचान पाता वह जड शरीर का फोटो मात्र उतार पाता है और शरीर मे कोई ऐसी विशेषता नहीं होती। यदि देखने वाले मे श्रद्धा की कमी हुई तो वह सौन्दर्य की, कला के अन्तस्तल की, अनुभूति न कर सकेगा। किसी को कमल समाधि की ओर ले जाता है, किसी को भगवान् के कोमल चरणो की ओर, किसी को प्रियतमा के मादक नेत्रो की याद दिलाता है, किसी के लिए वह प्रकृति की शोभामयी कृति है। कोई उसको कमलगट्टे के आकार के रूप मे देखता है और किसी की दृष्टि मे वह रंगीन पखुडियो का गुच्छा है जो कुछ दिन मे सडने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति कमल को अपनी बुद्धि के अनुरूप देखता है, एक दूसरे की दृष्टि की नकल नहीं कर सकता।

भारत की अपनी संस्कृति है। यह जड, अपरिवर्तनशीला नहीं है। प्राचीनकाल मे सिन्धु और सरस्वती के तट पर ऋषियो के आश्रमो मे सामगान के स्वरो के साथ इसका जन्म

हुआ, इसके प्रवाह मे शक, हूण, यवन, पठान, तुर्क, मुगल, अरब, सबने अपने जल मिलाये परन्तु पुण्यतोया जाह्नवी के समान मूलधारा अविच्छिन्न है। सभी जल एक हो गया है। इसी प्रकार पश्चिम से आया विचार-प्रवाह भी इसमे मिल कर तन्मय हो जायगा। सर्वत पुष्टि ग्रहण करके भी भारतीय सस्कृति का स्वरूप अक्षुण्ण है।

यह स्वरूप क्या है ? यह दु ख की बात है, कि इसके स्पष्टीकरण का यत्न नही होता। सविधान बनाते समय इस ओर ध्यान नही दिया गया, गाधी जी के नाम की दुहाई देते हुए भी हमारा नेतृवृन्द इस ओर ध्यान नही देता। जब तक इस बात की दृढ भावना और इस बात पर अटल श्रद्धा न रहेगी कि जगत् का मूलतत्व चेतन है, जीव नित्य है, अपने सुख-दु ख का स्वय कर्त्ता है, कर्म्मफल भोगना ही होगा, जगत् का विकास देवताओ अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शक्तियो, के सहयोग से हुआ है सघर्ष से नही, तबतक हम भारतीय सस्कृति से दूर रहेंगे। भारत की सस्कृति की यह सुदृढ मान्यता है कि 'एक सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति'—वह तत्त्व जिसकी उपासना की जाती है वह एक है, चाहे उसको किसी नाम से पुकारा जाय, किसी भाषा मे बुलाया जाय और भारतीय जीवन के यह दो आधार है कि धर्म का—कर्तव्य का, अधिकारो का नही—परित्याग कदापि न होना चाहिए और व्यवहार मे ध्यान रखना चाहिये कि 'परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ'—एक दूसरे के हित-साधन मे ही परमश्रेय की सिद्धि होती है। समाज मे मूर्धन्यस्थान विद्या, तप और त्याग का होना चाहिये।

भारतीय सस्कृति का यही प्राण है। इसकी अभिव्यक्ति के असख्य साधन हो सकते है। कला, साहित्य, सगीत, उपासना, विधान, सविधान, शिक्षा—जीवन के सभी क्षेत्रो मे इसका प्रभाव देख पडना चाहिये। प्रभाव विध्यात्मक भी होगा और निषेधात्मक भी। भारतीय-सस्कृति मे धार्म्मिक मदान्धता के लिए स्थान नही है। दूसरे के देवालय पर हाथ डालने वाला अभारतीय है। शोषण, परस्वापहरण, समाज मे धनिको और शासन से सम्बद्ध व्यक्तियो को विद्वानो और तपस्वियो से ऊँचा स्थान देना, अशक्तो का सहार करने के लिए शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग करना, जैसा कि परमाणुबम के विषय मे किया जा सकता है, —यह सब भारतीय सस्कृति की दृष्टि मे वर्ज्य है।

स्वत भारत को अपनी इस निधि की रक्षा करनी है, यह जगत के लिए हमारी सबसे बडी देन होगी। यदि पश्चिम की सभ्यता की चकाचौध मे पडकर हम इसे खो बैठे तो हमारी विशेषता जाती रहेगी और ससार के हित की बात तो दूर रही, हमारी स्वतत्रता और हमारे देश का स्वदीय मनुष्य जाति के लिए अभिशाप बन जायगा। पश्चिम का विकृत सस्करण बनना न भारत के लिए शोभाप्रद है न जगत् के लिए श्रेयस्कर।

संस्कृति और सभ्यता*

महामहोपाध्याय डा० प्रसन्न कुमार आचार्य
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट्

सस्कृतवाङ्मय के गूढ ज्ञाता, प्राचीन सस्कृति के गौरव के सदेश-वाहक डा० प्रसन्नकुमार हमारे देश की एक विभति हे। प्रयाग विश्व-विद्यालय मे सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष रह चुके हे। अग्रेजी मे भारतीय सस्कृति की विशिष्ट देन पर उनका एक बडा ग्रन्थ निकल चुका है। इस लेख मे उन्होने सभ्यता और सस्कृति के विविध पक्षो पर विचार प्रकट करते हुए भारतीय सस्कृति की प्राचीनता, परम्परा और गौरव का चित्रण किया है।
—सपादक

सस्कृति का मुख्य उद्देश्य

निर्वाचन की दृष्टि से सस्कृति और कृष्टि शब्द समानार्थक हे। सस्कृति शब्द अधिक व्यापकार्थ है और विशुद्धि का द्योतक भी। कृष्टि का भी उद्देश्य भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिशुद्ध करना ही है। कृष्टि की विभिन्न पद्धतियो द्वारा भूमि की अशुद्धियाँ दूर की जाती है, रोडे आदि हटाये जा सकते है और घास-फूस अलग कर भूमि साफ की जाती है। इस प्रकार शुद्ध हुई भूमि मे जल-सेचन किया जाता है और खाद डाली जाती है कि भूमि इस योग्य हो सके कि बीज अच्छी तरह उग सके तथा अकुर शस्य आदि अपनी पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सके। इसी प्रकार मनुष्य की मानसिक और वास्तविक अवस्थाये भी विकसित होती है। जैसे प्रत्येक क्षेत्र को कृषि योग्य बनाने मे समस्त प्रक्रियाये आवश्यक नही, वैसे ही प्रत्येक परिवार के बालको को भी, कतिपय सहज सस्कारो के कारण, सभी प्रारभिक सस्कार आवश्यक नही। सस्कृति का मुख्य उद्देश्य है विभिन्न सस्कारो द्वारा बालक की प्रतिभा और योग्यता का पूर्ण विकास। इसकी सहज अभिव्यक्ति, वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्यता एव कृतज्ञता के पालन के रूप मे होती है। प्रभावत वैयक्तिक और सामाजिक सुधार के बडे कार्य होते है।

---

*अधिक विस्तृत विवरण के लिए मेरी अगरेजी पुस्तक 'ग्लोरीज आफ इडिया' (मूल्य १५ रुपये) देखिए।

एक विख्यात तत्वज्ञ का कथन है कि संस्कृति का विचार हम साहित्य, कला, समाज शास्त्र, विज्ञान, नैतिकता एवं धर्म-भीरुता के रूप में भी कर सकते हैं। संस्कृति का विचार जीवन-यापन की प्रणाली के रूप में, आदर्श व्यवहार के मानदंड के रूप में तथा नागरिकों में, व्यक्तियों में और राष्ट्रों में परस्पर कैसा आदर्श व्यवहार होना चाहिए इस रूप में भी किया जा सकता है। हम चाहे जिस दृष्टिकोण से संस्कृति पर विचार करें, मैथ्यू आर्नोल्ड के कथन के अनुसार उसमें इसका समावेश तो होना ही चाहिए कि निःस्वार्थ भाव से संसार के सर्वोत्तम ज्ञान और विचार की प्राप्ति एवं प्रसार के लिए प्रयत्न किया जाय और इस प्रकार स्वच्छ और पवित्र विचारधारा प्रवाहित की जाय। संसार जैसे विभिन्न राष्ट्रों और जातियों में विभक्त है, वैसे ही विभिन्न संस्कृतियों में भी विभक्त है। प्रत्येक संस्कृति का अपनापन, व्यक्तिगत या समष्टिगत रूप, गुण प्रभाव, प्रतिभा, आचार-विचार, शैली, प्रणाली प्रयास अलग-अलग है। वैधानिक ज्ञान-गरिमा के विषय में रोमन संस्कृति की, विचार स्वातंत्र्य के विषय में यूनानी संस्कृति की, प्रेम और दया धर्म का रूप देने के विषय में आर्य या हिन्दू संस्कृति की प्रशंसा की जा सकती है। फिर हम कभी बंगाली, तामिल या गुजराती संस्कृति की चर्चा करते हैं और कभी आयरिश, स्काटिश संस्कृति की और प्रत्येक की विशेषताओं की भी। प्रत्येक संस्कृति में कोई न कोई विशेषता होती है जिस पर जोर दिया जाता है। इसी प्रकार साधारणतया हम व्यापक संस्कृतियों पर विचार कर सकते हैं, जैसे ब्रिटिश संस्कृति या और व्यापक रूप में युरोपियन संस्कृति, या और व्यापक रूप में पाश्चात्य संस्कृति, और प्राच्य संस्कृति और व्यापक रूप में आधुनिक संस्कृति जो आधुनिक सभ्यता की तरह विशेष व्याप्त है।

सभ्यता का तात्पर्य

सभ्यता का अर्थ है समाया, समाज में रहने की योग्यता अर्थात् सामाजिकता। सभ्यता सामाजिक विधि अर्थात् कर्तव्यता एवं सामाजिक निषेध अर्थात् बन्धन पर जोर देती है। सभ्यता शब्द सभा शब्द से बना है जिसका सत्यार्थ है सभा में बैठने की योग्यता। सभा में शिष्टाचार के नियम का पालन किया जाता है, सामाजिक भावना का अनुभव किया जाता है अतएव सभ्यता शब्द शिष्टाचार के नियमों के साथ ही सामाजिक उत्तरदायित्व, सामाजिक [illegible] एवं सामाजिक व्यवहार का भी निर्देश करते हैं। सभ्यता शब्द का सम्बन्ध नागरिकता [illegible]। ग्राम की अपेक्षा नगर में विभिन्न वर्ग के कहीं अधिक लोगों को सुख-शान्तिपूर्वक [illegible]। ग्रामीणों की अपेक्षा नागरिक अधिक शिक्षित, अधिक संगठित और अधिक [illegible]। [illegible] दृष्टि से जो यह अन्तर था वह धीरे धीरे व्यापक हो गया। जो व्यक्ति [illegible] दृष्टि से अधिक उन्नत थे वे अपने आपको सभ्य समझने [illegible] उन्नत नहीं थे उनसे अपने आपको पृथक समझने लगे। इस प्रकार से [illegible] विचार उच्च नैतिक विचार एवं भौतिक सुख-

समृद्धि। इसमे भौतिक उन्नति, व्यापारिक और औद्योगिक विकास, सामाजिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक प्रगति का भी समावेश होता है। इस प्रकार से इसका लक्ष्य है मनुष्य को अधिक सुखी और समृद्ध बनाना, अधिक शिष्ट और सभ्य बनाना तथा जिस अवस्था मे है उससे अधिक उन्नत बनाना। इसके गुणो मे इसका समावेश है कि व्यक्ति एव प्रकृति पर विजय प्राप्त करना, काल और स्थान की दूरी को दूर करना, भूतल पर विद्यमान नवीन देशो का अन्वेषण करना आदि। सगठित प्रयत्न द्वारा मनुष्य की उन्नति करना इसका परिणाम है। इसी आधार पर जो राष्ट्र, जो देश अधिक प्रगतिशील हुए, जो देश सभ्य कहलाने लगे उन्होंने अपने उपनिवेशो की स्थापना को न्यायसगत समझा।

संस्कृति और सभ्यता मे मौलिक अन्तर

साधारणतया प्रयोग मे संस्कृति और सभ्यता मे अन्तर नही किया जाता है। वस्तुत देखा जाय तो साहित्य मे भी ये प्राय समानार्थक के तुल्य ही प्रयुक्त होते है। किन्तु किसी जाति और राष्ट्रीय संस्कृति और सभ्यता का ठीक-ठीक माप करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो के मौलिक अन्तर को स्वीकार किया जाय। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओ को सूचित करती है और सभ्यता का परिणाम शारीरिक एव भौतिक विकास है। संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से है और सभ्यता का सम्बन्ध कर्म-कलाप से है। यह साधारण अनुभव मे देखा गया है कि एक व्यक्ति जहाँ तक विचारने और अनुभव करने का सम्बन्ध है, एक प्रश्न पर युक्तियुक्त विचार तो करता है परन्तु जहाँ तक कर्तव्य का सम्बन्ध है वह अविचारपूर्ण ढग से उस पर आचरण करता है। इस अन्तर के कई कारण है। सब से प्रमुख एक कारण यह है कि विचारक और श्रमिक दो विभिन्न वर्गों मे विभक्त है। विधान-निर्माता और राज्याधिकारी दोनो के कर्त्तव्य विभिन्न है। तथा दोनो का कार्यक्षेत्र समान ही है। इसलिए किसी समाज की सास्कृतिक अवस्था और सभ्यता का ठीक निर्णय करने के लिए आवश्यक है कि उसके पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और कला-विषयक कार्यों का परीक्षण किया जाय। पडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "भारत की खोज" मे इस अन्तर को यह कहते हुए स्वीकार किया है कि "समृद्ध सभ्यता मे संस्कृति का विकास होता है और उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित विकसित होते है।" इस प्रकार संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची है और सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थक है। सभ्यता बाह्य क्रियात्मक रूप है और संस्कृति विचारधारा का परिणाम है। सास्कृतिक या बौद्धिक विचारधारा, सभ्यता अर्थात् भौतिक विकास मे परिणत की जाती है। सास्कृतिक अवस्था तथा सभ्यता व्यष्टि एव समष्टि दोनो मे सर्वदा परिवर्तनशील है। ये प्रत्येक युग, प्रत्येक देश एव काल मे बदलते रहते है और किसी भी नियम-शृखला मे बद्ध नही होते है। तथापि इतिहासज्ञो ने मानव समाज की सास्कृतिक अवस्था और सभ्यता की उन्नति को कतिपय

भागो मे विभक्त किया है। समय-निर्धारण बहुत सतुलित रूप मे नही किया जा सकता क्योकि सस्कृति और सभ्यता विभिन्न अवस्थाओ मे, विभिन्न देश और काल मे विभिन्न होती है। मानव-समाज की उन्नति तीन भागो मे विभक्त की गई है—आदिम, मध्यकालीन तथा आधुनिक।

आदिम, मध्यकालीन तथा आधुनिक अवस्थाए

आदिम अवस्था मे व्यक्ति और उनके समुदाय बहुत ही स्वार्थी, अत्यन्त भावनाहीन तथा अतिनिष्ठुर थे। स्वार्थभावना मे मनुष्य केवल अपनी ही चिन्ता करता है और दूसरो के हित की सर्वथा उपेक्षा करता है। जब कोई सर्वथा स्वार्थी होता है तो वह अपने माता पिता, पत्नी और पुत्रादि की चिन्ता भी नही करता है। प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण गाय आदि पशु नवजात बछडे आदि मे अपना प्रेम निबाहते है परन्तु ज्यो ही उनके बच्चे कुछ चलने आदि के योग्य हो जाते है त्यो ही उनका प्राकृतिक सम्बन्ध और परिचय समाप्त हो जाता है। तत्पश्चात् यह भी सम्भव है कि किसी स्वार्थवश एक दूसरे को मार डाले। इस प्रकार से तुच्छ स्वार्थभावना जो कि प्रारम्भ मे बौद्धिक अप्रवृत्ति थी, वह बाद मे क्रियात्मकता मे परिणत होती है। भावनाहीनता बुद्धि की वह अवस्था है जिसमे वह अनुभवहीन हो जाती है और जिस प्रकार अचेतन चर्म-स्पर्श आदि का अनुभव नही करता उसी प्रकार वह भी किसी बात को अनुभव नही करती। इसका परिणाम यह होता है कि उसमे क्रूरता आ जाती है। क्रूरता बुद्धि की उस स्थिति को कहते है जिसमे दूसरे की विपत्ति और उसके कष्ट के अनुभव करने की सामर्थ्य नही रहती। इस अवस्था का परिणाम यह है कि दूसरे को कष्ट पहुँचाया जाता है और उसमे आनन्द का अनुभव किया जाता है। उक्त गुण मुख्यतया आदिम मनुष्यो की बौद्धिक अवस्था को सकेतित करते है, जिसके आधार पर आदिम सभ्यता का निर्णय किया जाता है। इसमे मुख्य गुण पशुपालन था किन्तु उस समय सगठित कृषि और उद्योग अज्ञात था। आजीविका के साधनो मे मृगया और मत्स्य का मारना ये दो मुख्य थे। स्त्री और पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध-विषयक नियम नही थे, प्रथाओ की प्रधानता थी, वयक्तिक सम्पत्ति और वैयक्तिक अधिकार अज्ञात थे। "जिसकी लाठी उसकी भैस" यही नियम मुख्य था, जिसको सबल और निर्बल दोनो स्वीकार करते थे। इस प्रकार से व्यक्ति पारिवारिक प्रधान के अधीन रहते थे, वे उपजाति के मुखियाओ के अधीन रहते थे और वे भी जाति-प्रमुखो के अधीन रहते थे। यह आधुनिक दल-नियन्त्रित राज्यो के अनुरूप है जिसमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नही रहता। वहा तो नैतिकता और धार्मिकता की भावना का अभाव था, अपने पूर्वजो के प्रति इति कर्तव्यता की भावना के कारण उनकी स्मृति मे शाला निर्माण आदि भी अज्ञात था। वे पाषाणकालीन मनुष्यो से उन्नत थे। कला कौशल, अस्त्र-निर्माण एव अग्नि के विविध प्रयोगो मे चतुर थे।

मध्यकालीन सभ्यता मे जीवन का मुख्य लक्ष्य धर्म हो गया। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह प्रतिक्रिया कैसे घटित हुई। मनुष्य प्रत्येक व्यवहार मे धर्म-प्रधान हो

गया। वैवाहिक बन्धन धार्मिक कृत्यो को करने के लिए आवश्यक हो गया। पितृ-पूजा को अविच्छिन्न रखने के लिए पुत्रोत्पत्ति की जाती थी। अन्न पहले यज्ञो द्वारा देवताओ को अर्पित किया जाता था और तदनन्तर जीवन-रक्षार्थ खाया जाता था। स्वास्थ्योपयोगी भवनो की अपेक्षा मंदिर निर्माण मे धन सचय का उपयोग किया जाता था। धर्म-प्रचार के विभिन्न उपाय प्रयोग मे लाए गये। राजाओ का यह प्रमुख कर्तव्य हो गया कि धर्म-प्रचार के लिए युद्ध किये जाय। धर्म के नाम पर सभी प्रकार की क्रूरताए की जाती थी। देवताओ को प्रसन्न करने के लिए मनुष्यो और पशुओ की वलि दी जाती थी, बच्चो की भी वलि दी जाती थी। काल्पनिक देवताओ और आचारहीन पुजारियो के लिये स्त्रियो का सतीत्व बेचा जाता था। गिरिजावर्ग को सर्वाधिकार प्राप्त था। मनुष्यो, स्त्रियो और विधवाओ को बलात अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करने के लिए मठो चैत्यो आदि की स्थापना की गई। पुरोहित सर्वाधिकारी समझे जाने लगे। उनके आदेशो का पालन क्षत्रियो, वैश्यो तथा राजाओ को भी करना पड़ता था। राजा वेदो के भौतिक प्रतिनिधि समझे जाते थे। आदिम दासता का स्थान आर्थिक और राजनैतिक दासता ने ले लिया। वर्ण और जाति प्रथा का विकास हुआ। निर्बलो और स्त्रियो की रक्षा के लिए राजवशो की स्थापना हुई, कृषि, वाणिज्य और उद्योग के विकास को पर्याप्त साधन प्राप्त नही हुए। राजनीति के रूप मे राजनीति की उपेक्षा हुई। राजा ही भूमि के सर्वाधिकारी थे। सेवाओ के उपलक्ष्य मे जागीरदारो को जागीरो का अधिकार दे दिया जाता था। इस प्रकार से सुव्यवस्थित कोई सरकार नही थी और समाज मे कोई व्यवस्था नही थी। जो आदिम कालीन स्वार्थभावना से प्रेरित थे उन्होने इस अव्यवस्था का लाभ उठाया और दूसरो के शोषण के लिए दृढ़ राज्यो की स्थापना की।

यहाँ पर आधुनिक सभ्यता की चर्चा करना उचित है। जहा तक आदिम और मध्य-कालीन सभ्यता का सम्बन्ध है उनके विषय मे समस्त ससार मे प्राय समान ही विशेषताएँ देखी जाती है परन्तु आधुनिक सभ्यता के दृष्टिकोण और क्रिया-कलाप मे उस प्रकार की समानता नही देखी जाती। यह काल्पनिक रूप मे ही समझ लिया जाता है कि आधुनिक सभ्य समाजो मे आदिमकालीन व्यक्ति-हित की भावना का अभाव तथा मध्यकालीन अनुशासन के अभाव का दुर्गुण नही है। आधुनिक सभ्यता का लक्ष्य है कि राज्य की मुख्यता के साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सम्बद्ध किया जाय। इसके लिए एक नीति बना दी गई है जिससे कि व्यक्ति, जाति और राष्ट्रो की सुरक्षा बनी रहे तथा चार प्रकार की स्वतन्त्रताए अर्थात् विचार-स्वातन्त्र्य, भाषण-स्वातन्त्र्य, अन्नवस्त्र की न्यूनता एव भय से स्वतन्त्रता तथा धर्म-स्वातन्त्र्य बना रहे। ये विचार स्पष्टतया असगत और विरोधात्मक है। जब तक यह न मान लिया जाय कि मानव समाज की संस्कृति और सभ्यता मे समानता है तब तक स्वतन्त्रता के विषय मे ये उक्त विचार-कार्यान्वित नही हो सकते है। जब तक ससार के सारे मनुष्य एक ही दृष्टिकोण से विचार नही करेगे तब तक विचार-स्वातन्त्र्य की स्थापना नही की जा सकती। ईसाई मिशनरी, अनुदार दलो, समाज-वादी, वर्गवादी एव साम्राज्यवादी अपने विचारो को दूसरो पर लादेगे। वे दूसरो को बलात्

दबायेंगे जो कि उनके विरुद्ध बोलते हैं। ये आर्थिक नियंत्रणों द्वारा उनको भोजनादि से वंचित करेंगे। इसी प्रकार ये धर्म के नाम पर होने वाली मनुष्य-बलि न होने देंगे। यदि स्वतंत्रता के नाम पर स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों की रक्षा न की जायगी तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। यदि वाणिज्य और व्यापार के नाम पर दूसरों का धनापहरण किया जाता है, उन्हें सताया जाता है और भोजनादि से वंचित किया जाता है तो आधुनिक समाज भी आदिम कालीन समाज के तुल्य ही स्वार्थी, भावनाहीन और निष्ठुर प्रमाणित होगा। यदि विभिन्न धार्मिक प्रथाओं के आचरण की स्वतंत्रता दे दी जाती है तो धर्मान्धता कैसे पनप सकती है। यदि एक समाज के प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण रूप से विचारों और कार्यों की स्वतंत्रता दे दी जाती है तो कभी भी समाज नहीं बन सकता है। जंगल के स्वतन्त्र पशुओं ने कभी उन्नति नहीं की है, उस अवस्था में योग्यतमा-वशेष का नियम ही सत्य सिद्ध होगा।

आधुनिक सभ्यता में भौतिकवाद ही मुख्य है जब कि मध्यकालीन सभ्यता में अध्यात्मवाद और आदिमकालीन सभ्यता में भाग्यवाद की मुख्यता थी। वैज्ञानिक अनुसंधान तथा क्रियात्मक परीक्षणों की पद्धतियां, जिनमें कि पुनर्जन्मवाद के प्रति सर्वथा अविश्वास की भावना है, आधुनिक भौतिकवाद को असंगत बनाये हुए हैं। प्रगति के प्रति दुराग्रह का फल यह होता है कि निर्बलों का नाश किया जाता है और उनकी निर्मम हत्या द्वारा केवल सबलों की ही सुरक्षा होती है। आधुनिक विचारधारा में इस प्रकार की असंगतता स्पष्ट है।

आदर्श संस्कृति और सभ्यता क्या है, इसके विषय में विद्वानों में पर्याप्त किन्तु उचित मतभेद है। आदर्श और उसके साधनों में इस प्रकार का कोई सुन्दर समन्वय नहीं है, जिसके द्वारा आदर्श संस्कृति और सभ्यता का निर्णय किया जाय। जनतन्त्रवाद राज्यसत्ता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सुरक्षित करने में असफल सिद्ध हो चुका है। जनतन्त्रवाद की पद्धति किसी को यह विश्वास नहीं दिला सकती कि विचार-स्वातन्त्र्य, भाषण-स्वातन्त्र्य, कर्म-स्वातन्त्र्य तथा अन्न वस्त्रादि की [illegible] भय से स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी। अब यह परीक्षण किया जा रहा है कि इस जनतन्त्रवाद के स्थान पर अन्य पद्धति का आश्रय लिया जाय जिसमें सब को समान रूप से उन्नति का अवसर मिले तथा विशिष्टवर्ग को ही सुविधा न दी जाय। इस पद्धति में दोष यह है कि समाज की संगठित शक्ति पैतृक या संचित धन-सम्पत्ति की समानता कर सकती है परन्तु [illegible] दत्त बुद्धि और व्यक्तियों के जन्मसिद्ध गुणों को समान नहीं कर सकती, जिसके आधार पर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देकर समान रूप से उन्नत किया जा सके। [illegible] निवासस्थान की व्यवस्था उनके कार्यों के गुणावगुण की उपेक्षा [illegible] है परन्तु सब को एक प्रकार से ही शिक्षाओं में शिक्षित नहीं किया जा [illegible]। [illegible] और समानाधिकार की पद्धति को उपयोग में लाने पर भी कतिपय [illegible] किसी का उत्थान कर देगा और किसी को उन्नति से वंचित रखेगा। प्रारब्ध की [illegible] अनुभवसिद्ध है। इस प्रकार से यह प्रश्न उठता है कि

व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिये। इसका निश्चय उसके अधिकारों द्वारा होना चाहिये या उसकी सेवाओं से। एक विचारधारा का मत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिये कि उसको निर्विघ्न कार्यक्षेत्र प्राप्त हो और किसी की दया की अपेक्षा न करे। इस प्रकार अपने गुण और कर्तव्यों के अनुरूप ही उन्नति के स्तर पर पहुँच सके। दूसरी विचारधारा का मत है कि प्रत्येक मनुष्य केवल अपनी सत्तामात्र के कारण सुखी जीवन यापन का अधिकारी है। वह समाज की क्या और कितनी सेवा करता है इस पर विचार आवश्यक नही है। किसी भी व्यक्ति को निश्चित निर्धारित पुरस्कार से अधिक कम प्राप्त नही हो सकती है। इस विषय मे कोई प्रश्न नही उठता है कि दोनो आदर्शो मे से कौन सा आदर्श बौद्धिक उन्नति को प्रेरणा देगा और स्वाभिमान की दृष्टि मे भी ग्राह्य है।

हिन्दू सभ्यता ने इस वैयक्तिक अन्तर को पूर्व जन्म के कृत कर्मो का फल अथवा भाग्य का परिणाम माना है। साथ ही यह भी विश्वास किया जाता है कि नियति चक्र को ईश्वर ही बदल सकता है, यदि उसको प्रार्थना, उपासना और सुकृत्यो द्वारा प्रसन्न किया जाय। प्रत्येक व्यक्ति इस जीवन मे शुभ कृत्यो द्वारा भविष्य के लिए अपना भाग्य अच्छा बना सकता है। आर्य संस्कृति इसे ही विश्वास पर प्रतिष्ठित है। इस कर्मफल-व्यवस्था को मानने का लाभ यह है कि इसके द्वारा मानव जीवन के अन्तर का समाधान हो जाता है जिसका अन्य किसी प्रकार से कोई समाधान नही है। यह वैयक्तिक न्यूनताओ और हीनता की भावना के कारणो का परिचायक है। किन्तु कर्मवाद प्रत्येक को प्रोत्साहित करता है कि वह अपने वैयक्तिक प्रयत्नो द्वारा अपनी उन्नति कर सकता है और अपना भविष्य समुन्नत बना सकता है। इस प्रकार से यह आदिम कालीन भाग्यवाद को पार करता है, सामाजिक अनुशासन जिसका मध्यकाल मे अभाव था उसको पुष्ट करता है, जो कि आधुनिक समाज का भी लक्ष्य है। इस संस्कृति का यह भी अभिमत है कि मनुष्य मात्र समान है क्योंकि मनुष्य मात्र एक ही परमात्मा की सन्तति है। जाति-भेद और वर्णभेद से उनमे अन्तर नही है। कतिपय नियमो का भी उल्लेख किया गया है जिसमे कि यह समानता प्राप्त हो सके, इसके लिए ऋषियो ने जिन नियमो को निर्धारित किया है तदनुसार आचरण करना चाहिए। गार्हस्थ्य, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक नियमो मे जो स्थूल अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह इसीलिए है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने जीवन की सुविधाओ के अनुसार उन्नति कर सके। जैसा कि आजकल आधुनिक सभ्यता के द्वारा निर्दयता-पूर्वक शोषण पद्धति का आश्रय लिया जा रहा है और निर्बल को पददलित किया जा रहा है, इस प्रकार की कोई नीति इस संस्कृति मे दृष्टिगोचर नही होती। वस्तुत यदि पैतृक भावना से प्रेरित होकर क्रमिक और नियमित उन्नति के लिए निर्धारित सुविधा दी जाती है तो बालक शीघ्र उन्नति करते है, यदि उनको युवकों के योग्य विस्तृत सुविधा दी जाय तो वे उतनी उन्नति नहीं कर सकते है। एक सूबेदार पदो की क्रमिक उन्नति द्वारा ही एक अच्छा सेनानायक हो सकता है,

एक स्त्री शिशु-न्यायालय की अधिक अच्छी न्यायाधीश हो सकती है यदि वह माता के कर्तव्यों को जानती है और विधान के नियमों से परिचित है।

हिन्दू स्मृतिकारों ने इन तथ्यों को स्वीकार किया है और उन्होंने परिवार, समाज, जाति, कृषि, उद्योग, वाणिज्य और व्यापार के लिए नियम बनाये हैं। राजाओं और शासकों के लिए तथा नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी नियम बनाये हैं। इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य यह है कि आर्य संस्कृति और हिन्दू सभ्यता के विषय में जो नियम प्राप्त होते हैं, उनका निष्पक्ष न्यायोचित परीक्षण किया जाय तथा उनके स्वतःसिद्ध निष्कर्ष का उल्लेख किया जाय। यहाँ पर यह प्रयत्न किया गया है कि तथ्यों का प्रकाश किया जाय और शिलालेखों आदि में प्राप्य विचारों को ठीक-ठीक प्रस्तुत किया जाय।

हम इस समय अपने राज्य का स्वयं संचालन कर रहे हैं अतः हमें अपने अतीत का विस्मरण नहीं करना चाहिए। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है (भारत की खोज पृष्ठ ८ और १०) कि "अतीत हमारे साथ है, हम जो कुछ हैं तथा हमारे पास जो कुछ है वह अतीत की सम्पत्ति है। हम उसी की देन हैं और हम इसी में लीन होकर जीवित हैं। अतीत को जीवित न समझना और न अनुभव करना वर्तमान को न समझना है। उसका वर्तमान के साथ सम्बद्ध करना, भविष्य के लिए अविच्छिन्न बनाये रखना, जहाँ पर सम्बद्ध न किया जा सके वहाँ पर उसको छोड़ देना, इसको विचार और क्रिया के लिए सजीव और प्रगतिदायक पदार्थ बनाना, यह जीवन है। व्यक्तियों का ही नहीं अपितु जातियों का भी दीर्घ अतीतकाल मनोवैज्ञानिक क्रियाकलाप के लिए पृष्ठभूमि निर्माण करता है। सारे जातीय स्मारक, वंश परम्परा का प्रभाव, शिक्षा और परिस्थितियों का प्रभाव, आन्तरिक प्रेरणा, बाल्यकाल से लेकर किये गए विचार, स्वप्न तथा काम, ये अत्यन्त विचित्र सम्मिश्रित रूप में किसी कार्य की ओर प्रेरित करते हैं [illegible] वह कार्य पुनः भावी कार्यों को प्रभावित करता है।

[illegible] सभ्यता की प्राचीनता के विषय में कोई विचार आवश्यक प्रतीत नहीं होता। [illegible] समाज के इतिहास में कोई भी सभ्यता नील, दिजिल, यूफ्रेट्स, सिन्धु और गंगा के [illegible] पर उत्पन्न हुई सभ्यता से प्राचीनता का अभिमान नहीं कर सकती। यूनानी सम्वत् [illegible] ७८ [illegible] पूर्व प्रारम्भ होता है। यूनानी सभ्यता का प्रारम्भ ईसा से ३००० वर्ष [illegible] बिहार रिसर्च सोसाइटी के अनुसार इसका प्रारम्भ ईसा से ४००० वर्ष पूर्व [illegible] शिलालेखों में जो परिचय प्राप्त होता है उसके अनुसार [illegible] पूर्व है। भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ निर्विवाद रूप से ईसा से ५०००, [illegible] माना जाता है। इसमें हमारे साहित्य, आर्थिक, राजनीतिक [illegible] निहित है।

लोक-संस्कृति का आगममार्ग

महामहोपाध्याय प० नारायणशास्त्री खिस्ते

ऋषियो की-सी ऋजुता, छन्दोमयी भाषा, अलकारो-सी सुधरी हुई चेतना है श्री खिस्ते जी की। आपने गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज काशी के प्रधानाचार्य-पद पर रहकर अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया है। प्रस्तुत लेख मे आपने आगम-तत्रो द्वारा लोक-सस्कृति की सैद्धान्तिक व्याख्या की है।
—सपादक

भारतवर्ष मे अनादिकाल से अनेक प्रकार की उपासनाएँ और दिव्य, वीर, पशुभाव आदिभाव एव आचार परम्परागत प्रचलित है।

यद्यपि 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' इस वचन के आधार पर प्रचलित सभी धर्मो का मूल वेद ही है किन्तु यह कहना कठिन है कि भारतीय सस्कृति के मूल आधार वेद है। क्योकि कुछ विद्वानो का मत है, कि वैदिक काल से भी पूर्व एक सस्कृति यहाँ थी। वेद को 'श्रुति' कहा जाता है। श्रुति का अर्थ है सुनना। वेदको श्रुति अथवा आनुश्रविक कहते है। 'आनुश्रविक' शब्द का अर्थ है 'गुरुपरम्परयाऽनुश्रूयते इत्यानुश्रविका' अर्थात् गुरुपरम्परा से ही जो सुना जाता है उसीको श्रुति कहते है। मनुस्मृति की टीका मे टीकाकार कुल्लूक भट्ट लिखते है—"श्रुतिर्द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च" अर्थात् श्रुति की दो धाराएँ है—एक वैदिकी और दूसरी तान्त्रिकी। इससे यह स्पष्ट है कि तत्रकी धारा भी वेद की धारा के साथ ही साथ प्राचीन काल से भारत मे चलती आ रही है। पहले तो ये दोनो धाराएँ अलग-अलग चलती रही, बाद मे देश-काल-परिस्थिति के कारण जो धारा प्रबल हुई, उसने दूसरी धारा को भी आत्मसात करने का प्रयत्न किया। इसी कारण आज विभिन्न तान्त्रिक पद्धतियो मे तथा वैदिक पद्धतियो मे वैदिक तथा तान्त्रिक आचारो का मिश्रण पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि वर्त्तमान मे शुद्ध वैदिक पद्धति अथवा शुद्ध तान्त्रिक पद्धति दुर्लभ है तो अनुचित न होगा।

वैदिक तथा तान्त्रिक विचार धाराओ मे मूलगत भेद सूक्ष्म विचार करने से यही प्रतीत होता है कि वैदिक पद्धति मे बाह्य शौचाशौच-विवेक तथा भेद-भावना का प्राचुर्य्य है। तान्त्रिक धारामे मूल से ही अद्वैत भावना का प्राबल्य होने से भेदमूलक बाह्य शौचाशौच-विवेक नही है। निष्कर्ष यह है कि शुद्ध वैदिक सस्कृति भेद-भाव मूलक कर्म-प्रधान है। शुद्ध तान्त्रिक सस्कृति अभेदमूलक भावप्रधान है। जहाँ वैदिक सस्कृति मे वेदध्वनि सुनना भी शूद्रादि के लिए सर्वथा वर्जित है, वहाँ तान्त्रिक सस्कृति सारे विश्व के लिए भेद-भाव छोडकर अपने द्वारा उन्मुक्त कर

देनी है। दोनो संस्कृतियो मे अधिकारियो का विचार तो अवश्य ही करना पडता है। उन-उन संस्कृतियो मे दीक्षा देने का अधिकार जिन महात्मा गुरुजनो पर होता है, वे लोग अधिकारियो की अन्तर-बाह्य स्थितियो का सम्यक् निरीक्षण करके तदनुसार ही अधिकारियो को तत्तत् संस्कृतियो मे दीक्षित करते है।

आज भारत मे इस प्रकार के सिद्ध योगी महात्मा गुरुजन प्राय दुर्लभ है, फिर भी सर्वथा अप्राप्य है, ऐसा नही। सच्ची लगन से खोज करने वाले तथा तत्तत् वैदिक तान्त्रिक शास्त्रो का अनुशीलन करने वाले सज्जनो को वे कभी-कभी प्राप्त हो ही जाते है।

यदि यह कहा जाय कि शुद्ध वैदिक संस्कृति का क्षेत्र सकुचित है, तथा शुद्ध तान्त्रिक संस्कृति का क्षेत्र व्यापक है तो अनुचित न होगा। इन्ही वेद तथा तत्रो को निगम तथा आगम शब्द से भी कहा जाता है। 'त्रिपुरा रहस्य' माहात्म्य खण्ड मे एक वाक्य है—"वेदो ह्यागमभागस्याच्छाब्दराशिस्तथाऽऽगम"। तात्पर्य यह है कि आगम व्यापक है। वेद आगम का एक भाग है और आगम स्वय शब्दराशि रूप है। 'आगम' शब्द का और भी एक निर्वचन पाया जाता है—

"आगत शिववक्त्रेभ्यो गत च गिरिजाश्रुतौ।
मत च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥"

तात्पर्य यह है कि जो तत्त्व शिवजी के पचमुखो से निकल कर भगवती पार्वती जी के कानो मे गया और भगवान् वासुदेव ने भी जिसको मान लिया, वही आगम है। इस प्रकार आगम की व्यापकता सिद्ध होती है। यही निगमागम भारतीय सस्कृति के मूल स्रोत है। दिव्य दृष्टि वाले महात्माओ ने इन्ही दोनो धाराओ का समन्वय कर विभिन्न अधिकारियो के कल्याण के लिए भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ चलायी, जिनसे सारे विश्व का कल्याण हो।

आगम मार्ग प्राणिमात्र के लिए खुला है। केवल मनुष्य ही नही, अपितु पशु-पक्षी आदि को भी दीक्षा द्वारा उसी जन्म मे ब्रह्म सायुज्य प्राप्त कराने का मार्ग बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि ये दोनो धारायें परस्पर विरोधी नही है।

धार्मिक लोक-संस्कृति के कतिपय स्रोत

शुभमूर्ति श्री रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर

विहार के राज्यपाल महामहिम श्री रगनाथ दिवाकर जी कर्नाटक की उन विभतियो मे से है, जिन्होने राजनीति के नीरस-विसवादमय क्षेत्र मे रहकर साहित्य और पत्रकारिता को अपनी रसवती भाव-धारा द्वारा हरी-भरी वनाये रखने का श्रेय प्राप्त किया है। आपने अपने इस लेख मे लोकसस्कृति से सवधित कतिपय धार्मिक-चित्र अकित किये है।
—सपादक

अन्य विषयो की भाति सस्कृति के क्षेत्र मे भी, वर्ग-जीवन और सामूहिक लोक-जीवन मे अन्तर रहा है। वर्ग से मेरा अभिप्राय उन लोगो मे है, जो धनवान् है, जिनके पास अवकाश है, जो शिक्षित है। शेष सव समूह के अन्तर्गत है। किन्तु सस्कृति अथवा सस्कृति के वे पहलू, जो सामूहिक लोक-जीवन मे समाविष्ट नही है, अल्पकाल मे ही एकागी और निस्तेज होकर पतनोन्मुख होने लगते है। इसीलिए सस्कृति एव मानवजाति के वास्तविक प्रेमियो ने सदैव लोक-समूह से सम्वन्ध स्थापित करने के नवीन साधनो को खोज निकालने तथा उनको अपने पक्ष मे मिलाने का प्रयत्न किया है। इसका परिणाम वहुत श्रेयस्कर हुआ है और दोनो के वीच की खाई को पाटने के नवीन स्रोतो की उद्भावना हुई है। इस आदान-प्रदान के कारण ही सस्कृति की जडे जीवन की गहराई मे प्रविष्ट हो सकी और दूर तक फैल सकी है।

यहाँ मै अपने को केवल धार्मिक सस्कृति और शब्द एव ध्वनि के साधन-द्वारा उसके विस्तार तक ही मर्यादित रख रहा हूँ। यदि राजनीति की शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो मै कह सकता हूँ कि लगभग तीन हजार वर्षो से भारत मे धार्मिक सस्कृति को लोकतत्रात्मक रूप देने की प्रक्रिया चलती रही है। जव वेद और उपनिषद् वर्गो तक अवरुद्ध रह गये तव वाल्मीकि और व्यास—जैसी महान् प्रतिभाओ ने पुराणो की रचना की। किन्तु उन्होने नवीन प्रकरणो का आविष्कार नही किया। महाकवि-सुलभ अपने दुष्प्राप्य अन्तर्ज्ञान एव कल्पना से उन्होने जातीय चेतना पर तैरते हुए चित्रो तथा चरित्रो को ही रूप और जीवन दे दिया। उन्होने उनको उस धार्मिक एव नैतिक सस्कृति मे मडित किया जो ऋषियो-मुनियो से उनको विरासत के रूप मे प्राप्त हुई थी। उन्होने उन सव को असीम सौन्दर्य एव रस से परिपूर्ण शब्द एव स्वर का वस्त्र पहनाकर चिन्मय कर दिया। इस प्रकार महाभारत पचम वेद वन गया और

रामायण की कथा ने प्रत्येक गृह में प्रवेश करके प्रत्येक मानव के हृदय में अपना स्थान बना लिया।

तब से पुराणों की संख्या बढ़ती गई। इस तथ्य से उनके आदि स्रष्टाओं द्वारा गृहीत-शैली की लोकप्रियता ही सिद्ध होती है। अनेक प्रान्तों में पुराणों की सार्वजनिक कथा, धार्मिक शिक्षण और ईश्वरस्तुति का एक नियमित माध्यम बन गई है। कर्नाटक एवं महाराष्ट्र में कभी-कभी सप्ताह, पक्ष, मास—यहाँ तक कि सम्पूर्ण चातुर्मास भर रामायण अथवा भागवत की सार्वजनिक कथा होती है, जिसका अन्त 'मंगलोत्सव' में होता है।[1]

यद्यपि पुराण धार्मिक संस्कृति के लोकप्रिय साधन बने रहे, किन्तु भक्तिमार्ग के प्रचार एवं प्राधान्य के साथ-साथ तथा समस्त भारत में संतों द्वारा उसका प्रसार होने पर कीर्तन की प्रतिष्ठा हुई।

नारद इस भक्तिमार्ग के प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों में कीर्तन की बड़ी महिमा है। यह नवधा भक्ति का द्वितीय सोपान है। इसको सरल होने का श्रेय भी है और कथा-भाग के बन्धन से रहित होने के कारण उसमें हल्कापन एवं सुगमता भी है। फिर संगीत के संयोग के कारण यह श्रोता-मण्डली को सहज ही आनन्द-विभोर कर देता है।

भारत के विभिन्न प्रान्तों में कीर्तन ने अनेकविध रूप ग्रहण किया है। कुछ प्रान्तों में यह भगवत्स्तुति और भगवल्लीला-सम्बन्धी सरस संगीतात्मक पदों या भजनों के रूप में प्रचलित है। परन्तु कर्नाटक एवं महाराष्ट्र में वह एक नियमित साहित्यिक शैली के रूप में विकसित हुआ है। बहुधा नल-दमयन्ती या द्रौपदी-स्वयंवर जैसा कोई पौराणिक आख्यान इसका आधार होता है किन्तु उस कथा के प्रवचन में गीत, संगीत और भजन इत्यादि का उचित [illegible] किया जाता है। कीर्तनकार प्राय वर्तमान परिस्थिति का [illegible] करते हुए प्राचीन [illegible] की स्थिति से तुलना भी करते जाते हैं। इस प्रकार [illegible] कीर्तनकार के [illegible] के प्रदर्शन की काफी गुंजाइश रहती [illegible] है। मैंने दस-दस, [illegible] कीर्तनों को सुनते हुए देखा है।

[illegible] यह निष्कर्ष निकाला जा सकता [illegible] हुआ होगा। यह प्रार्थना और [illegible] भी [illegible] पर सरलतापूर्वक

[illegible] चलती [illegible] आश्चर्य-[illegible]।

किया जा मकता है तथा आयु, जाति अथवा यौन-भेद के किमी प्रतिबन्ध के बिना इसमे सब शामिल हो सकते है। फिर भजन मे किमी प्रकार के अनुष्ठान अथवा मामग्री की आवश्यकता नही होती। फिर इसमे सबसे बडा लाभ यह है कि मामहिक रूप मे भी इसका प्रयोग किया जा मकता है और प्रत्येक व्यक्ति समान उत्साह एव स्फूर्ति के माथ इसमे भाग ले मकता है। पूर्वलिखित अन्य दो प्रणालियो की भाति इसने भी विभिन्न प्रान्तो मे विभिन्न रूप ग्रहण किया है। कही तो अत्यन्त सरल है जिसमे मजीर-झाझ-करताल इत्यादि की ध्वनि के माथ नाम स्मरण किया जाता है अथवा एक ही पद की पुनरुक्तियाँ होती है, जब दूमरे स्थानो मे तबला, तम्बूरा तथा अन्य वाद्यो के साथ भगवन्नाम-मालिका का गायन होता है। अनेक मठो, मन्दिरो तथा आश्रमो मे यह दैनिक कार्यक्रम मे सम्मिलित हो गया है। अपने जीवन के उत्तरकाल मे अपनी दैनिक प्रार्थनाओ को सार्वजनिक रूप मे करके गाधीजी ने 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' भजन को बहुत ही लोकप्रिय बना दिया।

आज भी ये सब रूप प्रचलित है। वे जन-समूहो के बीच अत्यन्त लोकप्रिय है। किन्तु अग्रेजी शिक्षित लोग, जो जनसमूहो द्वारा प्यार की जानेवाली अनेक वस्तुओ के लिए अजनबी से हो गये है, इनकी ओर विशेष रुचि नही रखते। बहुत—से, जो व्यापक रूप मे इनका प्रयोग करते है, इस बात की ओर ध्यान देने की विशेष चिन्ता नही करते कि ये चीजे समाज के तथाकथित निम्नतमतल के लोगो के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखती है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि धार्मिक सस्कृति के सरलतम साधनो का व्यापक उपयोग उन लोगो से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किया जाय जिन्हे हमने अपने से सबसे दूर समझ रखा है। सभी सस्कृति-प्रेमियो का कर्तव्य है कि वे उसे दीनतम गृहो एव अत्यन्त अज्ञान व्यक्तियो तक पहुँचाये और वह भी सरलतम रूप मे पहुँचाये। केवल यही एक उपाय है जिमसे किमी भी सस्कृति को वास्तविक लोक-सस्कृति का रूप दिया जा सकता है और उसके जीवन एव विस्तार की रक्षा की जा सकती है।

वैदिक-संस्कृति के मूलतत्त्व

प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

आयु मे वैदिक सीमा के निकट पहुचते हुए परन्तु उत्साह मे चिर-तरुण, संध्या और उषा जैसे एकत्र चल रहे हो, इस अविश्वसनीय वातावरण मे प्राचीन श्रद्धा के प्रतीक-से सातवलेकर जी है। कदाचित् ही किसी और विद्वान् ने वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय मे इस प्रकार नवीन दृष्टि का समावेश किया हो। किसी व्याख्या के सम्बन्ध मे उनका किसी से मतभेद भले हो पर वैदिक अध्ययन मे उनकी देन अप्रतिम है, इसे कोई अस्वीकार न करेगा। —सपादक

संस्कृति की उद्देश्य-भूमि

आज कल बहुत से विद्वान् संस्कृति का निर्देश स्थान, काल और धर्म के साथ करते हैं, जैसे इजिप्शियन संस्कृति, ईरानीयन संस्कृति, बाबिलोनियन संस्कृति आदि निर्देश स्थान के साथ संबंध रखते हैं। प्राचीन संस्कृति, अर्वाचीन, संस्कृति, मध्यकालीन संस्कृति आदि निर्देश काल के साथ संबंध रखते हैं, तथा हिंदू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, बुद्ध संस्कृति, क्रिस्ती संस्कृति आदि निर्देश धर्म के साथ संबंध रखने वाले हैं।

भारतीय ऋषि-मुनि और तपस्वियों ने जो संस्कृति का विचार किया था, वह स्थान-काल और धर्म के साथ संबंध रखने वाला नहीं था, यह सबसे प्रथम समझना आवश्यक है। उन ऋषि-मुनियों और तपस्वियों के समय स्थान और काल तो थे ही, पर बुद्ध, जैन, पारसी क्रिस्ती अथवा मुसलमानी पंथों का अस्तित्व ही उनके सामने नहीं था। इस कारण "मेरा पंथ श्रेष्ठ और दूसरों का निकृष्ट" ऐसी संकुचित भावना ही उस समय नहीं थी। ये सब आधुनिक पंथ उत्पन्न होने के पूर्व, जिस समय कोई मतमतान्तर उत्पन्न ही नहीं हुआ था, उस समय वसिष्ठ, [illegible] भरद्वाज आदि वैदिक द्रष्टा ऋषि इस भूमि पर निवास करते थे। उनको आधुनिक [illegible] की कल्पना भी नहीं थी।

[illegible] पृथ्वी पर [illegible] मानव जाति थी और उसकी उन्नति का विचार उनके [illegible] के कारण संस्कृति के भेद हो सकते हैं, यह कल्पना भी उनके [illegible]।

[illegible] भेद भी उनके सामने नहीं थे, क्योंकि वे जानते

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे
ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥

ऋ० १०।७१।७

'सभी लोग आँखवाले और कानवाले होते हैं पर मन के वेग में वे समान नहीं होते हैं। जैसे कई जलाशय गले तक पानी वाले, कई जलाशय छातीतक उथले होते हैं, और कई तो जितने चाहिये उतने गोते लगाओ उनकी गहराई का पता नहीं लगता ऐसे होते हैं।'

अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, आत्मा आदि का अस्तित्व सभी मनुष्यों में होता है। इस दृष्टि से सब मनुष्य समान ही हैं। पर मनबुद्धि की गहराई और इन्द्रियों की सत्कार्य-तत्परता के विषय में मनुष्यों में भिन्नता होती है। ऋषि-मुनि जो वैदिक समाज में हुए थे उनके सामने यही दृष्टि थी। इस कारण उनकी विचार-धारा में संस्कृति के संबंध में स्थल, काल और पन्थ के विभेद आ ही नहीं सकते थे। वे तो 'मानव की सभ्यता' कैसी हो सकती है, 'मानव की संस्कृति' कैसी होगी, इसीका विचार करते थे। इसलिये इस परिस्थिति को ध्यान में रख कर उनके वचनों पर विचार करना चाहिये।

इन्द्रियाणि पराण्याहुः
इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः
यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

भ० गी० ३।४२

"शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, और बुद्धिसे आत्मा श्रेष्ठ है।" ये सब पदार्थ सब मानवों में समान रीति से रहते हैं। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, इसलिये मन के अधीन इन्द्रियाँ रहनी चाहिये। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है इसलिये बुद्धि द्वारा मन और इन्द्रियों का संयम होना योग्य है। ये जो नियम हैं वे सब मानवों के लिये सम हैं। मनुष्य किसी काल का हो, किसी देश का हो, और किसी मतमतान्तर का हो, सब के सब मानवों के लिये मन और बुद्धि द्वारा शरीर और इन्द्रियों को स्वाधीनता करने का अनुशासन समान ही है।

आजकल के मनुष्य देश (स्थल), काल और पन्थ की मर्यादा से ही सोचते हैं। यूरोप का मानव, [illegible] का मानव, ऐसे अनेक मानव के समूह आज के विचारकों के सामने हैं। आज अनेक पंथ भी हैं। इसलिये आज के मानवों को इन मर्यादाओं को छोड़कर केवल मानव की उन्नति का ही विचार करना अत्यन्त कठिन है जो वैदिक समय में सहज था।

सच देखा जाय तो गौर, लाल, पीले, श्याम और कृष्ण ऐसे पाच वर्णो के लोग इस पृथ्वी पर हे। और इन सब वर्णो के मानवो मे शरीर-इन्द्रियां-मन-बुद्धि-आत्मा ये पदार्थ है। किसी मे ये नही, ऐसी बात नही। इसीलिये मनुष्य की उन्नति का विचार करना हो, तो इनका ही विचार करना चाहिये। मनुष्य किसी देश का हो, किसी काल का हो अथवा किसी पन्थ मे हो, उसकी सस्कार-सपन्नता का विचार करना हो, तो उसके शरीर मे रहे इन पदार्थो का ही विचार करना चाहिये। इनकी सस्कार-सपन्नता कैसी हे, इसके सस्कारो के मूल्यमापन से उस मनुष्य का मूल्य-मापन हो सकता है।

सस्कारसंपन्न भारतीय संस्कृति

'भारतीय सस्कृति' का उच्चारण करने मे भारत देश की सस्कृति ऐसा भाव सबके मन मे उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण इतना ही है कि आज हम स्थान की मर्यादा से ही सोचते है। वस्तुत 'भारतीय सस्कृति' का आशय **"प्रकाश के मार्ग से अनुष्ठान करने से प्राप्त होने वाली सस्कार सपन्नता"** है। (भा+रत) 'भा' अर्थात् प्रकाश मे, प्रकाश के मार्ग मे 'रत' अर्थात दत्तचित्त होकर अनुष्ठान करने से जो सस्कार सपन्नता मनुष्य मे बढती है, वह भारतीय सस्कृति है।

'अर्चिरादि मार्ग' और **'धूम्रादि मार्ग'** ऐसे दो मार्ग वेद के मत्रो मे भी प्रसिद्ध है। इनको ही **'शुक्ल-कृष्णगती'** (गीता मे) कहा है। **'प्राण और रयी'** ये नाम उपनिषदो मे है, तथा **'देव और पितर'** ये नाम वेदो मे है। सबका अर्थ 'प्रकाशमार्ग' और 'अन्धकार मार्ग' यही है। प्रकाश मार्ग से जाने का नाम ही 'भा+रत' होने का अवलम्बन करना है। 'ज्ञानमार्ग' यह है इसका भाव।

'भारत धर्म' और 'भारत सस्कृति' का यह भाव है, जो स्थान और काल की मर्यादा मे नही बाधा गया है। मानवी सस्कृति का भी अर्थ मनु द्वारा बतायी गयी सभ्यता' नही है, परन्तु मानव की सस्कार सपन्नता उसका अर्थ है। इसी तरह इस अथवा अनेक शब्दो के भाव विचारपूर्वक समझने चाहिये।

इस सारे विवरण का तात्पर्य यही है, कि मानवो की सभ्यता का विचार जिस दृष्टि से प्राचीन ऋषि लोग करते थे उसी शुद्ध दृष्टि से हमे विचार करना चाहिये। यदि हम स्थान, काल और पन्थ की मर्यादा से ही विचार करेगे तो हमे सच्ची मानवीय सस्कृति की और उसके साधनो की कल्पना भी नही हो सकेगी। सदा हम स्थान काल और मतमतान्तरो के कीचड मे ही फसा रहेगे।

संस्कृति का ध्येय

[illegible] है। प्रत्येक मनुष्य के [illegible]

हो सकती है। इस शक्ति-संवर्धन में और संस्कार-संपन्नता में मानव का अतिमानव बनना यह संस्कृति का ध्येय है। इसी को जीव का शिव, नर का नारायण, बद्ध का मुक्त होना कहते हैं। संस्कृति का यही अन्तिम साध्य है।

संस्कृति का स्वरूप

'संस्कृति' का अर्थ 'सम्यक् कृति' है और 'संभूय कृति' भी है। अर्थात् मनुष्य व्यक्तिगत 'सम्यक् कृति' करता रहे और सबका 'संभूय कृति' भी करे। व्यक्ति-द्वारा तथा सबजीवन-द्वारा जिस समय सम्यक् कृति होती है, उस समय वह 'सम्यक् कृति' मानव को अतिमानव बनाने में समर्थ होती है। मनुष्य के दो जीवन हैं, एक वैयक्तिक जीवन और दूसरा सामाजिक जीवन। इन दोनों प्रकार के जीवनों में मनुष्य को सम्यक् कृति करनी चाहिये। इसमें उसकी संस्कार-संपन्नता बढ़ती है, जो उसको जीव से शिव बना देती है। मानवी-संस्कृति का यह ध्येय है। इस में संपूर्ण मानवी शक्तियों की संस्कार-संपन्नता अभीष्ट है और यह योग्य अनुष्ठान के बिना सिद्ध नहीं हो सकती।

वैदिक धर्म की प्रणाली में मानव की एक-एक शक्ति का निर्देश करके, उसके समविकास का अनुष्ठान बताया गया है। बारीक-बारीक मध्य अवस्थाओं में आने वाले विघ्नों और अन्तरायों को दूर करने के साधन भी यहां बताये हैं। इस तरह किसी भी अन्य धर्म और मतमतान्तर में नहीं बताया गया है। यह इस धर्म की विशेषता है।

इस समय इस भूमिपर अनेक धर्म हैं। अनेक मतमतान्तर हैं। इनमें मनुष्य की प्रत्येक शक्ति का समविकास करने का विचार जैसा वैदिक धर्मियों के योगशास्त्र ने किया है, वैसा किसी ने किया है, ऐसा देखने में नहीं आता। ईसाई और मुस्लिम आदि धर्म तो प्रेषित पर केवल विश्वास रखने से ही मानव का तारण होता है, ऐसा मानते हैं। भारतवर्ष में उत्पन्न हुए वैदिक धर्म, जैन तथा बुद्ध धर्म इनमें मानव के शक्ति-विकास की कल्पना है। पर जैन बौद्धों में वैदिक धर्म के सान्निध्य से ही वह अनुष्ठान पद्धति आयी है। तथापि इस विषय की स्पष्टता करने के लिये हम यहां इनकी तुलना करते हैं।

जैन और बौद्ध विचार-धारायें

१ यह सृष्टि नश्वर है, दुःखमय है। विकारी है। यह जगत् एक बड़ा कारागृह है। अतः इस को छोड़ना चाहिये। इससे मुक्त होना चाहिये।

२ मनुष्य पापभोग के लिये जन्म धारण करता है और इस जगत् में आकर दुःख भोगता है। यहां दुःख अधिक और सुख लेश मात्र है।

३ स्त्री के कारण जन्म होता है। इसलिये स्त्री पाप दुःख आदि की खान है। इस कारण स्त्री का परित्याग करना चाहिये। स्त्री संबंध वर्ज्य करना उचित है।

४ शरीर ही बन्धन है, यह शरीर एक पिंजरा है, कारागृह का कमरा है। इस कारण इस को छोड़ने के लिये, अथवा क्षीण करने के लिये उपवास करना चाहिये।

इस तरह की विचार-धारा शुरू होने से दीर्घ उपवास करने की प्रथा इन सम्प्रदायों में प्रचलित हुई। शरीर क्षीण करना, स्त्री संबंध न करना, यति धर्म का अवलंबन करके स्त्री से दूर रहना आदि जो आचार का जाल इन पन्थों में दीखता है, वह इन सम्प्रदायों की इस तरह की विचार-धारा में ही निर्माण हुआ है।

धर्म के दो विभाग

धर्म में एक आचार का भाग होता है, अर्थात् सत्य पालन करना, चोरी न करना आदि। यह आचार प्रायः सब सम्प्रदायों में समान ही होता है। धर्म में दूसरा सिद्धान्त का अथवा मन्तव्य का विभाग रहता है। इसमें बड़ी भिन्नता होती है और इस कारण उस मन्तव्य के परिणाम अनुयायियों में दूर तक पहुंचते हैं। इसलिये हम यहां इन सिद्धान्तों की थोड़ी सी तुलना करेंगे।

आज हिंदू धर्मियों में 'जगत क्षणभंगुर है, जगत् दुःखमय है' ये विचार घुसे हुए हैं, ये बुद्ध धर्म के विचार हैं। ये विचार इस समय भारत भर में फैले हैं। सभी साधु सन्तों ने ये विचार फैलाने में बहुत प्रचार कार्य किया है। कोई एक भी ऐसा साधु सन्त नहीं है, कि जो जगत् को क्षणभंगुर और दुःखदायक न मानता हो। प्रथम भगवान् गौतम बुद्ध ने इस जगत् को क्षणभंगुर और दुःखमय कहा। अशोक के भिक्षुओं ने इसका खूब प्रचार किया, साधुसन्तों ने इसी क्षणभंगुरवाद को और दुःखवाद को फैलाया और आज के धार्मिक कथा-कीर्तन-प्रवचनकार भी यही करते हैं। यह जगद्विचार हिंदुओं के सब साधारण सामूहिक मन पर स्थायी भाव से बैठ गया है!!! धार्मिक हिंदू इस सारे जगत् को क्षणभंगुर और दुःखदायी मानता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जगत् छोड़ने के बिना स्थायी सुख नहीं मिलेगा ऐसी एक भावना हिंदुओं के मन पर स्वाभाविक रीति से छा गयी है।

जगत् को छोड़े बिना ईश्वर-प्राप्ति नहीं, यह दूसरा विचार हिंदू के मन में है। जगत् छोड़ने का विचार जो करते हैं, वे स्वराज्य भी जगत् के अन्तर्गत होने से स्वराज्य को भी छोड़ने के योग्य ही मानेंगे इसमें संदेह नहीं है।

इस स्थान पर वेद कहता है कि—

विश्व ईश्वर का स्वरूप

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋ० ६।४७।१८
पुरुष एव इदं सर्वम्। ऋ० १०।९०।२
सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। माण्डू० उ० २
नारायण एवेदं सर्वं। नारा० उ० २

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छा० उ० ३।१४।१

वासुदेवः सर्वम्। भ० गी० ७।१९

"परमेश्वर अपनी अनन्त शक्तियों से अनन्त रूप बना है। पुरुष अर्थात ईश्वर ही यह सब विश्व है। यह सब जो है वह ब्रह्म है। यह सब नारायण का रूप है। निश्चय से यह सब ब्रह्म है। वासुदेव ही यह सब है।" इस तरह यह संपूर्ण विश्व परमेश्वर का रूप है ऐसा वेद, उपनिषद, भगवद्गीता आदि ग्रंथों में कहा है। भगवद्गीता में ११वें अध्याय में तो "विश्व-रूप दर्शन" कराया है। यह सब विश्व का रूप ईश्वर का रूप है, यह वहां बताया है। अर्थात् वेद से लेकर गीता तक के ग्रन्थों में सकडों ऐसे वचन हैं कि, जिनका आशय स्पष्ट रीति से यह है कि "यह सब ईश्वर का रूप है।" भगवद्गीता में 'ईश्वर' का वर्णन 'सर्व' पद से किया है। जो कुछ है वह सब ईश्वर का रूप है। विष्णु सहस्रनाम में प्रथम ही कहा है कि---'विश्वं विष्णुः' अर्थात् 'यह सब विश्व ही विष्णु का रूप' है।

इस विषय में जितने चाहिये उतने वचन दिये जा सकते हैं। इन सब वचनों का तात्पर्य यह है, कि यह सब विश्व परमेश्वर का रूप है। परमेश्वर का रूप क्षणभंगुर, दुःखदायक वा त्याज्य नहीं हो सकता, यह तो वैदिक धर्म का मन्तव्य निश्चित हुआ।

वैदिक विचार-धारा जब क्षीण हो गई तब एक दूसरी विचार-धारा ने उसका स्थान लिया कि यह विश्व नाशवान और दुःखदायक है, इस कारण त्याज्य है। उधर वैदिक सिद्धान्त यह कहता है, कि यह विश्व प्रत्यक्ष परमेश्वर का रूप है, अतएव यह सेवनीय है और ईश्वर का रूप होने से सच्चिदानन्दरूप है। विश्व सत् है, जानने योग्य है और सुखदायक भी है।

इन दोनों मन्तव्यों में इतना वैपरीत्य है। आज के हिंदू इसी द्वितीय मन्तव्य से चारों ओर से ग्रस्त हुए हैं। इस कारण वे सब दृश्य विश्व को दुःखदायी और त्याज्य मान रहे हैं और वैदिक धर्म कहता है, कि यह विश्व ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप है इसलिए इस विश्व की सेवा करो।

बौद्ध और हिन्दू धर्म

किसी ग्राम में कोई जाय, और जाने पर उसे मालूम हो कि उस गाम में बीमारी फैली है जो हर एक को लगती है और उससे उसकी मृत्यु होती है, तो वह मनुष्य तत्काल उस गाम को छोड़ कर दूसरे ग्राम को चला जायगा। इसी तरह जिसके मन्तव्य में यह सब विश्व दुःख-दायी है, तो वह इस विश्व का त्याग करने का यत्न करेगा। इसी हेतु से कुछ लोग भिक्षु बनते और जगत् को त्यागने का यत्न करते हैं।

पर वैदिक धर्म की दृष्टि से यह विश्व ईश्वर का मूर्त स्वरूप है, यह ईश्वर का रूप होने से ही यह आनन्द देने वाला है, इसलिए यह प्राप्त करने योग्य है और सेवा करने योग्य है। ईश्वर प्राप्तव्य है और सेव्य है। मनुष्य जन्म लेकर इस ईश्वर के विश्वरूप में आता है, यह अच्छा है। इसलिये वह दीर्घ आयु प्राप्त करके बहुत दीर्घ जीवन यहां व्यतीत करना चाहता

है। इस हेतु से वैदिक धर्मी ने च्यवनप्राश आदि अनेक दीर्घायु बनाने वाले योग ढूंढ कर निकाले हैं।

सृष्टि के आनन्दमय होने के विषय में उपनिषद् में ऐसे वचन आते हैं, जो कहते हैं, कि ये सब उत्पन्न हुए पदार्थ आनन्द रूप हैं—

तीनों कालों में आनन्द

आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि
जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति
आनन्द प्रयन्त्यभि सविशन्तीति ॥

तै० उ० ३।१२

'आनन्द से ये सब भूत (सब वस्तु मात्र, सब प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्द से जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में प्रविष्ट होते हैं। ईश्वर अथवा ब्रह्म ही विश्वरूप बना है, फिर विश्व आनन्द से उत्पत्ति स्थिति लय प्राप्त करता है इसमें सन्देह ही क्या है? मनुष्य को भी आनन्द मिलता है इसलिये जीवित रहता है। यदि संपूर्ण दुःख ही दुःख हुआ और आनन्द का लेश भी न मिला, तो मनुष्य कदापि जीवित नहीं रहेगा। अर्थात् सब प्राणी आनन्द से ही जीवित रहते हैं और आनन्द से चलते हैं और आनन्द के लिये ही मरते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट हुआ कि, इसी भारत देश में दो मुख्य विचार प्रवाह चले थे, एक विचार प्रवाह में विश्व दुःखमय था, संसार असार था, स्त्री पापिनी थी, जन्म पापमूलक था, जगत् का त्याग किये बिना सद्गति नहीं थी।

दूसरा विचार प्रवाह इससे प्राचीन था, उसको हम वैदिक विचार-प्रवाह कह सकते हैं। इस विचार प्रवाह में विश्व प्रत्यक्ष परमेश्वर का मूर्त रूप था, अतएव ससेव्य था, सत्कारार्ह था, विश्व रूप का ही एक भाग संसार होने से संसार सारवान था। यावज्जीवन पुरुषार्थ करना और [illegible] करना उनका कर्तव्य था। इनका जीवन यज्ञ करने के लिये था, यज्ञ के लिये स्त्री की आवश्यकता थी, इस कारण स्त्री पवित्र मानी जाती थी। गृहस्थाश्रम पवित्र माना जाता था। [illegible] करना पवित्र कार्य था। मनुष्य यज्ञ करने के लिये जन्म लेता है, यह [illegible] था। धर्माचरण करना, धन प्राप्त करना, संसार की सुन्दरता का अनुभव करना [illegible] सर्वविध पुरुषार्थ [illegible] था। [illegible] (हैं [illegible]) [illegible] था। [illegible]

— ४ —

विश्व सेवा इसी का नाम है। विश्व रूप आनन्दघन परमेश्वर साक्षात् उनका उपास्य था। इसलिए विश्व सेवा करना उनका धार्मिक कर्तव्य था। विश्व को आनन्द से परिपूर्ण मान कर यह किया जाता था।

एक विचारधारा विश्व को दुःखमय मान कर चली है, और दूसरी विचारधारा विश्व को आनन्दमय स्वीकार कर के चली है। भारतवर्ष की हिन्दू जाति में इस समय विश्व को दुःखमय मानने की विचारधारा, हिंदुओं के सामूहिक मन में घर करके बैठी है। इसलिए हिन्दू विश्व सेवा के लिये उतना तत्पर नहीं रहता, जितना कि इसको रहना चाहिये।

वैदिक विचारधारा जिसमें विश्वरूप साक्षात् परमेश्वर का रूप माना जाता था, वह तो इस समय लुप्त ही हो गयी है। वेद का कथन आनन्दमय परमेश्वर का प्रत्यक्ष मूर्त रूप विश्व है। इस मन्तव्य को स्वीकार करने से हमारा जनसेवा का कर्तव्य स्पष्ट हो जाता है, देखिये—

मानव समाज रूप में ईश्वर

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वं तस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥१॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२॥

ऋ० १०।९०, यजु० ३१

'(पुरुष) ईश्वर सहस्रों मुखों वाला, सहस्रों आंखों वाला, और सहस्रों पावों वाला है। वह इस भूमि के चारों ओर व्याप्त है। ज्ञानी जन इसके मुख है, शूरवीर इसके बाहू हैं, व्यापार तथा खेती करने वाले इसकी जांघे है और इसके पावों के लिए कर्मचारी गण उत्पन्न हुआ है।' यह वैदिक परमेश्वर का साक्षात् उपास्य रूप है। ज्ञानी, शूर, धनी ओर कर्मचारी के रूप मे परमेश्वर हमारे सामने हमसे सेवा ले कर हमे कृतार्थ करने के लिए खड़ा है। हमसे उसकी उचित सेवा हुई तो वह प्रसन्न होगा, और उसके प्रसन्न होने से हम कृतकृत्य हो जायगे। क्या यह मन्तव्य आज हिंदुओं में बिलकुल नहीं है।

धनी और कर्मचारी गणों में आज झगड़े चल रहे हैं। वेद ने कहा है कि ज्ञानी-वीर-धनी-कर्मचारी ये ईश्वर के राष्ट्रदेह के सिर-छाती-पेट-पाव है। एक शरीर के इन अवयवों में जितनी एकता और जितनी सहकारिता होनी आवश्यक है, उतनी एकता और सहकारिता राष्ट्र के इन वर्गों मे रहनी चाहिए। पर यह है कहां? धनपति और कर्मचारियों में संघर्ष बढ़ रहा है। इसका अर्थ ही यह है कि वेद के मन्तव्य हमारे आचरण में नहीं रहे।

इन चार वर्गों को परमेश्वर का रूप कहने से वेद ने मानव-समाज को ही ईश्वर का स्वरूप बताया है। यदि वेद सत्यज्ञान कहता है, तब तो यह चारों वर्गों का मानव समाज ईश्वर का स्वरूप है, ओर यही उपास्य, सेव्य और सम्माननीय है इसमें संदेह नहीं। पर आज हिंदुओं

के मन मे वेद के विषय मे श्रद्धा रहने पर भी, वेद की इस आज्ञा मानने को कोई हिदू तैयार नही है। यदि हिदू इस वेदाज्ञा को मानेगा, तो हिदू समाज उत्तम सुसघटित होकर बलवान बनेगा।

आज हिदू प्रत्येक व्यक्ति को पृथक् पृथक् मानता है, प्रत्येक वर्ण को ही नही, अपितु प्रत्येक उपजाति को भी विभिन्न मानता है और सपूर्ण समाज की एक शरीर के समान एकता जो वेद मे कही है, उसको मानता नही। इसलिए यह हिदू समाज सहस्रधा विदीर्ण हुआ है और इस निर्बलता से इसके शत्रु लाभ उठाते है। इस कारण हिदू समाज की सख्या अन्य समाजो से चार पाच गुनी बडी होने पर भी, यह हिदु जनसख्या असघटित होने के कारण, सख्या बल का लाभ हिदू को प्राप्त नही हो रहा है। ऐसे समय मे यदि यह हिदू समाज अपने ज्ञानी, वीर, कृषक और कर्मचारियो को एक शरीर के सिर, बाहु, उदर और पाव जैसा सुसघटित और सहकार युक्त मानेगा, तो इसका बल नि सदेह बढेगा।

आत्म निन्दा की पराकाष्ठा

और एक दो मन्तव्यो का विचार यहा करने की आवश्यकता है। हिदू साधुसन्तो और प्रवचनकारो ने शरीर को **'पूय-विण्मूत्र का गोला'** माना है। शरीर पीप, विष्ठा और मूत्र का गोला है, यह शरीर के विषय मे पराकाष्ठा की निन्दा है। क्षणभगुर और दु खरूप विश्व मे यह शरीर पीप, विष्ठा और मूत्र का गोला है!! क्या ऐसा मानने से कोई मनुष्य यहा अधिक देर तक रहने की इच्छा कर सकेगा? शरीर को और इस विश्व को अतिशीघ्र छोडने की प्रेरणा करनेवाला ही यह वर्णन है। कौन भला पाखाने मे अधिक देर तक बैठना चाहेगा? जिन्होने विश्व को घृणा की दृष्टि से देखा, उन्होने ही शरीर की ऐसी घृणा की है और इन्ही विचारो को सब साधुओ ने बार बार घोषित करने के कारण हिदूमन मे ये कुविचार स्थिर हुए है!

सात ऋषियो का पवित्र आश्रम

शरीर के सम्बन्ध मे वेद कैसा वर्णन करता है, यह देखिए—

सप्त ऋषय प्रतिहिता शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्ताप स्वपतो लोकमीयु
तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

वा० यजु० ३४।५५

इस शरीर मे सात ऋषि तपस्या करने के लिए बैठे है। ये सात ऋषि इस (सद) [illegible] प्रमाद न करते हुए रक्षते है। यहा सात नदिया बहनेवाले आश्रम [illegible] रहते है। इस आश्रम मे दो देव निद्रा न लेते हुए जागते रहकर इस शरीर [illegible] करते है।

यह। इसी मानवी शरीर को 'सप्त ऋषियों का पवित्र आश्रम' कहा है, 'सप्त नदियों का पवित्र प्रदेश' कहा है, तथा 'दो देवों का स्थान' कहा है। ये तीनों कल्पनाएँ अत्यन्त पवित्र हैं। सप्त ऋषियों के आश्रम में हम आनन्द से दीर्घ काल तक रह सकते हैं। सप्त नदियों के प्रदेश में रहना तो भगवत्कृपा से ही हो सकता है। और जहां दो देव जाग्रत रहकर रक्षण कर रहे हैं, वहां तो उस देव मन्दिर में रहना तो हर कोई आनन्द से पसंद करेगा। यह तो वेद का मानवी शरीर का वर्णन है। सोचिए तो सही कि यह वर्णन अच्छा है, या इस शरीर को पीप का और विष्ठा का गोला कहना अच्छा है ?

आज हिंदू 'पापोऽहं पापकर्माऽहं, पापात्मा, पाप सम्भव।' ऐसा अपने विषय में घोषणा करता है। मनुष्य का मन ऐसा है कि, जो विचार उसके पास आता है, तद्रूप मन बनता है। इसलिये वेद कहता है, कि—

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु० ३४।१—४

'मेरा मन शिव संकल्प करने वाला बने।' यह इसलिए कहा है कि मन में शुभ संकल्प होने से मन पवित्र बनता है और अशुभ विचार मन में रहने से मन अशुभ होता है। इसीलिए वेद कहता है कि—

महान प्रभावी आत्मा

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये। ऋ० १०।४८।५
अहमस्मि महामहः। ऋ० १०।११९।१२
अहं ब्रह्म अस्मि। बृ० उ० १।४।१०
अहं एष एवोत्कृष्टः। नृ० उ० ५
अहं सः। नृ उ० ९

'मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराभव नहीं होगा। मैं बड़े से बड़ा हूँ। मैं ब्रह्म अर्थात् शक्ति का महान् केन्द्र हूँ, मैं उत्कृष्ट हूँ। मैं वह ईश्वर (का अंश) हूँ।' तथा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः।
गीता

'ईश्वर का अंश जीव लोक में जीव हो कर रहा है।' वेद, उपनिषद और गीता के ये वचन कहते हैं कि तत्वतः जीव रूप बना आत्मा महा शक्तिमान है। इसका मनन या ध्यान करने के स्थान पर आज का हिंदू 'पापोऽहं' अपने आपको पापी कहता है। मनुष्य तत्वतः हीन नहीं है, तत्वतः इसमें बड़ी शक्ति विद्यमान है। यह बात ध्यान में धारण करनी चाहिये। इसी ज्ञान का मनन करना चाहिए। इस विषय में मानसशास्त्र के नियम यही हैं, कि मन जैसा मनन करता है वैसा बनता है। इस नियम को ध्यान में धारण करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी, कि यदि हम

'दु खमय जगत्' का ही ध्यान करते रहेंगे, तो वैसा ही जगत् हमारे अनुभव मे आ जायगा। इसी तरह यदि हम विश्व को परमेश्वर का रूप मान कर, इसी विश्व को आनन्द मे पूर्ण मानते जायगे, तो यही विश्व हमारे सन्मुख आनन्द प्रसन्न होगा। हमारे मन मे यह शक्ति ह। इसीलिए कहा ह कि **'मन एव मनुष्याणा कारण बधमोक्षयो"**।

इसीलिए हमारे विचार, हमारे मन्तव्य और हमारे सिद्धान्त पवित्र, उत्तेजक और पुरुषार्थ-प्रवर्तक रहने चाहिए। वे निराशावादी नही रहने चाहिए।

चारो वेदो मे एक मत्र मे भी विश्व की दु खरूपता, क्षणभगुरता नही कही गयी है। विश्व को त्यागने का आदेश एक भी मत्र मे नही ह। ये विचार बाद के युगो मे हमारे राष्ट्र-मानस मे प्रविष्ट होते गये है।

अधिक लिखने की आवश्यकता नही है। आत्यन्तिक त्याग पर कोई भी राष्ट्र उन्नत नही हो सकता। देखिये कपडे पहनना छोड दिया जाय, तो कपडा बुननेवाले बेकार होगे, बर्तन बर्तना छोड दिया जाय, तो बरतन बनानेवाले बेकार होगे। इसी तरह सब कार्यकर्ता आत्यन्तिक त्याग से बेकार हो जाते है और बेकारो का राष्ट्र आर्थिक मृत्यु के वश हो जाता है। जब तक अत्यन्त थोडे लोग त्याग का अवलम्बन करते है और बाकी लोग त्याग का व्याख्यान सुनकर चुप रहते है, तब तक इस त्याग मे होने वाली हानि ध्यान मे नही आ सकती।

जगत् की और अपने शरीर की आत्यन्तिक निन्दा उत्साहहीनता पैदा करती है और इससे जीवन असार प्रतीत होता है। इस कारण आत्मनिंदा भी छोडनी चाहिये। हिंदू मात्र के जीवन मे ये सब दोष इस समय है। इस कारण स्वराज्य प्राप्त होने पर भी गत ५ वर्षो मे वह उत्क्रान्ति नही हो सकी, जो होनी चाहिये थी। और तब तक नही हो सकती जब तक हम प्राचीन वैदिक विचारधारा को ग्रहण न करे।

यह वैदिक विचार-धारा ही वास्तविक भारतीय संस्कृति है, बाद की विचारधाराएँ इस देश मे प्रकट होने पर भी वास्तविक भारतीय नही है।

— • —

लोक-धर्म

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, सपादक 'कल्याण'

साधनासयुक्त विशुद्ध सरल जीवन, शरीर मे दुर्बल पर आत्म-तेज से शक्तिमान, प्रभु के प्रति आत्मार्पित और भगवद्भक्ति के अमृत से छके हुए, श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार ('भाई जी') को देखकर हमारी प्राचीन सस्कृति का एक सजीव चित्र हमारे सामने आ जाता है। विद्वान् होकर भी विनत, आचारवान होकर अपने प्रति मौन, साम्प्रदायिक होकर भी उदार, कुछ ऐसे मानो उनमे ऊपर से नीचे तक हृदय ही हृदय है। प्रेम के भूखे और लेखनी के धनी। उनके विचारो मे चरित्र को बल देने की क्षमता होती है। उन्ही की क्षमता का वाङ्-मयस्वरूप कल्याण है ।

—सपादक

लोक धर्म का वास्तविक अर्थ है—मानव धर्म। मनुष्य म मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा मानव धर्म से ही होती है। यह धर्म ही लोक का आश्रय है। महाभारत मे कहा है—

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रय. सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ता· सचराचराः॥

'धर्म ही सत्पुरुषो का हित है, धर्म ही सत्पुरुषो का आश्रय है और चराचर तीनो लोक धर्म से ही चलते है।' धर्म ही लोक का आधार है, धर्म ही लोक जीवन है, धर्म से ही लोक सग्रह होता है। इस धर्म के लक्षण मनु महाराज ने बतलाये है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह·।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥ (६।९२)

धृति, क्षमा, मन का निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म के लक्षण है।

ये ऐसे धर्म है जिनमे किसी भी जाति देश या सम्प्रदाय को आपत्ति नही हो सकती, इसी से ये लोक धर्म है, क्योकि ये मानव के स्वाभाविक धर्म है। मानव मे मानवता का प्रकाश, विकास, सरक्षण, सवर्धन इन्ही धर्मो के पालन से होता है। जिस समय मनुष्य इन धर्मो का पालन करना छोड देता है, उसी समय वह उत्सन्न हो जाता है। इन धर्मो के पालन से

जीवन मे पवित्रता, आचरण मे उदारता और कर्म मे लोकोपकारिता स्वयमेव आती है। इन्ही से मानव-जीवन सफल होता है।

हमारे प्राचीन ऋषियो का आदर्श जीवन इन धर्मो से ओतप्रोत था, इसी से उनके द्वारा समस्त लोक को स्वयमेव आदर्श जीवन की शिक्षा प्राप्त होती थी। इसी से हमारी लोक-संस्कृति मे 'त्याग' और 'कर्तव्य पालन' पर विशेष बल था—'अर्थ' और 'अधिकार' पर नही। इसी से जीवन मे सादगी, संयम, सरलता, सदाचार, श्रम, पारस्परिक सहयोग, आडम्बरहीन कर्मनिष्ठा की प्रवृत्ति, देव-गौ-साधु-शिष्ट और गुरुजनो का पूजन, कथा-कीर्तन मे उत्साह, पवित्र सात्त्विक भोजन, ईश्वर मे प्रीति, परलोक और पुनर्जन्म मे विश्वास, उदारता एवं सहनशीलता, धीरता और क्षमा आदि सद्गुण और सदाचार स्वाभाविक थे। हमारे गांवो का लोक-जीवन अब भी इन गुणो से किसी अंश मे अलंकृत है। ये गुण 'मानवधर्म' के पालन मे ही आते है। अतः इस मानव धर्म के पालन से ही लोक धर्म की प्रतिष्ठा होती है।

१ धृति—किसी भी क्रिया, भावना या वृत्ति को धारण करने की, उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखने की जो शक्ति विशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, [illegible] स्थिर रहती है, उस शक्ति का नाम 'धृति' है। [illegible] मनुष्य [illegible] सफलता प्राप्त करता है। यह धृति जब परमात्मा की प्राप्ति [illegible] हृदय मे [illegible] स्थिर हो जाती है, किसी भी कारण से मनुष्य की मन-इन्द्रिया [illegible] विषयो मे [illegible] सदा-सर्वदा एकमात्र परमात्मा मे [illegible] रखती है, तब इसे 'अव्यभिचारिणी धृति' कहते है। इसी का नाम 'सात्त्विक धृति' है।

[illegible] क्षमा—अपना अपकार करने वाले से बदला लेने की पूरी शक्ति रहने पर भी [illegible] उसके अपकार [illegible] सहन ही नही कर लेना, वरं उसका हित करने [illegible]। क्षमा मे प्रतिहिंसा के लिए कही स्थान नही है, क्षमा मे दुर्भावना [illegible] जाता है। [illegible] मे अपराध-सहन है, परन्तु अपराधी के [illegible] इस प्रकार की एक प्रकट या अप्रकट वासना मन मे रह [illegible] वासना का सर्वथा नाश कर देती है। [illegible] मे क्रियाहीनता है, क्षमा [illegible] परन्तु मन मे छिपा बैर रह जाता है जो अवसर [illegible]।

[illegible] उसका अपकार कर दिया, प्रतिकार का [illegible]

[illegible] अपकार नही किया [illegible] न्यायालय [illegible]

[illegible] भगवान पर छोड़ दिया—

[illegible]

[illegible]

और यह भाव आया कि 'इसने हमारा अपकार किया था, उसीका फल इसे मिल गया।' चाहे उस पर वह संकट किसी भी कारण से आया हो, हमने उसे अपने खाते में खतियाकर अपनी छिपी प्रतिशोध की वृत्तिको प्रकट कर दिया। क्षमा कर दिये जाने पर प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की यह छिपी वृत्ति नहीं रह जाती। चित्त निर्मल हो जाता है।

३ दम—दम का साधारण अर्थ इन्द्रिय-दमन माना जाता है परन्तु इस श्लोक में इन्द्रिय-निग्रह का पृथक् उल्लेख है, इसलिए यहाँ दम का अर्थ है—'मनका निग्रह' मनरूपी नदी का प्रबल प्रवाह अविवेकपूर्ण विषय रूपी मार्ग पर बहता हुआ निरन्तर संसार-सागर में पड़ रहा है, इस प्रवाह को 'अभ्यास' और 'वैराग्य' के द्वारा रोक कर ईश्वराभिमुखी करना ही मन का निग्रह है।

भगवान् ने गीतामें कहा है—'जिसका मन वशमें नहीं है, उसके लिये परमात्माकी प्राप्तिरूप योगका प्राप्त करना कठिन है, यह मेरा मत है। परन्तु मनको वशमें करनेवाले प्रयत्नशील पुरुष साधनके द्वारा इस योगको प्राप्त कर सकते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ (गीता ६।३६)

मनके कुविचारही पतनके हेतु हैं, और सद्विचार उत्थानके। उत्पथगामी मनमें अपवित्र विचार रहते हैं और सत्पथगामी पवित्र मनमें शुद्ध विचार। शुद्ध विचार निगृहीत मनमें ही रहते हैं।

४ अस्तेय—चोरीके अभावको अस्तेय कहते हैं, दूसरेके हक (स्वत्व) का ग्रहण करना चोरी है। किसीकी वस्तुको ले लेना, वाणीसे छिपाना, धोखा देकर अपहरण करना, किसीसे कहकर चुपकेसे मँगवालेना, मनमें पराई वस्तुको लेनेकी इच्छा करना आदि चोरीके ही विभिन्न रूप हैं। स्थूल चोरीका रूप तो, किसीकी चीज—उसकी बिना जानकारीके ले लेना ही है। ऐसे चोरोंके लिये दंडविधान भी है, परन्तु ऐसी बहुत-सी सभ्य चोरियाँ होती हैं, जो कानूनकी पकड़में नहीं आतीं और जिनको करनेवाले लोग समाजमें उच्च पदों पर प्रतिष्ठित भी रह सकते हैं। वे चोरी स्थूल चोरीसे कहीं भयानक होती हैं। इनसे लोक-समाजका स्तर अत्यन्त नीचा हो जाता है। अधिक काम करवाकर पैसा कम देना या अधिक पैसे लेकर कम काम करना भी चोरी है। जब तक परस्वापहरणसे मनुष्यके मनमें घृणा नहीं रहती, तब तक चोरीके नये-नये रूप बनते रहते हैं। चोरी कानून से बंद नहीं होगी, यह तभी बंद होगी, जब चोरी करना मनसे अपराध माना जायगा। बड़ा अधर्म समझा जायगा। इसीसे चोरीसे बचे रहना, 'अस्तेय' का पालन करना मनुष्यका साधारण धर्म बतलाया गया है।

५ शौच—शौच कहते हैं—पवित्रताको। पवित्रता साधारणतः दो प्रकार की होती है—बाहरी और भीतरी। बाह्य-शौचसे शरीर पवित्र रहता है, दूसरोंके रोग तथा पापोंके

परमाणु सहसा अपने अंदर प्रवेश नहीं कर पाते, शारीरिक रोगोंकी निवृत्ति होती है तथा नये रोगोंको आनेकी सुविधा नष्ट हो जाती है और आन्तर-शौचसे मन पवित्र होकर यथार्थ लोक-सेवा तथा अन्तमें परमात्माके साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

शरीरकी शुद्धि भी दो प्रकारकी होती है—बाहरी और भीतरी। गंदे पदार्थोंका स्पर्श न करना, जल-मृत्तिका आदिसे शरीरको स्वच्छ रखना बाहरी शुद्धि है और न्यायोपार्जित पवित्र पदार्थोंके भक्षणसे शरीरके सात्त्विक रस-रक्तादि सप्त धातुओं को शुद्ध रखना भीतरी शुद्धि है। शरीरकी शुद्धिको आजकल हमलोग प्रायः अन्याय, अव्यवहार्य, व्यर्थ और आडम्बर समझते हैं, किसी भी समय किसी भी पदार्थको छूने, एक दूसरेका जूठा खाने, अपवित्र पदार्थोंको खाने, हाथ-मुँह आदि न धोने आदिमें कोई हानि नहीं समझते। गर्भकालमें माताके देखे-सुने और स्पर्श किये हुए पदार्थोंके परमाणु गर्भके अंदर बालक पर अपना प्रभाव डालते हैं, यह बात प्रायः स्वीकार की जाती है, परन्तु बिना किसी रुकावटके एक दूसरेके अनुचित संसर्ग और खान-पानकी [illegible] कुछ लोग तो ऐसा करनेमें गौरव मानते हैं। क्या कहा जाय!

शरीरकी आन्तरिक शुद्धिमें शुद्ध आहारकी बड़ी आवश्यकता है। शुद्ध आहारमें [illegible] —[illegible] आहारकी वस्तु मिले तो वह द्रव्य सत्यानुमोदित और न्यायोपार्जित हो। [illegible] और न्यायका विचार प्रायः छोड़ दिया गया है। [illegible] 'जैसा अन्न वैसा मन' यह सिद्धान्त है। [illegible]

[illegible] पदार्थोंका समावेश भी बढ़ रहा है। [illegible] बहुत ही बुरा परिणाम होगा।

भीतरकी पवित्रता या अन्तःकरणकी शुद्धि

[illegible] —[illegible]मार्गेण यतच्छानमा-
[illegible] शरीरमें अहंबुद्धि है, जबतक इस चमड़ेके [illegible] अपवित्र पदार्थोंके समूहको [illegible] मूत्र [illegible] पदार्थ भी [illegible] बन जाते हैं, इस अपवित्र [illegible]

[illegible] ॥ (योगदर्शन २।४०)

[illegible] जाता है। [illegible]

है। बाह्य-शौचका बारबार अभ्यास करते-करते शरीरकी नित्य पवित्रताका रूप प्रत्यक्ष हो जाता है, तब उससे घृणा हो जाती है। जब अपना बारबार धोया-पोछा शरीर उसे शुद्ध प्रतीत नही होता, तब दूसरोके मलयुक्त शरीरोका ससर्ग स्वय ही छूट जाता है। यह बाह्य-शौचका फल है। इसके बाद पतञ्जलि महाराजने आन्तर्शौचकी चर्चा करते हुए बतलाया है—

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च

(योग० पाद २ सूत्र ४१)

'शौचकी स्थिरतासे सत्वशुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियोपर विजय और आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है।'

आन्तर शुद्धिके साधनोसे जब अन्त करणके राग-द्वेषादि मल कुछ धुल जाते है, तब रज और तम की न्यूनतासे सत्व प्रबल हो उठता है। चित्त निर्मल हो जाता है। निर्मलतासे प्रसन्नता होती है। प्रसन्नतासे विक्षेपोका अभाव होकर एकाग्रता आती है। एकाग्र होनेपर मन अपनी अधीनस्थ इन्द्रियोपर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जब मन भलीभाति पवित्र और सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेमे समर्थ हो जाता है तब उसमे आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। यही शौचका शुभ परिणाम है।

पतञ्जलि भगवान् के बताये हुए मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि साधनो के यथोचित प्रयोग से भी आत्मशुद्धि मे बडी सहायता मिलती है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु.खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योग० पाद १ सूत्र ३३)

'सुखी मनुष्यो से प्रेम, दुखियो के प्रति दया, पुण्यात्माओ के प्रति प्रसन्नता और पापियो के प्रति उदासीनता की भावना से चित्त प्रसन्न होता है।

(क) जगत् के सारे सुखी जीवो के साथ प्रेम करने मे चित्त का ईर्ष्या-मल दूर होता है। डाह की आग बुझ जाती है, ससार मे लोग अपने को और अपने आत्मीय-स्वजनो को सुखी देखकर प्रसन्न होते है, क्योकि वे उन लोगो को अपने प्राणो के समान प्रिय समझते है। यदि यही प्रिय भाव सारे ससार के सुखियो के प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्द का कारण हो। दूसरे को सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्ति का नाश ही हो जाय।

(ख) दुखी प्राणियो के प्रति दया करने से पर-अपकार रूप चित्त का मल नष्ट होता है। मनुष्य जैसे अपने कष्टो को दूर करने के लिए किसी से भी पूछने की आवश्यकता नही समझता। भविष्य मे कष्ट आने की सम्भावना होते ही पहले से उसे निवारण करने की चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत् के सारे दुखी जीवो के साथ हो जाय तो कितने ही लोगो का दु ख दूर हो सकता है। दु ख-पीडित लोगो के दु ख दूर करने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने की प्रबल भावना से मन सदा प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकों को देखकर हर्षित होने से दोषारोप नामक असूया मल नष्ट होता है। साथ ही धार्मिक पुरुष की भाँति चित्त में धार्मिक वृत्ति जाग्रत् हो उठती है। असूया के नाश से चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियों के प्रति उपेक्षा करने से चित्त का क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापों का चिन्तन न होने से उनके संस्कार अन्तःकरण पर नहीं पड़ते। किसी से घृणा नहीं होती, इससे चित्त शान्त रहता है।

शौच का एक सर्वोत्तम उपाय और है। वह है हार्दिक प्रेम के साथ श्री भगवान् के पवित्र नाम का सतत स्मरण करना। शास्त्र की अन्यान्य विधियों का पालन करने के साथ-ही-साथ मन लगाकर श्री भगवान् का जप, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। यह श्लोक प्रसिद्ध है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

६ इन्द्रिय निग्रह—इन्द्रियों को किसी भी बुरे विषय की ओर न जाने देना और सदा उनको अपने वश में रखकर [illegible] विषयों में लगाये रखना इन्द्रिय-निग्रह कहलाता है। मनु महाराज कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(मनु० २।९३)

'इन्द्रियों को विषयों में लगाने से मनुष्य निःसन्देह दोष को प्राप्त होता है, परन्तु उन्हीं [illegible] भलीभाँति वश में [illegible] लेने से वह परम सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।' जो इद्रियाँ [illegible] वश में रहता [illegible], वह स्वयं भी [illegible] प्रकार के [illegible] भाँति-भाँति के दुःख उठाता [illegible] और [illegible] भी [illegible] की भाँति इनसे [illegible] रहते हैं, क्योंकि इन्द्रिय-लोलुप मनुष्य [illegible] में नहीं [illegible]। जब तक इन्द्रियों का दमन नहीं होता तहाँ तक [illegible] चाहनेवाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इन्द्रियदमन [illegible]। जो [illegible] पाना चाहते हैं, उनके लिये तो इन्द्रिय-[illegible] है।

[illegible]—[illegible] चक्षु (आँख) रसना (जीभ), [illegible] विषय है—शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध। इनके [illegible] इन्द्रियों के द्वारा [illegible] किया जा सके। इन्द्रियाँ [illegible] नहीं है। इन [illegible] जो शक्ति है उसी को [illegible] कर्मेन्द्रियाँ हैं—हाथ, पैर [illegible]। इन [illegible] इन्द्रिय [illegible]

- - -

वाणी-कर्मेन्द्रिय दोनो का स्थान एक जीभ ही है। कर्मन्द्रियो की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। ज्ञानेन्द्रियो का निगह् करने मे कर्मेन्द्रियो का दमन आप ही हो जाता है। इन्द्रियाँ निरन्तर मन को विषयो मे लगाती रहती है, पाँचो मे से किसी एक भी इन्द्रिय के विषय मे आसक्त होने से ही वडा अनर्थ हो जाता है, तव जो लोग इन पाँचो के विषयो मे आसक्त है, उन अविवेकियो के पतन मे तो शका ही क्या है ?

ये इन्द्रियाँ हमे मिली है सदाचरण के लिए—भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे आगे बढने के लिये। ऐसा करना ही इनका सदुपयोग है। इन्द्रियो का सदुपयोग करने से ही यथार्थ उद्देश्य की सिद्धि होती है। इसलिए विषयो मे आसक्त न हो कर उनका उचित व्यवहार करना चाहिए। जव तक इन्द्रियाँ है, तव तक उनका विषयो मे लगे रहना अनिवार्य है। अतएव उन्हे आत्मा को गिरानेवाले, लोक-परलोक विगाडनेवाले निन्दित विषयो मे न लगा कर सद्विषयो मे लगाना चाहिये। यही इन्द्रिय-निग्रह है। अग्नि से भोजन वनता है, शीतनिवारण होता है और रोग के परमाणु नाश होते है, अग्नि कोई बुरी चीज नही है, बुरा है उसका दुरुपयोग। दुरुपयोग करने से हाथ-पैर जल जाते है। घर-द्वार स्वाहा हो जाते है। ठीक यही हाल इन्द्रियो का है। इसलिए इन्द्रियो के गुलाम न बनकर उन्हे वश मे करना चाहिए। वश मे की हुई इन्द्रियो के द्वारा यथोचित व्यवहार करने से चित्त की शुद्धि होती है। भगवान् कहते है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २।६४)

'स्वाधीन अन्त करण वाला पुरुष राग-द्वेष रहित अपने वश मे की हुई इन्द्रियो द्वारा विषयो का व्यवहार कर के चित्त के प्रसाद (निर्मलता तथा प्रसन्नता) को प्राप्त होता है।'

मनु महाराज कहते है—

इन्द्रियाणा तु सर्वेषा यद्येक क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृते पादादिवोदकम्॥ (२।९९)

'जल की वखाल मे जैसे एक छिद्र हो जाने से जल निकल जाता है, उसी प्रकार सव इन्द्रियो मे से यदि एक इन्द्रिय भी विषय मे आसक्त हो जाय तो उसके द्वारा वुद्धि नष्ट हो जाती है।'

इसलिए विषय-भोगो मे दुख और दोष देख-देखकर इन्द्रियो को उनसे हटाना और उन्हे उत्तम, आवश्यक तथा कल्याणमय कर्त्तव्य कर्मो मे सदा लगाना चाहिये। इसी को इन्द्रिय का वश मे करना कहते है।

भगवान् कहते हैं—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिस पुरुष के इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है।' परन्तु स्मरण रखना चाहिये, केवल जबरदस्ती विषयों से रोकने से ही इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं।

मनु महाराज कहते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ॥
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ (२।९६)

"विषयासक्त इन्द्रियाँ—'विषय और शरीर नाशवान् और क्षणभंगुर हैं, एक परमात्मा नित्य सत्य है'—इस प्रकार के नित्य विवेक से जैसे वश में होती हैं, केवल विषयों के त्याग से [illegible] वश में नहीं होतीं।'

[illegible] विषयों से इन्द्रियों को [illegible] का प्रयत्न नहीं करके विषयों को ही बदल [illegible]। [illegible] परनिन्दा [illegible] चर्चा न [illegible] भगवान् के नाम-गुण तथा [illegible] पवित्र वस्तुओं [illegible] पवित्र [illegible] अपवित्र [illegible] पवित्र [illegible] परनिन्दा [illegible], भगवान्नाम-गुण [illegible]।

[illegible] जितेन्द्रिय पुरुष [illegible] हैं—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ (मनु० २।९८)

[illegible] वचन और निन्दा [illegible] और [illegible] मधुर [illegible] हर्ष और [illegible] जितेन्द्रिय है [illegible]

[illegible]

[illegible]

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(१।३।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोडे है, शब्द स्पर्शादि विषय मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनयुक्त आत्मा भोक्ता है।'

रथ घोडे के बिना नही चलता, परन्तु उसे ठीक रास्ते मे ले जाना, हाथ मे लगाम पकडे हुए बुद्धिमान् और तत्पर सारथी का ही काम है। सारथी मे चार गुण अवश्य होने चाहिये— रथी की आज्ञा का पालन करना, जहाँ जाना है उस स्थान को जानना, मार्ग जानना और मजबूती मे लगाम थाम कर यथोचित रूप मे ठीक मार्ग पर घोडो को चलाना। इनमे से किसी भी गुण की कमी होने पर रथ के गिरने या मार्गभ्रष्ट होने का भय रहता है। इन्द्रियरूपी बलवान् और प्रमथनकारी घोडे विषय रूपी मैदान मे मनमाने दौडना चाहते है, परन्तु यदि बुद्धि रूपी बल-बुद्धि-विशारद सारथी मनरूपी लगाम को जोर से खीच कर उन्हे अपने वश मे रखने मे समर्थ हो तो उन जुते हुए इन्द्रिय रूपी घोडो की इतनी ताकत नही है कि वे मनरूपी लगाम का सहारा मिले विना ही चाहे जिस तरफ दौड सके।

बुद्धि शुद्ध है, जाग्रत है, कार्यकुशल और बलवती है तो मन-तन की क्रिया भी सुन्दर, सुखदायिनी और मगलमयी है। बुद्धि बिगडी कि सर्वनाश हुआ—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' यही बुद्धि जब परम शुद्ध और सूक्ष्म हो जाती है, तब इसके द्वारा सूक्ष्मदर्शी पुरुष ब्रह्म को देखते है—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मदर्शिभि.॥ (कठ० १।३।१२)

आत्मसाक्षात्कार मे बुद्धि ही प्रधान साधन है। गीतामे बुद्धि के तीन प्रकार बताये गए है—

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्विकी॥

(गीता १८।३०)

भगवान् कहते है कि—'हे अर्जुन! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य एव भय और अभय तथा बन्धन और मोक्ष को जो (सूक्ष्म) बुद्धि तत्व से जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है।'

इसी बुद्धि रूपी सारथी के द्वारा शरीर-रथ भलीभाँति परिचालित होता है। यह मन-इन्द्रियो को नित्य-निरन्तर शुभ कार्यो मे ही लगाती है, जिनसे स्वाभाविक ही लोकहित होता है। यह बुद्धि कल्याण के मार्ग मे निश्चयात्मिका एक ही होती है। परन्तु अज्ञानी पुरुषो की बुद्धि अनेक भेदवाली अनन्त रूप बन जाती है।

राजस पुरुषों की बुद्धि राजसी और तामसों की तामसी होती है। गीता में भगवान् ने इसका स्वरूप बतलाया है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३१-३२)

भगवान् कहते हैं—'हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है वह बुद्धि राजसी है। और जो तमोगुण से ढकी हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा और भी सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है वह बुद्धि तामसी है।'

[illegible] ने "श्री" शब्द से इन दोनों बुद्धियों को न बतलाकर उस सात्त्विकी श्रेष्ठ बुद्धि को बतलाया है जो [illegible] और [illegible] से [illegible] भगवद्भजन और आत्मविचार [illegible] और जिससे [illegible] स्व-पर-हितकर कल्याणमय अभ्युदय और अन्त में परम कल्याण-स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।

[illegible] विद्या—'[illegible] और अन्त में मोह [illegible] "[illegible] सा विद्या या विमुक्तये" प्रसिद्ध है। उस- [illegible] स्वरूप बतलाया है—

[illegible] विद्या [illegible]' (गीता १०।३२)

[illegible] भी भगवत्प्राप्ति [illegible] जिनको विद्या कहते हैं और जिनकी [illegible] हो रहा है, वह तो [illegible] होता है, जो [illegible] मानना सिखलाती है [illegible] बनाती है, जो मिथ्या [illegible] विनाश करती है [illegible] उत्पन्न कर [illegible] से प्राप्त [illegible]

[illegible]

इन्द्रियाणि हयानाहूर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥

(१।३।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोडे है, शब्द स्पर्शादि विषय मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनयुक्त आत्मा भोक्ता है।'

रथ घोडे के बिना नही चलता, परन्तु उसे ठीक रास्ते मे ले जाना, हाथ मे लगाम पकडे हुए बुद्धिमान् और तत्पर सारथी का ही काम है। सारथी मे चार गुण अवश्य होने चाहिये— रथी की आज्ञा का पालन करना, जहाँ जाना है उस स्थान को जानना, मार्ग जानना और मजबूती से लगाम थाम कर यथोचित रूप मे ठीक मार्ग पर घोडो को चलाना। इनमे से किसी भी गुण की कमी होने पर रथ के गिरने या मार्गभ्रष्ट होने का भय रहता है। इन्द्रियरूपी बलवान और प्रमथनकारी घोडे विषय रूपी मैदान मे मनमाने दौडना चाहते है, परन्तु यदि बुद्धि रूपी बल-बुद्धि-विशारद सारथी मनरूपी लगाम को जोर से खीच कर उन्हे अपने वश मे रखने मे समर्थ हो तो उन जुते हुए इन्द्रिय रूपी घोडो की इतनी ताकत नही है कि वे मनरूपी लगाम का सहारा मिले बिना ही चाहे जिस तरफ दौड सके।

बुद्धि शुद्ध है, जाग्रत है, कार्यकुशल और बलवती है तो मन-तन की क्रिया भी सुन्दर, सुखदायिनी और मगलमयी है। बुद्धि बिगडी कि सर्वनाश हुआ—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' यही बुद्धि जब परम शुद्ध और सूक्ष्म हो जाती है, तब इसके द्वारा सूक्ष्मदर्शी पुरुष ब्रह्म को देखते है—

दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मदर्शिभि: ॥ (कठ० १।३।१२)

आत्मसाक्षात्कार मे बुद्धि ही प्रधान साधन है। गीतामे बुद्धि के तीन प्रकार बताये गए है—

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्विकी ॥

(गीता १८।३०)

भगवान् कहते है कि—'हे अर्जुन! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य एव भय और अभय तथा बन्धन ओर मोक्ष को जो (सूक्ष्म) बुद्धि तत्व से जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है।'

इसी बुद्धि रूपी सारथी के द्वारा शरीर-रथ भलीभाँति परिचालित होता है। यह मन-इन्द्रियो को नित्य-निरन्तर शुभ कार्यो मे ही लगाती है, जिनसे स्वाभाविक ही लोकहित होता है। यह बुद्धि कल्याण के मार्ग मे निश्चयात्मिका एक ही होती है। परन्तु अज्ञानी पुरुषो की बुद्धि अनेक भेदवाली अनन्त रूप बन जाती है।

राजस पुरुषो की बुद्धि राजसी और तामसो की तामसी होती है। गीता मे भगवान् ने इसका स्वरूप बतलाया है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३१-३२)

भगवान् कहते है—'हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को भी यथार्थ नही जानता है, वह बुद्धि राजसी है। और जो तमोगुण से ढकी हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा और भी समस्त अर्थो को विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।'

मनु महाराज ने "धी" शब्द से इन दोनो बुद्धियो को न बतलाकर उस सात्विकी श्रेष्ठ बुद्धि को बतलाया है जो सत्सग और सत्शास्त्रो के अनुशीलन, भगवद्भजन और आत्मविचार से प्राप्त होती है और जिससे इस लोक मे स्व-पर-हितरूप कल्याणमय अभ्युदय और अन्त मे परम कल्याण-स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।

८ विद्या—'विद्या' उसे कहते है, जो मनुष्य को विनय प्रदान करे और अन्त मे मोह के बन्धन से मुक्त कर दे—"विद्या ददाति विनयम्", "सा विद्या या विमुक्तये" प्रसिद्ध है। इसलिए 'अध्यात्म विद्या' ही यथार्थ विद्या है। इसको भगवान ने अपना स्वरूप बतलाया है—

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' (गीता १०।३२)

जो विद्या ससार के बडे से-बडे पद या ऐश्वर्य को प्रदान करनेवाली होने पर भी भगवत्प्राप्ति मे सहायक नही है वह वास्तव मे विद्या नही है। आजकल जिसको विद्या कहते है और जिसकी प्राप्ति के लिए विद्यालयो, महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयो का विस्तार हो रहा है, वह तो अधिकाश मे घोर अविद्या है। जिससे त्याग की शुभ वृत्ति पर कुठाराघात होता है, जो भोग परायणता को बढाती है, जो इस लोक के सुख को ही परम सुख मानना सिखलाती है, जो गुलामो की तथा बाबुओं की सख्या वृद्धि कर रही है, जो परमुखापेक्षी बनाती है, जो मिथ्या अभिमान उत्पन्न कर परमार्थ-साधन मे सहायता करने वाली सुसस्कृति का विनाश करती है, जो अभिमान और मोह को बढाती है, और जो ईश्वर के अस्तित्व पर अविश्वास उत्पन्न कर देती है ऐसी विद्या से तो सर्वथा बचना ही श्रेयस्कर है। आजकल की शिक्षा-पद्धति मे प्राय ऐसी नाशकारी विद्या का ही विस्तार हो रहा है।

विद्या वह है जो धर्म और सदाचार मे श्रद्धा उत्पन्न कराती है। जो सारे विश्व मे परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करा कर सब मे निर्वैर बनाती है। जो समस्त अनेकता मे एकता

का वास्तविक स्वरूप दिखा कर जीव को सदा के लिए परम सुख के स्थान पर पहुंचा देती है, मनुष्य को उसी ब्रह्मविद्या का आश्रय लेना चाहिए।

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥
(महा० शान्ति० अ० १६२)

'सत्य के समान धर्म नहीं है और असत्य के समान पाप नहीं है, धर्म सत्य के आश्रय में टिकता है, इसलिए सत्य का लोप कभी नहीं करना चाहिये।'

वास्तव में तो सत्य एक परमात्मा ही है। 'ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सभी पदार्थ माया से कल्पित है। एक परब्रह्म ही सत्य है, उसी को जान कर जीव सुखी होता है।

आब्रह्मतृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्।
सत्यमेकं परब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्॥

जो नित्य है, अविनाशी है, एकरस है, शुद्ध बोधघन है, चैतन्य है और छः विकारों से रहित है, वही सत्य है। उसमें स्थित रहना ही वास्तव में सत्य के स्वरूप को उपलब्धि करना है। जब तक ऐसा न हो, तब तक सरलता के साथ उसे जानने के प्रयत्न में लगे रहना भी सत्य का आचरण कहलाता है। इसीलिए पितामह भीष्म ने सत्य के तेरह लक्षण बतलाये हैं। भीष्मजी कहते हैं—

आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः।
लक्षणञ्च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम्॥
प्राप्यते च तथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते॥
(शान्ति० १६२:६-१०)

"अब मैं तुम्हें क्रम से सत्य के आचार और लक्षण यथार्थ रूप से सुनाता हूँ। (परमात्मा रूप) सत्य कैसे मिलता है, यह तुम्हें सुनना चाहिये। हे 'युधिष्ठिर! सत्य तेरह प्रकार का कहलाता है, यानी ईश्वर रूपी सत्य की प्राप्ति इन तेरह उपायों से होती है। समता, दम, मत्सर

हीनता, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, साधुता, धैर्य, दया और अहिंसा—ये तेरह हैं। सत्य सदा अविकारी और अविनाशी है तथा यह इन सब धर्मों की अनुकूलता से मिलता है।

परन्तु यहा इन दस धर्मों म आया हुआ "सत्य" शब्द विशेपकर वाणी से ही सम्वन्ध रखता है। इन्द्रियो और मन से जैसा-जैसा देखा, सुना, सूँघा, स्पर्श किया, चक्खा और समझा, ठीक वैसा का-वैसा-ही कहना सत्य कहलाता है। यह सत्य शब्द की व्याख्या की जाती है, परन्तु वस्तुत ठीक ऐसा होना असम्भव है। आँख जैसा रूप देखती है या कान जैसे शब्द सुनते है, उनका यथार्थ वर्णन शब्दो द्वारा हो ही नही सकता। कारण नेत्र और कर्ण आदि इन्द्रियो मे अपने विषयो को जानने की ओर मन मे सोचने की जितनी शक्ति है और वे तनिक-सी देर मे जिस पटुता से अपना काम कर लेते है, उतना ज्यो-का-त्यो व्यक्त करने के लिये किसी भी भाषा मे पर्याप्त शब्द ही नही बने। इससे यह तो कहा ही नही जा सकता कि मैंने जैसा कुछ देखा, सुना या समझा है, उसे ज्यो-का-त्यो यथाथ कह रहा हूँ।' तब सारी बाते आ कर ठहरती हैं मन की सरलता पर। मन मे किसी बात का छिपाव-दुराव न रक्खे। जैसा समझा हो, ईमानदारी से सरलता के साथ ठीक वैसा ही समझाने की चेष्टा करे। सुने हुए पूरे शब्द समय पर न भी निकले, पर मन सच्चा और सरल हो तो उसे बेईमान या झूठा नही कहा जा सकता।

योगदर्शन साधनपाद के तीसरे सूत्र के भाष्य मे भगवान् व्यास कहते है—

"सत्य यथार्थे वाङ्मनसे यथादृष्ट यथानुमितं यथाश्रुत तथा वाङ्मनश्चेति, परत्र स्वबोध सक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति।"

"मनसहित वाणी के यथाथ कथन का नाम सत्य है यानी जसा देखा, समझा और सुना है, दूसरे को कहते समय ठीक मन और वाणी का वैसा ही प्रयोग करना चाहिये। देख, सुन, समझ कर जो बात अपनी समझ मे जैसी आयी है, ठीक वही सुननेवाले के भी समझ मे आवे, ऐसे कथन का नाम सत्य है। भाषा मे ठीक वही शब्द बोलने पर भी यदि तुम्हारी वाक्चातुरी या असावधानी से सुननेवाला भ्रम मे पड जाय या ठगा जाय तो उसका नाम सत्य नही है। अथवा भाषा सत्य होने पर भी भाव बदल कर कहने के कारण यदि सुननेवाला उस बात को ठीक न समझ सके तो वह भी सत्य नही है।"

इस प्रकार की सत्य वाणी ही श्रेष्ठ है। सत्य से बढकर कुछ भी नही है—

"सत्यस्यवचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।"

योगदर्शन के भाष्य मे भगवान् व्यास ने उन वचनो को भी निषेध किया है, जिनसे दूसरो की हानि होती है। वे कहते है—

एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्। पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात।"

"इस प्रकार से वाक्यों का प्रयोग करना चाहिये जिससे जीवों का मंगल हो। किसी का भी अनिष्ट न हो। यदि ठीक-ठीक वाक्य उच्चारण से भी दूसरे का अनिष्ट होता हो, तो वह सत्य नहीं है, पाप है। एक बार वह पुण्य दीखता है, परन्तु उससे मैं सच्चा हूँ, मैं खरी कहता हूँ, चाहे किसी का बने या बिगड़े अभिमान उत्पन्न होकर और दूसरे के बुराई से होने वाले पाप के कारण, उसके परिणाम में अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ता है। इसलिए बहुत विचार के साथ जबान खोलनी चाहिए, जिससे जीवों का हित हो कहीं भी किसी का अनिष्ट न हो।

यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य कहते है,—'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम्। प्राणियों का हित करना और यथार्थ बोलना ही सत्य है।

मनु महाराज ने तो "न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्" अप्रिय सत्य बकना भी निषेध किया है।

अतएव यही सिद्ध होता है कि दूसरे के हित का पूरा ध्यान रखकर हृदय की सरलता से यथासाध्य यथार्थ भाषण करना ही वस्तुतः सत्य है।

१० अक्रोध—जब मन के विरुद्ध कार्य होता है, कामना पर चोट लगती है, तब एक ज्वालामयी वृत्ति उत्पन्न होती है, उसे क्रोध कहते है। क्रोध उत्पन्न होते ही मनुष्य की बुद्धि मारी जाती है, उसके कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान लुप्त हो जाता है और वह चाहे सो कर बैठता है। भगवान् ने श्रीगीताजी मे कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (१६।२१)

"काम, क्रोध और लोभ आत्मा का पतन करने वाले—ये तीन नरक के दरवाजे है, अतएव इन तीनों का त्याग करना चाहिये।" धर्मराज ने कहा—'क्रोध मनुष्य का नाश कर देता है, क्रोध के वश होकर ही मनुष्य पाप करता है और गुरुजनों का अपमान, श्रेष्ठ पुरुषों का कठोर वाणी से तिरस्कार तथा सबका अनादर करता है। क्रोधी मनुष्य यह नहीं जान सकता कि कहाँ कैसे बोलना चाहिये और कौन-सा कार्य करना चाहिये। क्रोध मे मनुष्य न मारने योग्य पुरुष को भी मार डालता है, आत्महत्या कर बैठता है, अतएव क्रोध का परित्याग करना चाहिए।'

वास्तव मे क्रोध बहुत से पापों का मूल है। क्रोध जितना दूसरों को दुःखदायी होता है, उससे अधिक अपने को होता है, क्रोध का आवेश होते ही आँखे लाल हो जाती है, शरीर काँपने लगता है, रोमांच हो जाता है, हृदय जलने लगता है, जबान बेकाबू हो जाती है और उससे अपशब्द या भले-आदमियों मे न बोलने योग्य शब्द निकलने लगते है, दूसरे का अहित करने से पहले ही अपने मन मे जलन और दुःख आरम्भ हो जाते है। क्रोधी दूसरे की बुराई करने जाता

है, परन्तु पहले वह अपनी ही करता है। तदनन्तर, यदि दूसरा निर्बल होता है तो उसे मारने दौड़ता है। यदि सबल है, तो स्वय अपने-आपको मारने लगता है, कुएँ मे पड़ने दौडता है, फासी लगा लेता है। इसी से अच्छे समर्थ पुरुष निर्बल मनुष्य द्वारा दुःख पाकर भी उसे पाप से बचाने के लिए उस पर क्रोध नही करते, क्योकि निर्बल के मन मे क्रोध उत्पन्न होने पर आत्महत्या की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठती है, कोई-कोई तो आत्महत्या कर भी बैठते है।

कुछ लोग क्रोध को आवश्यक समझते है और उसका नाम 'तेज' रखते है, परन्तु यह भूल है। हिसा-क्रोध आदि दुर्गुण कभी आवश्यक नही हुआ करते। मनुष्य का स्वभाव वास्तव मे क्रोधी नही है, मनुष्य ने इन पशुधर्मो को भ्रम से अपना बना लिया है। जिससे अपनी और दूसरो की बुराई होती है, वह वस्तु आवश्यक कैसे हो सकती है? तेज तो वह है जिसमे पाप करनेवाला मनुष्य भी उस तेज के प्रभाव से बच जाय।

धर्मराज कहते है कि 'दक्षता, शूरता और तत्परता ये तेज के गुण है, पर ये गुण क्रोधी मे कहा रहते है? वह तो कर्तव्यज्ञानशून्य हो जाता है। मूर्ख लोग ही क्रोध को तेज मान लेते है क्रोध तो रजोगुण का परिणाम है और एक महान् दुर्गुण है।' इस पर कुछ लोग कहेगे कि क्रोध न होगा तो ससार मे पापियो को दण्ड मिलना बन्द हो जायगा, जिससे अनाचार, अत्याचार बढ कर जगत् मे दुःख का दावानल जला देगे। चोर, डाकू, बदमाशो की सख्या बढ जायगी।' पर ऐसा कहनेवाले यह नही समझते कि वास्तव मे पापी या चोर-डाकुओ को पहचानना क्या क्रोधी का काम है? क्रोधग्रस्त मनुष्य तो अपने-आप तक को भूल जाता है, सगे माता-पिता की पहचान खो देता है, वह पापी-पुण्यात्मा का निर्णय कैसे कर सकेगा? उसके हाथ मे दण्ड विधान होने पर वह तो उन्मत्त की भाँति दोषी निर्दोषी सभी को दण्ड देने लगेगा। सत्य पर आरूढ, खुशामद न करनेवाले भले लोग मारे जायगे, और खुशामदी नीच निष्ठुर लोग उसके तलुए चाटकर बच जायँगे, न्याय और धर्म का नाश हो जायगा। इसीलिए न्याय का कार्य शान्त, शिष्ट और विचारशील विवेकी पुरुष के जिम्मे रहता है न कि क्रोधी के। न्यायाधीश यदि क्रोधी होगा तो वह न्याय कैसे कर सकेगा? और जो दण्ड न्याय-रहित केवल क्रोध या क्रोधजनित द्वेष, हिसा या प्रतिहिसा से प्रेरित होकर दिया जायगा, वह अन्याययुक्त दण्ड तो पाप, ताप, अनुताप और अशान्ति को बढाने का ही कारण होगा। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि कायरता का नाम अक्रोध नही है। अक्रोधी पुरुष डरता नही, वह सहिष्णु होता है, वह जानता है कि क्रोध का दमन किये बिना मनुष्य न तो स्वय सुखी हो सकता है और न उसके द्वारा समाज या देश का ही मगल सम्भव है। जो स्वय रात दिन जलता है और दूसरो को जलाने के लिये ही जीवन धारण करता है, जिसे देखकर लोग काप उठते है, वह क्रूर मनुष्य जगत् का क्या मगल कर सकता है? क्रूरता क्रोध का ही परिणाम है।

परमार्थ के मार्ग मे तो क्रोध एक महान् प्रबल शत्रु है, जब तक क्रोध है तब तक परमार्थ मे उन्नति-लाभ करना बहुत ही कठिन है। जहा मन की जरा-सी प्रतिकूलता सहन करने की

शक्ति नहीं, वह पारमार्थिक उन्नति की आशा कहाँ से की जाय? क्रोध ऐसी आग है, जो सारे शरीर में ज्वाला फूंक देती है। जिसका शरीर-मन क्रोधाग्नि से धधक उठता है, उससे परमात्मा का भजन कब सम्भव है?

मनु महाराज के बनाये हुए सर्वकल्याणकारी यही दस मानवधर्म हैं। मनुष्यमात्र बिना किसी भेद-भाव से इनका पालन कर सकते हैं। इसलिए यही 'लोकधर्म' हैं। इस लोकधर्म के आधार पर जिस संस्कृति का निर्माण हुआ था, वही सच्ची लोक-संस्कृति थी। यथार्थ में वही भारतीय संस्कृति है। विषय-सेवन-परायण लोगों ने जिनको 'धर्म' मान रखा है, वह लोकधर्म नहीं है, यथार्थ धर्म के सेवन के लिये सत्पुरुष उन 'लोकधर्मों' के तो त्याग का आदेश देते हैं—'धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्।' कई कारणों से यथार्थ मानवधर्म या लोकधर्म को लोक ने छोड़ दिया, इसी से आज चारों ओर दुःख और क्लेश हैं, और धर्म के त्याग पर ऐसा होना अनिवार्य ही है। धर्मनिरपेक्ष का अर्थ किसी भी धर्म के साथ पक्षपात न करना है, न कि धर्म का सर्वथा त्याग। मानवधर्म का त्याग मनुष्य को पहले 'पशु' बनाता है और आगे चलकर असुर-राक्षस बना देता है। संस्कृति का शुभ निर्माण और संरक्षण इस लोकधर्म के पालन और संरक्षण से ही हो सकता है।

लोक का प्रत्यक्ष-दर्शन

डा० वासुदेवशरण, एम० ए०

जिज्ञासा और कल्पना, मस्तिष्क और हृदय की सयुक्त मूर्ति डा० वासुदेवशरण पर हिन्दी को अभिमान है। पुरातत्त्व के ककाल को उनकी लेखनी ने अपने रस से अभिषिक्त कर जीवन-दान किया है। केन्द्रीय म्यूजियम के सग्रहाध्यक्ष रह चुके है। आजकल हिन्दू विश्व-विद्यालय के पुरातत्त्व विभाग मे कार्य कर रहे है। ——सपादक

कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए भूभाग पर पनपता हुआ मानव-समाज भारतीय लोक है। भारतीय लोक-जीवन हमारे सुदीर्घ इतिहास का अमृतफल है। जो कुछ हमने सोचा, किया, और सहा, उसका प्रकट रूप हमारा लोक-जीवन है। लोक राष्ट्र की अमूल्य निधि है। हमारे इतिहास मे जो भी सुन्दर, तेजस्वी तत्त्व है वह लोक मे कही न कही सुरक्षित है। हमारी कृषि, अर्थशास्त्र, ज्ञान, साहित्य, कला के नाना रूप, भाषाए और शब्दो के भडार, जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, नृत्य, सगीत, कथा-वार्ताए, आचार-विचार सभी कुछ भारतीय लोक मे ओत-प्रोत है। लोक की गगा युग-युग मे बह रही है। उसके ओजायमान प्रवाह मे हमारी सस्कृति के मेघजल पूर्व युगो मे बरसते रहे है, सप्रति बरस रहे है, और आगे भी उनकी सहस्र धाराए लोक-जीवन की भागीरथी को आगे बढाती रहेगी। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमे भूत भविष्य वर्तमान सभी कुछ सचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक के कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन मे सब शास्त्रो का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथिवी, और लोक का व्यक्त रूप मानव—यही हमारे नए जीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार, और निर्वाण का नवीन रूप है। लोक—पृथिवी—मानव इसी त्रिलोकी मे जीवन का कल्याणतम रूप है।

लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नही है। इसे बस एक और नया शास्त्र कहकर नही टाला जा सकता। लोक-सम्पर्क के बिना अन्य सब शास्त्र अधूरे है। लोक का अमृत निष्पन्द जिस शास्त्र मे नही मिला, वह कितना भी पाण्डित्यपूर्ण हो निष्प्राण रहता है। जो ज्ञान लोकहित के लिए नही वह अधूरा है, वह मानवी चिन्तन का छूछा फल है। जो शास्त्र लोक के साथ नही जुडा वह बुद्धि का छलावा है। अर्थशास्त्र को ही लीजिए। पण्डितो ने पश्चिमी टकसाल मे ढले हुए अर्थशास्त्रीय पाशो के अबार लगा दिए है, उनकी बहकी बाते भारतीय

५

लोक मे प्रतिपालित किसान के जीवन से टकराकर लौट आती है। उनके अर्थशास्त्र परीक्षा के लिये भले ही उपयोगी हो, जीवन को सींचनेवाले रस को उसमे ढूढने पर हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। कृषि भारतीय जीवन की शाश्वती अधिष्ठात्री देवता है, पडितो की भाषा मे व्याकुल है। उनकी उलझी बाते भारतीय किसान के मान की नही। किसान ही भारतीय लोक की आधार-शिला है। किसान की भाषा जितनी बलवती हो पाती है वही भारतीय ज्ञान और शास्त्र का बल है। भारतीय पडितो के ज्ञान-गरिष्ठ मस्तिष्क लोहे की तिजोरियो की तरह है। जब तक उनमे भरा हुआ ज्ञान किसान के खेत का खाद नही बनेगा, भारतीय कृषि मे एक तृण से दो तृण उत्पन्न नही हो सकते। 'कृषि करोति, एक द्वेकरोति'—कृषि की यही भारतीय परिभाषा है। कृषि और अर्थशास्त्र के पडितो को फेटा बाधकर लोक मे मिल जाना होगा। आज तो दु खद विडम्बना फैली है। विश्वविद्यालयो के परकोटो मे नई बिरादरिया बनाकर विद्वानो ने आसन जमा लिए है, शासन के मुँह बाए हुए विभागो के अधिकारी लोक पर टूटते है, किन्तु लोक को सीचनेवाले अमृत जल का प्रोक्षण उनके हाथो से नही होता। कहाँ और कब वे लोक के साथ घुलमिल कर एक हो पाते है? वेतन और अधिकारो के दोहरे कवच मे ढके हुए वस्तरबन्द सैनिको की भाति वे लोक के भय के लिये ही पनपते है। जहाँ कही, किसी क्षेत्र मे भी लोक को सर्वोपरि सच्ची प्रतिष्ठा मिलती है, वही से जीवन की स्वस्थ बेल का पहला अकुर फुटाव लेता है। लोक का जीवन दूब के नालो की तरह सौ-सो भाति से आत्मविकास के लिये फूलता-फलता है। उसे सवर्धन की सुविधा प्रदान करना ही सिद्धि का रूप है। वेदव्यास की शतसाहस्री सहिता मे भारतीय लोक जीवन के अनेक मार्मिक चित्र मिलते है। उन्होने एक स्थान पर लिखा है—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नर.।

जो लोक को स्वय अपनी आखो से देखता है, वही उसे पूरी तरह देख पाता है। प्रत्यक्ष दर्शन ही समग्र दर्शन की कुजी है। हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली लोक से दूर जा पडी है। उसमे अनेक विषयो का पारायण होता है किन्तु भारतीय लोकजीवन के साथ उसका सम्बन्ध टूट गया है। हम कला का अभ्यास करते है किन्तु भारतीय लोक मे जिस कला की साधना हुई उसके चित्र, शिल्प, स्थापत्य, मृण्मय मूर्तिया, शृगार प्रसाधन, अलकरण आदि नाना रूपो से हमारे अध्ययन के सूत्र नही जुड पाते। जो क्रान्तदर्शी आचार्य लोकजीवन के साथ अपने शास्त्रको पुन सम्बन्धित कर देते है, वे ही राष्ट्र जननीय यज्ञ मे मूल्यवान् और तेजस्वी दान देते है। एक अवनीन्द्रनाथ ने भारतीय कला का अनन्य उपकार किया। उन्होने रूप, रग, विधान, अलकरण, विषय सब प्रकार से भारतीय लोक की कलाओ की पुन प्रतिष्ठा की।

लोक के प्रत्यक्ष दर्शन का सूत्र प्रत्येक शास्त्र के लिये आवश्यक है। भाषा, साहित्य, धर्म, सगीत, सस्कृति, कला जितना भी जीवन का विस्तार है सब मे भारतीय मानव के पूर्व और नूतन इतिहास की छानबीन करनी होगी। लोक की रहन-सहन का सर्वांगपूर्ण अध्ययन, निरीक्षण,

भारतीय लोक चित्रण और प्रकाशन ही हमारे भावी कार्य की गतिविधि होनी चाहिए। भारतीय लोक सुविस्तृत है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण मे यथार्थ कहा है—

बहु व्याहितो वा अय बहुशो लोक। क एतद् अस्य पुनरीहतो अयात् ॥

जै० उ० ब्रा० ३।२८

यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु मे यह प्रभत है।

कौन प्रयत्न करके इसे पूरी तरह जान सकता है ? लोक सस्कृति के विद्यार्थी को यह मत्र सदा ध्यान मे रखना चाहिए। कश्मीर, पजाब, हिमाचल, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिण, उत्कल, बगाल, कामरूप और हिन्दी भाषी विपुल क्षेत्रो मे लोक जीवन, भाषा धर्म और संस्कृति की अपरिमित सामग्री भरी हुई है। उसके सकलन और प्रकाशन के लिये वैशम्पायन के चरक शिष्यो की भाति सर्वत्र विचरने वाले अनेक मेधाणियो की आवश्यकता है। श्री कुमारस्वामी ने (जिनकी कृपा से मुझे ऊपर का ब्राह्मण वाक्य प्राप्त हुआ था) एक स्थान पर लिखा है कि मास्को की केन्द्रीय लोक वार्ता परिषद् ने साईबीरिया मे खोज करके बारह लाख श्लोको के बराबर लोक साहित्य की सामग्री एकत्र की। अवश्य ही अपना देश उससे कही अधिक विशाल और विचित्र है। प्रत्येक क्षेत्र मे लोक साहित्य के अनुसन्धान और लोक जीवन के नृत्य गीत पर्वोत्सवो आदि के सचित्र सग्रह के लिये दृढ प्रयत्न करने होगे। यह कार्य राष्ट्रव्यापी योजना के अनुसार सम्पन्न कराना चाहिए। मास्को की केन्द्रीय लोक परिषद् मे दो सौ विशेषज्ञ विद्वानो का समुदाय यही कार्य करता है। उनके द्वारा रूस के लोक जीवन को कला और साहित्य के अनेक सुन्दर वरदान मिले हैं, जिन्होने वहा मानव के आनन्द का सवर्धन किया है। भारतवर्ष मे भी इसी प्रकार यह कार्य सभालना होगा किसी भी पचवर्षीय योजना के लिये इस प्रकार की योजना अनिवार्यतः आवश्यक है। इस कार्य के लिये एक बार पाच करोड रुपये की केन्द्रीय निधि स्थापित होनी चाहिए। उसके द्वारा कार्य के सूत्र सारे देश मे फैलाए जा सकेगे। लोक सस्कृति का अध्ययन अन्य सब कार्यो के लिये उपयोगी होगा। भारतीय कृषि, उद्योगधन्धे, पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति आदि का अध्ययन भी तो लोक सस्कृति का अग है। जब प्रत्येक क्षेत्र का पृथक् पृथक् अध्ययन पूरा होगा तब हम इस स्थिति मे होगे कि समस्त देश का तुलनात्मक अध्ययन कर सके और भारतीय जीवन की जो उदात्त सास्कृतिक सरस्वती है, उसके पुण्यरूप के दर्शन कर सके। भारतीय राज्य प्रजाओ के बलपर टिका है—

प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिम शरीरम्।

प्रजाओ के सर्वागीण अध्ययन के द्वारा ही हम उन्हे मानसिक सतुलन की स्थिति प्रदान कर सकते है। केवल अध्ययन ही पर्याप्त नही है। लोक-सस्कृति के कल्याणकारी रूपो का पुन प्रचार करना होगा। यही लोकमानजन का रूप है।

वैदिक संस्कृति का आकार

महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, साहित्य-वाचस्पति

सस्कृत विद्या के एक गौरव-स्तम्भ—गिरिधरजी को देखकर प्राचीन आचार्यो की मूर्ति प्रत्यक्ष होती है। विद्यावयोवृद्ध। सस्कृत कालेज जयपुर के अधिष्ठाता। आजकल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य-विद्याविभाग के आचार्य है। —सपादक

वेदमूलक भारतीय सस्कृति

वैदिक सस्कृति ही भारतीय सस्कृति है। सस्कृति शब्द प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे नही व्यवहार मे नही आया है। अग्रेजी 'कल्चर' (Calture) शब्द के स्थान मे सस्कृति शब्द की नवीन कल्पना की गई है। प्राचीन साहित्य मे 'कल्चर शब्द के अर्थ मे आचार, विचार शब्द का प्रयोग है, अर्थात् अग्रेजी भाषा का कल्चर शब्द जितने अर्थको अन्तर्गभित रखकर प्रयुक्त होता है, उतने अर्थ के प्रतिपादन के लिए प्राचीन भारतीय आचार-विचार' शब्द का प्रयोग किया करते थे। आज की भाषा मे उस अर्थ के लिए सस्कृति शब्द व्यवहार मे आने लगा है। अस्तु, भारतीयो की सस्कृति वा भारतीयो के आचार और विचार सब ही वेदमूलक है। यद्यपि आगे चलकर भारत मे ही ऐसे भी सम्प्रदाय बने, जिनमे वेद को अपने आचार-विचारो का आधार नही माना, जैसे बौद्ध सम्प्रदाय, जैन सम्प्रदाय, आधुनिक सिख सम्प्रदाय आदि आदि, परन्तु ये सम्प्रदाय जिन शास्त्रो वा ग्रन्थो को अपने आचार-विचारो का मूल कहते है, उनमे भी विवेचक दृष्टि से देखने पर वैदिक आचार-विचारो का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। किसी किसी अश मे उनमे चाहे भेद दिखाई देता हो, किन्तु मौलिक अश मे पूरी एकता है, जैसे, जैन, बौद्धो के आचार-विचारो का मुख्य आधार अहिसा' है, वह अहिसा वैदिक आचार विचारो मे भी ओत प्रोत है। समुचित युद्ध आदि के अवसर पर वे भी अहिसा का अपवाद मानते है, वैदिक लोग युद्ध आदि के साथ साथ यज्ञ को भी अपवाद स्थल कहते है। तात्पर्य यह, कि हिन्दू कहे जाने वाले सब भारतीयो की सस्कृति मूलत एक ही है। हा, आज भारत मे हमारे मुसलमान भाई, और कुछ ईसाई भाई भी निवास करते है, उनकी सस्कृति आप्टे कोश मे वैदिक सस्कृति से नही मिलती किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उनकी सस्कृति भारतीय सस्कृति के नाम मे व्यवहृत भी नही हो सकती। भारत मे उनका निवास भले ही चिरकालिक है, और ऐसी स्थिति मे भारतीय सस्कृति की कुछ छाप उनकी सस्कृति पर भी पड जाना

स्वाभाविक है, किन्तु मलत वे अपने प्राचीन स्थान अदन आदि की संस्कृति के ही अनुयायी हैं। अतः भारतीय संस्कृति वेदमूलक है—इसमें संदेह नहीं रहता।

यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो भारतीय संस्कृति का मूल आधार अध्यात्मवाद ही है। प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले शरीर आदि के अतिरिक्त एक (नित्य) आत्मा है, वह अनादि अनन्त है, आज जिस शरीर में हम हैं, ऐसे हजारों लाखों शरीर वह धारण कर चुका और छोड़ चुका है, आगे भी जब तक वह मुक्त न होगा, तब तक ऐसे हजारों लाखों शरीर धारण करेगा और छोड़ता रहेगा, उस आत्मा को उन्नत करना अर्थात् इस शरीर बन्धन के झगड़े से छुड़ा कर स्वरूप में प्रतिष्ठित कर लेना या मुक्त कर लेना यही हमारे जीवन का उद्देश्य है, इन विचारों का नाम ही अध्यात्मवाद है। यह अध्यात्मवाद वैदिक संस्कृति का भी मूल आधार है, और जैन, बौद्ध संस्कृति का भी। बौद्ध लोगों के दार्शनिक विचारों में केवल आत्मा की नित्यता पर थोड़ा विवाद है, और पुनर्जन्मवाद, मुक्तिवाद आदि सब समान हैं। नित्यता दो प्रकार की मानी जाती है, एक कूटस्थ नित्यता और दूसरी प्रवाह नित्यता। जो वस्तु सदा एक रूप रहे, जिसमें कभी कोई परिवर्तन संभव ही न हो, उसे कूटस्थ नित्य कहते हैं, और जो वस्तु बदलती तो रहे, किन्तु किसी न किसी रूप में सदा बनी रहे, जिसका अभाव कहीं न हो, उसे प्रवाह नित्य कहा जाता है। हम गंगा आदि किसी बड़ी नदी के किनारे पर बरसों तक बैठे बराबर देखते रहें, तो हमारी दृष्टि के सामने जल सदा बना रहेगा, किन्तु जो जल इस क्षण में है, वह दूसरे क्षण में न रहेगा, इसी का नाम प्रवाह नित्यता है, और आकाश की ओर दृष्टि लगाये हम बैठे रहें, तो जो आकाश सौ वर्ष पूर्व था, वही आकाश आज भी वैसा ही विचार में आता रहेगा। सूर्य का प्रकाश आया चला गया, चन्द्रमा और नक्षत्र आए और विदा हो गये, बादल, आँधी आदि आये चले गए, किन्तु आकाश के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, यह कूटस्थ नित्यता का स्वरूप है। वैदिक विचारधारा में आत्मा कूटस्थ नित्य समझा जाता है और बौद्ध विचार धारामें प्रवाह नित्य। जैन विचारधारा दोनों का संग्रह करती है कि आत्मा में परिवर्तन है भी, और नहीं भी है। यह दृष्टि का भेद है, किसी दृष्टि से परिवर्तन है, किसी दृष्टि से परिवर्तन नहीं है। अस्तु—इस प्रकार का अवान्तर विचार भेद रहने पर भी शरीरादि की अपेक्षा आत्मा को प्रधानता देना, आत्मिक उन्नति की ओर प्रधान लक्ष्य रखना, एक ही आत्मा का पुनः पुनः जन्म, मरण अर्थात् भिन्न भिन्न अनन्त शरीरों से संबंध और संबंध विच्छेद मानना, केवल इसी शरीर के सुख को लक्ष्य न मानकर आगे के जन्मों के सुख को भी अपने आचारों की मूल भित्ति मानना इन बातों में सब एक मत हैं, इसलिए अध्यात्मवाद हम सब हिंदुओं की संस्कृति का मूल आधार है, यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है इसीलिए सब हिन्दुओं की संस्कृति एक है और वही भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृति है, ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं पड़ता। भारत से भिन्न किसी अन्य देश की संस्कृति में पुनर्जन्मवाद नहीं है, उनके आचार व्यवहार का उद्देश्य केवल यहाँ का सुख है इसलिए वे संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति से भिन्न हैं।

अध्यात्मवाद का आशय

यह स्मरण रहना चाहिए कि अध्यात्मवाद का यह आशय कदापि नहीं है कि हम इस लोक की उन्नति से सर्वथा आंख बन्द करलें, उसके लिए कोई प्रयत्न ही न करें। अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस लोक की उन्नति करते हुए भी आगे के जीवनों का भी ध्यान रक्खें, ऐसे काम यहाँ की उन्नति के लिये न करें, जिनसे परलोक बिगड़ता हो, यही बात अध्यात्मवाद में देखनी पड़ती है। और परलोक या भविष्य जीवन के बिगाड़ सुधार का ज्ञान केवल साधारण मानव बुद्धि से नहीं हो सकता, इसलिए इस अध्यात्मवाद में शास्त्र को भी प्रमाण मानना पड़ता है। वह शास्त्र चाहे ईश्वर द्वारा उपदिष्ट हो, या योगाभ्यास आदि से लोकातीत दिव्य दृष्टि प्राप्त किए हुए तीर्थंकर, गुरु आदि का उपदेश हो, चाहे साधारण मानव दृष्टि से परे की वस्तु। ऐसे शास्त्र पर विश्वास भी हिन्दू संस्कृति में ओतप्रोत है। इसके बिना अध्यात्मवाद चल ही नहीं सकता।

वेदों पर गवेषणा करने वाले कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन बातों पर कुछ विमति प्रकट की है। उनमें से कई विद्वानों का कहना है, कि वैदिक संस्कृति एक सभ्यता के आरम्भ काल की संस्कृति थी। उस समय अध्यात्मवाद के विचार दृढ़ नहीं हो पाये थे, केवल अलौकिक शक्ति मान कर भिन्न भिन्न कुछ देवताओं का आराधन ही मन्त्रकाल में चला था। आगे धीरे धीरे उपनिषद् काल में आकर अध्यात्म विकास पूर्ण रूप से हुआ। प्राचीन वैदिक संस्कृति केवल यज्ञ प्रधान थी, उसमें ब्राह्मण ही सर्वेसर्वा थे, उनकी इस उच्छृंखल प्रधानता से ऊब कर क्षत्रियों ने उपनिषद् की विचारधारा को जन्म दिया। उनमें एकेश्वरवाद, एकात्मवाद आदि चलाया, और यज्ञ यागादि से दूसरी ओर संस्कृति का प्रवाह चलाया—इत्यादि। आज केवल यूरोपियन विचारधारा के अनुयायी बहुत से भारतीय भी ऐसा ही मान रहे हैं। किन्तु विस्तृत विचार करने पर यह सब केवल कल्पना ही प्रतीत होगी। आत्म ज्ञान की महत्ता, उसका कर्मकाण्ड से बहुत ऊपर होना, एकात्मवाद आदि मन्त्रभाग में भी विस्पष्ट पाया जाता है। इसके एक दो प्रमाण उपस्थित कर देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।

(ऋग्वेद सं० १०।८२।७)

हे मनुष्यो ! तुम उसको नहीं जानते हो जिसने सब भूतों को उत्पन्न किया है और जो तुम्हारे आत्मा में भी भीतर बैठा हुआ है। तुम लोग अज्ञान में आवृत्त हो और अज्ञान दशा में ही बोलते हो व्यवहार करते हो। केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे हुए हो। और यज्ञादि कर के स्वर्ग के भोग भी भोगना चाहते हो, किन्तु उसे जानने का प्रयत्न नहीं करते।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाअधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते।
(ऋ० स० १।१६४।३९)

जिस परमाकाश रूप अक्षर ब्रह्म के आधार पर सब ऋचाए और ऋचाओ के प्रतिपाद्य सब देवता ठहरे हुए है उसको जो नही जानता, वह केवल ऋचा से क्या करेगा, और जो उसे जानते है, वे शान्ति पूर्वक स्थिर रहते हैं।

इसी प्रकार—

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। (यजु० म०)

वही अग्नि, वही सूर्य, वही वायु और वही चन्द्रमा है। वही जगत् का उत्पादक शुक्र है, वही प्रकृति रूप ब्रह्म है, वही आप् (जल) रूप है, वही प्रजापति कहलाता है।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'।

इत्यादि अनेकश मन्त्रो मे एकात्मवाद स्पष्ट है। ब्राह्मण क्षत्रियो मे वर्ग विरोध सिद्ध करना एक राजनैतिक काम था, किन्तु आत्म विस्मृत भारतीय उसे सत्य मानकर उसे दोहरा रहे है। वर्ण व्यवस्था द्वारा भारत मे वर्ग विरोध कभी नही हुआ। वेद तो सब वर्णो को एक विराट पुरुष के अंग मानकर उनमे विराट् शरीर की कल्पना करता है। क्या एक शरीर के अवयवो मे भी कभी विरोध देखा गया है। ऋग्वेद संहिता का उपसंहार ही इस मन्त्र पर होता है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासाति। (ऋ०१०।१९१।४)
(ऋक् संहिता का अन्तिम मन्त्र—)

तुम लोगो का हृदय समान हो, संकल्प समान हो, मन समान हो, जिस प्रकार तुम्हारा यह साहचर्य्य बहुत सुन्दर बन सके। इस प्रकार मेल की शिक्षा देने वाला वेद वर्ग भेद का आधार है—ऐसी कल्पना कोई स्वार्थवश ही कर सकता है।

वेद संस्कृति, सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था थी, यह भी कोरी कल्पना है। समाज व्यवस्था राज्य व्यवस्था शिल्प विस्तार, जहाँ इतने ऊँचे स्तर पर मिलते है, उसे सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था कहना इसकी आत्मा को अपने स्वार्थवश गिराना नही तो क्या है? मै यहाँ शिल्प विज्ञान के दो ही मन्त्र उपस्थित करता हूँ—ये मन्त्र ऋभु देवताओ की स्तुति है—जिनका शिल्प ऋग्वेद मे बहुधा वर्णित है।

अनश्वो जातो अनभीशुभावक्थ्यो रथस्त्रिचक्र परिवर्ततते रज---महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचन द्यामृभव पृथिवी यच्च पुष्यथ ।

रथ यें चक्रु सुव्रत सुचेतसोऽविहरन्त मनमस्परिध्या---ना अन्वस्य मन्वस्य पतिय आवो वाजा ऋभवो वेदयामसि ।

ये वामदेव ऋषि के दृष्ट ऋभु देवताओ की स्तुति के मत्र है। ऋभु देवताओ का इतिहास भी बहुत कुछ कई मत्रो मे बताया गया है और उनके सम्बन्ध मे यह भी कहा गया है, कि उन्होने मनुष्य योनि मे देवभाव प्राप्त किया था। "मर्तासि सन्तो अमृतत्वमानशु" पत्र इनके मनुष्य दशा के व देवभाव के विविध शिल्पो का वर्णन ऋक्सहिता के बहुत सूत्रो मे मिलता है। अस्तु भाष्यकार श्रीमाधवाचार्य के लेखानुसार प्रकृत मन्त्रो का अभिप्राय यह है कि— "हे ऋभु देवताओ! आपने जो रथ बनाया है वह घोडे आदि वाहन की वा लगाम आदि उपकरण की कोई अपेक्षा नही रखता। अतएव वह सर्वथा स्तुति के योग्य है। तीन पहिये का वह रथ अन्तरिक्ष मे भ्रमण करता है, यह आपका बडा भारी काम आपके देवभाव का प्रख्यापक है। (अर्थात् ऐसे ही बहुत से कामो से आपको देवभाव प्राप्त हुआ है) और ऐसे ही कार्यो से आप पृथिवी और द्यु (स्वर्ग) दोनो को पुष्ट करते है।'

इस व्याख्या मे विमान की आकृति का विषय स्पष्ट है। किसी टीका टिप्पणी की आवश्यकता नही और व्याख्या किसी नई रोशनी के रग मे रँगे हुए की नही, आज से ७-८ सदी पहिले के एक विद्वान् ब्राह्मण (श्रीमाधवाचार्य) की व्याख्या है ध्यान रहना चाहिये।

हाँ, यह अवश्य है, कि इन सब वस्तुओ का खूब प्रसार कर वैदिक काल के नेताओ ने अपने समय मे 'मशीन युग' नही बनाया। इससे प्रजा मे भुखमरी, बेईमानी, विलासिता और स्वार्थपरता फैलकर जीवन अशान्तिमय हो जाता है, इन दोषो को वे खूब जानते थे। उनके मार्ग को भूलने से ही आज हम इन सब दोषो के शिकार बन गये है। वैदिक सस्कृति साधारण जीवन निर्वाह सिखाती है, सत्यभाषण, अहिसा परोपकार आदि को प्रधानता देती है। वह जीवन शान्तिमय जीवन था। ईश्वर हमे पुन सुबुद्धि दे कि हम वैसा ही जीवन निर्वाह का अभ्यास कर भारत को सच्चा भारत बनाये।

लोक संस्कृति क्या है ?*

स्व० प० रामनारायण मिश्र, साहित्य-वाचस्पति

उत्साह और स्फूर्ति के चिरन्तन स्रोत के समान. बूढे होकर भी जो बूढे होना नही जानते थे, सदाचार को शिक्षण का प्रधान अग मानने-जानने वाले मिश्र जी के साथ स्वर्गीय शब्द लगाते लेखनी कॉपती है। उत्तर-प्रदेश के सहस्र-सहस्र छात्रो एव नवयुवको को उनसे उच्चादर्शो की प्रेरणा प्राप्त हुई है और एक प्रकार से वे तरुण पीढी के निर्माता ही थे। फारसी और उर्दू भाषाओ के अध्ययनमे डूबकर भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार मे सक्रिय भाग लेने वाले, नागरी प्रचारिणी सभा के सस्थापको मे से एक मिश्रजी ने अपने देहावसान से कुछ दिन पूर्व यह लेख अपनी रुग्ण-शय्या से लिख भेजा था और यही उनकी अन्तिम रचना है। —सपादक

सस्कृति शब्द आजकल घपले मे पड गया है। कोई इसे सभ्यता का और कोई शिष्टाचार का पर्याय वाचक समझता है। सम्प्रदाय-विशेष के लोग अपने मल सिद्धान्तो को सस्कृति मानकर इसका प्रयोग करते है। कुछ लोग भारतीय सस्कृति, आर्य सस्कृति, हिन्दू सस्कृति तथा जैन, बौद्ध, मुस्लिम सस्कृति के भेद भाव ढूढने मे लगे है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठता है कि सस्कृति परम्परागत और स्थायी है या परिवर्तनशील ?

सभ्यता और शिष्टाचार तो देश और काल के अनुसार परिवर्तित हुआ करते है। यही उत्तर प्रदेश मे दस वर्ष पहले भले घर की कोई स्त्री नगे सिर घर से बाहर नही निकलती थी। आज अध्यापिकाए और बालिकाए नि सकोच नगे सिर स्कूल जाती है। यदि इस रहन-सहन को सस्कृति मानते है, तब तो सस्कृति परिवर्तनशील सिद्ध होती है, किन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय तो समाज के आचार, रहन-सहन पहनावा सस्कृति नही हो सकते। यह सब सभ्यता के अग है। सस्कृति का सम्बन्ध हमारे मन, हृदय और मस्तिष्क के सस्कारो से रहता है। इस

---

*लोक सस्कृति विशेषाक के विद्वान् सम्पादक ने जिन विषयो पर लेख मागे है उन पर विचार की सीमा बहुत विस्तृत है। उन पर लिखने के लिए समय, साधन और सामग्री चाहिए। मै तात्कालिक लेख लिखने का अभ्यस्त नहीं हूँ तिस पर स्वास्थ्य भी बाधक हो रहा है इसलिए केवल दो चार शब्द आज्ञापालन के रूप में लिख रहा हूँ। —लेखक

दृष्टि मे संस्कृति स्थायी है, समयानुसार उसमे विकास और ह्रास अवश्य हुआ करते है। संस्कृति शब्द विशिष्ट जनसमुदाय के विचारो का बोधक है और लोकसंस्कृति साधारण जनसमुदाय का।

लोक संस्कृति के मूल तत्त्वः—

(१) भिन्नता मे एकता।
(२) बाह्य रूप मे परिवर्तन, पर तात्विक स्थिरता।
(३) मानवता और सहिष्णता।
(४) प्रकृति की उपासना।
(५) अमर सत्य का, जो सदा सरल होता है, पालन।
(६) सब प्रकार की सद्‌विद्या और कला-कौशल की उन्नति;
(७) आध्यात्मिक विकास।
(८) सन्तो, तत्वज्ञानियो, महापुरुषो का युग युगान्तर मे अटूट प्रादुर्भाव।
(९) ज्ञान की पिपासा और वह जहाँ से प्राप्त हो उसका ग्रहण।
(१०) प्रजा पालक शासन।

इस तात्विक विवेचन से भारत का मुख सदा उज्ज्वल रहा है। भिन्नता मे एकता, मानवता और सहिष्णुता का तो यहा हर युग मे आदर्श रहा है। विभिन्न प्रान्तो के आचार वेश-भूषा, रहन-सहन, आहार-व्यवहार मे भेद होते हुए भी राम, कृष्ण, सीता, सावित्री के नाम पर व्यक्तियो का नामकरण संस्कार होता आया है। जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि एक साथ रहते आए है, यहा तक कि अनात्मवादी भगवान् बुद्धको अवतार ही मान लिया गया है। समय समय पर जो संघर्ष होता रहा है, वह शास्त्रार्थ तक ही सीमित रहा है, किसी ने एक दूसरे को विनष्ट करने की चेष्टा नही की। भारत की उदार सदाशयता और शरणागत वत्सलता ने विदेशियो एव अन्य धर्मावलम्बियो को भी यहा सुख, शान्ति से रहने के लिए प्रश्रय प्रदान किया है।

इतिहास साक्षी है, कि विदेश से जितने अन्य धर्मावलम्बी भारत मे शरण प्राप्त करने आए उनका यहा स्वागत किया गया। ईसाई पादरी (Adrian Fortescue) एड्रियन फोर्टस्क्यू, अपनी पुस्तक The Lesser Christian Churches मे लिखता है, कि चौथी शताब्दी मे फारस मे रहने वाले ईसाई वहा जब सताए जाने लगे तब वे भाग कर भारत-वर्ष मे आकर बस गये।

'A number of them, with Bishops and clergy fled to the more tolerant Hindu princes on the Western Coast of India"

अनेक ईसाई अपने विशप और अन्य पादरियो के साथ भारत के पश्चिमी किनारे के उदार हिंदू राजाओ के यहा भाग कर आगए।

इसी प्रकार जरथुष्ट महात्मा के अनुयायी जो पारसी कहलाते हैं, ८वी शताब्दी मे फारस मे सताये जाने पर भारत चले आये और यही आकर बस गये। पारसियो मे दादा भाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, मालाबारी आदि विशिष्ट पुरुषो ने भारत की उच्चकोटि की सेवा की है। ससार के किसी देश मे ऐसा नही हुआ, कि सामूहिक रूप से विदेशी आये हो और वहाँ जाकर बस गये हो, और उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तो तथा आचार-व्यवहार मे कोई किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हुआ हो। मुसलमान इस देश मे आक्रमणकारी होकर आये, इसलिये उनसे सघर्ष कुछ अधिक रहा तथापि एक का प्रभाव दूसरे पर पडता ही रहा है। सूफी सन्त और कबीर आदि इसके प्रमाण है। इस प्रकार बाह्य रूप मे समुद्र की लहरो की तरह परिवर्तन बराबर होता रहा है, पर भारत की सास्कृतिक आत्मा गभीर और निश्चल रही है।

प्रकृति की उपासना के प्रतीक हमारे तीर्थ और त्योहार है। प्राय सभी तीर्थ पर्वतो पर या समुद्र तट पर अथवा नदियो के सगम पर है। प्रत्येक ऋतु मे दो तीन त्योहार उस ऋतु की विशेषता की छाप मनुष्य के हृदय पर छोड जाते है। शरद पूर्णिमा मे प्रकृति की शोभा प्रदर्शित है। विजयादशमी, दीपावली, होली आदि हमारे त्योहार रुलाने वाले नही हैं। सभी उल्लास पैदा करने वाले, पारस्परिक प्रसन्नता और सद्भावना का सन्देश लाने वाले है, आध्यात्मिकता तो भारत की शाश्वत निधि है, जिससे समस्त ससार सम्पन्न हुआ है। एक ब्रह्मचर्य शब्द का समानार्थ शब्द किसी दूसरी भाषा मे नही मिलता। इसका अर्थ इतना व्यापक है, कि जीवन के हर पहलू पर इसका प्रकाश पडता है और यही भारतीय सस्कृति का मूल आदर्श रहा है। भारतीय जीवन मे शौचादि नियमो की प्रमुख विशेषता है। प्रतिदिन भोजन से पहले स्नान और भोजन के उपरान्त कुल्ला करना, एक दूसरे के जूठे बरतन मे पानी न पीना और भोजन न करना ये सब बाते भारत ही मे देखने को मिलती है।

उपर्युक्त सभी भारतीय आदर्श उस पुरानी आध्यात्मिक शिक्षापर निर्धारित है जो हमे सहस्रो वर्ष की परम्परा से प्राप्त हुई है। यह परम्परा सहस्रो वर्ष से अपरिवर्तित चली आ रही है, यही एक ऐतिहासिक अचम्भा है। भारत मे सदा सद्विद्या और ज्ञान की पिपासा रही है। यही कारण है कि सहस्रो उपलब्ध ग्रथो के अतिरिक्त वर्तमान काल मे भी भिन्न भिन्न विषयो पर महत्वपूर्ण हस्तलिखित प्राचीन ग्रथ मिलते जा रहे है। अरब को अक विद्या का ज्ञान भारत से ही प्राप्त हुआ है, इसलिए वहाँ अकविद्या को 'इल्मे हन्दसा' कहा जाता है। स्वय ज्ञानी होकर भी अन्य देशो से ज्ञान प्राप्त करने मे भारत ने कभी सकोच नही किया है। गणित-ज्योतिष मे यूनान वालो से बहुत सी बाते भारतीय विद्वानो ने सीखी। वर्तमान काल मे इसने विज्ञान का परिचय बहुत कुछ यूरोप से प्राप्त किया है। सस्कृति की भावना सकीर्ण नही है। वह एक ऐसे भवन के समान है, जिसमे अनेक खिडकियाँ है, जिनसे स्वच्छ, सुशीतल वायु प्रवेशकर भारतीय लोक जीवन को सदैव अम्लान बनाये रहती है।

भारतवासियों के इतिहास और संस्कृति में भौगोलिक वैषम्य

डा० राधाकमल मुखर्जी

लखनऊ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा० मुखर्जी भारतीय इतिहास के बिखरे हुए भूले हुए जीवनदायी तत्त्वों को एक सूत्र मे बाँधने और उन पर गहराई से विचार करने मे अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते है। आपने इस लेख मे भारतीय इतिहास और संस्कृति के अन्योन्य भौगोलिक वैषम्य पर एक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।
—संपादक

भारत की प्राचीन सीमाओं की उर्वरता तथा सम्पत्ति

प्राचीन काल मे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश की सिंचाई आज से बहुत अच्छी थी। भारत के पूरे पृष्ठभाग—अफगानिस्तान, बलख और पूर्वी ईरान—ने जलवायु के अनेक उतार-चढाव देखे है, जिससे उस भाग पर और उस भाग से अनेक बार आक्रमण हुए है। उत्तर मे बलख, जहाँ चीन, भारत और पश्चिमी एशिया के मार्ग मिलते थे और दक्षिण मे लास बेला, जहाँ सिन्धु के डेल्टा और दक्षिणी ईरानके मार्गोका सगम था, अब एक ऊजड क्षेत्र के शहर रह गए है। मानसून की पूर्ववर्त्ती गति के पूर्व इस क्षेत्र का जलवायु समशीतोष्ण रहा था। हिन्दकुश के उत्तर मे फैला प्रदेश बहुत समृद्ध था और वहाँ का जलवायु भी अच्छा था जिससे मध्य एशिया की कठोर जातियो को भारत पर आक्रमण और विजय प्राप्त करने की सुविधाएँ मिलती थी। किन्तु इसके अतिरिक्त कृषि का एक महत्वपूर्ण परिणाम था—'अफगानिस्तान मे गेहूँ की खोज' जो जलवायु के पूर्ववर्ती युगोमे चक्रवातो से पोषित होता था और सिन्धु की घाटी एव पजाब मे प्रारम्भिक कृषि का मुख्य आश्रय बन चुका था। आज बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया के जो भू-भाग वर्षा रहित रेगिस्तानो के रूप मे दिखाई पडते है, उनमे बडे बडे और किसी समय फूलते फलते गाँवो की खोज हुई है। उत्तर–पश्चिम मे भारत को आने वाले बालू और पत्थर के रेगिस्तानी मार्गो मे समरकन्द, बलख, और खोतन जैसे उपजाऊ और समृद्ध नखलिस्तान (हरित भूमिखण्ड) भी पडते थे। इस पूरे क्षेत्र मे समरकन्द सबसे उपजाऊ नखलिस्तानो मे से एक था। चीनी यात्री ह्वेन–सांग का कहना है कि "यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है, यहाँ

हर तरह का अन्न पैदा होता है, जंगलों की हरियाली अद्भुत है और फलों और फूलों की आश्चर्यजनक अधिकता है।" बल्ख भी एक अत्यन्त अच्छी पैदावार का समृद्ध नखलिस्तान था। चीनी यात्री के शब्दों में बल्ख की "समतल भूमि और उसकी समीपवर्ती घाटियाँ सामान्यतः उपजाऊ हैं। इस प्रदेश पर सचमुच ईश्वरीय कृपा है।" कृषि की दृष्टि से कपिशा भी कम समृद्ध नहीं था। लम्पक में चावल और गन्ना बहुत होता था। इसी प्रकार खोतन भी समृद्ध था और शहतूत के पर्याप्त उद्यानों के कारण रेशम के उत्पादन का केन्द्र बन गया था। यह वहाँ का राष्ट्रीय उद्योग था। चीनी संस्कृति को रेशम की भेंट प्रारम्भिक खोतन में ही मिली थी। पंजाब और सिन्धु नदी के पूरे क्षेत्र में हजार साल पहले वसन्त और ग्रीष्म की मानसूनों से बहुत वर्षा होती थी जिससे आजकल गंगा की घाटी कृषि में इतनी समृद्ध और जलवायु में समशीतोष्ण है। अफ्रेशिया के सारे सूखे भाग की जलवायु बिल्कुल बदल गई है जहाँ चीनी शतियों में दक्षिण-पश्चिमी मानसून का जोर रहा करता था। फाहियान और ह्वेनत्साँग चीनी यात्रियों ने भारत की सीमा पर बसे काशगर, उड्डीयन, खोतन, गान्धार और सिंध की बड़ी जनसंख्या और समृद्धि के प्रमाण दिये हैं। मध्यएशिया के राज्य तुर्फान और कुचा बहुत समृद्ध और महत्त्वपूर्ण थे— ये गोबी मरुस्थल के उत्तर नखलिस्तान थे और तुर्क-अफगान विजय तक मध्य एशिया में भारत और ईरान की प्राचीन सभ्यताओं के संरक्षक रहे थे। सातवीं शती में गान्धार, उड्डीयन, स्वात घाटी और पंजाब के प्रमुख नगर तक्षशिला की जलवायु अच्छी थी और वे समृद्ध थे। चौदहवीं शती में मानसूनी वर्षा की अधिकता और प्रचण्डता के कारण मुल्तान में तैमूर की अश्वारोही सेना को क्षति पहुँची थी। पश्चिमी एशिया में जिसमें उत्तर-पश्चिमी भारत भी था, आज से कहीं अच्छी जलवायु थी जो भारत के उत्तरी मैदानों में आने की लालसा रखने वाली खानाबदोश और विस्थापित जातियों और लोगों के लिए वरदान थी। जब मानसून भारत की उत्तर पश्चिमी सीमाओं को छोड़कर बल्ख से बिलोचिस्तान तक हट गई तो सिन्धु नदी की घाटी सूख गई और वहाँ की आबादी कम हो गई, वैदिक साहित्य की सरस्वती छितरा कर लुप्त हो गई और दक्षिणी ईरान और राजपूताना के बीच की भूमि धीरे धीरे एक विशाल मरुभूमि में बदल गई। बाद की शतियों में यही एक प्राकृतिक रोक के रूप में बदल गया जिससे खैबर दर्रे में हो कर दिल्ली क्षेत्र की ओर बढ़ने वाले अभियानों को बाधा पड़ी और इससे आठवीं शती के प्रारम्भ में अरब लोग सिन्ध जीतने के बाद भी पूर्वी भाग की ओर नहीं बढ़ सके। दक्षिणी बिलोचिस्तान तो चौथी शती में सिकन्दर के आक्रमण के समय तक ही सूखा और बंजर हो चला था किन्तु उस समय सिन्ध नम और उर्वर था। शुष्कता और बंजरता की दशा पहले सिन्ध नदी के डेल्टा तक संकुचित रही, फिर उसका पूर्वी दिशा की ओर फैली। बड़ी नदियों से सबद्ध अनेक बस्तियों और सिन्धु नदी की घाटी की जलवायु को इस निश्चित परिवर्तन से बहुत क्षति पहुँची। प्राचीन काल की सब से बड़ी नदी सरस्वती जिसके किनारे वैदिक संस्कृति पनपी थी और जो महाभारत काल तक एक विशाल ... से बह चली। बाद में वह घाघर-हकरा कहलाने लगी और मध्यकाल में सूख गई

थी। उसके कंकालावशेष बहावलपुर और गुड़गांव में बिखरे पड़े हैं। सरस्वती-घाघर-हक्रा-नीर व्यवस्था के टूट जाने से पंजाब की पुरानी बस्तियों को हड़प्पा संस्कृति के युग में बड़े उत्थान पतन देखने पड़े हैं। हड़प्पा के विनाश का कारण रावी नदी का मार्ग बदल देना ही लगता है क्योंकि हड़प्पा उसी के किनारे बसा हुआ था। सतलज और रावी ने अनेक बार अपना मार्ग बदला है, सतलज ने तो बहुत बार। सतलज और यमुना के बीच मरुहिन्द कहा जाने वाला एक नदी विहीन क्षेत्र बन गया था जिससे उत्तर-पश्चिमी द्वार से यमुना के पूर्व में आ सकना आसान हो गया था ओर दिल्ली सैनिक दृष्टि से भारत का केन्द्रीय शहर बन गया था क्योंकि दिल्ली की स्थिति वहां है जहां गंगा की घाटी का क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो जाता है जो उत्तर-पश्चिम के आक्रमणों से रक्षा कर सकने की सब से अच्छी स्थिति है।

भारतीय-आर्यों का मार्ग

आदिकाल से ही भारत में उत्तर-पश्चिमी दर्रों द्वारा प्रवासी, व्यापारी, यात्री और आक्रमणकारी आते रहे हैं। इतिहास के उप काल में बहुत काले रंग के निग्रो (Negtrio) आए थे। उसके बाद प्रोतो-आस्ट्रेलॉयड्स (Proto australoids) आए जो ईसा की चौथी सहस्राब्दी पूर्व भारत और सुदूर में मैलेनीसियातक फैल गए थे और उनकी प्रतिनिधि जातियां अब लंका के वेद्दा, अण्डमन वासी, नीलगिरि के इरुला विनाड के पाण्यर ओर अनेक जंगली जातियाँ हैं। इसके बाद भूरे रंग की भूमध्य सागरीय जाति आई जिसने मिस्र सुमेर और सिन्धु घाटी की सभ्यता को जन्म दिया और जिसके प्रतिनिधि अब छोटा नागपुर दक्षिणी पठार और दक्षिणी भारत के कुछ भागों में रह गए हैं। तत्पश्चात आर्य भाषा बोलने वाले लोग आए जो उत्तरी भारत की नदियों के किनारे फैल गए और दक्षिण में भी प्रविष्ट हुए।

निग्रो, प्रोतो-आस्ट्रेलायड्स, (Proto australoids) भूमध्य सागरीय और आर्य भाषाभाषी लोगों ने पूर्व और दक्षिण की ओर जाने में खुली घाटियों और नदियों का मार्ग ग्रहण किया था। पूर्व की ओर वे गंगा के डेल्टा और दक्षिण में गुजरात और बंबई की ओर गए। आर्यों को ईरान, कम्बोज और गान्धार के लम्बे मार्ग से सप्त सिन्धु और गंगा-यमुना के दोआब तक आने में अनेक कठिनाइयों और संघर्षों का सामना करना पड़ा था। 'मार्ग' का अर्थ आर्यों के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति, दिशा और संयम बन गया। बौद्धों का अष्टांग मार्ग ही धम्म था, किन्तु ब्राह्मण संस्कृति में 'मार्ग' का अर्थ मनु द्वारा निर्धारित (असतो वर्त्म) धर्मपूर्वक जीवन यापन करना था। भारतीय आर्यों के प्राचीन प्रवास के इस रूपक का काल-सम्मानित तात्पर्य यही है। हिमालय, सुमेरु, कैलाश, विन्ध्य आदि पर्वतों पर भटकते रहने से आर्य उन्हें देवताओं, देवदूतों, यक्षों और सन्तों का प्रियस्थान समझते थे सुमेरु को विश्व की धुरी माना जाता था। हिमालय को 'पर्वतराज' तथा 'देवात्मा' कहा जाता

था। कालिदास ने उसे अपने काव्य मे विष्णु या शिव कहा है। कैलास यक्षो के राजा कुबेर और योगीराज शिव और पार्वती का निवासस्थान है।

आर्यों की विश्व-धारणा मे नदियाँ और पर्वत

कैलास के पास हिमालय के मध्य मे सतलज (शतद्रु) का स्रोत तथा विश्व-जीवन का रहस्यमय जलाशय मानसरोवर है। आर्य भूगोल के साथ अध्यात्म विद्या का मिश्रण कर देते थे। पद्म पुराण मे विश्व की उपमा स्वर्ण-कमल से दी गई है। आर्यो की विश्व-धारणा मे विश्व-कमल का नाल मानसरोवर मे है जहा से सतलज निकलती है और सिन्धु, गगा तथा ब्रह्मपुत्र का उद्गम भी उसी के पास है। विश्व-रचयिता ब्रह्मा मानसरोवर मे विश्व-कमल पर विराजते है। एशिया को चार पखुड़ियो वाला कमल माना गया है। ससार की ऊँची पर्वत चोटिया आकाशोन्मुखी पखुडिया है और सिन्धु-गगा की समतल भूमि और हिमालय का उपवर्ती क्षेत्र विश्व-नीर पर झुकी कमल की दक्षिण पखुडी है। विश्व कमल या पद्म को ऋग्वेद मे पद्मप्रिया (पद्म को प्रेम करने वाली देवी) और क्षमा (उत्पन्न) जीवो की जननी के रूप मे पूजा गया है। बसरा (तीसरी ई० पू०) और भरत (दूसरी ईसवी पूर्व) मे हमे उसी ऋग्वेदिक देवी की मूर्त्ति मिलती है। उस प्राचीनकाल से ही कमल भारतीय धर्म, मूर्त्तिकला, स्थापत्य और साहित्य का सार्वदेशिक प्रतीक रहा है। भारत की सब से पवित्र नदी गगा का जन्म ब्रह्मा के स्वर्ग मे हुआ है, वहाँ से कूद कर वह हिमालय के हिम-देव शिव की फैली जटाओ मे आई और फिर गोमुख प्रपात से दो सौ मील दूर हरद्वार या हर्षद्वार (पुरातन गगा द्वार और कनखल) के पास सगर के पाप-प्रक्षालन के लिए मैदानो मे उतरी।

गगा-यमुना का स्वर्ग से धरती पर उतरना और सागर मे लय हो जाना सर्वप्रथम गुप्तकालीन भारत की पाचवीशती की मूर्तिकला मे अकित किया गया था, जब गुप्तवश ने सिन्धु-गगा की भूमि पर विजय पा कर हिन्दू राष्ट्रीयता को पुनरुज्जीवित किया था। गुप्तकालीन अनेक सिक्को मे गगा को मकर पर आसीन अकित किया गया है। गुप्तकाल मे ही आर्यावर्त मे मन्दिर के द्वारो पर गगा को मकर और यमुना को कछुए पर दिखाना प्रधान प्रथा हो गई थी। भारशिव काल मे गगावतरण की कथा मे गगा और यमुना को गुप्त साम्राज्य के बड़े भारत के मध्यदेश की देविया मान लिया गया था। कालिदास ने नदी-देवियो को शिव की चामर वाहिका (कुमार सभव ७-४२) कहा है और रघुवशम् के एक प्रसिद्ध अवतरण मे (१३-५७) प्रयाग मे गगा-यमुना के सगम की उपमा कृष्ण सर्पमण्डित विभूतिभूषित शिव से दी गई है। उदयगिरि के गुफा-मदिर मे गगा और यमुना के जन्म, प्रयाग मे इनके सगम और पूर्वसागर मे इनकी शक्तिशाली धारा के लय हो जाने का स्पष्ट चित्रण किया गया है। कालिदास के काव्य मे गगा यमुना का मनोहर वर्णन और गुप्तकालीन मूर्तिकला मे उसका अकन आर्य-मध्यदेश की शक्तिशाली नदियो के पवित्र माहात्म्य के अनुरूप ही है। गुप्तवश का सास्कृतिक

साम्राज्य मध्यदेश में ही फैला था जो हूणों के आक्रमण से रक्षा के लिए बनाया गया था। कुमार सभव (७-४२) में गगा-यमुना की मूर्तियों का जो वर्णन है, वह उदयगिरि, विदिशा आदि की मूर्तिकला (चामर के साथ नहीं) के भी अनुकूल है। गगा और यमुना देह धारण कर चामर-वाहिका के रूप में शिव की सेवा में लगी हुई दिखाई पड़ती है, जिनके हसोंके साथ उड़ते हुए हसो की पंक्ति है। सफेद चामर डुलाए जाते समय नदी किनारे उतर रहे हसो की भाति सुन्दर लगते है। किंतु अब तो समुद्रोन्मुखी नदियो के रूप बदल गए है। विक्रमपुर में प्राप्त वक्ष पर शिव नटराज की एक भव्य पाल प्रतिमा मे शिव के ऊपर अपने हाथ में चामर डुलाते हुए गगा-यमुना का चित्रण भी है। गगावतरण का कथानक देश की कल्पना में इतना घर कर गया है, कि महाकाव्यो, पुराणो ओर देशी भाषाओं के साहित्य मे वह एक लोकप्रिय विषय बन गया है। मद्रास के निकट समुद्र तट पर ममल्लपुरम् मे पल्लव कृत ७ वी सदी की विशालकाय चट्टान पर खुदी गगा की मूर्ति मिलती है। यह भारतवर्ष मे इस प्रकार की सब मे बड़ी और नाटयपूर्ण कलाकृति है। गगा के अवतरण से देवता, देवदूत, किन्नर, सिद्ध, नाग, मनुष्य और पशु सभी आश्चर्य-चकित और श्रद्धा विह्वल है, जो भागीरथके तप के कारण धरती पर जीवन की रक्षा करने को आई है। देवताओ, मनुष्यों ओर पशुओ के सारे खुदे चित्र उस भीमकाय चट्टान की अतल गहराई से निकलने वाले एक प्रवाहपूर्ण सामजस्य और लय से एक साथ सुसगठित है और जीवन की एकता विषयक भारतीय दृष्टिकोण के साक्षी है। गगा विश्व को अनुप्राणित करने वाली दिव्य शक्ति का मूल है। गगावतरण की महान् घटना और भारत को उसकी देन का चित्रण भारतीय कला मे अत्युत्तम ढग से किया गया है।

पवित्र दोआब की सामाजिक सस्थाएँ

चीन की नदियो के विपरीत गगा ने अपना प्रमुख प्रवाह-मार्ग नही के बराबर बदला है। इससे गगा की उपजाऊ भूमि पर पनपने वाली सभ्यताओ की प्राचीनता और अविच्छिन्नता अक्षुण्ण रही है। गगा की उपजाऊभूमि पर गगा और उसकी सहायक नदियो के मार्ग से अनेक जातिया आई, साथ साथ रही और फिर आपस मे घुल मिल गई। आर्यो को पर्वतो और पठारो मे होकर यात्रा करनी पड़ती थी इसलिए पर्वत शृग उनके सीमाचिन्ह और पवित्र स्थान बन गए। किंतु समतल विस्तृत मैदानो मे आने पर वे नदियो को ही प्राकृतिक सीमाएँ मानने लगे। शतद्रु पार करके सिन्धु घाटी के उत्तर पूर्व मे बसने के बाद आर्यो की पवित्रतम नदियां सरस्वती, दृषद्वती और अपया थी। यह पवित्र क्षेत्र ब्रह्मावर्त कहा जाता था। विश्व सस्कृति के पवित्रतम दोआब ब्रह्मावर्त के पूर्व मे गगा-यमुना के दोआब का ऊर्ध्व भाग था जो अन्तर्वेदी कहालाता था। वहा आर्यो ने अग्नि-देव की आराधना विकसित की। आर्य अपने पुरोहितो और राजाओ के पथ-दर्शन मे पूर्व मे और भी आगे बढे थे। वे नीचे की ओर गगा, यमुना, सरस्वती, सरयू ओर वरणावती द्वारा सिंचित भूमि मे अग्निदेव को बलि देकर और उनमे जगलो मे आग लगवाकर नई भूमि

अर्जित करते थे। आर्यो को पूर्व के मैदानो मे विभिन्न सास्कृतिक स्तर, रीति रिवाजो और रहन सहन के ढग रखनेवाली बहुत सी अनार्य जातिया मिली। आर्यो के सामने उन लोगो का सगठन करने का काम था जिससे सामाजिक विद्रोह या हिंसा के बिना एक स्थायी और कुशल सामाजिक पद्धति बनाई जा सके। इसलिए विजेता आर्यो ने, जो भारत मे पहले साम्राज्य निर्माता थे, नदियो की घाटियो मे कुछ ऐसी सामाजिक सस्थाए बनाई जो विश्व इतिहास मे और कही नही मिलती। उन्होने गण या सस्कृति की स्वायत्तता सामूहिक सयम और पारस्परिक सहिष्णुता पर आधारित एक सुसगठित समाज व्यवस्था स्थापित करने के लिए वर्णव्यवस्था, ग्राम्यगण और सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली बनाई। जिस देश मे जाति भेद और विभिन्न सास्कृतिक स्तर से शाश्वत सामाजिक वैमनस्य पैदा हो सकता था वहा वर्ण व्यवस्था, स्वायत्त ग्राम्य गणो और सयुक्त कुटुम्बो ने सामाजिक और सास्कृतिक स्थिरता को बनाए रखने मे वहा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक काम किया। ये वर्ग और सस्थाए आजतक भारतीय समाज के हर स्तर के व्यक्ति को आवश्यक सरक्षण देती है जिससे ब्राह्मणीय समाज-व्यवस्था मानवी सबध के हर पहलू पर आचरण के कठोर नियमो को लगाने पर भी लोगो के जीवन मे आज तक प्रभुत्व रखती है ऐसे देश कम है जहाँ लोगो के पेशो और आर्थिक जीवन पर ऐसा नास्तिक नियत्रण हो।

दूसरी ओर चूकि सस्कृति और आर्थिक जीवन अगतिशील नही है, इसलिए जीवन निर्वाह की एक ऐसी प्रणाली स्थापित हो गई जिसमे जाति और वर्गसस्कृति और विकास की ओर ग्राम्यगण और कुटुम्ब आर्थिक उन्नति और व्यक्तिवाद की अवहेलना नही कर सकते थे। भारतीय सामाजिक नियत्रणो के कठोर होने पर भी मनुष्य ने सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन पर नियत्रण रखने वाली सस्थाओ के परिवर्तनशील और उत्तरदायित्वपूर्ण होने से इन्कार नही किया जा सकता।

गेहूँ और चावल के कटिबन्धों का ऐतिहासिक असंतुलन

यह ध्यान देने योग्य बात है कि अर्धशुष्क चरागाहो वाला दक्षिण-पश्चिमी एशिया के क्षेत्र की भारत की उत्तर-पश्चिमी सूखी भूमि मे गेहू खूब होता है जिसमे वह खेती के प्रति सीथियन, तुर्क-अफगानी या मगोली प्रकृति रखने वाली खानाबदोश आक्रमणकारी प्रवासी जातियो का घर बन गई। सिन्धु की घाटी मे गेहू, जौ और कपास की कई महत्वपूर्ण किस्मो का जन्म हुआ। यही बात भेड और बकरी जैसे पालतू जानवरो के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। मोहन जोदडो के किस्म का गेहू पजाब मे आज तक होता है किन्तु वहा होने वाले जौ की किस्म मिस्र के पूर्व राजवशी काल मे पाए जाने वाली किस्म की है। सिन्ध क्षेत्र की जलवायु, गेहू, कपास, फलो और मास का अच्छी किस्म का होना ही दक्षिण-पश्चिमी एशिया की प्रवासी जातियो से उत्पन्न लोगो के सुन्दर स्वास्थ्य और शक्ति का कारण है। चरागाह के इलाके और कम आबादी के कारण उत्तर-पश्चिमी भारत के लोग खेती पर व्यक्तिवादी आदि है। धान पैदा करने वाले भारत के लगभग दो तिहाई

क्षेत्र मे मध्य, पूर्व और दक्षिण के अधिकाश भाग मे, एक तरह का मानसूनी चावल होता है। यदि हम काठियावाड से कुमाऊँ तक एक रेखा खींचे तो उसके पश्चिमी ओर गेहूँ और पूर्वी ओर चावल उत्पन्न करने का क्षेत्र होगा। भारत का पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी गेहूँ का कटिबन्ध ही जातियो के प्रवास, आक्रमण और एकीकरण का महत्वपूर्ण क्षेत्र है। यूरेशिया के स्टेपीज प्रदेश की गेहूँ और जौ खाने वाली शक्तिवान् और खानाबदोश जातियाँ एक के बाद एक खैबर और बोलन दर्रे से अधिकाधिक सख्या मे आई और यहा बसी और एक दूसरे मे मिल गई। भारत का चावल उत्पन्न करने वाले समतल मैदानो का क्षेत्र ससार की घनी निरुद्योगी आबादी के प्राचीन केन्द्र है। यह क्षेत्र आपेक्षाकृत एकाकी ओर विदेशी आक्रमणकारियो से सामना करने का केन्द्र बिन्दु था। इसी केन्द्र से दूर दूर तक विजय प्राप्त की गई थी ओर यहीं से वैदिककाल मे अग्नि की विजय और अशोक की धर्म विजय से लेकर, गुप्तो, वर्मनो, पालो ओर गुर्जर-प्रतिहारो तक के शक्तिशाली साम्राज्य बने थे। गगा की घाटी की घनी आबादी मे उत्तर-पश्चिम की हर जाति ओर सस्कृतियाँ घुल मिल जाती है कि बाद मे पहचानी नही जा सकती। अरावली के पूर्व की ओर घाटी के प्रवेश द्वार के समान गगा-यमुना की सकुचित घाटी मे स्वदेशी ओर विदेशी लोगो ओर सस्थाओ के स्मरणीय सघर्ष हुए है। बाहर से आकर बस गए लोगो ओर भारतके आदि वासियो का प्रमुख खाद्य पदार्थ क्रमश गर्मी मे पैदा होने वाला गेहू ओर मानसूनी चावल ही है। मानसूनी जलवायु चावल के साथ और फसलो का क्रमबद्ध चक्रानुवर्तन करती है। स्वतत्र रूप से पैदा की जाने वाली दालो और अन्न आदि के साथ मछली से चावल प्रधान खाने मे साथ (माट) की अधिकता सतुलित हो जाती है। चावल पैदा करने के और बहुत से लोगो को श्रम और सूक्ष्म व्यक्तिगत ध्यान की अपेक्षा होती है। सिचाई और पानी के प्रयोग मे सहयोग की आवश्यकता से चावल की खेती लोगो मे सामूहिकता की मूलप्रवृत्तियो और आदतो को बढाती है। गाँव पचायते, चरागाहो पर सामूहिक अधिकार, घनी आबादी और सापेक्षिक दृष्टि से जीवन-यापन, स्वास्थ्य और भौतिक स्तर का गिरा होना इसी से सबधित है। चावल की पैदावार अन्य फसलो के निश्चित क्रम और दस्तकारी का अवसर प्रस्तुत करती है जिसके लिए कठिन श्रम, मैदानो मे घनी आबादी, ग्राम्य गणो ओर शिल्पिसघो के सुसास्थित जीवन की अपेक्षा होती है। चावल और गेहूँ की पैदावार का असतुलन खेती के अलावा इतिहास और राजनीति मे भी ध्यान देने योग्य है। चावल की फसल मे भारतके करोडो व्यक्तियो का धैर्यपूर्ण श्रम ही परिलक्षित नही होता वरन् उन लोगो के शातिपूर्ण व्यवस्थित स्वभाव का भी पता चलता है जो उत्तर-पश्चिमी पठार के गेहूँ की खेती करने ओर गेहू खाने वाले आक्रमणकारियो के जत्थो द्वारा शोषित और वचित ही नही, कभी कभी विनष्ट भी होते रहे है। अनेक युगो तक दिल्ली और आगरा के मुगल दरबारो को गेहू के लिए पूर्व मे बिहार पर निर्भर रहना पडा था।

आक्रमण और विजय मे बाधाएँ

विदेशी फिरको एव जातियो का पजाब के मैदानोमे ओर वहासे गगा-यमुनाकी घाटी की

ओर बढना ही भारत मे जातियो के एकीकरण और जातिभेद के विकास दोनो का कारण है। यह सुनने मे विरोधाभास-सा मालूम पडता है पर सत्य हे। आक्रमण मे बाधाए पडने के दो कारण हैं पहले तो खैबर, किलिक, कराकोरम और बोलन आदि उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी द्वारो से आना कठिन था ओर दूसरी बाधा (पुराणो की मरुस्थली) राजपूताना का विशाल रेगिस्तान था जो बोलन और कूला दर्रो से आने मे अडचन डालता है। और उत्तर-पूर्व मे ४०० मील तक फले रहने के कारण खैबर दर्रे से दिल्ली के उत्तर मे रेगिस्तान और शिवालिक के बीच के डेढ सौ मील लम्बे गलियार की ओर जाने वालो की प्रगति मे भी बाधक था जिसकी रक्षा दृढता से कर आक्रमणकारियो को भारत के केन्द्र मे पहुच सकने से रोका जा सकता था। दिल्ली गगा और सिन्धु के मैदानो को विभाजित करने वाली एक पुरानी पहाडी के ऊपर बसी हुई हे और यमुना के दक्षिण पक्ष से गलियारे की ओर देख रही है। इस दृष्टि से दिल्ली मुख्यत भारत की भौगोलिक राजधानी है। प्राकृतिक बाधाएँ हिन्दुस्तान का दक्षिण से पृथक करती है और पूर्व और पश्चिम के तटवर्ती क्षेत्रो को प्रायद्वीप के आन्तरिक भाग से भी अलग करती है। प्रमुख नदियो के किनारे दुर्ग-बद्ध नगरो, राज्यो एव ठिकानो के प्रादुर्भाव से विदेशी आक्रमणकारी सफल आक्रमण और सैनिक विजय पा लेने पर भी विशाल मदानी क्षेत्रो को प्रभावपूर्ण रुप से अधिकृत नही कर सके।

प्रारम्भ मे ही भारत के मैदानो की विशाल जनसख्या जिसके साक्षी यूनानी लेखक है, के कारण न केवल उन पर सरलतापूर्वक अधिकार पा लेना असभव रहा वरन वहाँ एकीकरण और मिश्रण भी खूब बटा। आक्रमणकारियो को उत्तर-पश्चिम मे अपने पीछे छोडे हुए सैनिक स्थानो से सामान्यत कोई सहायता नही मिल पाती थी। आर्यावर्त मे आर्यो की सफलता का कारण शायद यह था कि मूर्तिभजक होने ओर इस्लाम मे सामान्य श्रद्धा रखने वाले एशिया माइनर और ईरान अफगान-तुर्को और मुगलो से निरन्तर उनकी क्षति पूर्ति होती रहती थी। सिन्धु के पार अपने पीछे के क्षेत्र से ईरानियो, पार्थियनो, यूनानियो और पल्लवो को लगातार बडे पैमाने पर सहायता नही मिल सकती थी। उत्तरी और पश्चिमी भारत पर शको के अविच्छिन्न प्रभुत्व का कारण शायद यह था कि शक जाति सीस्तान पर शकस्तान (पहले ड्रजियन) से समीपता रखने की वजह वहा से सहायता पाती रहती थी। शक भारत और मध्य एशिया मे शकस्तान से ही फैले थे। तुर्को एव पठानो द्वारा भारत-विजय मे सुविधा इसीलिए हुई कि सुबुक्तगीन ने पहले ही खुरासान, मध्य एशिया के कतिपय भूभाग, अफगानिस्तान और पजाब पर तथा अरबो ने सिंध और मुलतान पर अधिकार कर लिया था। इन स्थानो मे आक्रमणकारी सेनाओ को कुमुक पहुँचती रहती थी और इस्लाम धर्म मे दीक्षित किये हुए विदेशी फिरको से बराबर सैनिक प्राप्त होते रहते थे।

खैबर दर्रे से होने वाले आक्रमण धीरे-धीरे और शिथिल रूप मे हुए है और उनके द्वारा दिल्ली के भीतरी द्वार या हिन्दुस्तान के मैदानो तक पहुँच सकने मे प्राय विफलता मिली है। विशाल मैदानो की ग्रामीण सभ्यता उत्तर-पश्चिम मे होने वाले सघर्षो से अछूती ही रही

है। आक्रमणों के बहुत धीरे धीरे होने और सांस्कृतिक संघर्षों के सन्तुलन में लम्बी अवधि लगने से एकीकरण और विनिमय होता रहा है क्योंकि सभी आक्रमणकारी यहां की सभ्यता को अपनी सभ्यता से श्रेष्ठ पाते थे। देश की विशालता और विदेशियों द्वारा उसको पराजित कर सकने की कठिनता के कारण ग्राम्य गणों, शिल्पसंघों और सभाओं की स्थानीय स्वायत्तता बहुत-कुछ सुरक्षित रही है। भारतीय सभ्यता की सजीवता और स्थायित्व का कारण यह है कि साम्राज्यों द्वारा जाति-पंचायतों और संयुक्त कुटुम्ब आदि संस्थाओं के अधिकारों में हस्तक्षेप न होने से भारत की सामाजिक पद्धति साम्राज्यों के उत्थान-पतन से अप्रभावित रहकर अपनी प्राचीन परम्परा को पोषित करती रही है।

भारतीय लोक संस्कृति की अध्यात्म-भूमि

श्रीरामलाल

'कल्याण' के आध्यात्मिक वातावरण मे पल्लवित प्रतिभा और जन्म-जात शालीनता से सम्पन्न श्रीरामलाल जी का जीवन और कृतित्व सास्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र मे आस्था-प्रधान आस्तित्व रखता है। आपका यह लेख लोकजीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करता है।
—सपादक

लोक संस्कृति का आशय

'लोक' शब्द अत्यन्त व्यापक और सम है, यह ब्रह्म की ही तरह अनन्त, अक्षर और असीम है, जीवन का प्रतीक और जन का पर्याय है। 'लोक' की सीमा केवल ग्राम या साधारण जनता तक ही नही है, ऐसा सकीर्ण अर्थ तो बहुत बडी साहित्यिक ही नही, सामाजिक और सास्कृतिक भूल का द्योतक है, समस्त चराचर मात्र मे 'लोक' की समीचीन अलकृति ही परम उपादेय और मागलिक है। लोक-जीवन का समाज के स्तर पर समीकरण ही सस्कृति है, भारत मे इस सस्कृति की मूल भूमि अध्यात्म अथवा आत्मोन्नति स्वीकार की गयी है। भारतीय जन-जीवन तथा लोक जीवन मे अध्यात्मवाद का वैशिष्ट्य वैदिक काल से ही चला आ रहा है, भारतीय जीवन के आकाश, पाताल और मर्त्य-लोक मे, जड-चेतन मे इसी सनातन चिन्मय और अप्रमेय अभिव्यक्ति का दर्शन होता है। लोक सस्कृति का आशय है जन सस्कृति। यह सच बात है कि लोकसस्कृति के सुन्दर रूप को जडविज्ञान की नागरिकता तथा कृत्रिमता ने नीरस कर डाला है, उसका आध्यात्मिक जीवन स्रोत सूखता-सा जा रहा है, उसकी विकृति मे कुम्भीपाक और रौरव के कीडो का प्रवेश हो गया है, अनात्मवाद और आत्मा के प्रति अविश्वास ने लोक जीवन, सस्कृति और समाज की साहित्यिकता अथवा जीवत्व शक्ति को क्षयहीन बना दिया है। भारतीय सादगी सौजन्य और सज्जनता मे गन्दगी की वैतरणी, अशिष्टता की कर्मनासा और विकृति की नारकीयता लहरा उठी है। मानव ने, पाश्व तत्त्व के पशु ने अपने मूल स्रोत, चिन्मयता अथवा आत्मा के हिमालय का परित्याग कर दानवता का वरण कर लिया है, लोक सस्कृति विकृत हो चली है। सत्य-मानव पन्त का वाणीदान है।

'यह तो मानव लोक नहीं रे,
यह तो नरक अपरिचित।

यह भारत का ग्राम,
सभ्यता, सस्कृति से निर्वासित।'

ग्राम लोक का पर्याय है, नगर से उपेक्षित स्थान विशेष के रूप मे ग्राम का चित्राकन मानवीय सस्कृति के पतन का प्रतीक है, पाश्चात्य कृत्रिम जीवन के सम्पर्क ने कुछ समय मे भारतीय नगर और ग्राम को एक दूसरे से दूर कर दिया है, इस कृत्रिमता का परदा गिरते ही भारतीय सस्कृति की अविच्छिन्नता अथवा लोक मूलकता का सहज दर्शन निश्चित है और उसका आधार है आत्मवाद, ईश्वरवाद अथवा आस्तिकता। यह आस्तिकता ही भारतीय लोक-जीवन का स्वर्ग-सत्य है।

भारतीय लोक-सस्कृति के आध्यात्मिक आधार के वैदिक, औपनिषद, पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तत्व के परिशीलन मे जिस अलौकिकता, आध्यात्मिकता अथवा आस्तिकता का न्यास मिलता है वही उसका अविनश्वर स्वरूप है, जीवन है। वैदिक और औपनिषद मानव ने जन-जीवन को आध्यात्मिक जागरण की पूर्णता दी, पौराणिक और ऐतिहासिक मानव ने सिन्धु, गगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी और कृष्णा के तट पर यज्ञमण्डपो मे देवो का साक्षात्कार-लाभ किया, सामाजिक जीवन इतना मर्यादित और परम्परागत हो चला कि लोक अथवा जनता मे उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो सकी, इस पूर्णता का रहस्य तथागत गौतम के भारत ने भी समझा, हिमालय की तलहटी मे एक ऐसी दिव्य-ज्योति का अवतरण हुआ जिसने समस्त जन-जीवन को आत्मगत कर लिया, बौद्ध भारत ने ढाई हजार साल पहले आध्यात्मिक जागरण के बल पर लोक-सस्कृति को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। बुद्ध ने लोकवाणी मे लोकहित का आध्यात्मिक स्वरूप समझाया, समस्त जनता सस्कृत हो उठी, उसकी रूढिगत विकृति का अन्त हो गया। बुद्ध तत्व के लोक रूप ने, समाजीकरण ने जन-जीवन को बुद्ध, धर्म और सघ की शरण दी। भारतीय इतिहास के स्वर्ण काल मे प्रतिक्रिया का उदय हुआ, कालिदास ने रामायण और महाभारत तथा पुराणो के आधार पर रघुवश, अभिज्ञान शाकुतल और कुमारसम्भव के माध्यम से वैदिक परम्परा की पुनरावृत्ति की, लोक सस्कृति के दो रास्ते हो गये, धर्म और सघ, बुद्ध, शिव, राम और शक्ति की आत्माये अजन्ता और एलौरा, खजराहो, कौशाम्बी, साची, सारनाथ आदि मे अभिव्यक्त हो उठी, पर यह स्मरणीय बात है कि लोकमानव ने तत्कालीन ऐतिहासिक पुनरुत्थान मे भी आध्यात्मिक समता—सस्कृति का ही वरण किया। भारतीय इतिहास के मध्यकाल मे शिव और विष्णु का व्यापक रूप से समाजीकरण सम्भव हो सका, सूर और तुलसी कम्बन, मोरोपन्त, शकरदेव और त्यागराज ने राम और कृष्ण के रूप-चिन्तन को जन-जीवन का श्रेय सिद्ध किया, लोक सस्कृति की यही तत्कालीन आध्यात्मिक अथवा भागवत भूमि है। शकर के वेदान्त ने आत्मा और परमात्मा के समन्वय से जन-जीवन को समृद्ध किया। अभी कल की बात है, हिमालय से कन्या अन्तरीप तक के भूमि भाग मे अभिनव कबीर के 'रघुपति राघव राजा राम' मत्र ने जनता को राजनैतिक दासता और बन्धन से मुक्त कर जो आध्यात्मिक

चेतना दी वह भारतीय लोक सस्कृति की सन्तोषपूर्ण प्रगति की प्रतीक है। लोक सस्कृति मे बौद्ध आचार-विचार का प्रभाव अस्थायी ही रह सका, बौद्ध विचारधारा ने अनात्मवाद का प्रश्रय लिया, भारत ने सदा आत्मवाद को ही श्रेय दिया है, उसकी लोक सस्कृति ने आत्मवाद मे ही अपना मगल निश्चित किया है, निरपेक्ष अध्यात्म-साहित्य—उपनिषद् ने स्पष्ट घोषणा की है कि यह आत्मतत्व पुत्र से अधिक प्रिय है, धन से अधिक प्रिय है, अन्य सब मे अधिक प्रिय है, आत्मा इनकी अपेक्षा अन्तरतर है। आत्मारूप प्रिय की ही उपासना करे। इसी आत्मोपासना की परिव्याप्ति भारतीय लोक-जीवन मे, झोपडी और राजमहल मे, नगर ओर ग्राम मे साकार अथवा निराकार रूप से स्वभावगत है। साकार माध्यम से एक साधारण ग्रामीण रमणी कहती है

'फागुन फगुआ बीत गये ऊधो, हरि नहि आये मोर।
अबकी जे हरि मोर ऐहैं, रग खेलब झकझोर।'

इस रसमयी उक्ति मे कितनी आध्यात्मिकता है, कितनी दिव्यता और अलौकिकता है! भारतीय लोक-सस्कृति ने अलौकिक अथवा आध्यात्मिक साहित्य-सृजन की जो क्षमता समय-समय पर दिखायी है, उससे उसकी शक्तिमत्ता का पूरा-पूरा पता चल जाता है। भारतीय धर्मशास्त्रो मे वेदमत और लोकमत का विवरण मिलता है, सास्कृतिक विकास मे इन दोनो का ही समान रूप से महत्व पूर्ण हाथ रहता चला आया है।

लोक सस्कृति और नित्य जीवन

लोक-सस्कृति नित्य जीवन का अमूल्य साहित्य है। लोकसाहित्य का आशय यह नही है कि उसको ग्रामगीतो मे ही नियन्त्रित कर दिया जाय, केवल कजली, बारहमासा, रसिया और बिरहा ही उसके अभिव्यजन के माध्यम नही है, वे तो है ही पर साथ-ही-साथ साहित्य के सस्कृत अथवा परिष्कृत रूप मे उसका विन्यास अत्यन्त समीचीन और उचित हो सका है। हिन्दी लोक-साहित्य को कबीर, जायसी, तुलसी ने उतना ही समृद्ध किया, जितना उसे लोक भाषा मे रचना करने वालो ने सरपन्न और समलकृत किया। कवि पन्त की एक स्थल पर उक्ति है—

'मै जग जीवन का शिल्पी हूँ
जोदित मेरी वाणी के स्वर,
जनमन के मास खण्ड पर मै
मुद्रित करता हूँ सत्य अमर।'

लोक-सस्कृति और लोक साहित्य का कितना मनोरम सामजस्य इस कथन मे दीख पडता है, लोक-सस्कृति के साहित्य-रूप की परख की वास्तविक कसौटी जग-जीवन और जनमत का सत्य है, यह सत्य परम पवित्र और धर्ममय है। इसी सत्य का नाम अध्यात्म है, यही लोक सस्कृति की आधार शिला है। समाज इसके बिना एक पग भी आगे नही बढ सकता है। भारतीय लोक

गीतो मे, जन साहित्य मे इसी सत्य का शिवमय सौन्दर्य अभिव्यक्त है। इसी सत्य के बल पर एक साधारण ग्राम युवती अपने सतीत्व का परिचय देती है—

'जो हम होई सतवन्ती हो ना,
मोरे अंचरा भभकि उठे अगिया हो ना।'

उसके इस सीधे-सादे कथन मे सास्कृतिक इतिहास और परम्पराओ का कितना सुन्दर निर्वाह हुआ है। गाव मे रहने वाला साधारण धोबी भी अपने श्रम का अध्यात्मीकरण करता है, पवित्र सरिता मे खड़ा हो कर कपड़ो को धोते समय रामनाम के उच्चारण मे समस्त वातावरण अलौकिक बना देता है—

'छीओ राम छीओ,
छीओ राम छीओ।'

यह तपोमय जीवन लोक-सस्कृति के अध्यात्म रूप का निर्णायक है। लोक-जीवन से सम्बद्ध इस प्रकार की अनेक घटनाओ का विवरण दिया जा सकता है। समस्त लोक-जीवन, लोक-साहित्य, लोक-सस्कृति पवित्र सौन्दर्य, निर्मल सत्य ओर अकृत्रिम सोजन्य ओर निष्पाप सरलता का अधिष्ठान है।

एक लोक गीत मे भागवत वात्सल्य-रस का अत्यन्त सरस विवरण मिलता है। लोक वाणी अथवा जन-भावना मे वाल्मीकि और तुलसी के राम का यश इस तथ्य का परिचायक है कि भारतीय लोक-सस्कृति कितनी दिव्य है, बालक-राम का स्मरण लोक-सस्कृति के मातृत्व ने किया है।

'राम के माथे चननवा बहुत निक लागे हो।
राम-नयन रतनारे कजर भल सोहे।
दीन्हो रचि-रचि फूआ सुभद्रा त पतरी अगुरियन।
राम के मथवा लुटुरिया बहुत निक लागे हो।
जैसे फूलन बिच कलियां बहुत निक लागे हो।
राम के गोडवा घुंघुरुवा बहुत निक लागे हो।
नान्हें गोडवन चलत बकैया देखत राजा दसरथ।'

इस भागवत छवि-निरूपण मे भक्ति-भागीरथी का प्रवाह है, प्रेम की कालिन्दी का सौष्ठव है, आत्मा की सरस्वती का चिन्मय अवतरण है। भारतीय साहित्य ने, सस्कृति ने सदा समष्टि-हित का पक्ष लिया है, उसने अपने भगवान का एक नाम जनता-जनार्दन भी रखा है, यह उसकी लोकप्रियता का दिग्दर्शक है।

लोक कथाओं और लोकमत में भी जन-संस्कृति के आध्यात्मिक विकास का दर्शन होता है। सांस्कृतिक मर्यादा के आध्यात्मिक स्वरूप के आरक्षण के लिये, लोकमत के सम-प्रवाह के लिये भगवान राम ने शम्बूक का अन्त कर डाला, वर्णाश्रम-मर्यादा का तत्कालीन आचार यही था। श्रीराम के इस मर्यादा-संरक्षण की विचार-भूमि आध्यात्मिक और आस्तिक थी। महाकवि कालिदास का वचन है—

'कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम्।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलंघिना।'

राजा राम से दण्ड पाने के कारण उस शूद्र को वह सद्गति मिल गयी जो वह अपने उस कठोर तप से वर्णधर्म का उल्लंघन कर कभी नहीं पाता। इसका आशय यह नहीं है कि आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये मर्यादा-विरुद्ध तप करने वाले शूद्र को राम के राजत्व ने अपमानित किया, लोक-मत की निन्दा की। लोकमत के सामने तो उन्होंने अग्नि में परिशुद्ध सीता तक का परित्याग कर दिया। हिन्दी वाङ्मय के हृदय-रामचरित मानस में निषाद और शबरी की भक्ति पूर्ण कथा भारतीय लोक संस्कृति के अध्यात्म पक्ष का पोषण करती है। वनवास-काल में अयोध्या से बाहर होते ही सीधी-सादी भारतीय ग्रामजनता ने राम-लक्ष्मण और सीता का जिस पवित्र दृष्टि से आतिथ्य किया उससे लोक-संस्कृति की श्री-वृद्धि का इतिहास अमर हो गया। श्रीकृष्ण की वृन्दा-वनलीला में भी लोक-तत्व का अध्यात्मीकरण दृष्टिगोचर होता है। दही बेचने के लिये मथुरा जाने वाली ग्वालिनों ने पवित्र हृदय में श्याम सुन्दर की भक्ति का वर्णन कर आत्मा और परमात्मा के राग का जो दृश्य साहित्य जगत में उपस्थित किया है वह अत्यन्त मौलिक और नवीन है, महाकवि सूर की वाणी लोक-भावना को भक्ति के अमृत सागर में सराबोर कर कह उठती है—

'ब्रज-जुवती मिलि करति विचार।
चलो आज प्रातहिं दधि बेचन नित तुम करति अवार।
तुरत चलो अबहीं फिरि आवैं गोरस बेचि सवारैं।
माखन-दधि-घृत साजति मटुकी मथुरा जान विचारैं।
पटवन सहस सिंगार करति हैं अंग-अंग सब निरखि सवारति।
'सूरदास' प्रभु प्रीति रादन की नेक न हृदय बिसारति।'

यों, यह नितान्त स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य ने अपनी जन संस्कृति का अध्यात्मीकरण किया है। [illegible] भारतीय लोक संस्कृति की साहित्यिक और आध्यात्मिक प्रगति की [illegible] है। लोकगीतों की ओर साहित्यकारों ने विशेष ध्यान रखा है और विलक्षण

वात तो यह है कि इस लोक हित का आधार सदा आध्यात्मिक ही होना आया है। महाभिनिष्क्रमण के समय अश्वघोष ने तथागत से कन्थक के प्रति कहलाया है—

'तदिद परिगम्य धर्मयुक्तं
मम निर्याणमितो जगद्धिताय।
तुरगोतम वेगविक्रमाभ्याम्,
प्रयत स्वात्महिते जगद्धिते च।'

भारतीय लोक संस्कृति मे आत्महित और जगतहित का सुन्दर समन्वय ओतप्रोत दीख पडता है। भारतीय लोकसंस्कृति के आध्यात्मिक प्रवाह की रक्षा नगर से दूर—वन प्रान्त, सरिता तट और ग्रामो की उपसीमा मे रहने वाले सन्तो ने बडी सावधानी से की। सन्त कबीर, नानक, रैदास, दादू और मलूक आदि की तपोभूमि इस कथन की सत्यता चरितार्थ करती है। लोक-जीवन ने सन्तो से आध्यात्मिक आलोक अधिकाधिक मात्रा मे प्राप्त किया है। उन्होने लोक वाणी मे हृदय के उद्‌गार सचित कर जनता का आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन किया, सन्त-वाणी है—

'कोने ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के वनल खटोलना तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी माग सँवारो दुलहा मोसे रूठल हो।
आये जमराज पलग चढि बैठे, नैनन आंसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धू-धू ऊठल हो।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, जग से नाता छूटल हो।,

भारतीय लोकजीवन का श्रेय अध्यात्म ही है। इसका अभाव ही समग्र रूप से भारतीय सस्कृति और समाज तथा साहित्य के पतन का मूल कारण है। जब तक जन-जीवन मे आध्यात्मिकता की ज्योत्सना पूर्ण रूप से नही उतरती, तब तक समाज उन्नति की ओर सन्तोषपूर्ण यात्रा नही कर सकता है। बीसवी सदी के भारतीय काव्य-प्रतिनिधि पन्त के स्वर मे स्वर मिला कर इस समय इतना ही कहा जा सकता है—

'करे आत्मनिर्माण लोक गण
आत्मोज्वल भू-मंगल के हित
बहिरन्तर जड-चेतन वैभव
सस्कृति मे कर निखिल समन्वित।'

इस साहित्यमूलक साम्यवाद के आत्मालोक, अन्तस्तल के प्रकाश की स्वीकृति ही भू-मगल की विधायिका है, लोक-सस्कृति की आध्यात्मिक और कल्याणमयी अभिव्यजना है। लोक-सस्कृति के सत्य-सौन्दर्य का शिवमय प्राण अध्यात्म है।

वेदकाल का सामाजिक-जीवन

श्री गोपालशास्त्री, दर्शनकेशरी

सामाजिक विचारो मे समन्वयवाद के समर्थक, सस्कृत भाषा के प्रबुद्ध वक्ता, शास्त्रमर्मज्ञ, काशी विद्यापीठ के अवकाश प्राप्त प्राध्यापक श्रीगोपाल शास्त्री ने अपने इस लेख मे वेदकाल के सामाजिक-जीवन पर अपने स्वस्थ विचार व्यक्त किए है। —सपादक

शिक्षा संस्थाये

सस्कृति, सभ्यता और समाज का मूल्याकन प्रत्येक युग की शिक्षा सस्थाओ और नारी के सामाजिक जीवन द्वारा सुगमता से किया जा सकता है। वेदकाल मे भारतीय शिक्षा सस्थाये नगरो से दूर पर्वतो की उपत्यका मे तथा नदियो के सगम पर अवस्थित हुआ करती थी। इस स्थिति का प्रभाव शिक्षार्थियो के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक समस्त क्रियाओ पर पडता था। फलत शिक्षार्थियो मे सतो गुण का समावेश होता था और वे अपनी आन्तरिक शक्तियो के पूर्ण विकास मे समर्थ हुआ करते थे।[1] उस समय का विद्यार्थी समाज इन्द्रिय सयम को ही शिक्षा का मूल कारण मानता था।[2] वह अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा को सारथि बनाता और मन को लगाम। इस प्रकार शिक्षा के पूर्ण ध्येय को प्राप्त कर ज्ञान की चरम–सीमा पर पहुँच जाता था। उन शिक्षालयो मे पढने वाले सभी छात्र परस्पर भाई-भाई के समान रहते थे। कोई छोटा या बडा नहीं समझा जाता था। और शिक्षक के पूर्ण नियन्त्रण मे रहना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। स्नातक बनकर जब वे शिक्षालय से बाहर निकलते थे, तो पृथ्वी अपनी सारी सम्पत्ति उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया करती थी। उनका लोक जीवन उत्तरोत्तर सत्य, शिव, सुन्दरम् बनता था।[3] वैदिक कालीन विद्यार्थियो मे केवल बुद्धि का भेद हुआ करता था। आहार–विहार-वेश-भूषा आदि सब मे अभेद रहता था। यह अभिन्न व्यवहार उस समय के लोक जीवन की परम्परा से उद्भूत था। वैदिक लोक जीवन की घोषणा थी कि सभी मनुष्यो के लिये

---

१. उपह्वरेगिरीणा सगमे च नदीना धिया विप्रोऽजायत (अथर्ववेद)

२ विज्ञानसारथिर्यस्तु मन प्रग्रहवान्नर । सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्णो परमपदम्

३ अज्येष्ठासो अकनिष्ठासएते। सभ्रातरो वावृधु सोभगाय युवा पिता स्वपारुद्र एषा सुदुघा पृश्नि सुदिना मरुद्भ्य (ऋग्वेद)

जल का विभाग समान हो। अन्न का बटवारा समान हो, सभी लोग समान कार्य में प्रवृत्त रहें। सभी जन समुदाय समाज में गति शील रहता हुआ ईश्वर के प्रदीप्त तेज का पूजन करे। सभी लोग आपस में इस प्रकार सुसंगठित रहे जैसे गाड़ी के पहिये में उसके आरे संयुक्त रहते हैं। सभी के संकल्प समान हो, अन्तःकरण की भावना एक हो, परामर्श और कार्यकलाप की प्रवृत्तियां एक-सी हो, जिससे समाज में स्वेच्छा पूर्वक मिलजुल कर सब एक साथ बैठ सके।

वैदिक लोकसमाज

इस प्रकार वैदिक लोक जीवन वर्ण और आश्रम में विभक्त हो कर भी समान और सहृदय था। यह वर्णाश्रम विभाजन वर्ग संघर्ष मिटाने के लिए ही निर्मित हुआ था फिर भी सब का एक सा रहन-सहन, व्यवहार संबंध सब कुछ समान था। सामाजिक जीवन बिताने के लिए सामाजिक व्यवहारो और बन्धनो का बहुत सुन्दर विधान था। वैवाहिक विधान का तात्पर्य यह था कि जैसे सूर्य सारी पृथ्वी पर समान रूप से अपनी किरणो को समर्पित करता है उसी प्रकार मनुष्य वर्ग भी स्त्री और पुरुष के रूप मे परस्पर समानता का भाव लेकर ही इस पृथ्वी लोक मे आते है। पुरुष का किसी भी दूर की स्त्री से सम्बन्ध होना चाहिए और स्त्री का किसी भी दूर के पुरुष के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। यह सम्बन्ध गुण शील, स्वभाव के सामंजस्य से ही स्थापित किया जाता था। इसीलिए उस युग के पति-पत्नी के प्रेमबन्धन बड़े ही दृढ और पवित्र हुआ करते थे। उस समय के दम्पति के परस्पर नेत्र अमृत वर्षी होते थे, दोनो के मुख मोहक आकर्षण रखते थे। दोनो के हृदय समान रहते थे।

पत्नी पति को अपने भुजबल का सहारा दिया करती थी, अपने हृदय सिंहासन मे पति को प्रतिष्ठित कर उसकी आराधना किया करती थी और दोनो पति-पत्नी एक दूसरे के विचारो के अनुचर हुआ करते थे। वैदिक गृहस्थ अपनी पत्नी को सम्राज्ञी पद पर प्रतिष्ठित रखता था।[1] वह विवाहित नारी अपने आचार-विचार और व्यवहार ऐसे रखती थी कि भौजाई से सहज ईर्ष्या करने वाली ननद भी उसे सम्राज्ञी मानने के लिए विवश हुआ करती थी।

उस समय की गृहस्थ नारियां सदा प्रसन्नमुखी रहती थी। घर को धन-धान्य से भरपूर रखने की चेष्टाये किया करती थी, और वीर प्रसवा माताये हुआ करती थी। इस प्रकार के लोकजीवन को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए हमे शिक्षा-प्रणाली मे आमूल परिवर्तन और नारी की प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता है।

---

१. एवात्वं सम्राज्ञी एधि पत्यु अस्त (गृह) परेत्य।

लोक संस्कृति का निर्माण

आचार्य नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

अध्ययन, अध्यवसाय, त्याग और सेवा को ही चतुवर्ग समझ कर शास्त्र और समाज की सेवा मे निरत नरदेव जी शान्त, सयमी विचारक है। उनका लेख यह विचारोत्तेजक एव तर्कपूर्ण है। ——सपादक

सस्कार, सस्कृति है एक ही बात। कोई व्यक्ति अथवा समष्टि (समुदाय) किसी विशेष अथवा किन्ही विशेष कर्मो को अपनाकर उसी अथवा उन्ही कार्यो को करते रहते है तब उसी अथवा उन्ही कर्मो का अभ्यास करते करते आत्मा पर जो सस्कार पड़ते है, वे ही सस्कार जब बाहर प्रकट होते है तब कहा जाता है, कि ये उसके व्यक्तिगत सस्कार है। जब समुदाय का समुदाय उन्ही सस्कारो के वशीभूत होकर स्वभावानुसार कर्म करते रहते है तब उसी उसी सस्कृति का समुदाय कहा जाता है—

ससार भर को सदसद्-विवेक बुद्धि देनेवाला गीताशास्त्र इसी स्वभाव अथवा सस्कार की बात पर बल देता है। इसीलिए स्वभाव-निरत कर्म की बात कहता है, यत्र तत्र 'स्वभाव' पर बल देता है, इसीलिए "स्वभावस्तु प्रवर्तते" स्वभाव ही प्रवृत्त होता है इत्यादि बाते लिखता है।

कर्तु नेच्छसि यन्मोहात्,
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

अर्जुन, जो बात तू मोह से नही करना चाहता, वही बात तुझको विवश होकर करनी पड़ेगी। यह विवशता किस बात की है? वही स्वभाव की, वही सस्कार की। अर्जुन को रणक्षेत्र मे अस्वाभाविक दया उमड़ पड़ी तभी भगवान् कृष्ण ने यह बात कही।

हमारे अति-अति प्राचीन पूर्वजो के पूर्वज इस स्वभाव के, सस्कार के तत्त्व को भलीभांति जानते थे, इसीलिए भारतीय समाजशास्त्र की रचना स्वभाव की भित्ति अथवा आधार शिला पर हुई—

यह प्रकृति जिसकी सोलह प्रकार की विकृतियां है, त्रिगुणात्मक है। सत्त्व-रज-तम गुणात्मक है। यह मनुष्य समुदाय, प्राणिमात्र पर इन्ही तीनो गुणो का अधिकार रहता है। [illegible] अग्नि उष्ण ही होती है जल शीत ही होता है, ऐसा क्यो? स्पष्ट उत्तर है कि स्वभाव के कारण ही ऐसा होता है।

हाँ तो, मै समाजशास्त्र की रचना के विषय मे कह रहा था। इसीलिए शमदमादि ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं क्योंकि जन्मजन्मान्तर मे इन्ही गुणो का परिपोष होता चला आया है और ये गुण उसको उसके सहज कर्मो मे प्रवृत्त कराते हैं—आगे भी इन्हीं का अभ्यास करता रहेगा तो ये ही गुण अगले जन्म मे भी चलते रहेंगे। क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य आदि। वैश्य के स्वाभाविक कर्म है कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि। सेवा कर्म ही शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

इस प्रकार स्वकर्म निरत रहने पर ही व्यक्ति अथवा समष्टि सिद्धि को प्राप्त कर लेती है

राष्ट्रगत विशेषतायें

यदि आप ससार के समस्त राष्ट्रो पर दृष्टि डालेगे तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि उस उस राष्ट्र मे एक, दो, तीन ऐसे विशिष्ट गुण रहते हैं जो उनके द्वारा अपनाये हुए होते है। अन्य राष्ट्रो मे उन गुणो का सर्वथा अभाव तो नही, अपितु न्यून मात्रा मे होने के कारण वे गुण उभरने नही पाते। जिन जिन गुणो का परम्परा से परिपोष होता चला आया है वे ही गुण उभरते है इसलिए वह जाति उस गुण से प्रसिद्ध हो जाती है। कोई राष्ट्र स्वभाव से वीर, कोई राष्ट्र स्वभाव मे शान्त, कोई राष्ट्र स्वभाव से निरलस दृढोद्योगी, कोई राष्ट्र स्वभाव से शुश्रूषु। जैसे अगरेज जाति स्वभाव से धैर्यशीला है, अन्य राष्ट्रो मे धैर्य का इतना परिपोष नही दिखलायी पडता।

महात्मा विदुर ने आर्य जाति के स्वभाव के विषय मे कहा है, कि—

शान्तस्तितिक्षु, दान्तश्च,
सत्यवादी, जितेन्द्रियः।
दाता, दयालुर्नम्रश्च,
आर्यः स्यादष्टभि.गुणैः॥

(महाभारत, उद्योगपर्व)

अर्थात् आर्य जाति के शान्ति, सहनशीलता, दमन, सत्यवादिता, जितेन्द्रियता, दातृता, दयालुता, नम्रता ये विशेष गुण हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वह जाति जिसमे अनन्त काल से इन गुणो का परिपोष हुआ, होता रहा है, इसीलिए जिसमे ये गुण स्वभाव से हैं वह हमारी आर्य जाति है। यदि ये गुण न रहते तो इस सहस्र वर्ष की दासता के दिनो मे हमारी आर्य जाति कभी की मिट गयी होती। दासता सुदीर्घ काल मे, विदेशी एव विधर्मियो के शासन काल मे ससर्ग दोष के कारण हमारे ये गुण कुछ दब से गये थे, कुछ गुणो मे मिश्री भाव सा हो गया था किन्तु इस स्वराज्य काल मे वे दबे हुए गुण उभरेगे और आर्य जाति पुन प्रबल होकर ससार को मार्ग-दर्शन कराती रहेगी ऐसी केवल आशा ही नही, अपितु दृढ विश्वास है।

इस विवेचना से, इस त्रिगुणात्मक स्वभाव पर दृष्टि डालने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आर्य जाति अधिकतर सात्विक, पाश्चात्य राष्ट्र अधिकतर राजस, यवन राष्ट्र अधिकतर तामस रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि—

(१)	(२)	(३)
(१) आर्य जाति	सात्विक गुण प्रधान	अन्य राजस तामस गौण।
(२) पाश्चात्य राष्ट्र	राजस गुण प्रधान	अन्य सात्विक, तामस गौण।
(३) यवन जाति	तामस गुण प्रधान	अन्य सात्विक राजस गौण

यही कारण है कि आर्येतर जातियो ने सात्विक एव आध्यात्मिक सस्कृति की बात को अच्छी तरह नही समझ पाया है। इसी सात्विक गुणो के कारण भारत मे अनन्त काल से आध्यात्मिकता का प्रचार, प्रसार रहा है। यही कारण है कि यह ऋषि-मुनि-महात्माओ की पुण्यभूमि, धर्मभूमि कहलाती आयी है।

इसी सात्विक, राजस, तामस लोक सस्कृतियो के कारण ससार मे इतनी विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है।

राजस लोगो का अध्यात्मशून्य भौतिकवाद उस उस जाति को किधर का किधर ले जा रहा है। तामस प्रधान लोग भी इन राजसो से और नीचे ही हैं। यही कारण है कि—

ससार को ही सुख का एकमात्र साधन समझने वाले लोग हमारी सासारिक शोक-मोह से ऊपर उठने की बात को कम समझ पाते हैं—हमारी दैवी सम्पत् को नही समझ पाते है। यही पाश्चात्य और पौरस्त्य सस्कृति का मुख्य अन्तर है। हम मानते है कि एक आत्म तत्व ससार के समस्त प्राणियो मे सम-समान-रूप से ओत-प्रोत है। इसलिए प्राणियो के सुख दुख भी सम समान हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि।
आत्मैवाभू द्वि जानत ॥
तस्य को मोह, क शोक।
एकत्व मनु पश्यत।

यह आध्यात्म द्वारा नानात्व मे एकत्व बुद्धि की बात न समझ सकने के कारण ही पाश्चात्य राष्ट्र भौतिक सुख मे ही सुख मान रहा है। उनकी नानात्व मति ही उनको भ्रान्ति मे डाल रही है।

हमारी आर्य जाति नानात्व मे एकत्व एकत्व मे नानात्व पहिचानने का स्वभाव रखती रही है। भारत मे, विभिन्न भाषादि भेद रहने पर भी, नाना पन्थ रहने पर भी नानात्व मे एकत्व भावना दर्शी रहा है इसीलिए आसेतु-हिमालय भारतवासी सब एक ही है।

प्रश्न यह उठता है कि ससार के लोग किस सस्कृति को लेकर सुखी होंगे। यह बात ध्यान रखने की है। केवल सासारिक सुख ही सच्चे सुख नहीं—आध्यात्मिक सुख सब से बड़ा और सच्चा सुख है।

छान्दोग्य उपनिषद् कहती है कि—

यो वै भूमा, तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति
भूमा त्वेव विज्ञासितव्य.॥

ससार की छोटी छोटी वस्तुओ मे सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख तो सब से बड़ी वस्तु मे है—उस सब से बड़ी वस्तु भूमा अर्थात् भगवान् की प्राप्ति मे ही सुख है।

इतनी विवेचना के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते है—

१—सस्कृति का मूल है प्रकृति।

२—प्रकृति बनती है तीन गुणो मे।

३—वे तीन गुण है सत्व, रज, तम।

४—जो व्यक्ति जिस गुण को लेकर उसी प्रकार के कर्म को व्यक्तिगत रीति से अथवा समष्टि रूप से करता है वह अथवा समष्टि व्यक्ति उसी सस्कार वाली बनेगी।

५—जिस सस्कृति के साथ सात्विक भावना प्रधान रूप मे रहेगी वह सस्कृति उच्चतम होगी और ससार मे अधिक से अधिक काल तक टिकेगी। वही सस्कृति अधिक सुखमय होगी।

६—जो सस्कृति अध्यात्मभाव शून्य रहकर राजस प्रधान रहेगी वह अधिक दु खमय रहेगी।

७—जो सस्कृति तामस रूप धारण कर लेगी वह हेय है, अधिक काल नही टिक सकती। अधिक दु खमय होगी।

सस्कृति कोई प्रतिदिन बदलनेवाली वस्तु नही है। वह वर्षानुवर्ष, सहस्रो, लक्षो वर्ष चलनेवाली वस्तु है। ऐसी दृढ मूल सस्कृति ही आघात-प्रत्याघातो मे ही अपने स्वत्व को सभालती रहती है।

कोई जाति मिटती है तो उसकी सस्कृति भी मिट जाती है। अन्य सस्कृतियो के ससर्ग से भी मूल सस्कृति मे परिवर्तन हो जाता है।

प्रश्न यह है कि क्या सस्कृति मे धर्म का कोई स्थान है? उत्तर—अवश्य है। धर्मतत्व जितने ऊँचे होगे, सस्कृति उतनी ही अधिक ऊँची रहेगी। धर्म वह ऊँचा माना जायगा जिसमे नैतिक तत्व अधिक से अधिक ऊचे हो।

प्र०—क्या धर्म विभिन्न होने पर भी सस्कृति एक ही रह सकती है?

उ०—नही—

प्र०—सस्कृति का सम्बन्ध सभ्यता मे रहता है नही?

उ०—अवश्य रहता है, संस्कृति का सम्बन्ध भीतरी गुणों से रहता है। सभ्यता का सम्बन्ध बाहरी बातों से रहता है। जैसे भीतरी गुण रहेंगे वैसी ही सभ्यता बाहर रहेगी, यह तो सुस्पष्ट है। संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा के संस्कारों से रहता है। सभ्यता का सम्बन्ध बाह्य जड़ वस्तुओं से रहता है।

यही मनोवृत्ति संसार की विभिन्न जातियों अथवा राष्ट्रों की विभिन्न प्रवृत्तियों का कारण बन जाती है। भोगवाद, भौतिकवाद, अध्यात्मवाद इत्यादि वादों का बीज उनकी संस्कृतियों में निहित है। दो शब्दों में कहना हो तो हम कह सकते हैं—

जैसी संस्कृति वैसी प्रकृति
जैसी प्रकृति वैसी प्रवृत्ति
जैसी प्रवृत्ति वैसी सभ्यता

इससे स्पष्ट हो जायगा कि लोक संस्कृतियों का क्या मूलाधार है और लोक संस्कृतियाँ कैसे बनती हैं और सहस्रों, लक्षों वर्षों तक अव्याहत परम्परा रूप में चलती रहती हैं—इसलिए भगवान कृष्ण कहते हैं—

स्वभावस्तु प्रवर्तते

यह संसार स्वभाव = स्वसंस्कृति के अधीन है और उसी के अधीन रहकर, विवश होकर घूमता रहता है। चाहे पञ्चभूतों को देखो, चाहे प्राणियों को देखो। जो जो इस ब्रह्माण्ड में है, वह वह इस पिण्ड में है। इस जड़ पिण्ड के साथ आत्मा न हो तो फिर इस पिण्ड को [illegible] पूछता। वह तो मृत-तुल्य है। इसलिए जो केवल इस भौतिक पिण्ड को ही सब कुछ [illegible] जान या एकमात्र तत्त्व समझ बैठे हैं, वे भूलते हैं और भूलों में भटकते ही फिरेंगे। [illegible] उनको कभी नहीं मिल सकता, कभी नहीं मिल सकता। सच्चा सुख पाना हो तो [illegible] अजर-अमर आत्मतत्त्व मानना पड़ेगा, आत्मतत्त्व के साथ आत्म संस्कार [illegible] तत्त्व के साथ साथ एक और अजर-अमर तत्त्व मानना पड़ेगा। [illegible] मानना पड़ेगा।

लोक संस्कृति की एकरूपता

श्री मोहन सिंह सेंगर, सपादक 'नया समाज'

हर विषय और वस्तु पर अपना एक नया-दृष्टिकोण स्थिर करना और फिर बुद्धिवाद और हृदयवाद की कसौटी पर उसे कसना सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री सेंगरजी की प्रवृत्ति है। प्रस्तुत लेख मे आपने अपनी अन्वीक्षण शक्ति का पूर्ण परिचय दिया है। —सपादक

नृतत्त्वशास्त्र के पडितो ने प्राकृतिक-भौगोलिक परिस्थितियो के कारण मानव के बाहरी आकार-प्रकार मे आए भेदो को लेकर जिस तरह उसे पृथक-पृथक वर्ग, जाति, रक्त आदि के समूहो मे बाटने की चेष्टा है की, ठीक वसी ही चेष्टा भाषा साहित्य और संस्कृति के प्रसार से भी की है। किन्तु जहाँ-तहाँ उन्हे इस तथाकथित वैभिन्य और वैषम्य के बावजूद उसके रहने सोचने, दु ख-सुख आदि की अनुभूति और अभिव्यक्ति म अद्भुत एकरूपता और साम्य दिखाई दिया है, वे बौखला से गए है। बिना अपनी भूल स्वीकार किए उन्होने इसे 'वैविध्य' म एकता-का नाम दिया है। किन्तु इस वैविध्य और एकता के बीच के फासले और उसकी कृत्रिमता के समझाने के लिए हमे एक बार मानव-सस्कृति के आदि-स्रोत पर दृष्टिपात करना होगा। जो भेद आज मानव-मानव के बीच बडी-बडी खाइयाँ बन गया है, शायद एक दिन वह आदि-सस्कृति की वेगवती नदी की क्षीण धारा से निकला एक अग मात्र रहा होगा। पर कल्पनातीत समय ने आज उसमे और मूलधारा मे इतना रूपान्तर ला दिया है कि दोनो की एक भावना एक विशृंखलता-सी लगती है।

किन्तु यथार्थ मे तो अनादि काल मे ही जब कि भाषा और लिपि, कविता और कला, सगीत और नृत्य आदि का कोई सुसस्कृत और शास्त्रीय रूप निर्धारित नही हुआ था—दु ख-सुख, हार-जीत, युद्ध और शान्ति, प्रेम और विवाह, सन्तान का जन्म और मृत्यु, मिलन और विरह, पर्व-त्योहार, चाँदनी और तारो-छाई रात, सूर्योदय और सूर्यास्त, पावस और वसन्त आदि ने सर्वत्र मानव के मानस को आलोडित-मथितकर, उसकी प्रतिक्रियाओ को भावो के उद्रेक के रूप मे उपजाकर भावना की वह अद्भुत सृष्टि की है, जो पीढी-दर-पीढी उसकी सस्कृति सम्पद के रूप मे सुरक्षित ही नही रहती आई है, बल्कि उत्तरोत्तर विकसती और फूलती रही है। इन प्रतिक्रियाओ और भावोद्रेको मे एक अद्भुत साम्य है क्योकि इनका मूलस्रोत और परिस्थितियाँ जो एक है। ज्यो-ज्यो मानव-सस्कृति का रथ विकास-मार्ग पर बढता गया, उसकी इस भावना-सम्पद ने गीत, कविता, वार्त्ता आदि की सज्ञाए ग्रहण की और बाद मे ये अपने विशिष्ट रूपो

मे सजी-सवरी। भाषा ओर भौगोलिक परिस्थितियो ने इन्हे रूप-राग-स्वर मे भले ही कुछ बदला हो, पर इनकी मोलिक एक रूपता और एकरसता मे विशेष अन्तर नही आया। आज यदि बारीकी से देखा जाय, तो बडे-बडे भू-भागो के विविध अचलो के आदिवासियो के विचारो विश्वासो नृत्यो गीतो, काव्य-वार्त्ताओ तथा सामाजिक-धार्मिक मान्यताओ मे एक अद्भुद साम्य मिलेगा—मानो वे एकही परिवार के सदियो से बिछुडे हुए टुकडे हो जिनमे केवल समय और भोगोलिक परिस्थितियो ने कुछ ऊपरी प्रभेदभर ला दिया हे।

लोक-सस्कृति का उत्स

पाश्चात्य विद्वानो ने लोक-साहित्य को बहुत कुछ आदिम जातियो का आत्मकथात्मक उत्स ही माना है। एक बडी सीमा तक वह ऐसा हे भी, पर इससे अधिक भी वह बहुत-कुछ है। उसमे जो विश्वास, परम्पराएँ, जादू-टोने और दैवीचमत्कार के गीत उक्तियाँ और वार्त्ताएँ है, थोडे-बहुत परिवर्तित रूप मे आधुनिक जातियो और समाजो मे भी उनका प्रचलन है। अँगरेजी के प्रसिद्ध विद्वान टाइलर और लैंग ने इस मतको प्रतिपादित किया हे। हेजलिट ने अपने कोश मे और फ्रेजर ने अपनी 'गोल्डन बो' पुस्तक मे इनका सविस्तर उल्लेख किया है। यद्यपि विविध भागो मे ये विचार, विश्वास और चमत्कार की बाते किसी एक-से या सुश्रृखल रूप मे नही है, तथापि लोक-साहित्य की ऐतिहासिक धारा के विकास के इतिहास के विश्लेषण के लिए इनका अध्ययन अनिवार्य है। जिन्हे हम आज पौराणिक गाथाओ, कथाओ अथवा लोकवार्त्ताओ के रूप मे जानते है, उनमे मानव के सामाजिक एव मानसिक विकास की प्रचुर सामग्री भरी पडी है।

आदिम जाति की आत्मकथात्मक अभिव्यक्तियो और प्रतिक्रियाओ के साथ ही उपदेशको, कवियो [illegible] तथा समाज-व्यवस्थापको ने अपने समय के धार्मिक विचारो, विश्वासो, सामाजिक मान्यताओ और सत्यो का भी लोकवार्त्ताओ, लोकगीतो और लोकोक्तियो के माध्यम से व्यक्त किया। [illegible] उद्देश्य लोकरजन अथवा आत्माभिव्यक्ति से परे लोक-शिक्षण, लोक-शासन और लोक-नियत्रण भी रहा है। अनेक वार्त्ताओ कथाओ और आख्यायिकाओ की सृष्टि और प्रचार [illegible] उद्देश्य से हुआ जान पडता है। जिस प्रकार माताएँ आज भी जहाँ बच्चो के [illegible] के लिए परियो, उडनेवाले [illegible] आकाश मे चलने वाले हाथी और जादू जानने वाले [illegible] की कथाएँ सुनाती है [illegible] ही जिद्दी बच्चो को चुप करने या सुलाने के लिए भूत, [illegible] भी सुनाती है इसी प्रकार धर्माचार्यो एव समाज-व्यवस्थाकारो ने भी [illegible] विविध यातनाओ, ईश्वर, इन [illegible] भोगने आदि की कल्पनाएँ की है। इसमे [illegible] तथापि यह [illegible] का प्रमुख अग है। [illegible] इन पौराणिक कथाओ को ही बनाया है। ईसा, बुद्ध, [illegible] बाल्मीकि के

काव्य की पृष्ठभूमि भी इन्ही मे बनी है। राम और कृष्ण की कथाओ के प्रतिरूप तो न जाने कितने और किस-किस रूपमे प्रचलित है।

पौराणिक गाथाएँ और प्रतीक-चिह्न

✓ लोक-संस्कृति का बहुत बड़ा आधार वे गाथाएं है,जिनकी कल्पना को सिर्फ सत्य की कसौटी पर कसना ही काफी नही होगा। उनके विचारो, विश्वासो और मान्यताओ का नृतत्त्वशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि मे भी अध्ययन आवश्यक है। खेद है कि अभी तक इस ओर हमारे विद्वानो का ध्यान सम्यकरूपेण आकृष्ट नही हुआ है। इस दिशा मे सर्वप्रथम सक्रिय कदम पिछली शताब्दी मे मैक्समूलर ने ही उठाया, जिसका अनुकरण आर्य-भाषाओ के विद्वानो ने भी किया। अब जब कि विविध भू-भागो का लोक-साहित्य प्रकाशित होकर इस विषय के अध्येताओ के सामने आ रहा है, उनकी भावनाओ, कल्पनाओ, प्रतीको उपमानो, रूपको, वार्ताओ, गीतो आदि मे अद्भुत साम्य देखकर लोग दग रह जाते है। आर्य-भाषाओ के विद्वानो का कहना है कि यह ऊपरी साम्य वाद का है अथवा कल्पना-साम्य का ही परिणाम होगा, क्योकि इनके रचे जाने के समय तो यातायात के साधनो के अभाव के कारण जिन भागो के ये है, उनमे बसने वालो मे आवागमन का होना स्थापित नही किया जा सकता। मोटे तौर पर यही ठीक भी लगता है, पर डिक्सन ने घुमन्तू जातियो के अपने विस्तृत अध्ययन के पश्चात एक भू-भाग के लोगो का दूसरे भू-भाग मे जाने-आने के तथ्य को मान्यरूप मे ग्रहण किया है। लैग के कथनानुसार आर्येतर भाषाओ के लोगो ने भी अनेक ऐसे देवो, दानवो एव घटनाओ की कल्पनाएँ की थी जो बहुतायत से आर्य-भाषाओ की पौराणिक गाथाओ मे ही पाई जाती है।

इस प्रकार व्यापक रूप मे पौराणिक कथाओ के रूप मे कल्पना की सीमाओ को छूने का जो यह प्रयास हुआ है, उसके बारे मे बेनियर और लेम्पियरी का मत है कि इनकी सृष्टि ऐतिहासिक तथ्यो पर पर्दा डालने के लिए की गई थी। जैसे दाने की 'सोने की वर्षा' की कथा का ऐतिहासिक तथ्य यह है कि बिना उसके आदमियो को सोने की घूस दिए कोई भी उसकी कृपा का लाभ नही उठा सकता था। इसी प्रकार दाएदलूवी 'चलती-फिरती-मूर्त्तियो' का अर्थ यह था कि आदि कालीन मूर्त्तियो मे सिर्फ धड ही बनाया जाता था और टाँगे अलग बनाकर बाद मे जोडी जाती थी। जेकब ग्रिम ने यूरोप के सामन्तवादी युग की ऐसी ही कई कहानियो का सग्रह किया है। लैगने क्रोनसकी कथा का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इसका आचार उस समय से लिया गया है, जबकि यूरोप मे भी एक भागके लोग अपने बच्चे खा जाते थे। इसके विपरीत भारत में मोरध्वज द्वारा अपने राजकुमार को आधा चीरकर दान कर देने की जो किंवदन्ती प्रचलित है, सभवत वह उसकी दान वृत्ति की चरम परिवृत्ति की अत्युक्ति का द्योतक है— ठीक वैसे ही जैसे कि हनुमान की राम भक्ति और स्वामि-भक्ति का प्रमाण दिया गया है हृदय चीरकर दिखाने पर उस पर 'राम' शब्द का लिखा होना तथा सजीवनी बूटी वाले

पवन को ही उठा लाना। यूनान, जर्मनी और फ्रास मे भी ऐसी गाथाए प्रचलित है, जिनमे हमारे जल बरसाने वाले इन्द्र के समानान्तर देवताओ की कल्पना की गई है। आँधी, तूफान, अग्नि, जल प्लावन आदि किन देवी प्रकोपो से होते है, इनकी वहा भी बडी मनोरजक कथाए है।

इस तरह ज्यो-ज्यो मानव की कल्पना पख लगाकर उडना सीखने लगी, उसने अपनी गाथाओ को नए-नए उपमानो और प्रतीको मे अधिकाधिक प्रभाव पूर्ण बनाना भी शुरू किया। हेनरिक्स ने अपनी 'न्यूवर्ल्ड माइथॉलॉजी' मे ऐसे प्रचुर उदाहरण दिए है, जिनमे कि पौराणिक गाथाओ मे प्राकृतिक प्रतीको का काफी प्रयोग किया गया है। दिन, रात, प्रात, सध्या, वृक्ष, लता, बादल, बिजली, सूर्य, चाँद, तारे, हवा पानी, पर्वत, सरिता, समुद्र, विविध पशु-पक्षी आदि को विविध देशवालो ने विविध प्रतीको के रूप मे अपने लोक साहित्य मे स्थान दिया है। अमरीका, साइबेरिया और जर्मनी के आदि-वासियो ने तारो, तूफान और अन्य प्राकृतिक प्रतीको को लेकर गाथाएँ रची है। मोटे तौर पर यूरोपीय लोक गाथाओ मे तारो को भाग्य का, सूर्य को प्रताप की तथा साप को जहरीलेपन, विनाश या पुरुष-लिग का प्रतीक माना गया है। अनेक कथाओ मे यौन-जीवन की विकृति असन्तोष, रति-कर्म आदि को भी रूपक या लाक्षणिक रूपमे दिखलाया गया है। मनोविश्लेषको का मत है इनमे तत्कालीन समाज के यौन-निषेधो एव भ्रान्तियो की सूचना मिलती है। शिव-लिग की जो कथा लिग-पुराण मे है, इस दृष्टि से उसके भी गभीर विश्लेषण-अध्ययन की आवश्यकता है। वाटरमैन के कथनानुसार भारतीय पौराणिक कथाओ मे से अधिकाश की कोई व्याप्ति नही दी जा सकती। उडने वाले घोडो, उडनखटोलो, सात-समुद्र पार [illegible] राजकुमार-राजकुमारियो, बोलनेवाले तोता-मैना के झगडे और किस्से आदि-[illegible] अरब सौदागरो द्वारा भारत पहुचे है, जबकि भारत के दशशीश वाले रावण द्वारा सीता के अपहरण की कथा किंचित् परिवर्तित रूप मे जर्मनी, अफ्रीका और लातीनी अमरीका [illegible] भागो मे पहुची है। भारत के ऋषियो के यज्ञो मे विघ्न डालने वाला दशानन अफ्रीका मे [illegible] सात मुंहोवाला राक्षस हो गया है। चीन के अनेक देवता और राक्षस भारत के [illegible] और [illegible] के प्रतिरूप-से लगते है। अनेक देशो के देवताओ और उनकी बलि [illegible] काफी साम्य लिए हुए है। हाल ही मे हिमालय-क्षेत्र मे गए कुछ यात्रियो ने [illegible] जहा पहले किसी मानव का जाना सभव न था, बडे-बडे चरण-चिन्ह देखकर 'स्नोमैन' ([illegible]) की कल्पना की है। आज लोग इसी को शायद जिन, भूत या राक्षस मानते रहे हो। [illegible] देव [illegible] कल्पना-जगत से ही हुई है, उनके विविध देशो मे पाए जाने वाले [illegible] अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है।

उपनिषद् और ब्राह्मणकालिक लोक-जीवन

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

उपनिषद् और ब्राह्मणकाल भारतीय संस्कृति का चैतन्य युग था, उस समय के लोकजीवन मे ऋत, सत्य और अमृत की त्रिपथगा अनवरत प्रवाहित हुआ करती थी। पुराणो और उपनिषदो के अनुवादक त्रिपाठी जी ने उपनिषद् और ब्राह्मण काल के लोकजीवन का एक व्यापक चित्र इस लेख मे उपस्थित किया है। —सपादक

उपनिषदो मे जिस विद्या अथवा ज्ञान का व्याख्यान किया गया है, उसे समझना एव मनन करना पण्डितो का काम है, क्योंकि उनमें लौकिक जीवन की बहुत कम बाते आती है। ऐसे अलौकिक एव अतीन्द्रिय जीवन के रहस्य पर प्रकाश फेकने वाली विद्या को रहस्य विद्या के नाम से पुकारना अधिक युक्तियुक्त है। और उसी रहस्य विद्या की भाण्डार के रूप मे उपनिषदो की प्रतिष्ठा है। उनका एक नाम ही है रहस्य विद्या अथवा ब्रह्म विद्या। समस्त उपनिषदो का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है ब्रह्मविद्या। किन्तु जहाँ उनमे ब्रह्म एव तत्सम्बन्धी विचारणीय यावत् जिज्ञासाओ का समाधान एव परिशीलन है वही उनका व्यवहार पक्ष भी आदर्श एव अनुकरणीय है। दार्शनिक तत्त्वो को मानव-जीवन के सर्वतोमुखी व्यवहार मे प्रयुक्त करना भारतीय विचार-धारा की अपनी विशेषता रही है और इस प्रकार उपनिषदो की आचार सम्बन्धी बाते आज के विज्ञान युग मे भी नितान्त उपयोगी तथा मनोरम है। अध्यात्म पथ के उन्नत लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के सामान्य जीवन स्तर को ऊचा उठाना अनिवार्य है और उस उच्च स्तर की प्राप्ति के लिए आदर्श सदगुणो को अपनाना भी अनिवार्य है। उपनिषदो मे यथास्थल इन सद्‌गुणो को प्राप्त करने की मोहक प्रेरणाए पायी जाती है। किन्तु इससे यह भी नही समझना चाहिए कि उन आदर्श सद्‌गुणो की शिक्षा के अतिरिक्त धरती के सामान्य जीवन की ओर से उपनिषदे सर्वथा उदासीन है। यथाप्रसग सासारिक जीवन की सामान्य बातो की ओर भी उनमे ध्यान दिया गया है।

यह सत्य है कि उपनिषदो की पृष्ठभूमि मे सासारिक वासनाओ एव लौकिक व्यवहारो की जो छाया मिलती है, उसमे आज के विज्ञान युग की सब समस्याए तो नही है किन्तु साधारण कृषि कर्म, पशुपालन, वृक्षारोपण, गृहनिर्माण, देवाराधन आदि की चर्चाए तो पायी ही जाती है। तात्कालिक समाज का जो ढाचा उपनिषदो के प्रसगो मे चित्रित है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय का मानव-समाज आज की अपेक्षा अधिक सुखी, सन्तुष्ट, स्वस्थ, स्वावलम्बी तथा

सच्चरित्र था। कर्म एवं श्रम की महत्ता अधिक थी, आलस्य एवं पाषण्ड का अनादर था। दीर्घायुष्य, स्वास्थ्य, सदाचरण एवं पारलौकिक सुख की साधना के साथ ही ऐहलौकिक एषणाओं की पूर्ति की जाती थी। अध्यात्म चिन्तन अवश्य सहज बन गया था किन्तु इहलोक की उपेक्षा भी कहीं नहीं थी। सम्यक् विद्याध्ययन के अनन्तर ऐहलौकिक सुख-साधनों का यथेष्ट उपभोग उस समय भी किया जाता था और सम्यक् उपभोग के अनन्तर ही वैराग्य की निष्ठा को महत्त्व मिलता था। कृषिकर्म एवं पशुपालन का समाज में सर्वोच्च स्थान उस समय भी था। भूखे और नंगे रह कर पारलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति यह उस समय के समाज ने भी असम्भव मान रखी थी अतः कर्मठता की पूजा तथा श्रम के महत्त्व की उचित प्रतिष्ठा भी स्वाभाविक थी। सत्यकाम की गो सेवा परायणता से प्रसन्न होकर ही उनके गुरु ने उन्हें ब्रह्मविद्या का उचित अधिकारी बतलाया था।

अन्न के सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् की तृतीय वल्ली का निम्नलिखित द्वितीय अनुवाक् उद्धरणीय है—

"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।"

अर्थात् अन्न ही ब्रह्म है। इसी अन्न से ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए अन्न से ही इनका जीवन चलता है, और ये विनष्ट होकर अन्न में ही लीन होते हैं, और उसी में एकरूपता प्राप्त करते हैं।"

उक्त प्रसंग महर्षि वरुण के पुत्र भृगु की कथा का है। आगे चल कर इसी उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि यद्यपि ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान हो जाने के अनन्तर असारवान् संसार की महत्ता नष्ट हो जाती है और उस स्थिति में अन्न का महत्त्व भी कुछ नहीं रह जाता किन्तु फिर भी

"अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणाः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।"

अर्थात् 'अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए। यह ब्रह्म ज्ञानी के लिए भी उचित है। क्योंकि प्राण ही अन्न है। शरीर अन्न का भोग करने वाला है और प्राण में (से) शरीर की स्थिति है और शरीर में प्राण स्थित है, इस प्रकार यह अन्न अन्न में स्थित है। (शरीर प्राणों का आश्रित है और शरीर के आश्रय प्राण हैं) इस प्रकार जो इस अन्न को अन्न में स्थित जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है अर्थात् परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है और अन्नवान्, अन्नभोक्ता, सन्तान पशु तथा ब्रह्मतेज एवं कीर्ति से महान् होता है।" तात्पर्य यह है कि ब्रह्म ज्ञानी पुरुष को भी अन्न निन्दा त्याग रूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। बड़े से बड़े ब्रह्मज्ञानी को भी अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अन्न ही प्राण है। शरीर रक्षा का अन्न के सिवा और कोई उपाय नहीं है। और शरीर के रहते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चतुर्वर्ग की सिद्धि

हो सकती है। इतना ही नहीं यह अन्न अनेक महान् कार्यों का साधन है। जो इसके तत्त्व को जानता है, युक्ति से इसका सेवन करता है, तथा दान देता है, उसे बल, पुत्रादि ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा किसी भी बात की कमी नहीं रहती।

इस प्रसग को और आगे बढ़ाकर तत्तिरीय उपनिषद् मे कृषि कर्म एव अधिक अन्न उत्पादन की आवश्यकता पर और जोर डाला गया है। "अन्न बहु कुर्वीत् । तद्व्रतम् ।" "अन्न न परिचक्षीत। तद् व्रतम् ।" अर्थात् अधिक से अधिक अन्न उत्पादन करना चाहिए—यह मानव जीवन का मुख्य व्रत होना चाहिए। अन्न को कभी छोड़ना नहीं चाहिए—यह भी एक मुख्य व्रत है।

ससार की असारता एव जीवन के सुख-साधनो से विरक्ति का उपदेश करनेवालो को अन्न की महत्ता का उतना ही ज्ञान था जितना आज विदेशो मे अन्न की समस्या को हल करने मे परेशानी हमारी सरकार को है। उसी उपनिषद् मे अन्न के महत्त्व का विश्लेषण इस प्रकार है—

अन्नाद्वै प्रजा. प्रजायन्ते। या· काश्च पृथ्वी श्रिता । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्तत.। अन्न हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्न ब्रह्मोपासते। अन्न हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्न तदुच्यत इति।

इस उद्धरण का अर्थ बहुत स्पष्ट है। अन्न को समस्त प्राणियो मे ज्येष्ठ बतलाते हुए सब औषधियो का मूलकारण भी बताया गया है। प्राणियो के क्षुधा रूपी ज्वाला को दूर करने की शक्ति अन्नौषधि मे ही है। कृषि कर्म की उच्चता एव श्रम की महत्ता की घोषणा उक्त उद्धरण के प्रत्येक अक्षर मे व्याप्त है। कृषि विज्ञान की पराकाष्ठा ही यज्ञारम्भ की भूमिका है। वृष्टि विज्ञान का यह रहस्य ब्राह्मण ग्रन्थो मे सुलझाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है—

"अग्नेर्वै धूमो जायते। धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टि·।"

अर्थात् यज्ञ की अग्नि से धूम उत्पन्न होता है और धूम से ही बादल बनते हैं जिनसे वृष्टि होती है। ऐतरेय ब्राह्मण मे इस रहस्य को और खोलकर समझाया गया है।

"विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्य सम्प्रयच्छति।" "वृष्टि कामो यजेत।"

अर्थात् यज्ञ की अग्नि का ताप ही वृष्टि करता है जो खाने योग्य पदार्थो को देने वाली है। वृष्टि की इच्छा करने वाला यज्ञ की आराधना करे।

वृष्टि जल के भरोसे ही कृषि कर्म नहीं था। नहरो, कूपो और सरोवरो की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी। फल-फूलदार वृक्षो लताओ एव गुल्मो का शौक उस समय भी था और उच्चकोटि की बागवानी के साथ ही पशुपालन एव गो-सम्वर्धन का व्यवसाय बहुत उन्नत था। कृषको की

तो बात ही दूर रही, आरण्यक ऋषि मुनियों के पास भी सहस्रों गौएं विद्यमान रहती थीं। दूध से मक्खन, घृत और अन्यान्य भोज्य पदार्थों की कल्पनाएं बन चुकी थीं और यह मान लिया गया था कि गौ 'अघ्न्या' अर्थात् अमारणीय है। मानव जीवन में गौ के महत्त्व की यह प्रतिष्ठा उसी समय मान ली गयी थी।

वस्त्र-व्यवसाय की स्थिति पर भी प्रकाश मिलता है। कपास और ऊन के वस्त्रों के साथ ही वल्कल और मृग चर्म भी व्यवहार में लाये जाते थे। किन्तु गृहस्थों तथा ऋषियों मुनियों के घर में चर्खा अथवा सूत उत्पादन के यन्त्रों में स्त्रियों की ड्यूटी होती थी। शतपथ ब्राह्मण का यह उद्धरण इस प्रसंग का साक्षी है—

"तद्वा एतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णा सूत्रम्।"

सूत और ऊन के सूतों से परिधान और परिच्छादन के विविध उपकरण यथा कम्बल, गुलूबन्द, जुर्राब शाल आदि अवश्य बनाये जाते रहे। रथ, हल, धनुष, बाण एवं अन्यान्य शस्त्रास्त्रों की रचना चातुरी की चर्चा भी पायी जाती है।

इस प्रकार उपनिषद् अथवा ब्राह्मण कालिक सामाजिक जीवन का अध्ययन बड़ा मनोरंजक है। यह देख कर हैरानी होती है, कि बहुत सी कुप्रथाएं, जो आज भी हमारे समाज में प्रचलित हैं, उसी समय से जन्म ले चुकी थीं। मैत्रायणी संहिता (४, ६, ४) के अनुसार कन्या के जन्म के अवसर पर गृहस्थी का जीवन संकट पूर्ण बन जाता था। कन्या का जन्म उस समय भी दुर्भाग्य पूर्ण समझा जाता रहा। अपने घरों में पतियों के साथ रहना ही स्त्रियों का परम कर्त्तव्य रहा। सभा समितियों तथा राज दरबारों में स्त्रियों को बोलने या प्रवेश करने का साधारणतः अधिकार नहीं था। इसका कारण यह मालूम पड़ता है कि उस समय भी लोग स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक भावुक तथा शीघ्र ही फिसलने वाली मानते थे, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण की निम्न लिखित कारिका से स्पष्ट होता है—

"मोघ संहिता एव योषः। तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव।"

अर्थात् स्त्रियां निरर्थक बातों की ओर विशेष ध्यान देती हैं। जो नाचता गाता है, उसको चाहने लगती हैं। किन्तु जहां यह है वहीं ज्ञान चर्चा तथा शास्त्रार्थ के प्रसंगों पर विदुषी महिलाओं की प्रतिष्ठा के उदाहरण भी उपनिषदों में विद्यमान हैं। गार्गी, कात्यायनी प्रभृति ऋषि पत्नियां ब्रह्म व्याख्यान की पण्डिता थीं। वेदों के अनेक मन्त्रों की रचना करने वाली लोपामुद्रा, अपाला, रोमशा, विश्ववारा, सर्पा, जुहू, यमी, सर्पराज्ञी, यमाना, उर्वशी आदि [illegible] स्त्रियां थीं। शतपथ ब्राह्मण में सुन्दरी स्त्रियों के लक्षण बताये गये हैं [illegible] अर्धांगिनी होने की घोषणा की गयी है। पत्नी विहीन पुरुष को यज्ञादि शुभ अनुष्ठानों [illegible] कहा गया है—

"श्रिया वा एतद्रूप यत्पत्न्य ।"

अर्थात् स्त्रिया लक्ष्मी की प्रतिमूर्ति है। स्त्रियों के विविध वस्त्रों, शृगारों एव अनेक आभूषणो की चर्चा से यह मालूम होता है, कि सौन्दय प्रसाधनो की कल्पना उस समय भी थी। नृत्य, वाद्य, गायन एव सगीत की कला का विकास सामवेद की सहिताओ से ही स्पष्ट हो जाता है। साथ नाटकीय तत्त्वो के बीज भी उसी समय से दिखायी पडते है। भरत के नाट्य शास्त्र के प्रादुर्भाव मे ब्राह्मण एव उपनिषत्काल की उच्च भूमिकाए विद्यमान थी।

विविध व्याधियो एव उनकी अनेक औषधियो की चर्चाए तो अथर्ववेद मे है ही किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी इनका प्रसग छेडा गया है। आयुर्वेद की वैज्ञानिक चर्चा मे विविध औषधियो का महत्व बडी रोचक शैली मे हुआ है। तात्पर्य यह है कि लोक जीवन के बाहरी स्वरूप की जो कुछ झाकी हमे इस काल की बिखरी सामग्रियो मे से प्राप्त होती है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणो एव उपनिषदो की भावभूमि मे विचरण करने वाले हमारे पूर्वजो का जीवन-मान आज के जीवन मान से किसी प्रकार भी असन्तोषजनक नही था। यद्यपि यह सत्य है कि पश्चिमी विज्ञान की आधुनिक सुख-सामग्रिया उस समय उपलब्ध नही थी, किन्तु यह भी सत्य है कि मानवता का अवमूल्यन करने वाली इस विज्ञान की कुप्रवृत्तिया भी उस समय नही थी। भौतिक जीवन का सार ग्रहण कर इस नश्वर ससार के सुख-साधनो का उतना ही उपयोग होता था, जितने से धरती का अमृत सूख नही जाता था। भोग मे त्याग की निष्ठा रहती थी और सामान्य लोक व्यवहारो मे भी परलोक की चिन्ता।

वर्णाश्रम व्यवस्था और आधार

उपनिषद् काल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि चार आश्रम समाज को नियमित, सयमित और नियन्त्रित बनाये रखने मे प्रमुख साधन सिद्ध हुए है। जाति व्यवस्था के अनुसार उच्च-नीच के भेद-भाव होते हुए भी द्विजाति जन्मा ब्रह्मवादियो की प्रतिष्ठा ब्राह्मणो द्वारा उदारता पूर्वक की जाती थी। तर्कशास्त्र के अनुसार **'समान प्रसवात्मिका जाति'** मान कर मनुष्यमात्र के साथ आत्मीयता और सवेदना के भाव समाज मे प्रतिष्ठित थे। **'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोग'** के अनुसार पूर्व कर्म के अनुसार प्राणियो को जाति, आयु और भोग मिलने की मान्यता उपनिषद् काल मे थी।

"शिरो मे श्रीर्यशो मुख त्विषि केशाश्च श्मश्रूणि" कह कर उपनिषद् ने सिर के केशो और दाढी मूछो का समर्थन किया है। उपनिषद् काल मे मनुष्य दो वर्ग थे—एक वर्ग आर्य कह-लाता था और दूसरा दस्यु। आर्यो की पहचान शिर पर बधी हुई जटाओ की गाँठ थी और दस्यु लोग बाल खोले रहते थे। क्रमश यही पद्धति कालान्तर मे परिवर्तित होकर शिखा के रूप मे प्रस्तुत हुई। आर्यो मे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य की पहचान क्रम से सूत, सन और ऊन के धारण किए हुए यज्ञोपवीतो द्वारा की जाती थी। आर्य जाति के अन्दर चौथा वर्ण शूद्र था जो यज्ञोपवीत धारण

करने का अधिकार नही था किन्तु शिर के केशो की ग्रथि बाँधता था। आर्य जाति के अन्तर्गत यदि किसी का जाति वहिष्कार या समाज से वहिष्कार किया जाता था तो उसके शिर के बाल मुड़वा दिये जाते थे। तात्पर्य यह कि ग्रथित केश (शिखा) उस समय के आर्यो की पहचान थी और जनेऊ द्विजातियो की पहचान रही। केशो की भाँति आर्य लोग नाखून भी नही कटाया करते थे। नाखून श्रम द्वारा घिस जायें कट जाये उस समय की यही मान्यता थी। आभूषणो मे धातुओ का प्रयोग नही होता था, किन्तु सुगन्धित पुष्पो का ही आभूषण के स्थान मे उपयोग किया जाता था। सोने का शरीर मे कुछ अश रहना शुभ समझा जाता था। सुवर्ण के सबंध मे उस समय के लोगो की यह धारणा थी कि वह पवित्र करता है, दीर्घायु बनाता है—

'पुनाति एव एन यो हिरण्य बिभर्ति।
जरामृत्यु भवति यो हिरण्य बिभर्ति।
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायु।
आयु हिरण्य अमृत हिरण्यम्।

प्रत्येक द्विजाति उस समय ब्रह्मचर्य मे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था। ब्रह्मचारियो से वानप्रस्थियो एव सन्यासियो को एक प्रकार का बल प्राप्त होता था। ब्रह्मचार्य्येति समिधासमिद्ध कार्ष्ण वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रु के अनुसार ब्रह्मचर्यावस्था से ही आर्य लोग दाढी मूछ रखाते थे। समाज मे बाल, वृद्ध और रोगी के लिए उस समय यह विधान था कि **'जटिलो मुण्डितो वा'** चाहे वह केश रखाये रहे या बनवा दे। किन्तु ब्रह्मचारी के लिये तो यह स्पष्ट निर्देश था कि **'क्षुर कृत्य वर्जय'** अर्थात् वह छुरे से बाल बनवावे ही नही। इसी प्रकार वानप्रस्थ **'जटाश्च बिभृता नित्य श्मश्रुलोमनखानिच'** जटा, दाढी, मूछे और नाखून रखते थे। उस समय का सामाजिक विधान था कि सभी वर्ण के आर्य **'क्षत्रिय' कण्टक शतदन् शीर्षकेश अप लिखान्'** कघे से शिर के बालो का विन्यास किया करे।

उपनिषद् काल के लोकजीवन मे धर्म, अर्थ और काम, मोक्ष के साधन पशु और वृक्ष माने जाते थे। तात्पर्य यह कि उस समय पशुओ के पालन पर विशेष ध्यान दिया जाता था, उन्हे राष्ट्र और समाज की सम्पत्ति समझा जाता था। उन्ही के द्वारा जीवन के सभी लौकिक-पारलौकिक कार्यो का सम्पादन किया जाता था। उस समय की सभ्यता की परिभाषा मे मनुष्यो तथा पशुओ को प्रजापति और वृक्षो को पशुपति कहा जाता था। तात्पर्य यह कि प्रजाओ का पालन पशु करते है, और पशुओ को वनस्पतियां पालती है। (प्रजया सुवीरा और [illegible] प्रजापतिरिति—पशुरिति) तथा (ओषधयोवै पशुपति तस्मात् यदा पशव ओषधी लभन्ते [illegible]दर्पति) उपनिषद काल की यह धारणा पूर्ववर्ती वेदकाल मे भी थी। ऋग्वेद मे [illegible] हरि [illegible] पशूना पतये नम कहा गया है।

उपनिषद् काल के प्रथम चरण में बहुत कम लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। सभी ब्रह्मवादी होते थे चाहे स्त्री हो या पुरुष। पुत्रकलत्र की इच्छा लोगों में बहुत कम थी। बृहदारण्यक उपनिषद् का कहना है कि पूर्व काल में विद्वान लोग सन्तान की इच्छा ही नहीं करते थे। 'पूर्वे विद्वान्स. प्रजा न कामयन्ते कि प्रजया करिष्यामः' इसी समय का जिक्र मनुस्मृति और पुराणों तथा महाभारत में कई जगह आया है।

उस समय का राज्य शासन भी आदर्श रहा है। मद्यपी, चोर, कामुक, नास्तिक, मूर्ख, व्यभिचारी, जुआरी व्यक्तियों को राजा लोग अपने राज्य में नहीं रहने देते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में राजा अश्वपति कहते हैं—

नमेस्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो।
नानाहिताग्निना विद्वान्न स्वैरिणी कुत ॥

उस समय स्वराज्य, सत्रराज्य जनराज्य, सर्वराज्य ये पाँच प्रकार के राज्य शासन थे। धर्म को बहुत महत्त्व दिया जाता था। अर्थ, काम और मोक्ष धर्म के अधीन समझे जाते थे। इन सब का सामजस्य ईशोपनिषद् में किया गया है—

ईशावास्य मिद सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्
ते न त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृध. कस्यस्विद्धनम् ।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

बृहदारण्य कहता है कि—

तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्र यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्पर नास्ति। अर्थात् यह धर्म राजा का भी राजा है, इससे बड़ा और कुछ नहीं है।

अनेकानि सहस्राणि कुमार ब्रह्मचारिणाम्।
दिवगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्। (मनु०)

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमार ब्रह्मचारिणी, योगयुक्तादिव जाता तप सिद्धा तपस्विनी।
बभूव श्रीमती राजन् शाडील्यस्यमहात्मन, सुताधृतवती साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी।
सानुतप्त्वा तपोघोर दुश्कर स्त्री जनेनच, गतास्वर्ग महाभाग देव ब्राह्मण पूजिता ॥ (महा०)

भारद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि।
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी।
साह तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसतीमद्विधे।
विनीता मोक्ष धर्मेषु चराम्येकाम् निव्रतम्।

उस समय धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में शुद्ध धर्म और आपद्धर्म साथ-साथ रहते थे— **भूयासुनीतिरुत वामनीति.।** अर्थात् सुनीति (धर्म) से अथवा वामनीति (आपद्धर्म) से यथावसर कार्य सिद्ध करना चाहिए। किन्तु आपद्धर्म का उपयोग धर्मोद्धार के लिए ही किया जाता रहा है।

छान्दोग्य उपनिषद् में आपद्धर्म की यह एक सुन्दर कथा है, कि कुरु देश में उपलवृष्टि के कारण घोर अकाल पड़ गया। भूखों के मारे उषस्ति ऋषि अपनी पत्नी सहित हाथीवानों के गाँव गए। वहाँ हाथीवानों को कुल्माष (एक प्रकार की उड़द) खाते देखकर ऋषि ने भी उनसे माँगा। उन्होंने कहा कि हमारे पास इतने ही कुल्माष हैं, और ये जूठे हैं, दूसरे बर्तन में अब हैं नहीं। उषस्ति ने कहा कि एक मुट्ठी इन्हीं में से दे दो। उन्होंने दे दिया ऋषि ने पत्नी के साथ एक मुट्ठी कुल्माष खा लिया। हाथीवानों ने जब पानी दिया तो ऋषि ने कहा जूठा पानी हम नहीं पियेंगे। उन लोगों ने कहा कि तब कुल्माष क्यों जूठे खाये। ऋषि ने कहा प्राण बचाने के लिए। कुल्माष न खाता तो प्राण न बचते किन्तु जल न पीने से प्राण बच सकते हैं। पानी कहीं भी मिल सकता है।

उपनिषद् काल के समस्त लोकजीवन के अनुशीलन से और उस समय के आर्यों के आचार-विचार, रहन सहन, विधि-व्यवहार और व्यवहारों पर एक गंभीर दृष्टि डालने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय का लोकजीवन मोक्ष को अपना मुख्य लक्ष्य समझता था। उस समय ऐसा व्यवहार किया जाता था जिससे किसी भी प्राणी के भाग और भोगों को विघ्न न हो और वे दीर्घायु प्राप्त करें। वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा समाज का संगठन था। मोक्षाभिमुखी ज्ञानशाली शिक्षा थी।

भारतीय संस्कृति में लोकजीवन

आचार्य श्री अनन्तलाल गोस्वामी

संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के उद्गारचेता विद्वान गोस्वामी जी गभीर-विचारक और अध्ययन-मननशील लेखक हैं। इस लेख में आपने लोकजीवन को शास्त्रानुमोदित सिद्ध किया है। —सम्पादक

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति शब्द का अर्थ है, सम्यक् कृति। संस्कार या सन्तरण का भावार्थ भी संस्कृति के अर्थ के अन्तर्गत आ जाता है। वदिक दर्शन भारतीय संस्कृति की पूर्णता को प्रकाशित करने वाला अखण्ड प्रदीप है। दर्शनशास्त्रानुसार विज्ञान का केन्द्र ब्रह्म, और ज्ञान का कारण जगत् है। जगत् के दो भेद माने जाते हैं—अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्। शक्तिमान् परमात्मा से प्रादुर्भूत अनन्त शक्तियां जगत् में व्याप्त हैं। जीवात्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है। प्रधान शक्ति तीन हैं, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, द्रव्यशक्ति। अनादिकाल से जगत् नियन्ता जगदीश्वर जगत् और जीव का जो घनिष्ठ संबंध चला आ रहा है, इसी संबंधतत्व से संस्कृति का विकास है। जैसे-जैसे मानव अपने जीवन में जगत् व्यापनीज्ञान शक्ति का अनुभव और क्रियाशक्ति कार्य रूप में ग्रहण करता है, वैसे-वैसे, जीवन का सांस्कृतिक विकास होता है। शास्त्रानुसार संस्कृति पांच भागों में विभक्त है, धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण, और रीति। धर्म दर्शन इतिहास पारमार्थिक, वर्ण और रीति व्यावहारिक संस्कृति में विशेष रूप से है। परन्तु साधारण लोकजीवन को आदर्श-जीवन में परिवर्तन करने के लिए भारतीय संस्कृति के पांचों अंग परमावश्यक हैं। धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, सार्वभौम रूप में समुन्नत लोकजीवन तभी होगा, जब कि भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तसूत्र

"सर्वभूतस्थमात्मानम्"

"सर्वभूतानिचात्मनि"

के अनुसार समन्वय और समभाव को ग्रहण कर लिया जायगा! इन सिद्धान्त लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ से, भारतीय संस्कृति में ओतप्रोत हैं। परमार्थ में समन्वय, व्यवहार में समभाव के समावेश से ही आदर्श लोकजीवन होगा। वेद से लेकर पुराण पर्यन्त अनेक प्रमाण हैं।

"संगच्छध्वं सम्वदध्वम्" मिलकर चलो, मिलकर बोलो।

"समाना हृदयानिवः" तुम्हारे हृदय एक समान हो।

"उपसर्पमातरम्भूमि" मातृ भूमि की सेवा कर।
"यतेमहि स्वराज्ये" स्वराज्य के लिये यत्न करे।

परन्तु समत्वय, समभाव, संस्कृति के संक्षिप्त सरल साधन के उपदेश जो श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में गीता गाता श्रीगोपाल कृष्ण भगवान् ने दिये हैं, वे अपूर्व हैं—

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥
तस्माद् योगाय युजस्व योग कर्मसु कौशलम्।

(गी० अ० २)

संस्कृति और लोक जीवन

[illegible] जाति भेद के कारण संस्कृति के विभिन्न रूप हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति के अनुसार [illegible] का रूप ही मानना उचित है। संस्कृति की एक आधार एवं परिभाषा, [illegible] संस्कृति क्या है यही समझना कठिन है। आजकल संस्कृति का प्रश्न [illegible] बहुत किया जा रहा है। होना भी चाहिए, किन्तु आज संस्कृति की जो [illegible], [illegible] प्रत्यालोचना हो रही है वह सोचनीय है। सभ्यता को [illegible] उचित है यह भी विचारणीय है।

[illegible] भारतीय संस्कृति में लोकजीवन की व्याप्ति है। संस्कृति और जीवन [illegible] परस्पर के पूरक हैं। भारतीय संस्कृति में शिक्षा का उच्चादर्श अद्भुत है, [illegible]।

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवति [illegible]।
जाया पत्ये [illegible] वाच वदतु शान्ति वाम्॥

[illegible] पत्नी [illegible] पति से मधुर वाणी [illegible]

[illegible] न [illegible] नो च विद्विषते मिथ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे [illegible] पुरुषेभ्य॥

[illegible]

— —

भारतीय लोक संस्कृति का आधार

श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी

हिन्दी के वयोवृद्ध लेखक और विचारक श्री वाजपेयीजी ने लोक संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाते हुए, इस लेख में लोक जीवन की व्याख्या अपने ढंग से की है। —संपादक

'लोक'' का तात्पर्य सर्वसाधारण जनता है। तथा दीनहीन दलित, शोषित, पतित, पीडित लोग और जंगली जातियां, कोल, भील, संथाल, गोंड, नाग, शक, हूण, किरात पुक्कस, यवन, खस इत्यादि सभी लोक-समुदाय मिल कर लोक संज्ञा को प्राप्त होता है।

इन सब की सम्मिलित संस्कृति भारतीय लोक संस्कृति है। यों तो देखने में इन सब का अलग अलग देश, काल और वर्तमान है। सब लोगों के रहन-सहन, पहनाव-ओढाव, वेषभूषा, शादी-व्याह, चाल व्यवहार, उत्सव, संस्कार, नृत्य गीत, कला कौशल के भिन्न भिन्न प्रकार—सब अलग अलग दिखाई देते हैं, पर 'सूत्रे मणिगणा इव',—एक ऐसा सूत्र है, जिसमें इन सब मणिगणों की एक ही माला पिरोई हुई है।

आप जंगलों में कोल भीलों के अन्दर जाकर देखिये राजा महाराजाओं के दरबार और भवनों में जाकर देखिये, किसी मध्यम श्रेणी के ग्रामीण अथवा नागरिक परिवार में रहकर विलास देखिये, रहन-सहन के भिन्न भिन्न प्रकारों के बीच में भी एक सूत्र सब का दिखाई देगा और वह है भारतीय अध्यात्मवाद। मनुष्य के प्रति मनुष्य का प्रेम। मैं उत्तर प्रदेश के जंगलों में कजड़ और कनफटों के बीच में बैठा, राजस्थान के उदयपुर राज्य के घने जंगलों में भीलों के बीच में जाकर बैठा, कई बड़ी बड़ी सरिताओं के किनारे जंगलों में बसे हुए केवटों, निषादों और मल्लाहों के परिवार में जाकर रहा। उनको मैंने जंगली दृष्टि अथवा किसी भी हेय दृष्टि से नहीं देखा। उनको और उनके बाल बच्चों के साथ प्रेम का और अपने घर का सा व्यवहार किया, वे मुझसे बिल्कुल घुल-मिल गए। उन्होंने कभी यह नहीं समझा कि मैं कोई दूसरा हूँ। मैंने अपने पास बंधा हुआ थोड़ा बहुत खाना उनको खिलाया, और उनके यहाँ बना हुआ, मद्य मांस को छोड़ कर, अन्न और कन्द मूल फल मैंने ग्रहण किया। मुझको घृणा नहीं थी। उनको भी घृणा नहीं थी। यह हमारे आध्यात्मवाद का फल है। बहुत प्राचीन काल में हमारे अवतार तथा महात्मा, राम, कृष्ण, अर्जुन, बुद्ध तथा इधर विवेकानन्द, रामतीर्थ और महात्मा गांधी अपने अध्यात्मवाद पर आधारित संस्कृति को ले कर विदेशों में जा कर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की है। जिसका प्रभाव विश्व में, किसी न किसी रूप में, आज हजारों वर्ष बाद भी मौजूद है।

वेद, शास्त्र, उपनिषद्, (आरण्यक) अठारह पुराण, महाभारत और रामायण इत्यादि काव्य जिनके आधार पर संस्कृत महाकवियो के अन्यान्य महाकाव्य तथा प्राकृत और हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू, कन्नड, उड़िया, मैथिल, गुरमुखी इत्यादि सैकड़ो सन्त-महात्माओ के लिखे हुए सन्त काव्य, लोक सस्कृति के वाड्मय शरीर है। उनके उपदेशो मे देशकाल और पात्र का कोई भेद नही है। नामदेव दरजी, रैदास भगत, गोरा कुम्हार, सदन कसाई, तुकाराम कुनबी, कबीर जुलाहा, नाभादास, रहीम खानखाना, रसखान, शेख रंगरेजिन, मुहम्मद बाबा, इन सब के उपदेश उसी सस्कृति को ले कर चले है, जो हमारे प्राचीन काव्य साहित्य की परम्परा है, और अध्यात्मवाद तथा विश्वप्रेम जिसमे ओतप्रोत है। इनके शिष्यो मे भी किसी प्रकार का जाति भेद, वर्णभेद अथवा धर्म भेद नही है। खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव, देशकाल कोई भी हो, सब एक ही सुर मे सुर मिलाते है—किसी से घृणा न करो, सब से प्रेम करो, किसी को छोटा या पतित न समझो। एक ही के सब पुत्र है। कोई देवता है, कोई राक्षस है। सब अपने अपने संस्कारो और कर्मो मे बंधे हुए है—पर अध्यात्म अर्थात् विश्वप्रेम मे सभी जीते जा सकते है।

हमारे ऋषियो-मुनियो, महाकवियो और सन्त कवियो ने जो अक्षय साहित्य भांडार अपने बाद हमारे लिए छोड़ रखा है उसके उपदेश की चर्चा भी लोक समाज और लोक संस्कृति की दृष्टि से विचारणीय है। उन्होने अपने साहित्य मे मनुष्यमात्र के लिए सम्बोधित किया है। [illegible] दार्शनिक व आध्यात्मिक सिद्धान्त [illegible] के समान जटिल विषय, को उपमा, [illegible] दृष्टान्त और [illegible] तथा [illegible] से ऐसा सजाया है जिससे एक [illegible] महाविद्वान् पंडित तक [illegible] ही प्रकार से रस ग्रहण [illegible]। [illegible] और [illegible] की बात नही है, जो कोमल मति के बाल-बुद्धि मनुष्यो का [illegible]। [illegible] पकवान है। [illegible] और खाया नही जाता है, पान [illegible] एक ही समान आनन्द ले सकते [illegible] साहित्य। [illegible] को ही आप [illegible], जितना गोचर है, [illegible] विश्वप्रेम के भाव प्रारम्भ से अन्त तक [illegible] अध्यात्मवाद ओतप्रोत भरा हुआ है। इसी तरह वेद [illegible] कहीं मिलेगा।

[illegible] और कुरआन है। उनका अक्सर प्रत्यावर्तन होता रहता है। [illegible], महात्मा [illegible] विश्व [illegible] विश्वप्रेम जो [illegible] अध्यात्मवाद के द्वारा, दुनिया [illegible] शान्ति [illegible], और [illegible] है।

लोक-संस्कृति की आत्मा

श्री कोमल सिंह सोलंकी

मध्यभारत के तरुण लेखक की भाषा शैली तरुण है, साथ ही विचारों में एक अंगड़ाई है। प्रस्तुत लेख में लोकजीवन की एक शाश्वत व्याख्या की गयी है। —संपादक

संस्कृति की महती काया का स्वरूप यद्यपि दृष्टिगोचर हो सकता है, तथापि शब्दों के आवरण में संस्कृति का विवेचन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। संस्कृति के स्थूल उपकरण, जिनमें चिरंतन-शक्ति का बीज छिपा हुआ है—हमारे आस-पास, निकट और दूर बिखरे हुए हैं। जो बातें नागरिक संस्कृति के सम्बन्ध में विचारणीय हैं, वे ही लोकजीवन में हमें मिल जाती हैं। किन्तु दोनों के रूप-विन्यास में पर्याप्त अन्तर हमें दिखाई पड़ता है। भारत के सर्वसाधारण जीवन में हमें यह बात अधिक स्पष्ट सरलता से मिल जाती है, जब कि संसार की अन्य संस्कृतियां उतनी अधिक विभिन्नता का पोषण नहीं करतीं।

संस्कृति की आत्मा के सम्बन्ध में जो तत्व सबसे महत्वपूर्ण एवं विचारणीय है वह है विगत का प्रभाव। लोक-कथाओं की ओर यदि हम ध्यान दें तो स्पष्ट ही ज्ञात हो सकता है कि लोकसंस्कृति का प्रमुखआधार यह विगत ही है, जिसकी वाणीगत अभिव्यक्ति आज भी लोक-गीतों और लोक कथाओं में बिखरी पड़ी है। आज भी देश के लोकजीवन की झांकी हमें 'बना और बनी" की लोक कविता और लोक कथाओं में मिलती है। राम और लक्ष्मण की परम्परा की स्मृति चक्की पर बैठकर गाने वाली महिलाओं के मुख से अभी भी सुनाई पड़ती है, आज भी बहिनें 'लक्ष्मण वीर' की आस लगा कर राखी की डोरी को सजाये विश्वास किए बैठी हैं। कोई भाई उनकी राखी स्वीकार कर ही लेगा। हम देखते हैं यही रूप हमें हमारे जीवन में उतरा हुआ दिखाई पड़ता है, यही हमारी संस्कृति है। आज भी हमारा आदर्श हमारा अतीत है, हमारा ही नहीं संसार के सब लोक साहित्यों का भी यही है। लोक-संस्कृति का पोषण इसी अतीत के आधार पर होना है और लोक निर्माण भी इसी पर। मानव समाज का यह अतीत हमें साहित्य में बिखरा हुआ मिलता है, हो सकता है वह साहित्य अतिरिक्त ही हो फिर भी, लोकसाहित्य ही लोकसंस्कृति की आत्मा है।

साहित्य की परिभाषाओं की विवेचना में न पड़ कर हम इसी बात को प्रमुख मान लें कि साहित्य लोकसंस्कृति की आत्मा है और लोक संस्कृति उसकी काया। दोनों एक दूसरे से इसी प्रकार अभिन्न भी हैं। यदि हम लोक साहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें लोक

सस्कृति को अपनी दृष्टि के सम्मुख रखना पडेगा और लोक सस्कृति, लोक साहित्य के रूप मे अपना परिचय अपने आप दे देगी। कितना अभेद सबध है।

हमारा साहित्य, जिस रूप मे हम उसे आज देखते है, उसके बीज इसी लोक जीवन, सस्कृति और लोक साहित्य मे पता नही कितने वर्षो से बिखरे हुए है, ठीक उसी प्रकार जैसे पानी और बूंदे। पजाबी लोक गीतो की एक ही पक्ति मे हमे सयोग-वियोग के चित्रो की अनुपम छटा देखते है—

अर्थात, इधर रेत से भरा मैदान है उधर भी रेत से भरा हुआ मैदान है और प्रिय मुझे इस रेती मे छोड गया है अर्थात् मेरी दशा ठीक वैसी ही है जैसी उस पथिक की होती है जो रेती से भरे मरुस्थल मे बिना पानी इत्यादि के छोड दिया जाता है।

देखो री! मेरा पागल कन्हैया मुझ राधा की कैसी अजीब हालत कर गया है, कि मैं न इधर ही रही न उधर की। मैं उस का प्रेम भी न सह सकी।

यही सयोग-वियोग आज विकसित सास्कृतिक श्रृखला के सुधर रूप मे ससार के महान् साहित्यकारो मे दिखाई पडता है, चाहे फिर वे हिन्दी के हो या बगला के। अग्रेजी के या किसी अन्य भाषा के।

जितना कि जिस देश का लोक साहित्य अधिक समृद्ध अधिक व्यापक और अधिक स्वाभाविक होगा, उसकी सस्कृति उतनी ही समृद्ध, प्रशान्त और स्थायी होगी। साहित्य साधारण मानव के मस्तिष्क पर जिस [illegible] और स्वाभाविक रूप से घुला मिला रहता है वही उसके [illegible] मे दृष्टिगोचर होता है। आज हमारे लोकजीवन मे नारी के विभिन्न रूपो के प्रति [illegible] भावना क्रियाशील है, वह हमारी सस्कृति की [illegible] का प्रतिरूप है। यही हमारा सास्कृतिक जीवन [illegible] जो स्वतत्र और सुखी है। कृत्रिमता के बोझ से दूर, स्वाभाविक रस स्रोत जीवन मे व्याप्त रहता है। [illegible] तात्पर्य यह नही है कि लोक मे किसी वैषम्य के लिए कोई [illegible] फिर भी [illegible] ने [illegible] समष्टि [illegible] सास्कृतिक बन्धनो को सहर्ष स्वीकार [illegible] हम [illegible] रहते है, [illegible] कि हम [illegible] की तान मे स्वर मिला कर [illegible] हम [illegible] ही [illegible] मे [illegible] आराम कुर्सी पर ही बैठे बैठे [illegible] किन्तु फिर भी लोक की यह सामहिक ध्वनि [illegible] सस्कृति को प्रदान करती है, वह किसी से भी छिपा हुआ नही है।

[illegible] सस्कृति के निर्माण [illegible] का भी उत्तरदायित्व वहन करना है [illegible] यद्यपि रुचि, [illegible] भावना मात्र के लिए लोक [illegible] फिर भी लोक साहित्य जिस तरह से लोगो मे घुल मिल जाता [illegible] दृष्टि [illegible] की [illegible] प्रवृत्ति के [illegible] व्यष्टि से अधिक समष्टि मे है। [illegible] इसके [illegible] की [illegible] है।

जिस प्रकार लोक साहित्य सास्कृतिक विकास मे योगदान देता है उसी प्रकार कुरुचि पूर्ण घृणित वासना युक्त गीतो की गूज भी सास्कृतिक शिलाओ को हिला देती है। इसका रूप विकृत करने की शक्ति भी जन समूह मे सुषुप्त हो उठती है, तब अवश्य ही हम चिंतित हो जाते है और सोचते है, 'लोगो के सोचने का दृष्टिकोण ही दूषित है'। आज सिनेमा ससार के भद्दे और कुरुचि पूर्ण गाने नगरो के निम्न स्तरी जनसमूह मे बहुधा सुनाई पड जाते है, तब हमे अवश्य ही ऐसा आभास होने लगता है। जिसकी आत्मा का पतन हो चुका है, वह अब किस प्रकार जन जीवन को सुखी और सम्पन्न बना सकता है ? हम इनसे यही निष्कर्ष निकाल सकते है, कि वास्तव मे लोक सस्कृति की आत्मा विगत की धूमिल रेखाओ के साथ, लोक की वाणी और विचारो, परम्परा और विश्वासो के बीच पनपती है। वही लोक साहित्य है जो जन जीवन के प्रत्येक रूप का प्रतिनिधित्व कर सकता है, जिसमे हमारे सुख–दुख उत्थान-पतन की अनन्य भाव-लहरिया घुलमिल चुकी है, जो सस्कृति से भिन्न अपना कोई अस्तित्व नही रखता और न सस्कृति का अस्तित्व साहित्य के बिना सम्भव है।

लोक सस्कृति के रूप यद्यपि देश-देशो मे भिन्न प्रकार के है फिर भी सब लोक साहित्य अपने सम्पर्क गत जीवन के चित्र है व्याख्या है चाहे हम उसे आत्मा कहे, चाहे हम उसे लोक सस्कृति मे स्थान दे या न दे।

लोक-संस्कृति की रक्षा

श्री कालिदास कपूर, एम० ए०

साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में नये सुझाव, नये विचार प्रस्तुत करने में यश प्राप्त श्री कालिदास जी लोकसंस्कृति की रक्षा के लिए यहाँ एक प्रगल्भ सुझाव प्रस्तुत करते हैं। —संपादक

राष्ट्रीय संस्कृति के रूप के विषय में मतभेद हो सकता है। उसका निरूपण अभी तक हो भी नहीं पाया है, परन्तु लोक संस्कृति का निरूपण संभव है। यह वह वस्तु है जो अलग व्यक्तित्व लिए गीतों, उक्तियों, कथाओं, ग्राम-नृत्य और ग्राम कला के रूप में हमें प्रत्येक अछूते जनपद में मिलती है। परन्तु रेल, तार, रेडियो, समाचारपत्र और शिक्षालयों के प्रसार से इस लोक संस्कृति का व्यक्तित्व क्षीण हो रहा है। उसकी जगह एक ऐसी संस्कृति ले रही है जिसका क्षेत्र लोक-संस्कृति से अधिक व्यापक होता है, परन्तु जिसका अभी तक निरूपण नहीं हो पाया है। यह भावी संस्कृति जिसका क्षेत्र राष्ट्रीय होता है जनता को स्पर्श तभी कर सकेगी जब उसका लोक संस्कृति से समन्वय हो, तब उसकी जड़ें [illegible] गांवों में निश्चित गहराई तक पहुंच [illegible]। यह समन्वय तभी संभव है जब इस भावी राष्ट्रीय संस्कृति के गर्भ काल में लोक-संस्कृति सुरक्षित रहे। गीतों, कहावतों और कथाओं की रक्षा उनके लेखनी बद्ध होने पर ही हो जाती है। ग्राम नृत्य और कला की रक्षा के लिये दोनों का जनपदीय शिक्षा क्रम में स्थान पाना आवश्यक है। [illegible] लोक संस्कृति की रक्षा की बात कई लेखकों द्वारा [illegible] पत्र-पत्रिकाओं, शिक्षालयों [illegible] परन्तु नृत्य और हस्त कला की [illegible] जा रहा है। इन पर आधुनिक [illegible] की रक्षा की मुझे [illegible] लोक संस्कृति की रक्षा की बात आती है तो नृत्य और [illegible] और हस्त कला के [illegible] आधुनिक कला के [illegible] से उनका विकास होता रहे।

[illegible] लेखनी [illegible] प्रदान करे।

लोक-संस्कृति की आत्मा

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

सस्कृति और उसकी आत्मा की परिभाषा को अनजाने विवाद-ग्रस्त-विषय बनाया जा रहा है। जितने लेखक उतनी ही परिभाषाये बनती है। श्री नर्मदेश्वर जी ने अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर इस लेख मे अपने दृष्टिकोण से लोक-सस्कृति की आत्मा पहचानने का यत्न किया है।
—सपादक

लोक-संस्कृति का स्वरूप

ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] मे दिव्य और पार्थिव इन दो अर्थो मे 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। वाजसनेयी सहिता मे समानार्थी प्रयोग मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थो ओर वृहदारण्यक मे भी यही प्रचलित रूप पाया जाता है। 'लोक' का एक विशिष्ट अर्थ वेद-विरोधी भी है। ऐसा प्रतीत होता है, कि उसी समय से 'लोक' और 'वेद' कहने की परम्परा चल पडी होगी। लोक सग्रही महात्मा तुलसीदास जी इस भेद से सुपरिचित थे[3]। किसी समय इस का अभिप्राय सामान्य जीवन से भी समझा गया था। अशोक के शिलालेखो[4] मे भी इसके प्रयोग प्राप्त है।

प्राय 'जन' शब्द भी 'लोक' शब्द का सामानार्थी माना जाता है। परन्तु इस शब्द का एक ही अर्थ बहुत पहले से चला आ रहा है, लोक की भाँति अनेकार्थी नही रहा है। पृथिवी सूक्त[5] मे 'जन' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे मिलता है। इसके अनुसार विभिन्नताओ के रहते हुए भी धरती के सभी लाल एक है। पृथिवी सूक्त[6] मे जन का धरती पर समान अधिकार स्वीकार किया गया है। उक्त सूक्त ग्रन्थ का[7] 'जन' शब्द भी मानव एकता का सूचक है। जानपद शब्द से भी 'जन' शब्द के व्यापक अर्थ की ध्वनि निकलती है। अशोक के शिलालेख मे जान पद पदसा च जनमा, का प्रयोग पाया जाता है। हिन्दी के भक्ति साहित्य मे 'जन' शब्द का एक प्रयोग सेवक अर्थ मे मिलता है। इसके अतिरिक्त 'परिजन' और 'पुरजन' जैसे

---

१ (ऋग्वेद १०।१४।९)   २. (अथर्ववेद ८।९।१ एवं ११।५।७ और ४।३८।५)

३ सो जानब सतसग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥

४ अनुवतरं सर्व लोक हिताय और नास्तेहिकम्मतर सर्व लोक हितप्पा

५ जनं विभ्रती वहुधाविवाचस   ६. पृथ्वी सूक्त ४५   ७. पृथ्वी सूक्त १५

शब्दो मे भी व्यापक अर्थ नही रह जाता। आज कल 'जन' शब्द एक विशेष वर्ग के लिये प्रयुक्त होने लगा है, अतएव अब वह लोक शब्द का पर्याय नही है।

'सस्कृति' शब्द अपने वर्तमान अर्थ मे बहुत पुराना नही जान पड़ता। प्रस्तुत अर्थ मे प्रयुक्त बगला शब्द 'कृष्टि' और 'कल्चर' शब्द से 'कल्टीवेशन' का कोई लगाव होना चाहिए। इस प्रकार लोक-सस्कृति कर्म-निष्ठ प्रतीत होती है, इस मे श्रम-साधना का सर्वोच्च स्थान है। इसीलिए इसकी सराहना व्यासजी ने इन्द्र द्वारा करायी है—

> अहो सिद्धार्थता तेषा, येषा सन्तीहपाणयः।
> अतीव स्पृहये तेषा येषा सन्तीह पाणय ॥
> पाणिमद्भ भय. स्पृहास्माकं यथा तवधनरयवै।
> न प्राणिलाभाधिको लाभ कश्चन विद्यते।

(महाभारत शान्ति पर्व १८०। १२-१२)

सभ्यता के विकास के साथ-साथ लौकिक उत्पादन के क्षेत्रो और साधनो की भाँति मान्यताएँ और स्थापनाएँ भी विकसित होती गई। विविध कारणो से अपने आचार-विचार और व्यवहार मे नये-नये तत्त्व प्रवेश पाते रहे। नई-नई दृष्टियो का समावेश होता रहा। इस वृद्धि मे विस्तार के साथ कही-कही सकोच भी दिखायी पड़ता है।

सस्कृति आत्मिक सबध रखती है, और सभ्यता का सबध बाह्याचार से है। विकास और परिवर्तन के साथ ही सभ्यता मे भी विकास और परिवर्तन हुआ करते है। सस्कृति मे आकस्मिक परिवर्तन की कोई गुजाइश नही, फिर भी सस्कृति और सभ्यता दोनो का आधार समाज ही है।

सभ्यता ने नगरो को जन्म दिया और लोक-जीवन क्रमश ग्राम और नगर दो भागो मे विभक्त हो गया। यह भेद आगे चलकर इतना स्पष्ट हो गया कि नगरो से सर्वसाधारण का सीधा सबध [illegible] गावो मे ही सिमट गया। नगरो मे लोक सस्कृति का स्थान कृत्रिमता ने [illegible] लिया, परन्तु इन के नागरिक [illegible] विकृत हो गए।

ग्राम-जीवन अब [illegible]-जीवन का पर्याय बन गया। गावो मे स्थित लोक-सस्कृति को [illegible] या हलचल अस्थिर या विकृत न बना सकी। इसलिए सास्कृतिक [illegible] लिए नगरो मे [illegible] कर गावो की ओर कदम बढाना चाहिए।

लोक-सस्कृति की आत्मा

लोक-सस्कृति [illegible]शील लोक-सस्कार पर आश्रित है और सस्कार परम्परागत होकर [illegible] नही है। वह व्यक्तिगत सस्कार से किचित् भिन्न है जो व्यक्ति की भाति जन्म [illegible] विकसित होता रहता है। वह गतिशील, वृद्धिशील और प्रसार-प्रवण है। [illegible] भावना प्राण। परन्तु वह आनन्द व्यक्ति-मानस का न होकर [illegible] भावना व्यक्ति के लिए ही न होकर लोक के लिए होती है।

लोक-कला, साहित्य और सगीत के माध्यम से सस्कृति का जो रूप हमारे सामने आता है उसमे व्यक्ति कही नही दिखाई देता, न तो सरक्षक रूप मे, न स्रष्टा। यह विशेषता समाजगत इकाई का द्योतक है। लोक-साहित्य, सगीत तथा अन्य कलाओ द्वारा अभिव्यक्त दु ख-सुख,हास-रुदन तथा शोक-आह्लाद सभी लोक-मानस की कहानी कहते है और स्वभावतया श्रोता, दर्शक अथवा पाठक से तादात्म्य भाव स्थापित कर लेते है। ठीक यही बाते शिष्ट साहित्य, सगीत और विविध कलाओ पर लागू नही होती। इन पर शास्त्रीय मान और विचारगत मान्यता के आग्रह की छाप स्पष्ट है। यही नही, लोक-सस्कृति कभी भी शिष्ट समाज का आश्रित नही रही है उल्टे शिष्ट समाज लोक-सस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। लोक-सस्कृति का एक रूप हमे भावाभिव्यक्तियो की शैली मे भी मिलता है जिसके द्वारा लोक-मानस की मागलिक भावना से ओत-प्रोत होना सिद्ध होता है। वह 'दीपक के बुझने' की कल्पना से सिहर उठता है। इसलिए 'वह दीपक बुझाने' की बात नही करता 'दीपक बढाने' को कहता है। इसी प्रकार वह 'दूकान बन्द होने' की कल्पना से सहम जाता है। इसलिए वह 'दूकान बन्द करने' की बात नही कहता 'दूकान बढाने' की बात करता है। इस प्रकार के कई उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है।

इसी प्रकार आचार-क्षेत्र मे भी हम लोक-जीवन का सम्बन्ध शास्त्रीय कर्मकाण्ड से अधिक लोकाचार से पाते है। लोकाचार स्फीतशील है और उसके रन्ध्र उन्मुक्त रहते है। इसी कारण उसमे नई चेतना, नए जीवन और नवीन स्फूर्ति का सचरण निरन्तर हुआ करता है। उसका कोश 'थैलियो' की सीमा मे आबद्ध नही रहता। राजनीतिक प्रभावो, साम्प्रदायिक विभेदो, जातीय परम्पराओ, मेलो और लोकोत्सवो, की विभिन्नता के बीच भी वह सामाजिक सामजस्य स्थापित करने मे सन्नद्ध रहता है। उसकी शक्ति असीम है। विकासशील लोक-प्रभाव ने ही बौद्ध धर्म को हीनयान से पृथक् महायान स्थापित करने की प्रेरणा प्रदान की थी। उसके लिए जाति, धर्म, सम्प्रदाय जैसे विभाजन महत्त्वहीन है। केवल आर्थिक आधार ही ऐसा प्रबल है जहाँ वह अपने को कुछ शिथिल पाता है। इसका स्पष्ट कारण भी है। जब तक लोक-जीवन का आर्थिक ढाँचा लोकहित पर आधारित नही होता, तब तक न तो गाँवो और नगरो के बीच की खाई पटेगी, न समाज की एकता स्थापित होगी। ऐसी स्थिति उत्पन्न हुए बिना लोक-सस्कृति का वास्तविक स्वरूप हृदयगम करना क्लिष्ट कल्पना मात्र समझा जायेगा जिसकी आत्मा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ध्वनि मे मुखरित है।

मालव-संस्कृति की वैदिक और पौराणिक पुरातन-परम्परा

ज्योतिषाचार्य श्री सूर्यनारायण व्यास

विज्ञान और साहित्य, मस्तिष्क और हृदय के सम्यक समन्वय के प्रतीक, अपनी ओजस्वी एवं प्राचीन पांडित्य पूर्ण कुल-परम्परा को आधुनिक ज्ञान-राशि से सम्पृक्त करने वाले, श्रेष्ठ लेखक एवं पत्रकार, 'विक्रम' संपादक भाई सूर्यनारायण जी ने अपने लेख में मालव संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं का एक सिंहावलोकन प्रस्तुत किया है।
—संपादक

वीतिहोत्रा ह्यवन्तयः इस वाक्य में 'वीतिहोत्र' (वीतहव्य) को अवंतिवासी कहा गया है। यह महत्वपूर्ण और विचारणीय विषय है। इसमें मालवों की महत्वपूर्ण समस्या पर प्रकाश मिल सकता है।

पौराणिक-इतिवृत्त में वीतहव्य राजकुमारों को सामान्यतः हैहय कहा गया है। जिस [illegible] में [illegible] वर्णन आया है, उसे हैहयों का संघर्ष सूचित किया गया है। इन्हीं राजकुमारों को [illegible] में वीतहव्य-वंशीय [illegible] भी इनके राजा या नेता को 'मल्व' कहा गया है।

[illegible] में ब्रह्मा के अग्रज पुत्रों में अंगिरस और भृगुओं की मुख्य रूप से गणना की [illegible] (सायण की ऋग्वेद की भूमिका देखिये) भृगु और अंगिरा सहोदर थे, अथर्ववेद [illegible] है। अतएव स्वाभाविक है कि अथर्व में अंगिराओं के साथ भार्गवों के इतिवृत्त की [illegible] पुरातन चर्चा विद्यमान हो। इस सम्बन्ध में अथर्व के ५ वें सूक्त का चतुर्थ अनुवाक् [illegible] मंत्रों में अंगिरा वंशीय बृहस्पति और शेष ८ सूक्तों में भार्गवों [illegible] वीतहव्यों के साथ हुआ था। ये वीतहव्य और उनके वंशज वास के [illegible] महाभारत में भी होता है (अनु० अ० ३०) (अथर्व [illegible] है। भृगु की गौ और सहस्रार्जुन हैहय के संघर्ष की गाथा [illegible] रामायण में आई है। ब्रह्माण्डपुराण में तो इस संघर्ष का ३० [illegible] है। इन पौराणिक वर्णनों को इतिहास की कसौटी पर [illegible] बातों का पता लगता है, जो इतिहास-संगत

ज्ञात होती है। मल्वो की शक्ति और व्यापक प्रभाव भार्गवो के लिए असह्य हो गया था। यह इन वर्णनो मे स्पष्ट प्रतीत होता है। फलत यह सघर्ष बहुत समय तक चलता रहा, और उसका अत एक महान् साम्राज्य के अत के साथ हो गया। यह स्पष्ट है कि हैहयो का वर्चस्वपूर्ण स्थान मालव की माहिष्मती ही रहा है। आज का इतिहासज्ञ इसे सहज ७० हजार वर्ष पूर्व की सभ्यता का स्थल स्वीकार करता है। ऐसी अवस्था मे हैहय, और वीतिहोत्रो का वैदिक काल मे वर्णन हो यह अस्वाभाविक नही। पुराणो मे तो वैदिक विषयो का विस्तृत विवरण ही रूपक-युक्त हुआ है।

पुराणो मे कहा गया है, कि महाराज शर्याति के वश मे वीतहव्य एक नरेश था, हैहय उसी वीतहव्य का पुत्र था, इसी हैहय के नाम से वीतहव्यो का वश प्रसिद्ध हो गया। हैहयो मे कृतवीर्य और उसका पुत्र कार्तवीर्य-अर्जुन विशेष प्रसिद्ध हुआ है। कार्तवीर्य प्रसिद्ध वीर और सेना-निपुण था, उसकी देश भर मे जबर्दस्त धाक थी, आतक था। केवल उसके नाम के भय से ही गत–नष्ट वस्तु सहज प्राप्त हो जाती थी। आगे चलकर यह परम्परा ही पड गई, नष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए कार्तवीर्य का नाम एक स्वय मत्र-शक्ति के रूप मे स्वीकृत हो गया।

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहु सहस्रवान्
तस्य स्मरण मात्रेण गत-नष्टं च लभ्यते।

इन्ही हैहयो मे भार्गवो की 'गौ' (भूमि)[2] छीन लेने के कारण झगडा हुआ है, इसमे भृगु मारा गया था, और ये हैहय राजा 'मल्व' ही थे। इसी जाति का दूसरा नाम वैतहव्य था, क्योकि वैतहव्य-वश मे होने के कारण यह नाम पडा था, हैहय-उसी का अनु-वश है। इन्ही वीतिहव्यो को पुराणो मे 'वीतिहोत्रा ह्यवन्तय' कहा है। इससे स्पष्ट है कि ये मल्व—अर्थात् मालव विशेष रूप से अवती के रहे है। मल्व शब्द के इस स्पष्ट निर्देश मे मालव का ही बोध होता है और ये मल्व-मालव वैदिक युग से लेकर पौराणिक कालपर्यन्त देशव्यापी प्रभाव रखते थे। और यह भ्रम नही रह जाता कि वे कही बाहर से आकर मालवे म बसे थे या पजाब, राजस्थान से आये थे। क्योकि वीतिहोत्र, हैहय का सम्बन्ध माहिष्मती और अवति से ही चला आता है। उसी समय मे इन्हे 'मल्व' कहा गया है।

'मल्व' शब्द मालव-विकास के इतिहास मे स्वतत्र महत्व लिये हुए है। इस शब्द पर विचार करने के प्रथम हमे मर, माल, मार, माद्र और प्रमार शब्दो पर भी विचार करना होगा।

---

[1]भारत, वन, २२१-७ में माहिष्मती को आगिरस की पुत्री कहा गया है।

[2]अथर्ववेदोक्त 'गौ' को भूमि न समझ कर पशुवाचक समझ कर भूल की गई है, गौ-शब्द, लोक और वेद में भूमि के लिए ही प्रयुक्त है, कालिदास ने जहा 'दुदोह गा स यज्ञाय, या,गामान्त-साराररघुरप्यवेक्ष्य, आदि का मल्लिनाथ ने स्पष्ट अर्थ किया है—स राजा यज्ञाय गा भूमि दुदोह, तथा 'रघुरपि गा भूमिमात्तसारा-गृहीत धन' आदि।

मल्व शब्द प्राकृत-मालव-शब्द का वैदिक रूप होना चाहिए, जैसे व्रन्ह का वैदिक रूप 'व्रल' है। राजस्थान में 'ड' का उच्चारण उसी प्रकार होता है जिस तरह महाराष्ट्र में ड–एवं ळ का। ड–और ळ का मध्यवर्ती मालव, माडव, रहा होगा। पंजाब में मारवाड को भी मालवा कहा जाता है। मालव-वाटक का विकार (वाटक-वाट-वाद अथवा वाड), मारवाड या मालवाड का मूल रूप संभवत: मल्व वाट, माळव-वाट, माळव वाट, रहा होगा। मारवाड भी मालवों की तरह मारवों का प्राचीन उपनिवेश रहा है। मालव, माडव, और मारव तीनों केवल र, ळ, ड के साम्य के कारण अभिन्न दिखाई देते हैं, 'मरू' शब्द ने ही मार, या मारवाड को उत्पन्न किया है। माल भी इसी तरह एकरूपता रखता है। किंतु दोनों के अर्थ में अन्तर अवश्य है। मार––मरुभूमि का प्रदेश, और माळ-पर्वतीय, अथवा उच्चभूतल का देश, मरु शब्द पर्वत एवं वालुकामय भाग का सूचक है। यहाँ आप्टे की संस्कृत डिक्शनरी देखें। इसलिए विभिन्नार्थ रखते हुए भी स्वतन्त्र एक-एक अर्थ में समानता भी रह गई है। पंजाब में जिन्हें माल या माड कहा गया है, वे मालव हैं।

ये मार, और माड नाम से कहे गए लोग मालव हैं, उच्चसानु और राजपूताना के मरु प्रदेश में समान रूप से प्रविष्ट थे, इसलिए, मार, माळ, माड नाम से ज्ञापित होने पर भी अभिन्नता लिये रहे। वैदिक 'मरव' में और इनमें अन्तर नहीं रहा। कोष ग्रंथों में माल को मालवा का ही पर्यायवाची माना गया है। यादव कोशकार ने 'माल'––मालव देशेच वसते भूमि रूर्ध्वका' कहा है। इसी तरह मेघदूत में 'क्षेत्र मालह्य मालम्' में 'उन्नत-भूतल', (मालमुन्नत भूतलम्) में भी प्रदेश को ज्ञापित किया है। फलत: माल और मार का साधारण रूप––से साम्य रहते हुए भी–– मार-मारवाड का जहाँ द्योतक है, वहाँ माल-माळव का पर्यायवाची हो गया है। फिर भी दोनों का मूल एक ही है।

जिस प्रजा ने मालव नाम स्थायी रूप से इस प्रदेश को दिया, उन्हें ही वेद में 'मल्व' कहा गया है। अवश्य ही उणादि कोष की व्याख्या में मरु के लिए यह लिखा है कि––'म्रियन्ते भूतान्य-[illegible] [illegible] इति।

मार शब्द के साथ ही सहसा यह स्मरण हो आता है कि––प्रमार, परमार, परमाल, [illegible] जातियों के मालव से क्षेत्र और उनके समय के सम्बन्ध में यह स्पष्ट [illegible] कि [illegible] जाति का प्रतिनिधित्व करने वाला यही वह [illegible] प्रमार [illegible] नामों में अब तक अभिहित है। जिस आबू [illegible] वसिष्ठ की [illegible] (भूमि का) अपहरण हुआ [illegible] वसिष्ठ की सहायता की थी। संभव है [illegible] कहा गया हो। मार और माल नामान्त [illegible] विस्तार की भी सूचना मिलती है। [illegible] इस प्रदेश [illegible] व्यापक

प्रभाव की सूचना मिलती है। परमारों की दो शाखाएँ स्पष्ट हैं, एक आबू की और दूसरे मालव की। दोनों ने मिल कर देश के बहुत बड़े भाग को अधिकृत कर लिया था सम्भवत यही कारण है कि महाभारत मे उत्तर मालव, पूर्व, पश्चिमी-मालव आदि नामों मे ज्ञापित किया है। स्पष्ट है कि ये गण राज्य ही थे। अनेक स्थानों पर गण रूप मे ही इनका उल्लेख किया गया है। यूनानियों के यात्रा-विवरणों मे भी इनकी गण-शाखाओं का उल्लेख है।

अंधकारयुगीन भारत मे डॉ० स्व० जायसवाल जी ने इन्हें नागों की एक शाखा के रूप मे अंकित किया है। उनका कथन है—दशाश्वमेध करने वाले नाग-सम्राटों ने उन प्रजातन्त्रों का रक्षण-वर्धन किया जो समस्त पूर्वी-पश्चिमी मालव मे और सम्भवत गुजरात, आभीर और समस्त राजपूताने, यौधेय, और मालव, कदाचित् पूर्वी पंजाब के एक अंग-मद्र मे फैले हुए थे वाका-टकों के समय मे एक समुद्रगुप्त ने रंगमंच पर प्रवेश किया तब ये सब प्रजातन्त्र अवश्य ही स्वतंत्र थे। जान पड़ता है कि मालव प्रजातंत्रों की स्थापना ऐसे लोगों, और वर्गों ने की है, जो नागों के सगे सम्बन्धी थे। विदिशा के आस-पास के निवासी बहुत आरंभिक काल मे नागों के उपासक थे। मालवों ने जयपुर के पास कर्कोटक नगर स्थान मे अपनी राजधानी बनायी। यह नाम कर्कोटक नाग के नाम पर रखा गया। यह ध्यान मे रखने योग्य महत्व की बात है कि नागराजों और प्रजातंत्री मालवों की सभ्यता एक ही थी। सम्भवत ये एक ही जाति के थे। राजशेखर के अनुसार टक्कु लोग और मरु के निवासी अपभ्रंश के मुहावरों का ही प्रयोग करते थे। पद्मावती (पवाया) के गणपति नाग का परिवार टाल वंशी था। इससे पता चलता है कि मालव और नाग लोग एक ही बोली बोलते थे। (अंधकार युगीन भारत—६४३ पृ० ११४-५)

इससे यह स्पष्ट है कि नागों और मालवों का सम्बन्ध अति-पुरातन काल से चला आया है, जब कि वे 'मल्व' कहे जाते थे। अर्बुद (आबू) नागों का एक प्रधान उपनिवेश था, नागों को देव-कोटि की उपजाति (स्कंद पुराण का अर्बुदमाहात्म्य) माना गया है। इन्हीं नागों को मरुओं ने आत्मसात् बना लिया था। मत्स्य पुराण मे स्पष्ट लिखा है—

एष नाग मनुष्येषु माहिष्मत्या महा द्युति
कर्कोटक सुत जित्वा पुर्या तत्र न्यवेशयत्।

तथा:—

सहिनाग सहस्रेण माहिष्मत्या नराधिप
कर्कोटक सभां जित्वा पुरी तत्र न्यवेशयत्।

ब्रह्माण्डपुराण ३ अ० ६९

और जगह भी ऐसे ही उल्लेख है, जिनमे कार्तवीर्यार्जुन ने कर्कोटक नाग को उत्तर मे (आबू तथा जयपुर पर्यन्त के भाग मे) तथा पातालस्थ नागों को दक्षिण मे जो कोंकण मे रहते थे परास्त किया था, इससे माहिष्मती के व्यापक प्रभाव का पता चलता है। इन मालव नागों के

साथ के दीर्घकालीन सम्बन्ध-वर्चस्व के कारण इनकी भाषा, तथा संस्कृति का प्रभाव उस प्रदेश में इतना स्वाभाविक ज्ञात होता है। यही कारण है कि मालव की भाषा का विभिन्न भारतीय भागों में जो स्वरूप दिखाई देता है, वह मल्व-मालव नागों, हहयों वीतहव्यों के व्यापक प्रभाव, वर्चस्व और दीर्घकालीन सम्बन्ध के फलस्वरूप ही है।

कुछ लोगों ने मल्व या मालवों के नामों और मुद्राओं से शंकित हो कर उन्हें विदेशी तक समझने का भ्रम किया है। वस्तुतः ये मालव, हैहय, प्रमार, परमाल आदि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध देश-काल भेद से नामान्तर ग्रहण करते हुए भी मल्व-वतहव्य सूर्यवंशी थे, श्रीराम के नन्दसा के स्तम्भ लेख में मालवेन्द्रको—'ईक्ष्वाकु प्रथित-राजर्षि वंशे मालववंशे' लिखा गया है। उसी वंश के प्रवर्तक शर्यातिको पुराणों में स्पष्ट ही वैवस्वत-मनु का पुत्र माना गया है। (भागवत स्क० ९, अ० ७)' कुछ पुराणों में हैहयों को यादव-वंश' का भी कहा गया है। यह विवेचन की आवश्यकता रखता है।

' मनोर्महात्मनस्तात प्रजाधर्मेण शासत
बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्याति रिति विश्रुत ॥६॥
तस्यान्वये द्वौराजन्! राजानौ सम्बभूवतु
हैहयस्तालजंघश्च वत्सस्य जयताम्वर.॥७॥

भगवद्गीता में—'वीतिहोत्रो धनजय' कहा गया है। इससे प्रकट होता है ये वीतिहोत्र वंशी धनंजय-यादव थे। इसी तरह सहस्रार्जुन या कार्तवीर्यार्जुन ये अर्जुनान्त नाम भी यादव की सूचना देते हैं।

इसी प्रकार यदु पुत्र सोम वंशी सहस्रार्जुन वंश के हैहय कुलोत्पन्न सोहंजी राजा का पुत्र माहिष्मान् कहा गया है। —

वीतहव्य को सूर्यवंशी शर्याति का पुत्र कहा गया है और उसकी १० स्त्रियों से जो १०० पुत्र हुए थे, उनमें यह प्रमुख था। स्वयं वीतहव्य को भी १०० पुत्र थे। इस वीत हव्य ने काशी राज सादेव उपनामधारी दिवोदास को त्रास दे कर शासन से उतार दिया था, और वहीं निवास कर लिया था। कुछ समय के बाद दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने काशी आ कर युद्ध में इनका वीत हव्य के १०० पुत्रों का संहार कर दिया। वीत हव्य पर भी वार करना चाहा पर वह भाग गया। भार्गव के आश्रम में छुप कर रक्षा की, पर ऋषि ने यह कह कर कि यहां कोई क्षत्रिय नहीं है, सभी ब्राह्मण है, उसकी रक्षा की। (अनु० ८ अ० ५३-५८) प्रतर्दन के लौट जाने बाद वीत हव्य को बाद में ब्रह्मर्षि पद प्राप्त हुआ, इसी अवस्था में उसे गृत्समद नाम से पुत्र हुआ। गृत्समद का सुचेता सुचेता को वर्चा, और उसे विहव्य, विहव्य का वितव्य, उसे, सत्य, सत्य का सन्त उसे श्रवा, श्रवा का तम, तम से प्रकाश, इस तरह क्रमश वागीन्, प्रमति, रुरु, शनक, शौनक आदि संतान हुए जो भृगुगोत्र से प्रख्यात हुए। (आ० अनु० अ० ८)

वीतिहोत्र-नाम भी दो हो गये है। एक प्रियव्रत के १० पुत्रों में से नवम जिसे पुष्कर द्वीप का नाम कहा गया है। दूसरा सूर्य वंशी निरष्यन्त के कुल से उत्पन्न इन्द्रसेन राजा का पुत्र इसका पुत्र [illegible] था। इसी प्रकार नामसा सामवर्मा आशुपुत्र-क्षत्रवृद्ध काश्य नाम के पौत्र के कुल से उत्पन्न [illegible] राजा। [illegible] सन्तान जिसका सन्तान भर्ग था। और चौथा—सोम वंशी सहस्रार्जुन के प्रपौत्र [illegible] के पुत्र [illegible] का पुत्र और तालजंघ राजा से उत्पन्न शत सतान में सब से ज्येष्ठ।

परन्तु इस चर्चा मे यह तो बहुत स्पष्ट हो जाता है कि मालवो का अस्तित्व बहुत ही पुरातन काल मे है, और वे इस मालव प्रदेश के ही है, ठेठ वैदिक और पौराणिक काल मे इनके शौर्य, सघर्ष, प्रजातान्त्रिक-रूप का प्रमाण प्राप्त होता है। अतएव यह अग्रेजी इतिहासकारो का भ्रम फैलाया हुआ सारहीन प्रमाणहीन एव निरर्थक है कि मालव लोग कही बाहर मे यहा आकर बसे-रहे थे, वैदिक और महाभारत के विविध उल्लेखो-प्रमाणो मे यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि वे मालवे ही मालव-शासन करनेवाले गण थे। वेद मे भृगुओ को अथर्वा की साक्षात् निधि माना है ।और इन्ही भार्गवो और वैतहव्यो का सघर्ष उसमे अनेक सूक्तो मे बतलाया गया है, यह प्रमाणित करताहै कि उस काल के मालव-मत्स्य-वैतहव्य अत्यन्त शौर्यशाली थे,और ये देश के विभिन्न भागो पर वर्चस्व स्थापित कर प्रभावशाली बने हुए थे, ये वीतिहव्य, तालजघ, हैहय माहिष्मती मे ले कर मालवी भाग के ही थे, इसमे सन्देह का अवसर नही । जब ठेठ वैदिक महाभारत, पुराण काल के क्रमबद्ध वर्णन को हम देखते है, तब किसी प्रकार भी हमारे सदेह का कोई अवसर नही रह जाता कि मालवो की पुरातनता कितनी प्रामाणिक है, ओर इसी प्रदेश से सम्बन्धित रखने वाली परम्परा है, वैदिक काल को यदि हम आधुनिक खोज के अनुसार ५ हजार वर्ष पूर्व का ही मानते है तो मालवो का मालव मे अस्तित्व सहज ५ हजार वर्ष प्रमाणित हो जाता है ।

महाभारत काल तक जो वैदिक-काल या ब्राह्मदिन का लगभग अन्तिम समय है। मालव भारतवर्ष के अनेक विभिन्न भागो मे फैल चुके थे, उनके जनपद उत्तर, पूर्व, ओर पश्चिम मे अनेक थे, ११ वी शती तक राजशेखर ने मालव के जनपदो मे अनेक स्थानो के नाम गिनाए है जिनमे भृगु कच्छ, आबू आदि का भी समावेश हो जाता है । अश्वपति कैकय के समय मे भी मालवो की व्यापक सत्ता थी । द्युमत्सेन की पुत्र वधू सावित्री की माता मालवी थी, उसके शत सतान मालव ही कहलाए है। अश्वत्थामा-हाथी मालवेन्द्र का था, जिसने महाभारत मे सदेह प्रसारित कर दिया था। पौराणिक वर्णनो--हैहय तालजघ, वीतिहोत्र जो कि स्पष्ट ही मालव है, मे जब वैदिक वर्णन की सरलता से सगति जुड जाती है तब मालव-जनो की पुरातनता, ओर इसी प्रदेश के कहने मे सदेह का कोई अवसर नही रह जाता।

जिन पश्चिमी और इस देश के पश्चिमानुकरणशील-विद्वानो ने मालव गणो की मुद्रा मे, उनके विचित्र नामो मे विदेशी कहने का साहस किया है, वे सब मुद्राए तीसरी-चौथी शती की है । क्योकि शीथियन्, पार्थियन् आदि का उन्नत-काल उक्त शती के पश्चात् का है । ओर मालव गणो का ऊर्जित-काल वैदिक काल मे महाभारत काल होने के कारण बहुत पुरातन हो जाता है । आज भी मालवी-भाषा का जो प्रभाव सिधु देश की भाषा नेपाली, पर्वतीय प्रदेश की भाषा पर्यंत विद्यमान है वह उन्ही मालव गणो की पुरातन प्रभाव परम्परा का प्रमाण है, जिन्होने इस देश के विभिन्न भागो पर वर्चस्व स्थापित कर अपनी सभ्यता-सस्कृति की छाप छोडी है ।*

***इस सम्बन्ध में हमारा प्रथम-निबन्ध विक्रम (आश्विन २००९) में देखिए ।**

कम्पनीकालीन हिन्दी प्रदेश का धार्मिक जीवन

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०

प्रयाग विश्वविद्यालय के व्याख्याता डा० वार्ष्णेय अपनी सन्तुलित प्रतिभा और आलोचना शैली के लिए ख्यात हैं। आपने इस लेख में कम्पनीकालीन हिन्दी प्रदेश के धार्मिक जीवन पर गवेषणा-प्रधान दृष्टिकोण उपस्थित किया है। —सपादक

ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन-काल सन् १७५७ से १८५७ तक माना जाता है। इस सौ वर्ष के लम्बे काल में देश अपनी स्वतंत्रता खोकर पूर्ण रूप से पराधीन हो गया था। परतंत्र होने के अनेक कारण थे। उनमें से एक कारण था उस समय के धार्मिक जीवन की गतिविधि—विशेषत उस समय जब कि हमारे देश के धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच विभाजन-रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। तत्कालीन धार्मिक जीवन के अध्ययन से न केवल तत्कालीन सम्प्रदायों और धार्मिक विश्वासों का ही परिचय प्राप्त होगा, वरन् उस समय की विचार-परम्परा पर भी प्रकाश पड़ेगा, क्योंकि किसी भी समाज के धार्मिक जीवन और उसकी विचार-परम्परा तथा जीवनादर्शों में घनिष्ठ संबंध होता है।

आलोच्य-काल के हिन्दू अपना धर्म वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, रामायण-महाभारत, महाकाव्यों और पुराणों से निकला हुआ मानते थे और जिसने त्रिमूर्ति, सर्वेश्वरवाद, ब्राह्मणों की [illegible] विस्तृत पौराणिक पक्ष और क्रमशः बहुदेववाद, बलिदान आदि को जन्म दिया था।

इतना ही नहीं समाज में और भी अनेक ऐसे धर्माचार प्रचलित थे जो कभी भी एक गतिशील और सजीव एवं सप्राण समाज के लिए वांछनीय नहीं समझे जा सकते। [illegible] किसी रौद्र रूप देवी-देवता पर बकरों और भैंसों की ही बलि नहीं चढ़ाई जाती थी [illegible] ऐसे [illegible] अवसर आते थे जब कि किसी मनुष्य की बलि ही [illegible] जाती थी। इसके अतिरिक्त समाज में आम और चमेली या शालग्राम और [illegible] विवाह, [illegible] पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से समाधियों और मकबरों की [illegible] समाज के [illegible] में विश्वास [illegible] से आस्था

बरगद, पीपल और तुलसी की पूजा, यूरोपीय सरकार को महादेव का विशाल रूप समझना, कंधों पर लाद कर दूर-दूर तक गंगा-जल ले जाना, सांडों को पवित्र कर सड़कों पर छोड़ देना, किसी भी भयभीत करने वाली, यहां तक कि पत्थर तक, की पूजा करना, फकीरों और दरवेशों में अंध-विश्वास आदि बातें आलोच्यकालीन हिन्दू समाज के धार्मिक जीवन में प्रधानता धारण किये हुए थीं। यहाँ तक कि महामारियों को भी देवी-देवता के रूप में पूजा जाता था। वास्तव में समाज प्रत्येक 'धार्मिक' कृत्य और रीति-रस्म की दैवी उत्पत्ति में विश्वास रखता था। उसे केवल सृष्टि, बहुदेववाद, सर्वदेववाद, त्रिमूर्ति, कर्म, आवागमन, पुनर्जन्म आदि के दैवी होने में ही विश्वास नहीं था, वरन् वह समझता था कि विविध धार्मिक प्रतीक, व्रत, पूजा-पाठ, साधुओं, सर्पों आदि की रचना भी देवताओं द्वारा हुई थी। वह समझता था कि इस नीले पर्दे के पीछे ईश्वर नाम का कोई व्यक्ति बैठा-बैठा सृष्टि-संचालन करता रहता है और वही स्वर्ग और नरक है। इस समय धर्म के नाम पर जो कोई भी अपने शरीर को घोर से घोर यातना और पीड़ा दे सकता था वही जनसाधारण में पूज्य समझा जाने लगता था। ब्राह्मणों और पशुओं को भोजन देना पुण्य-कृत्य था। वृद्धावस्था में बनारस में रहना और मृत्यु को प्राप्त होना हिन्दुओं की उत्कट इच्छा रहती थी। काशी हिन्दुओं का सांस्कृतिक केन्द्र था किन्तु आलोच्य काल में वहाँ अ-पण्डित ब्राह्मणों, नादियों और विचित्र-विचित्र साधनाओं में लीन रहने वाले साधुओं और यतियों की भीड़ लगी रही थी। इन्हीं में सामान्य हिन्दू की आध्यात्मिक परितुष्टि होती थी, यद्यपि ज्ञानी पण्डितों और हिन्दू धर्म के उदात्त और उत्कृष्ट रूप में विश्वास रखने वालों का नितान्त अभाव नहीं था।

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी हिन्दुओं के जीवन में दया और सरलता का यथेष्ट स्थान था। जब अंगरेज सिपाही बंदरों या चिड़ियों को मारते थे तो हिन्दुओं को अच्छा नहीं लगता था। गो-पूजन उनमें प्रचलित था। यद्यपि इस प्रथा के पीछे सामाजिक और आर्थिक कारण थे, तो भी हिन्दुओं का यह विश्वास था कि मनुष्य रूप धारण करने से पूर्व जीवात्मा गऊ का रूप धारण करती है और पृथ्वी गाय के सींगों पर ही स्थित रहती है। गो-वध और गो-मांस समाज में नितान्त वर्जित थे। प्राण जाने पर भी कोई हिन्दू इस नियम का उल्लंघन नहीं करता था, और केवल गाय के संबंध में ही नहीं, अन्य सभी पशु-पक्षियों के संबंध में वे पुनर्जन्म और देहान्तरगमन का सिद्धान्त लागू करते थे।

हिन्दू धर्म की अवनति का सब से बड़ा प्रमाण क्रूर कर्म करने और घोर यातनाओं में प्रवृत्त होने वाले साधुओं और यतियों में जनसाधारण का अंधविश्वास था। ये साधु जनता में भय-प्रेरित श्रद्धा उत्पन्न करते थे। आलोच्य काल में ऐसे साधुओं की संख्या काफी अधिक थी। यातनाओं और क्रूर प्रथाओं का समाज में इतना प्रबल प्रचार हो गया था कि यदि कोई 'पापी' अपने शरीर को अच्छी तरह पीड़ित नहीं कर लेता था, तब तक वह 'पाप' से मुक्त हुआ नहीं समझा जाता था। अव्यवस्थित शासन-प्रबंध, लूटमार आदि के साथ-साथ ये क्रूर प्रथाएँ समाज में

एक भयंकर वातावरण उत्पन्न किये रहती थी। ब्राह्मणों ने उसे बता रखा था कि जो व्यक्ति जितनी अधिक आत्म-यंत्रणाएँ सहन कर सकेगा उतनी ही शीघ्र वह तमिस्रा की ज्वालाओं से बच सकेगा। तमिस्रा से बचने के साधन ब्राह्मणों के हाथ में थे। जनता इतनी अधिक श्रद्धालु थी कि वे जो कुछ मार्ग सुझाते थे उसका नतमस्तक हो चुपचाप अनुसरण करने लगती थी। परलोक सुधारने का और कोई मार्ग भी तो नहीं था। और एक प्रकार से धर्म का वास्तविक स्वरूप भी यही समझा जाने लगा था।

आलोच्य-कालीन हिन्दी प्रदेश में अनेकानेक सम्प्रदायों से संबंध रखने वाले साधुओं की संख्या अत्यधिक बढ़ गई थी। इसका एक प्रधान कारण सैनिकों की बेकारी था। सेना से निकाले गए अनेक सैनिकों ने साधु-रूप धारण कर पूर्णतः हिन्दू जनता के आश्रित रहना आरम्भ किया। साधु-वेश धारण करने के अतिरिक्त वे डाकुओं का व्यवसाय ग्रहण कर लेते थे। [illegible] में भी [illegible] आर नाविकों ने लूटमार शुरू कर दी थी। उनका यह क्रम १८०४ के लगभग [illegible] दिया गया था। भारतवर्ष में ऐसी कोई [illegible] व्यक्तियों का [illegible] साधु-जीवन [illegible] जनता पर अपना [illegible] और गोसाईं और मुसल- [illegible] कम-से-कम [illegible] आदर था। [illegible] किस प्रकार [illegible] कुछ उदा- [illegible]

[illegible]

[illegible]

करने के लिए अग्नि की ज्वालाओं में भस्म हो गया।[1] सिर पर भारी से भारी बोझ लाद कर चलना, भारी लोहे की जंजीर घसीटना, हाथों और घुटनों के बल चलना, एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान तक पेट के बल रेंग कर जाना, आग पर चलना, उल्टे सिर लटक जाना, अपने को रस्सी से बाँध कर चारों ओर घुमाते रहना, लोहे के बड़े-बड़े छल्ले शरीर में पिरोना, अपने को आग में भस्म कर देना, जीवित अवस्था में जल-प्रवाह लेना, अपने को जिंदा जमीन में गाड़ देना आदि कुछ अन्य 'धार्मिक प्रथाएँ' थीं।

इस प्रकार के साधु' एक स्थान से दूसरे स्थान तक अपने-अपने चेले बनाते हुए घूमते फिरते थे। उन्हें समाज पवित्र और एक रहस्यात्मक शक्ति से सम्पन्न मानता था। जहाँ वे जाते थे लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब उच्च वर्गों की स्त्रियाँ उनके पास भोजन लेकर जातीं और 'आशीर्वाद' प्राप्त कर वापिस आती थीं। अनेक 'साधु' तो ऐसे थे जो 'अजगर करे न चाकरी ' में विश्वास रख मादक द्रव्यों का सेवन करते रहते थे। मुसलमानों में भी ऐसे भक्तों का अभाव नहीं था।[2] हिन्दी प्रदेश में आत्म-यातनाओं और पीड़ाओं द्वारा सूखे हुए शरीर लिये और पेड़ों के नीचे बैठे हुए अथवा नग्नावस्था में घूमते हुए साधुओं के दृश्य साधारण थे। इनकी तुलना उन ब्राह्मण 'गुरुओं' से की जा सकती है जो किसी प्रकार के संयम-व्रत अथवा आत्म-पीड़न आदि में विश्वास न रख खूब खाते-पीते और मोटे पड़े रहते थे। उनके पास ऐश्वर्य और वैभव सभी कुछ था। वे बड़े ठाठ-बाट से रहते और ऐश की जिन्दगी व्यतीत करते थे। कभी-कभी तो बहुत से 'भक्त' केवल आर्थिक प्राप्ति के लिए ही विविध आध्यात्मिक क्रियाओं' में संलग्न हो जाया करते थे। उनका प्रधान ध्येय आत्म-साधन न होकर दर्शकों में भय उत्पन्न कर स्वार्थ-साधन रहता था। समाज में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं था जो हिन्दू धर्म का वास्तविक स्वरूप पहिचानते थे और जो ऐसी धार्मिक क्रियाओं को अशास्त्रीय घोषित कर उनका निःसंकोच खण्डन करते थे। किन्तु समाज ऐसे 'साधु, सन्यासियों, वैरागियों और गुसाइयों को सहन करता चला जाता था। बनारस, अयोध्या, हरद्वार, पटना तथा राजपूताना के अनेक नगरों और गाँवों में ऐसे साधु और उनके चेले भरे पड़े रहते थे। दिखाने के लिए वे दया-भाव और निर्लिप्त बुद्धि से प्रेरित रहते थे। किन्तु समाज की श्रद्धा-भक्ति का अनुचित लाभ उठाकर नाना प्रकार की प्रवचनाओं में प्रवृत्त होना उनका सामान्य व्यवहार रहता था। यद्यपि समाज में सच्चे भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों का नितान्त अभाव नहीं था, किन्तु समाज इन उच्च भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों के संपर्क में आने के बहुत कम अवसर पाता था।

कपटी जीवन व्यतीत करने वाले 'साधु-सन्यासियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म ही कलंकित कर रखा था, वरन् वे गाँवों के आर्थिक और औद्योगिक जीवन में

---

१ 'स्केचेज ऑव दि हिन्दूज', पृ० १२८
२ जेम्स फोर्ब्स 'ओरिएंटल मेम्वायर्स', जिल्द १, पृ० ४७१-४७२, जिल्द २, पृ० २७६।

बाधा डालने और शासन-संबंधी सुव्यवस्था छिन्न-भिन्न करने में किसी प्रकार का संकोच न करते थे। जनता उनकी केवल 'आध्यात्मिकता' से ही प्रभावित नहीं रहती थी, वरन् उनसे सशंकित और आतंकित रहती थी। वे जो कुछ किसी से कराना चाहते करा लेते थे या जिस किसी से जो कुछ लेना चाहते थे ले लेते थे। किसी को इंकार करने का साहस न हो पाता था। समाज के धनिक-वर्ग में उनका खूब आदर-सम्मान था। वे जादू-टोनों अथवा मनुष्य की खोपड़ी में रखे हुए उल्लू, चमगादड़, साँप और नर-मांस आदि द्वारा सहज ही में अपना आतंक जमा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वे किसी सेना से मुठभेड़ ले बैठते थे। वे समाज की शान्ति और सम्पत्ति पर बड़े भारी भार-स्वरूप थे।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में उच्च श्रेणी के हिन्दुओं ने पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावस्वरूप धर्म के नाम पर इस प्रकार के आत्म-पीड़न और यातनाओं की घोर निंदा की और नवीन शासकों की उनके उद्देश्यों के साथ सहानुभूति थी। यह प्रभाव पहले बंगाल और फिर हिन्दी प्रदेश में फैलता गया।

पिछले समय में जिस प्रकार इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म की कमजोरियों से लाभ उठाया था उसी प्रकार आधुनिक काल में ईसाइयों ने उठाना शुरू किया। उच्च श्रेणी के शिक्षित वर्ग [illegible] समाज के क्रमशः क्षीण होने की ओर बराबर ध्यान था। वह अपने धर्म की दुर्बलताओं से पूर्णतः परिचित था और यह भी अच्छी तरह जानता था कि यदि [illegible] रोक न होती तो [illegible] संख्या में लोग ईसाई हो गये होते। [illegible] धर्म-परिवर्तन के कारण [illegible] हिन्दू या उसके पूर्वजों की सम्पत्ति में [illegible] भाग न रह जाता था। १८५० [illegible] [illegible] से प्रभावित शासन [illegible] और उनकी सरकार [illegible]

[illegible] Hindus who can read [illegible]

[illegible]

करने के लिए अग्नि की ज्वालाओं में भस्म हो गया।' सिर पर भारी से भारी बोझ लाद कर चलना, भारी लोहे की जंजीर घसीटना, हाथों और घुटनों के बल चलना, एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान तक पेट के बल रेंग कर जाना, आग पर चलना, उल्टे सिर लटक जाना, अपने को रस्सी से बाँध कर चारों ओर घुमाते रहना, लोहे के बड़े-बड़े छल्ले शरीर में पिरोना, अपने को आग में भस्म कर देना, जीवित अवस्था में जल-प्रवाह लेना, अपने को जिंदा जमीन में गाड़ देना आदि कुछ अन्य धार्मिक प्रथाएँ थीं।

इस प्रकार के साधु एक स्थान से दूसरे स्थान तक अपने-अपने चर बनाते हुए घूमते फिरते थे। उन्हें समाज पवित्र और एक रहस्यात्मक शक्ति से सम्पन्न मानता था। जहाँ वे जाते थे लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब उच्च वर्गों की स्त्रियाँ उनके पास भोजन लेकर जाती और आशीर्वाद प्राप्त कर वापिस आती थीं। अनेक 'साधु' तो ऐसे थे जो 'अजगर करे न चाकरी' मे विश्वास रख मादक द्रव्यों का सेवन करते रहते थे। मुसलमानों में भी ऐसे भक्तों का अभाव नहीं था। हिन्दी प्रदेश में आत्म-यातनाओं और पीड़ाओं द्वारा सूखे हुए शरीर लिये और पेड़ों के नीचे बैठे हुए अथवा नग्नावस्था में घूमते हुए साधुओं के दृश्य साधारण थे। इनकी तुलना उन ब्राह्मण गुरुओं से की जा सकती है जो किसी प्रकार के संयम-व्रत अथवा आत्म-पीड़न आदि में विश्वास न रख खूब खाते-पीते और मोटे पड़े रहते थे। उनके पास ऐश्वर्य और वैभव सभी कुछ था। वे बड़े ठाठ-बाट से रहते और ऐश की जिन्दगी व्यतीत करते थे। कभी-कभी तो बहुत से 'भक्त' केवल आर्थिक प्राप्ति के लिए ही विविध आध्यात्मिक क्रियाओं में संलग्न हो जाया करते थे। उनका प्रधान ध्येय आत्म-साधन न होकर दर्शकों में भय उत्पन्न कर स्वार्थ-साधन रहता था। समाज में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं था जो हिन्दू धर्म का वास्तविक स्वरूप पहिचानते थे और जो ऐसी धार्मिक क्रियाओं को अशास्त्रीय घोषित कर उनका निस्संकोच खण्डन करते थे। किन्तु समाज ऐसे 'साधु, सन्यासियों, बैरागियों और गुसाइयों' को सहन करता चला जाता था। बनारस, अयोध्या, हरद्वार, पटना तथा राजपूताना के अनेक नगरों और गाँवों में ऐसे साधु और उनके चेले भरे पड़े रहते थे। दिखाने के लिए वे दया-भाव और निर्लिप्त बुद्धि से प्रेरित रहते थे। किन्तु समाज की श्रद्धा-भक्ति का अनुचित लाभ उठाकर नाना प्रकार की प्रवचनाओं में प्रवृत्त होना उनका सामान्य व्यवहार रहता था। यद्यपि समाज में सच्चे भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों का नितान्त अभाव नहीं था, किन्तु समाज इन उच्च भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों के संपर्क में आने के बहुत कम अवसर पाता था।

कपटी जीवन व्यतीत करने वाले 'साधु-सन्यासियों' की संख्या इतनी अधिक थी कि उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म ही कलंकित कर रखा था, वरन् वे गाँवों के आर्थिक और औद्योगिक जीवन में

---

१ 'स्केचेज ऑव दि हिन्दूज', पृ० १२८

२ जेम्स फोर्ब्स 'ऑरिएंटल मेम्वायर्स', जिल्द १, पृ० ४७१-४७२, जिल्द २, पृ० २७६।

बाधा डालने और शासन-संबंधी सुव्यवस्था छिन्न-भिन्न करने में किसी प्रकार का संकोच न करते थे। जनता उनकी केवल 'आध्यात्मिकता' से ही प्रभावित नहीं रहती थी, वरन् उनसे सशंकित और आतंकित रहती थी। वे जो कुछ किसी से कराना चाहते करा लेते थे या जिस किसी से जो कुछ लेना चाहते थे ले लेते थे। किसी को इंकार करने का साहस न हो पाता था। समाज के धनिक-वर्ग में उनका खूब आदर-सम्मान था। वे जादू-टोनों अथवा मनुष्य की खोपड़ी में रखे हुए उल्लू, चमगादड़, साँप और नर-मांस आदि द्वारा सहज ही में अपना आतंक जमा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वे किसी सेना से मुठभेड़ ले बैठते थे। वे समाज की शक्ति और सम्पत्ति पर बड़े भारी भार-स्वरूप थे।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में उच्च श्रेणी के हिन्दुओं ने पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावान्तर्गत धर्म के नाम पर इस प्रकार के आत्म-पीड़न और यातनाओं की घोर निंदा की और नवीन शासकों को उनके उद्देश्यों के साथ सहानुभूति थी। यह प्रभाव पहले बंगाल और फिर हिन्दी प्रदेश में फैलता गया।

पिछले समय में जिस प्रकार इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म की कमजोरियों से लाभ उठाया था, उसी प्रकार आलोच्य काल में ईसाइयों ने उठाना शुरू किया। उच्च श्रेणी के शिक्षित वर्ग का समाज के क्रमशः क्षीण होने की ओर बराबर ध्यान था। वह अपने धर्म की दुर्बलताओं से पूर्णतः परिचित था और यह भी अच्छी तरह जानता था कि यदि आर्थिक लोभ न होता तो अधिकाधिक संख्या में लोग ईसाई हो गये होते। आर्थिक लाभ यही था कि धर्म-परिवर्तन के कारण एक हिन्दू का उसके पूर्वजों की सम्पत्ति में कोई भाग न रह जाता था। १८४३ के लगभग इस बात की चर्चा फैल गई थी कि ईस्ट इंडिया कंपनी एक ऐसा कानून बनाने वाली है जिसके अंतर्गत एक हिन्दू अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म स्वीकार कर लेने पर भी पैतृक संपत्ति में उत्तराधिकार सुरक्षित रख सकता था। हिन्दू शिक्षित वर्ग ने ऐसे कानून को अपने धर्म और समाज के लिए घातक समझा और कंपनी सरकार के इस प्रस्तावित कानून का प्राणपण से विरोध करने का विचार किया, किन्तु यह नौबत ही न आने पाई और कंपनी सरकार ने अपना इरादा छोड़ दिया।[4]

आलोच्यकालीन धार्मिक जीवन के संबंध में मैक्समूलर के शब्दों में, इसी बात से संतोष किया जा सकता है कि—'all this is true, but ask any Hindu who can read,

---

१ विलियम टेनेंट 'थॉट्स ऑन दि एफेक्ट्स ऑव दि ब्रिटिश गवर्नमेंट ऑन दि स्टेट ऑव इंडिया', एडिनबरा, १८०७, पृ० १४४-१४७

२ जी० डब्ल्यू० जॉनसन 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', लंदन, १८४३, पृ० १२३

३ रेजीनाल्ड हेबर 'नेरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज ऑव इंडिया १८२४-१८२५', जिल्द २, लंदन, १८२८, पृ० १४, ३१-३२

४. जी० डब्ल्यू० जॉनसन 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जिल्द १, लंदन, १८४३, पृ० २३७

and write and think whether these are the Gods he believes in, and he will smile at your credulity."

अंत में इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि वार्षिक धर्मोत्सव तीर्थस्थानों व्रत पूजा-पाठ गंगा-स्नान आदि धार्मिक क्रियाएँ सामाजिक जीवन के लिए हितकारी और उसके पूर्ण बनाने में कुछ-कुछ सहायक अवश्य हो रही थीं। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्हीं क्रियाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही थी। धार्मिक जीवन और फलतः सामाजिक जीवन रूढ़ि-ग्रस्त हो गया था और पंडे-पुजारी उस पर बुरी तरह छाये हुए थे। उनके बोझ के कारण हिन्दू धर्म का गला घुटा जा रहा था। उसकी देश-काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन तथा समन्वयात्मक शक्ति का सर्वथा ह्रास और गतिशीलता नष्ट हो गई थी। नवीन स्वस्थ भावों और विचारों को आत्मसात कर अपना बनाने की उसमें क्षमता न रह गई थी। लोग बड़े संतोषी और महत्त्वाकांक्षाओं से हीन हो गये थे। तत्कालीन धार्मिक जीवन के अन्तर्गत लोग न तो ज्ञान और विवेक का प्रकाश न ग्रहण सका। उनकी श्रद्धा-भक्ति देवी देवता की अपेक्षा पंडे-पुजारियों के प्रति ही केंद्रित रह जाती थी। उनमें अनेक भद्दे अंध-विश्वासों और कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का प्रचार हो गया था। वे धर्म के बाह्य कालानुसार परिवर्तनशील रूप तथा निकृष्ट स्तर में रम कर उसके शाश्वत एवं उदात्त रूप को भूल गये। वास्तव में समाज के धार्मिक शिक्षक ही उसके अभिशाप सिद्ध हुए। अस्तु, हिन्दू धर्म की ऐसी अवरुद्ध और पतित गति द्वारा न तो धर्मानुयायियों का कोई हित हुआ और न जीवन का और न साहित्य को ही कोई नवीन प्रेरणा मिल सकी। साहित्य के लिए धर्म निर्जीव शक्ति के रूप में रह गया था। हिन्दू धर्म उस पुष्प की भाँति था जो चारों ओर अपनी सुरभि फैला कर मुरझा गया था।

---

१ 'यह सब सच है, किन्तु किसी हिन्दू से जो पढ़, लिख, और सोच सकता है, पूछिए कि क्या वह इन देवताओं में विश्वास रखता है तो वह आपके भोलेपन पर मुस्करा उठेगा'। 'वेस्टमिन्सटर कोऐथेलेक्चर'

बुद्धकालीन लोक-जीवन

श्री भरतसिंह उपाध्याय, एम० ए०

पाली भाषा के विशेषज्ञ, प्राध्यापक श्री भरतसिंह जी बौद्ध संस्कृति और बौद्धसाहित्य के अनुशीलन में तथा उसपर अपना नया दृष्टिकोण स्थिर करने में सफल विचारक सिद्ध हुए हैं। आपने इस लेख में बौद्धकालिक लोकजीवन का अच्छा विवेचन किया है। —संपादक

बौद्ध धर्म का जनवादी स्वरूप

बौद्ध धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका जनवादी स्वरूप है। यों भगवान् बुद्ध से पूर्व भी कुछ ऋषियों ने साधारण जन को ज्ञान की कल्याणकारी वाणी के सुनाने की बात कही थी। 'इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः'। परन्तु दूसरी ओर वैदिक परम्परा की एक स्थिर मान्यता यह भी थी कि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है।[1] वह न संस्कार-योग्य है[2] और न यज्ञ का अधिकारी।[3] यही कारण है, कि सच्चे अर्थों में जन-जीवन का विकास वैदिक युग में सम्भव न हो सका। यदि जन-जीवन में, शूद्र का, जो समाज के निचले स्तर का प्रतीक है, जीवन भी सम्मिलित है, तो उसका विकास हमें वैदिक धर्म में नहीं मिलता। ज्ञान के स्वत्व वहाँ पूर्णतः द्विजातियों के अधीन हैं।

भगवान् बुद्ध इतिहास के सर्वप्रथम महापुरुष हैं, जिन्होंने **'बहुजन-हित'**, **'बहुजन-सुख'** और वास्तविक अर्थों में **'लोक की अनुकम्पा'** को अपने धर्म-चक्र की धुरी बनाया। उनके 'बहुजन हित' और 'बहुजन-सुख' की परिधि में शूद्र बहिष्कृत नहीं थे, बल्कि उन्हीं को लक्ष्य कर 'बहुजन-हित' शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यापक लोक-कल्याण को ध्यान में रखकर न केवल भगवान् तथागत ने धर्मोपदेश किया, बल्कि उसे समाज-निर्माण का आधार भी बनाया। मानवता सर्व-प्रथम भारत में 'चातुर्वर्णी शुद्धि' के रूप में आई। सम्पूर्ण मानव-जाति एक है, मनुष्य-मनुष्य

---

१ न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात्। ब्रह्मसूत्र-शांकर-भाष्य १।३।३४, अधिक उग्र भावना के लिए देखिये वहीं १।३।३८ पर शांकर-भाष्य 'यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति।'

२ न च संस्कारमर्हति। मनु० १०।१६

३ तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः। तैत्तिरीय-संहिता ७।१।१।६

के बीच कोई जातिगत भेद नहीं है, उसका विज्ञान या 'वासेट्ठ-सुत्त' से अधिक स्पष्ट वैज्ञानिक आधार मनुष्य सम्भवत कभी नहीं प्रस्तुत कर सकेगा। मानव अधिकारों का वह घोषणा-पत्र जिसे भगवान् बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व 'अस्सलायण-सुत्त' के रूप में तयार किया था, आज भी हमारे लिये उतना ही नवीन है। स्वभावत समाज के पीड़ित और पद-दलित निचले स्तर को, जो किसी न किसी प्रकार जातीय पृथक्करण का शिकार रहा है, बौद्ध धर्म ने सदा एक अतुलनीय आश्वासन दिया है। जन-जीवन के प्रकृतविकास का सभी दृष्टियों से बौद्ध धर्म का इतिहास एक लेखा है। लोक-संस्कृति के बीज का प्रथम आरोपण हमे बौद्ध धर्म के रूप में ही मिला है।

ग्रामीण जीवन और कृषकों की अवस्था

बुद्धकालीन भारत में ग्राम भारतीय सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु था जैसा कि वह प्राय सदा रहा है। ग्रामों और कर्मकरों के जीवन के साथ जब हम बुद्धकालीन कृषक की ओर देखते हैं तो उसके जीवन को सर्वथा सुखी और सम्पन्नतर पाते हैं। भारतीय ग्रामीण जीवन के बुद्धकालीन रूप को यदि हम सक्षिप्त सूत्रात्मक रूप देना चाहें तो कह सकते हैं **'मनुष्य गोद में पुत्रों को नचाते हुए, घर में बिना ताला दिये हुए विहरते थे।** सुत्त-निपात में धनिय गोप के सुखी जीवन का वर्णन है। उसे बुद्धकालीन सुखी किसान के जीवन का प्रतिनिधि चित्र माना जा सकता है। गोप वर्षा में सुख के गीत गाता हुआ कहता है

भात मेरा पक चुका। दूध दुह लिया गया।

मही (गंडक) नदी के तीर पर अपने स्वजनों के साथ मैं वास करता हूँ।

कुटी छा ली है, आग सुलगा ली है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

मक्खी-मच्छर यहाँ पर नहीं हैं, कछार में उगी घास को गाएँ चर रही हैं। पानी भी पड़े तो वे उसे सह लें। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो! मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचंचला है। वह चिर काल की प्रिय सगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो! मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उनके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं!
गाभिन गाएं हैं और तरुण बछड़े भी
सब के बीच वृषभराज भी है!

---

१ मज्झिम-निकाय २।५।८
२ मज्झिम-निकाय २।५।३
३ कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

खूटे मजबूत गड़े हैं, मूंज के पगहे नये और अच्छी तरह बटे हुए हैं, बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते।

अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

कई बार ग्वालों ने भगवान को दूध, मक्खन और खीर के भोजन से तृप्त किया, उसके अनेक-वर्णन हम सुत्त-पिटक और विनय-पिटक में देखते हैं। विनय-पिटक के महावग्ग में वर्णन है कि मेण्डक गृहपति द्वारा भिक्षु-संघ-सहित भगवान् बुद्ध का धारोष्ण दूध से स्वागत किया गया था। १२५० गायों को आगे खड़ा किये अगुत्तराय के वन में बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को धारोष्ण दूध पीने के लिये आमन्त्रित करते हुए इस गोपालक को हम कदाचित् कभी नहीं भूल सकेंगे।[1] ग्रामीण जीवन का सचालन बुद्ध-काल में गण-तंत्र की पद्धति पर होता था। राजा का उसमें अधिक हस्तक्षेप नहीं था। अधिकतर सार्वजनिक कार्य सामुदायिक ढंग पर किये जाते थे। सन्थागारों (सभागृहों) का निर्माण, सड़कों का बनवाना, उपवनों को लगाना आदि कार्य सब ग्रामीण स्वेच्छा से मिलकर करते थे और **सर्वजनिक सेवा के कार्यो में पुरुषों के साथ हाथ बटाना स्त्रियाँ अपना कर्तव्य और गौरव समझती थीं।** ग्राम जीवन की व्यवस्था एक मुखिया के हाथ में होती थी जिसे 'गामभोजक' कहा जाता था और जो निर्वाचित होता था। यही राज-कर इकट्ठा कर (राजबलिं लभित्वा) राजा को देता था।[2] गोपालन या गोरक्षा उस समय के ग्रामीण जीवन का एक प्रधान व्यवसाय था और चरागाहें व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक थीं। एक-एक व्यक्ति पाँच सौ हलों तक की खेती करता था।[3] खेत हलों के द्वारा जोते जाते थे, जिनमें बैल जोड़े जाते थे।[4] मुख्यत धान की खेती की जाती थी।[5] सुत्त-पिटक में, विशेषत संयुक्त-निकाय में, ग्रामीण जीवन के अनेक सुन्दर चित्र मिलते हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार-भय से नहीं दिया जा सकता।

अन्य पेशे

कृषि और गोपालन बुद्धकालीन भारत के प्रधान जीविका-साधन थे। परन्तु व्यापार और शिल्प-कला-सम्बन्धी अन्य अनेक पेशों के विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

भिन्न-भिन्न शिल्पों को करने वाले लोगों के अलग-अलग संघ बने हुए थे, जिन्हें 'श्रेणी' (सेणी) या 'पुग' कहा जाता था। एक ही शिल्प को करने वाले लोगों के नाम पर अक्सर गाँव भी बसे हुए थे, जिन्हें उनके पेशे के नाम से पुकारा जाता था, जैसे बढ़इयों के एक गाँव का नाम

---

१ अधिक विवेचन के लिये देखिये पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २३७
२ मिलाइये उदान, पृष्ठ ५२-५३ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)
३ रायस डेविड्स बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ ३६ (भारतीय संस्करण)
४ जातक, जिल्द पहली, पृष्ठ ३५४

था वड्ढकिगाम। इसी प्रकार शिकारियों के एक गांव का नाम था 'नेसादगाम' (निसाद-गाम)। शिकारियों का एक अलग पेशा था और मांस बेचने की दुकानें भी थीं। चिड़िया पकड़ने वाले भी उस समय थे। इस प्रकार के पेशे करने वाले हीन जाति के (हीन जातियां) माने जाते थे और इन पेशों को भी हीन शिल्प (हीन सिप्पानि) समझा जाता था। ठेलों पर सामान लादकर बेचने वाले भी उस समय थे। जाति या वर्ण के अनुसार अभी पेशों का बटवारा नहीं हुआ था। ब्राह्मण भी प्रायः कृषक (कस्सक) का काम करते थे। वे शिल्पी (सिप्पिका) भी हो सकते थे, व्यवसायी (वाणिजा) भी और सिपाही (योधाजीवा) भी और इससे उनके वर्ण पर कोई प्रभाव न पड़ता था। राज-सेवा-सम्बन्धी पेशों में पुरोहित (जो ब्राह्मण होता था), अमात्य, सेनापति और यात्राओं के पद प्रधान थे। राज-कर वसूल करने वाला प्रधान अधिकारी 'निग्गाहक' कहलाता था। व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। पांच सौ गाड़ियों (पञ्चहि सकटसतेहि) को लेकर व्यापारियों के जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। स्थल और जल के व्यापारिक मार्गों के नियामकों को क्रमशः थल नियामक और जल नियामक कहा जाता था। सेठों का उस समय के समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। वैद्यक की अच्छी अवस्था थी। भगवान् बुद्ध के समय में जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य तो था ही जो बाल-रोगों का विशेषज्ञ था। आकास गोत्त नामक एक अन्य प्रसिद्ध वैद्य का भी वर्णन मिलता है। बालकों के चिकित्सक (दारकतिकिच्छका) वैद्यों का ब्रह्मजाल-सुत्त में वर्णन है। इसी सुत्त में नाक के द्वारा दवा सुघाने का भी वर्णन है। शल्य क्रिया (सल्लकत्तिक) भी उस समय वैद्यक का एक अङ्ग थी। जड़ी-बूटियों को उत्पन्न कराना और जनता को बांटना राजा का काम माना जाता था। उपर्युक्त पेशों के अतिरिक्त अन्य अनेक हीन विद्याओं से लोगों को जीवन निर्वाह करते सामञ्ञफल-सुत्त में दिखाया गया है। इनकी सूची इस प्रकार है—

(१) अंग विद्या (२) उत्पाद विद्या (३) स्वप्न विद्या (४) लक्षण विद्या (५) मूषिक विद्या (६) विष विद्या (७) अग्नि हवन (८) दर्वी होम (९) तुष होम (१०) वास्तु विद्या (११) क्षेत्र विद्या (१२) भूत विद्या (१३) सर्प विद्या (१४) झाड़-फूंक की विद्या (१५) मणि-लक्षण (१६) वस्त्र-लक्षण, (१७) दण्ड-लक्षण (१८) बाण-लक्षण (१९) आयुध-लक्षण (२०) स्त्री-लक्षण (२१) हस्ति-लक्षण (२२) अश्व-लक्षण (२३) गाय-लक्षण (२४) भैंस-लक्षण (२५) मृग-लक्षण आदि आदि।

---

१ जातक, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८

२. जातक, जिल्द ६, पृष्ठ ७१

३. उपक नाम आजीवक व्याध-कन्या चापा के प्रेममें फँस कर मांस वेचने वाला हो गया था। देखिये 'थेरी गाथा' में चापा की जीवन-कथा।

मनोरजन के साधन

वुद्ध-काल मे साधारण मनुष्य अनेक प्रकार के मनोरजन के साधनो का प्रयोग करते थे, जिन्हे भिक्षुओ की जीवन-दृष्टि के अनुसार अच्छा नहीं माना गया है। उस प्रकार के कुछ मनोरजन के साधन है, नाटक बाजा, नृत्य, गीत, लीला, ताल देना, घडे पर तबला बजाना, गीत-मडली, लोहे की गोली का खेल, बॉस का खेल, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ युद्ध, बकरो का युद्ध, भेडो का युद्ध, मुर्गो का युद्ध, बत्तक का लडाना, लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मार पीट का खेल, लडाई की चाले आदि।[1] भिक्षु को इनमे विरत रहने के लिये कहा गया है। अनेक प्रकार के जुए के खेल उस समय के लोक-समाज मे प्रचलित थे। ब्रह्मजाल-सुत्त मे अष्टपद, दशपद, आकाश, परिहारपथ आदि अठारह प्रकार के जुओ के खेलो का नाम-निर्देश किया गया है। राजा भी अपने पुरोहितो के साथ जुआ खेलते थे (पुरोहितेन सद्धिं जूत कीळन्ति।[2] सुरा और मेरय (कच्ची शराब) पीने का रिवाज जन-साधारण मे था। जहाँ-तहा 'पानागार' बने हुए थे। बुद्ध-काल मे वेश्यालय भी थे। अम्बपाली, पदुमवती, सालवती सिरिमा, सुलसा और अड्ढकासी वुद्ध-काल की प्रसिद्ध वेश्याएँ थी, जिनमे से कई के जीवन-परिवर्तन का कारण उनके द्वारा बुद्ध-उपदेश का सुनना था।

नृत्य, गीत और नाटक

नृत्य, गीत और नाटको के अनेक वर्णन पालि साहित्य मे भरे पडे है। जातकट्ठकथा की निदान-कथा के अनुसार ४४ हजार नाटक करने वाली स्त्रियो को कुमार गौतम के मनोरजन के लिये रक्खा गया था। "नृत्य-गीत आदि मे दक्ष, देव कन्याओ के समान अतीव सुन्दर स्त्रियों ने अनेक प्रकार के वाद्यो को लेकर कुमार को प्रसन्न करने के लिये, नृत्य, गीत और वाद्य आरम्भ किया।" पचविध तूर्य (सगीत) का वर्णन अक्सर पालि साहित्य मे हुआ है। वाद्य सगीत (वादित) का उस समय काफी प्रचार था। हाथ से बजाने वाले सगीतज्ञ (पाणिस्सरा) भी उस समय थे और गाने वाले भाट (वेताल) भी। नाटक के तो अनेक प्रभेद लोक-जीवन मे प्रचलित थे। कुछ का नाम-निर्देश ऊपर मनोरजन के साधनो मे हो चुका है। बालकपन की अवस्था मे सारिपुत्र और मोग्गल्लान 'गिरग्गसमज्जा' (मूक अभिनय) के खेल को देखने गये थे। वह लोक-नाटक का ही एक रूप था। नृत्य, गीत और वाद्य-सगीत मे कुशल (नच्च-गीतवादितकुसला) नर्तकियो (नाटकी) का उल्लेख कई जातको म है।[3] एक राजा के यहा १६००० नर्तकियाँ (सोळससु नाटकीसहस्सेसु) थी, ऐसा एक जातक मे उल्लेख है।[4]

---

१ ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१)
२ जातक, जिल्द पहली, पृष्ठ २८०
३ जातक, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३२८, जिल्द पाँचवी, पृष्ठ २४९
४ जातक, जिल्द पहली, पृष्ठ ४३७

लौकिक विश्वास

बुद्ध-काल की जनता अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वासों में फँसी हुई थी। विशेषतः नक्षत्र-विद्या और फलित ज्योतिष में उसका अधिक विश्वास था। कुमार गौतम के जन्म पर भी ज्योतिषी बुलाये गये थे। शकुन देखने वाले भी लोग उस समय विद्यमान थे। ब्रह्मजाल-सुत्त में ऐसे अनेक लौकिक विश्वासों का वर्णन है। आटानाटिय सुत्त में भी तत्कालीन मन्त्र-विद्या और जादू-टोने के प्रयोगों को देखा जा सकता है। अनेक प्रकार की मनौतियाँ भी मनाई जाती थीं, जिनका ब्रह्मजाल-सुत्त में विशद वर्णन है। सुजाता ने बरगद के पेड़ से यह मनौती की थी कि यदि विवाह के पश्चात् उसके प्रथम गर्भ से पुत्र होगा तो वह एक लाख के मूल्य से उसकी पूजा करेगी। उसी के प्रसाद-स्वरूप भगवान् बुद्ध को स्वादिष्ट खीर खाने को मिली थी।

उत्सव, व्रत और माङ्गलिक कृत्य

बुद्ध-काल में अनेक उत्सव हमारे देश में मनाये जाते थे, जिन्हें सच्चे अर्थों में लोक-जीवन के उत्सव कहा जा सकता है। एक ऐसा ही उत्सव कपिलवस्तु में आषाढ़ मास में मनाया जाता था, जिसे खेत बोने का उत्सव कहा जाता था और जिसमें राजा भी भाग लेता था। उस दिन सारे नगर को सजाया जाता था और राजा के सहित जनता के लोग अपने-अपने हाथ में हल लेकर सामूहिक रूप से जोतते थे। कई सहस्र हल इस प्रकार साथ-साथ चलते थे।[1] इस उत्सव के गहरे सांस्कृतिक महत्त्व का आज हम अनुमान कर सकते हैं। 'जनपदीय संस्कृति के पोषकों को **इस उत्सव का आज के भारत में पुनरुज्जीवन करना चाहिये।**

चतुर्दशी, पूर्णमासी और प्रत्येक पक्ष की अष्टमी को व्रत रखने का रिवाज भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है और बुद्ध-काल में भी प्रचलित था। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और अन्य देवताओं की पूजा करना और नदी के घाटों पर जाकर जल में डुबकी लगाना,[2] ये काम स्त्रियाँ उस समय भी उतनी ही रुचि और श्रद्धा के साथ करती थीं जैसी आज।

मांगलिक अवसरों पर गो के गोबर से लीपना, चौक पूरना आदि आज की तरह बुद्ध-काल में भी किया जाता था। कुमार गौतम के नामकरण के अवसर पर राजभवन चारों प्रकार के गन्धों से लीपा गया था, धान की खीलों से मंगलाचार किया गया था, चारों प्रकार के पुष्प बखेरे गये थे, ब्राह्मणों को घी, मधु, मिश्री और निर्जल खीर से भरी सोने की थालियाँ परोसी गई थीं और फिर लक्षण जानने वाले (दैवज्ञ) ब्राह्मणों से बालक के भविष्य के बारे में पूछा गया था।

साधारण लोक-समाज में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रचलित थीं, 'जातक' बौद्धधर्म के नैतिक उपदेश की दृष्टि से और लोक-कथा की दृष्टि से भी विश्व का एक अद्भुत कथा-संग्रह है।

---

१ इस उत्सव के वर्णन के लिए देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५-६ (प्रथम संस्करण)

२ देखिये थेरी-गाथाएँ, पृष्ठ ३०

लोकगीत

भारतीय संस्कृति में लोकगीतों की अभिव्यक्ति

डा० शिवशेखर मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०

इतिहास और संस्कृति के मनस्वी विद्वान् डा० मिश्र ने अपने इस लेख मे लोकगीतो की परम्परागत प्रतिष्ठा और जीवन से सबधित सामीप्य का मार्मिक विवेचन किया है। —सपादक

लोकगीतो का ऐतिहासिक विकास

भारतीय साहित्य के अन्तर्गत लोकगीतो का क्षेत्र अत्यन्त समृद्ध एव व्यापक है। इन लोकगीतो की उत्पत्ति सम्भवत मानव-सृष्टि के साथ ही हुई होगी और सृष्टि के आदि से लेकर आजतक निरन्तर वह परपरा अबाधगति से चली आ रही है। अत भारतीय साहित्य मे इनकी उत्पत्ति एव विकास की कहानी अत्यन्त रोचक है।

वैदिक युग मे पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि उत्सवो पर सरस एव सुमनोहर पदावली मे गाये जाने वाले गीतो का उल्लेख वैदिक ग्रन्थो मे हुआ है। इन गीतो के लिए वेद मे 'गाथा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त पद्य या गीत के अर्थ में 'गाथा' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मत्रो मे प्राप्त होता है।[1] ऋग्वेद मे गाने वाले के लिए 'गाथिन्' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] इस प्रकार उस समय मे विवाहादि अवसर पर गाये जाने वाले गीत ऋग्वेद मे रैभी, नाराशसी तथा गाथा आदि शब्दो के नाम से प्रसिद्ध थे। ये गाथाये भी ऋचाओ की ही भाति छन्दोबद्ध होती थी।

ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो मे भी गाथाओ का वर्णन विशेष रूप से हुआ है, वैदिक गाथाओ के दृष्टान्त शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण मे भी उपलब्ध होते है जिनमे अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओ के उदात्त एव महान चरित्र का वर्णन सक्षेप मे हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण मे ये गाथाएँ कही केवल श्लोक नाम से उल्लिखित है और कही-कही पर 'यज्ञ गाथाएँ' कही गई है।

---

१ ऋग्वेद, ८।७१।१४
ऋग्वेद, ८।९८।९
ऋग्वेद, ८।३२।१, 'कण्वा इन्द्रस्य गाथया'
२ ऋग्वेद, १।७।१, 'इन्द्रमिद गाथिना बृहत्'

इन ऐतिहासिक गाथाओं की परम्परा महाभारत काल में भी प्रचलित थी। दुष्यन्त-पुत्र भरत से सम्बन्ध की अनेक गाथाएं महाभारत में प्राप्त होती हैं, जो अत्यन्त प्राचीन है। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण की गाथाएं श्रीमद्भागवत् पुराण में प्राय उसी अपने प्राचीन रूप में ही उपलब्ध होती है। इन गाथाओं का राजसूय यज्ञ के अवसर पर गायन होता था परन्तु विवाह के समय में भी गाथाएं गाई जाती थीं इसका प्रमाण 'मैत्रायणी संहिता' से प्राप्त होता है। आश्वलायन के गृह्यसूत्र में भी सीमन्तोन्नयन के अवसर पर वीणा पर गाथा गीतों का गान होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन समस्त प्रसंगों से विदित होता है, कि उस युग में राजसूय यज्ञादि के अवसर पर ऐतिहासिक गाथाएं तथा विवाहादि अवसर पर देव विषयक गाथाएं मंगल-कामना के लिये गाई जाती थी।

पाली जातकों का अध्ययन करने से उपनिषद् काल में प्रचलित गाथाओं के विषय में पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है ये गाथाएं भी अत्यन्त प्राचीन हैं, तथा इनमें तत्कालीन लौकिक कहानियों एवं घटनाओं का उल्लेख संक्षिप्त रूप से किया गया है। भगवान बुद्ध के पूर्ण जीवन से सम्बन्धित गाथाएं जातक के नाम से प्रसिद्ध हैं, ये बुद्ध के ही समकालीन हैं। इसी समय के सुप्रसिद्ध 'सिंह चर्म जातक' में व्याघ्र चर्म से ढके हुए एक गर्दभ की कथा का वर्णन है।

वैदिक युग के पश्चात् महाकाव्य एवं पौराणिक युग में भी लोकगीतों की परम्परा का व्यापक रूप देखने में आता है। रामायण बालकाण्ड में रामजन्म के शुभ अवसर पर गन्धर्वों-द्वारा गाये जाने वाले गीतों का उल्लेख आदि कवि श्री वाल्मीकिजी ने किया है।

इसके अतिरिक्त लीला पुरुषोत्तम भगवान् कृष्णचन्द्र के जन्ममहोत्सव पर स्त्रियों द्वारा मिलकर गाये जाने वाले गीतों का वर्णन श्री व्यासजी ने श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध में किया है। अत कृष्ण-जन्म के अवसर गाये जाने वाले ये गीत तत्कालीन लोकगीत ही होंगे। विक्रम-संवत् की तीसरी शताब्दी में जब नागों और प्राकृत का साम्राज्य था उस समय में इन लोकगीतों की अत्यधिक उन्नति हुई। राजा शालिवाहन की गाथा सप्तशती से प्रतीत होता है कि उस समय लोकगीतों के गाने तथा बजाने की प्रथा बड़ी उन्नत दशा पर थी। इसके अन्तर्गत अनेक सरस एवं सुमधुर गाथाओं का वर्णन है, जैसे रसोई बनाते समय कोई स्त्री अग्नि प्रज्वलित करने के लिए चूल्हे को फूंकती है, किंतु अग्नि नहीं जलती। इसका वर्णन एक स्थान पर बहुत ही सुन्दर रीति से किया गया है।

संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों ने भी लोकगीतों के गाये जाने का वर्णन अपनी कृतियों में किया है। इन लोकगीतों का क्षेत्र केवल पुत्र-जन्म, विवाह तथा यज्ञादि की संकुचित भित्तियों तक ही सीमित न था, वरन श्रम, मजदूरी चक्की पीसने के समय भी स्त्रियाँ अपने श्रम का निवारण करने के लिए, तथा अधिक काम करने के लिए गीतों द्वारा अपना चित्त प्रसन्न करती थी। संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री विज्जका ने धान कूटने वाली स्त्रियों के द्वारा गाये जाने

वाले गीत का वर्णन बहुत ही रोचक एवं सरल पदावली में किया है। धान कूटते समय मूसल ऊपर तथा नीचे बार-बार ले जाने के कारण उनकी चूड़ियों से खनखनाहट की आवाज होती है और मूसल का जो धमधम का शब्द होता है उन ध्वनियों के साथ मिल कर गीत और भी मनोरंजक हो उठता है।

संस्कृत के 'नैषधीय चरित' महाकाव्य के रचयिता श्री हर्षने अपने इस महाकाव्य (२।८५) में स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है। अपभ्रंश काल में भी लोकगीतों की अत्यधिक प्रचुरता रही। 'भविस्सयत्त कहा' में अनेक गाथाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त आगे चलकर श्री गोस्वामी तुलसीदास जी अपने 'रामचरित मानस' में, श्री जानकी जी के विवाह के अवसर पर स्त्रियों-द्वारा गाये जाने वाले गीतों का वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त जवनार के समय गाई जाने वाली गालियों का भी वर्णन रामायण में किया गया है। आजकल भी हमारे भारतीय समाज में यही प्रथा है कि जब बारात आती है और बारात के लोगों अर्थात् समधी आदि के भोजन करते समय गालियों का गान होता है, तो वह उस बेला के लिए बहुत ही मंगलकारक, शुभ एवं प्रसन्नता का विषय होता है।

गीतों का वर्गीकरण

इस प्रकार अब तक के जो प्राप्त हुए लोकगीत हैं उन पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने से उन्हें पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

१—संस्कारों की दृष्टि से

२—रसानुभूति की प्रणाली से

३—ऋतुओं एवं व्रतों के क्रम से

४—विभिन्न जातियों के प्रकार से

५—क्रिया गीत के आधार पर

भारतीय संस्कृति की आधार-शिला-पुरुषार्थ चतुष्टय है। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति के भव्य भवन का निर्माण हुआ है। इसके अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आ जाते हैं। इन चारों में धर्म का अंग सर्वप्रधान है और साथ ही साथ यदि यह कहा जाय कि धर्म ही भारतीयों का प्राण है तो अनुपयुक्त न होगा। मानव का सम्पूर्ण जीवन धर्म से सम्बन्धित है और इसी कारण हमारे धार्मिक जीवन के अन्तर्गत मनुष्य के जीवन को आदर्श एवं सफल बनाने के लिए संस्कारों का विधान है। यद्यपि जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के जीवन में अनेक संस्कार होते हैं किन्तु उनमें से षोडश संस्कारों का नाम ही विशेष रूप से प्रसिद्ध है और जो जीवन के बहुत ही महत्वपूर्ण अंग हैं। इनके द्वारा मनुष्य का शोधन होता है। हमारी भारतीय संस्कृति का मुख्य ध्येय यही है कि मनुष्य को आदर्श पथ पर आरूढ़ करा कर उसे ब्रह्म का साक्षात्कार करा देना, अतः गर्भ में आने के बाद तथा जन्म के पूर्व गर्भ में स्थित बालक की शुद्धि के

लिए गर्भाधान आदि संस्कार किये जाते थे। गर्भ में स्थित जीव पुत्र ही हो कन्या न हो उसके लिए पुंसवन संस्कार सम्पादित किया जाता था। सीमन्तोन्नयन संस्कार के अवसर पर माता-पिता गर्भ की रक्षा हेतु यह व्रत ग्रहण करते थे कि वे सदाचार रूप से जीवन व्यतीत करेंगे तथा उनकी भावी सन्तान को बलवान एवं प्रतिभाशाली बनाने में पूर्ण सहयोग देंगे। किन्तु आजकल इन संस्कारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता और प्राय समाज में अब यह तीनों संस्कार मनाये भी नहीं जाते। बालक के गर्भ में आने के पश्चात सर्वप्रथम संस्कार जन्मोत्सव ही होता है। अत इन समस्त संस्कारों में जन्म, चूडाकर्म, उपनयन विवाह आदि ही सर्वप्रधान एवं सर्वप्रसिद्ध संस्कार हैं जिनका प्रचलन समाज में अधिकता से होता है तथा जो क्रमश अवस्थानुसार ही सम्पादित किये जाते हैं।

मनुष्य इस संसार में आकर अनेक प्रकार के उपभोगों एवं आनन्दों का रसास्वादन करता है, अनेक प्रकार के उत्सवों को सम्पादित करता है। उन्हीं उत्सवों के अवसर पर आनन्द तथा हर्ष से उन्मत्त हो स्त्रियाँ सारा मिल कर जो गीत गाते हैं उन्हीं गीतों को लोकगीत के नाम से पुकारते हैं। ये लोकगीत अनेक प्रकार के नामों से प्रसिद्ध हैं। विभिन्न अवसरों एवं संस्कारों के समय गाये जाने वाले गीतों को भिन्न-भिन्न प्रकार की संज्ञायें प्रदान की गई हैं। जैसे पुत्र-जन्म से सम्बन्धित तथा उस अवसर पर गाये जाने वाले गीत सोहर के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गर्भाधान एवं पुंसवन संस्कार के अवसर पर गाये जाने वाले मंत्रों का वेदों में भी उल्लेख मिलता है। पुत्र जन्म का अवसर मानव मात्र के लिए अत्यन्त हर्ष एवं उत्साह का समय होता है। स्त्रियां परस्पर मिलकर सोहर आदि गीतों को गा गा कर अपने हृदय के हर्ष एवं उछाह को प्रदर्शित करती है। इन गीतों में भारतीय समाज के उत्साह एवं मनोल्लास का चित्रण रहता है। किन्हीं-किन्हीं गीतों में तो इस 'सोहर' शब्द का नाम भी आ जाता है।

सोहरों का प्रेम ही प्रधान वर्ण्य विषय रहता है। इन गीतों में, पति पत्नी की रति क्रीडा गर्भाधान, गर्भिणी की शरीर यष्टि (उसका गर्भ धारण के बाद शरीर, मुखादि पीला पडना), प्रसव पीडा, दोहद (गर्भिणी की अनेक वस्तुओं को खाने की इच्छा), उसकी पूर्ति धाय को बुलाना, पुत्र जन्म, ननद भावज के बीच में नेग का झगडा आदि विषयों का ही वर्णन होता है। सस्कृत के कवि भवभूति का कथन हैं कि पुत्र अथवा सन्तति स्त्री तथा पुरुष दोनों के अभिन्न प्रेम की ग्रन्थि है।

तत्पश्चात् बालक के कुछ बडे हो जाने पर उसके गर्भ के बाल उतरवा दिये जाते हैं, जिसे मुंडन कहते हैं और यही चूडाकर्म सस्कार कहलाता है। यह बालक का बहुत ही महत्वपूर्ण सस्कार है। बालक के जन्म के बाद सर्वप्रथम बाल इसी अवसर पर कटते हैं। इसके पहले बालक के बालों को काटने का निषेध है। यह सस्कार बालक के तीन साल, पाच साल अथवा सात साल के हो जाने तक किया जाता है, फिर इसके बाद यह सस्कार नहीं रोका जाता। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत 'मुंडन के गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय समाज में पुत्र-जन्म की ही

भाति यह अवसर भी बडी ही प्रसन्नता का होता ह। अत इस अवसर पर स्त्रियाँ हर्ष से उन्मत्त होकर खूब गाती-बजाती ह। इस चूडाकर्म सस्कार का वर्णन रामायण मे है।

इन गीतो का वर्ण्य-विषय अत्यन्त मनोहर होता है। इनमे कही माता मुडन के अवसर पर इन्द्र भगवान से वर्षा न करने के लिए प्रार्थना करती है, कही मुडन के लिए बालक की बुआ आती है। कही पर पिता अपनी बहिन से बालक की झालर (बाल) परछने के लिए अनुरोध करता ह, कही पर बहिन अपने पिता से अपने नेग मे आभूषण मागती है। कोई बालक मुडन के समय अपनी फूफू से नेग माँगने के लिए कहता है।

चूडाकर्म की ही भाँति यज्ञोपवीत सस्कार भी भारतीय जीवन मे अत्यधिक महत्त्व रखता ह। इस सस्कार के विषय मे तथा इसकी विधि के विषय मे तो मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि महर्षियो ने अपनी स्मृतियो मे विस्तारपूर्वक विवेचना की है। इस सस्कार से सम्पन्न होकर बालक गुरु के यहाँ अध्ययनार्थ भेज दिया जाता है। इसी कारण इसे उपनयन (समीप ले जाना) सस्कार भी कहते है। इस यज्ञोपवीत सूत्र को धारण करने के पश्चात् ही बालक द्विज कहलाने का अधिकारी होता है।

इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत 'जनेऊ' के नामसे ही प्रसिद्ध है। इन गीतो-मे इस सस्कार मे किये जाने वाले विभिन्न कृत्यो का वर्णन रहता है। ब्रह्मचारी सब से जनेऊ कराने का आग्रह करता है।

कही पर ब्रह्मचारी माता,भगिनी आदि से भिक्षा की याचना करता है। इन गीतो मे ब्रह्मचारी को 'बरुआ' नाम से सम्बोधित किया जाता है।

इसी सस्कार से सम्बन्धित अनेक मत्र वेदो मे भी उपलब्ध होते है। वैदिक युग एव उत्तर वैदिक युग मे इन जनेऊ के गीतो की अत्यधिक प्रचुरता थी किंतु जैसे ही जैसे हमारी वर्ण-व्यवस्था का रूप, जटिल एव भीषण होता गया, वैसे ही वैसे समाज मे सकुचित भावनाओ का समावेश होता गया और इसी कारण अब इन गीतो का प्रभाव भी अधिक नही रह गया है।

तत्पश्चात् बालक के विवाह का अवसर आता है। विवाह सस्कार सभवत सर्वत्र प्रसिद्ध एव सर्वाधिक प्रचलित सस्कार है, क्योंकि यह लगभग सम्पूर्ण जातियो मे, सभ्य तथा असभ्य, शिष्ट एव अशिष्ट सब मे प्रचलित है। अत विवाह-सम्बन्धी गीत सब भाषाओ के साहित्य मे अधिकता से प्राप्त होते हैं।

इन विवाह के गीतो मे दो प्रकार के गीत गाये जाते है—

१—वे गीत जो वर के घर मे गाये जाते है।

२—वे गीत जो कन्या के घर मे गाये जाते है।

कन्या के यहा गाये जाने वाले गीत अत्यन्त सरस, मधुर एव करुणरस से ओत-प्रोत होते है जो पाषाण-हृदय को भी पिघला देते है, जिन्हे सुनकर वास्तव मे हृदय विदीर्ण होने लगता है और शरीर स्नेह से रोमाचित हो उठता है—

'भइया को दिहो बाबुल महल अटरिया
मोको दिया परदेस रे।
मैं तो बाबुल तोरे अगना की चिड़िया
होत भोर उड़ि जाव रे॥

किन्तु इसके विपरीत वर के यहाँ गाये जाने वाले गीत उल्लासमय एवं आशा तथा उत्साह-पूर्ण होते हैं। अतः विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों की संख्या के भेद कन्या की ओर के २८ तथा वर पक्ष के १६ हैं।

कन्या के यहाँ तिलक, सगाई, लगन धराई, हल्दी, तेल, मँड़ाई, मातृपूजा, कुलपूजा, विवाह, भँवर, सोहाग, गारी, कोहबर, परिहास, भात, वर उबटन, विदाई, गवन, रुलाई आदि के गीत होते हैं और वर पक्ष में तिलक, सगुन, मौर, वरयात्रा, हल्दी, मातृपूजा आदि के गीत होते हैं।

इन गीतों का वर्ण्य विषय अत्यन्त रोचक एवं हृदयस्पर्शी होता है। गीतों के अन्तर्गत पुत्री कहीं पिता से योग्य वर ढूंढने की विनती करती है, कहीं माता पुत्री के लिए वर ढूंढने के लिए उसके पिता से कहती है। कहीं कहीं पर अत्यन्त परेशानी के कारण और वर न मिलने के कारण पिता दुःखी हो जाता है। कहीं पुत्री अपने जीवन को कोसती एवं धिक्कारती है। कहीं माता जामाता से पुत्री को आराम से रखने के लिए कहती है। आदि।

मैथिली भाषा में इन्हें 'लग्न के गीत' कहते हैं। मिथिला में विवाह के अवसर पर 'सम्मरि' नामक गीत गाये जाते हैं। इनमें सीता स्वयंवर, रुक्मिणी स्वयंवर आदि के गीत प्रसिद्ध हैं अतः यह 'सम्मरि' शब्द संभवतः स्वयम्वर का ही बिगड़ा हुआ, अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है।

मैथिली भाषा के गीतों में पुत्री पिता की परेशानियों को देखकर कहती है—

निरधन तपसिया हमें न विआहब
मरि जइहों जहर चबाय हे।

ऐसे ही एक राजस्थानी पुत्री पिता से कहती है कि चाहे मुझे परदेश ही ब्याहना पर योग्य तथा सुन्दर वर ढूंढना—

कालो मत हेरो बाबाजी कुटुम्ब लजावै
गोरो मत हेरो बाबाजी अंग पसीजै
लाम्बो मत हेरो बाबा सांगुन फल तोड़ै
ओछो मत हेरो बाबा बावन्यू बतावै।

राजस्थानी भाषा में इन विवाह के गीतों को 'बनड़े' कहते हैं।

इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि लोकगीतो का मानव जीवन के सस्कारो के साथ अधे-लगडे ऐसा सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही व्यर्थ होता दिखाई पड़ता है। बिना सस्कार एव उत्सवके गीत शोभायमान तथा सरस नही प्रतीत होता ओर बिना गीतोके उत्सव शून्य तथा शोभाविहीन हो जाता है। मानव जीवन मे इनका बडा ही उपयोगी और महत्वपूर्ण स्थान है। इन लोक गीतो की आवश्यकता समाज मे सभी को पडती है। इसी कारण बगला, मराठी, राजस्थानी, भोजपुरी, मैथिली आदि समस्त भाषाओ का साहित्य लगभग इसी प्रकार के गीतो मे भरा पुरा है। यद्यपि इन लोक गीतो का आदि स्रोत वेद ही है और उनके अन्तर्गत भावनाये भी सब वही प्राचीन ही है किन्तु विभिन्न भाषाओ के अनुसार उनका रूप परिवर्तित हो गया है। शनै शनै इन भावो का समाज मे विकास होता गया और लोगो का हृदय इन गीतो की ओर आकर्षित होने लगा। इसी कारण प्राचीनकाल से भारतीय साहित्य मे लोकगीत अधिकाश स्थान ग्रहण करते आये है और ग्रहण करते जा रहे है, यद्यपि भाषा के अनुसार उनका बहिरग स्वरूप भिन्न प्रतीत होता है। अत लोकगीतो की भाषा नवीन एव भाव प्राचीन है।

संतों के लोकगीत

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०

सन्त साहित्य के विद्वान् डा० दीक्षित लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के व्याख्याता हैं। आपने इस लेख में सन्तों के लोकगीतों पर विवेचना करते हुए उनका एक संक्षिप्त परिचयात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। —संपादक

लोकगीतों के वर्ण्य विषय अत्यन्त व्यापक और विस्तृत हैं। इनका विस्तार जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी संस्कारों, विशेष घटनाओं एवं अवसरों, ऋतु परिवर्तनों, समस्त व्रतों और समस्त जातियों में पाया जाता है। इस दृष्टिकोण से लोकगीतों का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) **संस्कारों की दृष्टि से वर्गीकरण**—पुत्र जन्म के गीत, मुण्डन के गीत, जनेऊ, विवाह, द्विरागमन, नामकरण, कन्यादान, कन्या विदा के गीत, श्मशान यात्रा के गीत।

(ख) **ऋतु-सम्बन्धी गीत**—कजली, फाग, होली, चैती, बारहमासा।

(ग) **व्रत-सम्बन्धी गीत**—शीतला माता के गीत, नाग पंचमी के गीत, बहुरा, गोधन षष्ठी व्रत के गीत, पीड़िया के गीत, तीज के गीत।

(घ) **जाति-सम्बन्धी गीत**—अहीरों के गीत, चमारों के गीत, कहारों के गीत, तेलियों के गीत, गड़रिया के गीत, जुलाहों तथा धोबियों के गीत, कुर्मियों के गीत, नुनचुनियों के गीत, गोंडों के गीत, दुसाधों के गीत।

(ङ) **विविध गीत**—जातसार, नामकरण, जाँत पीसने, रोपनी, सोहनी के गीत, झूमर, अलचारी, पूरबी, खेल के गीत।

इन विविध विषयों के अतिरिक्त सामाजिक जीवन से सम्बन्धित, पारिवारिक जीवन-विषयक चित्र बड़े व्यापक रूप से लोकगीतों में अभिव्यक्त हुए हैं। लोकगीतों के सम्यक् अध्ययन से देश के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का भी अच्छा परिचय प्राप्त होता है। लोकगीतों में जनता की धार्मिक भावनाओं एवं सामान्य विश्वासों की अभिव्यक्ति भी पायी जाती है। परन्तु लोकगीतों में धर्म एवं ज्ञान की इन बातों का बाहुल्य नहीं पाया जाता है। धार्मिक एवं ज्ञान-विषयक लोकगीतों के वर्ण्य विषय को पुनः हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम है सगुणोपासना-सम्बन्धी और द्वितीय है निर्गुणोपासना-सम्बन्धी गीत। सगुण गीतों में शिव,

पार्वती, सूर्य, शीतला, गंगा, कृष्ण, तुलसी दुर्गादेवी, राम तथा विष्णु आदि देवताओ की महिमा और सर्वशक्ति-सम्पन्नता का गान होता है। निर्गुण लोकगीतो मे गोरखनाथ, मत्स्येन्द्र नाथ, कबीर, रैदास तथा भरथरी (भर्तृहरि) के गीत बहुत अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक है। इनके गीत गावो, मेलो और सगतो मे गाये जाते हुए सुनाई पडते है। इन कवियो के अतिरिक्त सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, दरिया साहब, सहजो, दयाबाई आदि सतो के लोकगीत भी विभिन्न क्षेत्रो मे बडे जनप्रिय है। सुन्दरदास के गीत राजस्थान, मलूकदास के गीत प्रयाग जिला, चरनदास के अलवर प्रान्त, दरिया साहब के बिहार प्रान्त मे अधिक सुन पडते है। विभिन्न सतो की गद्दियो अथवा समाधिस्थलो पर सतो की सगतो मे प्राय सभी सत कवियो के गीत गाये जाते है। सामान्य जनता की निम्न जातियो जिनमे कोरी, चमार, खुनखुनिया, धोबी तथा अहीरो मे कबीर, भरथरी और रैदास के गीत बहुत अधिक समादृत होते है। इन कवियो के गीतो मे श्रद्धा, भक्ति और सद्भावना का प्रसार करने की अद्भुत शक्ति है।

सतो के लोकगीतो के वर्ण्य विषय दो प्रकार के है। प्रथम है आध्यात्मिक और द्वितीय है सामाजिक। इन दोनो के भी दो-दो भेद निम्नलिखित दृष्टि से किये जा सकते है ––

(क) **आध्यात्मिक**––(१) **क्रियात्मक**––इसका विषय निराकार ब्रह्म, नाम स्मरण, भक्ति, विरह, पातिव्रत, प्रेम, विश्वास, सत्सग, उपदेश, उदारता, शील क्षमा, तप, सन्तोष, धीरज, दीनता, विवेक, गुरुदेव तथा दया है।

(२) **ध्वसात्मक**––इसका विषय चेतावनी, भेष, क्रोध, काम, मोह, माया, मान, कपट, कनक, कामिनी, नशा, आहार, तीर्थ व्रत, दुर्जन तथा कुसग है।

(ख) **सामाजिक**––(१) **क्रियात्मक**––चेतावनी, एव समदृष्टि, (२) ध्वसात्मक चेतावनी एव भेदभाव।

सतो के लोकगीतो के विषय सामान्यतया ६ है वे इस प्रकार है––

१ रहस्यभावना, २ क्षणभगुरता, ३ साम्य भावना, ४ समाजगत विषमताए, ५ माया, कनक एव कामिनी तथा ६ पडे, पडित एव मुल्ला की तीव्रालोचना।

रहस्य भावना मे युक्त सतो मे कही-कही रहस्य भावना की बडी सुन्दर झलक मिलती है। भक्ति भावना के आवेग मे सतो ने आत्म-विस्मृति की स्थिति मे हृदय के जिन भावनाओ की अभिव्यक्ति की है वे काव्य-कला एव दार्शनिकता दोनो ही दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होती है। सन्तो ने रहस्यभावना की अभिव्यक्ति प्रतीको के आधार पर की है जो अधिकतर सासारिक होते हुए भी पारलौकिक तत्वो की ओर सकेत करते है।

एक भोजपुरी रहस्यात्मक गीत मे एक ऐसी नारी का चित्रण हुआ है, जो अपने ओसारे मे बसुध सो रही थी। किचित समय के अनन्तर गुरुजी ने निकट आकर उसके गवने के समय की सूचना दी, किन्तु वह नारी ससार के रमणीय पदार्थो मे इतनी अधिक रम गई है कि उसे अभीष्ट गन्तव्य स्थल भी बिसर गया है। वह यह भूल गई है कि जन्म केवल आगे बढने के लिए एक

सोपान मात्र है। यहा स्थायी रूप से ठहर कर आनन्द मनाने के लिए कोई अवसर तथा अवकाश नही है। इस प्रकार की प्रगाढ निद्रा से जगानेवाला गुरु के अतिरिक्त और कौन सामर्थ्यवान व्यक्ति है। गुरु की शरण मे ही निस्तार और सद्गति है। इस रूपक मे नारी आत्मा की प्रतीक है और गवने की वेला मृत्यु के आगमन की सूचना है। रमणीय पदार्थ ससार की अविद्या माया है जिसमे जीव सलग्न रहता है।

एक कवि के द्वारा आत्मा-नारी का परमात्मा-प्रियतम के वियोग मे व्याकुल और तडपने का भावपूर्ण चित्रण किया गया है। जिसमे मूल शब्द के सुनते ही आत्मा रूपी नारी के जागने ससार रूपी मायके को भूल कर ससुराल-परलोक के स्मरण होने का वर्णन किया है। परब्रह्म प्रियतम के वियोग मे आत्मा विलाप और रुदन करती है।

देहातो की सगतो मे गाये जाने वाले गीतो मे क्षण भगुरता का तत्व बहुत प्रमुख रहता है। ये गीत सामान्यतया कबीर और रैदास द्वारा विरचित होते है। इनमे जीवन, ससार, माया तथा इनके सहायक तत्वो को नि सार सिद्ध करके उनमे क्षण-भगुरता के तत्वो का प्रकाशन किया जाता है। गायक मडली की स्वरलहरी श्रोताओ को आनन्द-विभोर करती हुई जनता की स्मृति मे उन कवियो के मतो को पुनर्जागरित किया करती है। इनमे पाठको या श्रोताओ का ध्यान सासारिक माया-मोहादि से हटाकर उनके समक्ष ससार का वास्तविक चित्र अकित करने का प्रयत्न किया जाता है। कबीर का प्रस्तुत लोकगीत इस दृष्टिकोण से बडा लोक-प्रचलित है।—

मन फूला फूला फिरै, जगत मेँ कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा बहिन कहै बिर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा॥
पेट पकरि के माता रोवै, बाह पकरि के भाई।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै, हस अकेला जाई॥

देहातो मे गोपीचन्द एव भर्तृहरि के अनेक ऐसे लोकगीत प्रचलित है जो आद्योपात ससार की नि सारता एव विनाशशीलता के द्योतक है। सत्य तो यह है कि सत कवियो ने पद-पद पर जीवन के इस पक्ष पर अपने विचार प्रकट किये है। ऐसे लोकगीतो मे सासारिक माया मोहादिक की कटु आलोचना की गई और उसके सम्पर्क से दूर रहने का उपदेश दिया गया है।

भारतीय समाज की रचना वर्णव्यवस्था के आधार पर हुई है। जिस वर्णव्यवस्था की स्थापना किसी युग मे समाज की सुविधा और सरलता के लिए हुई थी वही आज हमारे लिए अभिशाप बन गई है। आज हमारा समाज उच्च-नीच, कुलीन अत्यज, स्पर्श्य अस्पर्श्य भावना से अभिशप्त हो गया है। समस्त क्रियाओ और सत्कर्मो से विहीन ब्राह्मण पूज्य इसलिए है कि समाज द्वारा

निश्चित ब्राह्मण कुल मे वह जन्मा और पाला पोसा गया है । हमारा समाज काल्पनिक प्रशसनीय जीवन का उत्तरोत्तर समर्थक बनता जा रहा है। इसी भावना के विरोध मे सन्तो ने बारम्बार समता का उपदेश दिया है । उनकी दृष्टि मे ये समाजगत विषमताए महत्वहीन थी। सामाजिक विषमताओ की आलोचना और दोषो का निदर्शन करते हुए सतो ने अनेक पदो की रचना की है जो उत्तरी भारत की जनता के कठो मे लोकगीतो के रूप मे फूट पडते है।

सतो ने माया की निन्दा खुल कर बडे ही स्पष्ट शब्दो मे की है । अविद्या माया के दो विशेष सहायक है, कनक ओर कामिनी। इन्ही के जाल मे समस्त ससार बँधा पडा है। इन्ही के द्वारा अर्जित काल्पनिक सुखो मे मानव आत्म-तुष्टि खोजता फिरता है। सतो ने इन दोनो के कुप्रभाव ओर व्यापक विषमताओ का चित्रण भाँति-भाँति से किया है। इसी प्रकार पाखडो एव बाह्याचारो मे सलग्न पडे पडित, मुल्ला और मौलवी के कृत्यो का रहस्योद्घाटन भी सन्तो ने जी खोल कर किया है। शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान को सतो ने अधिक महत्व प्रदान किया है। उनका सतो के सत्सग मे विश्वास था और वे सतो की अनुभवगम्य विचार धारा मे अवगाहन करना अधिक उचित और विश्वसनीय समझते थे। जो कोई भी धर्म उनके समक्ष आता था उसे वे अपने अनुभव एव सत्य की तुला पर तोलते थे और उनके अनुभूत सत्य को ग्रहण कर अपनी विचारधारा के अनुसार उसका प्रतिपादन करते। बाह्य उपकरणो का परित्याग करके इन्होने बारम्बार प्रेम की भावना अगीकार करने के लिए कहा। कारण कि प्रेम मे आडम्बर नही होता है अत कबीर आदि ने अपनी भक्ति को एकमात्र मानसिक रूप ही प्रदान किया है। उनकी भक्ति मे कर्मकाड नही है केवल मानसिक पक्ष है। सतो की यह प्रेम-भावना इतनी व्यापक है कि उसमे ब्रह्म अनेक नामो से सम्बोधित हुआ है। इसीलिए बाह्याचारो मे सलग्न धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूले हुए दोनो धर्मो (हिन्दू एव मुसलमान) के ठेकेदारो की इन्होने कटु आलोचना की है। सतो के ये पद जनता मे विशेष प्रिय है और बहुत गाये जाते है। शायद ही कोई ऐसी सगत हो जहा ये पद न गाये जाय।

इन सब के अतिरिक्त सतो के कुछ और भी जनप्रिय लोकगीत है जिनके विषय उपर्युक्त वर्ण्य विषय-विभाजन मे नही आते है। इन विविध विषयो मे विनय भावना से ओतप्रोत आत्म-निवेदन के पद तथा अन्य लोकगीत विशेष रूप से उल्लेखनीय है —

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुडिया, बूंद पडे घुल जाना है।
यह ससार काट की बाडी, उलझ उलझ मरि जाना है।
यह ससार झाड और झाखर आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे क ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इगला पिगला ताना भरनी सुषमन तार से बीनी चदरिया।।
आठ कमल दल चरखा डोलै पाच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साई को सियत मास दस लागे ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।।
सो चादर सुर नर मुनि ओढी ओढि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढी ज्यो की त्यो धरि दीनी चदरिया।।

नैहरवा हमको नहि भावै।
साई की नगरी परम अति सुन्दर जह कोइ जाय न आवै।।
चाद सुरज जह पवन न पानी को सदेस पहचावै।
दरद यह साई को सुनावै।।
आगे चलौं पथ नहि सूझै पीछे दोष लगावै।
केहि विधि ससुरे जाव मोरी सजनी विरहा जोर जनावै।
विषैरस नाच नचावै।।

साई से लगन कठिन है भाई।
जैसे पपीहा प्यासा बूद का पिया पिया रट लाई।
प्यासे प्राण तडफै दिन राती, और नीर ना भाई।
जैसे मिरगा शब्द सनेही, शब्द सुनन को जाई।
शब्द सुनै और प्रान दान दे तनिको नाहि डराई।
जैसे सती चढी सत ऊपर, पिया की राह मन भाई।
पावक देख डरे वह नाही, हसत बैठे सदा भाई।
छोडो तन अपने की आसा, निर्भय है गुन गाई।
कहत कबीर सुनो भाई साधो नाहि तो जनम नसाई।

/

ब्रज के उत्सवों और त्यौहारों के लोकगीत

श्रीप्रभुदयाल मीतल

ब्रज-भारती के बिखरे हुए प्राणदायी स्रोतो को समेट कर भागीरथी की न सूखनेवाली धारा बनाने का भगीरथ-प्रयत्न करने मे सफल श्री मीतलजी ने अपनी बुद्धि और वय का अनुभव, अनुदान हिन्दी साहित्य को प्रदान किया है। श्रीकृष्ण की लीला-भूमि मे सतत होने वाले लोक उत्सवो का परिचय इस लेख की मुख्य विशेषता है—सपादक

किसी भी देश की सजीवता, समृद्धि और उसके सुखी जीवन का ठीक-ठीक अनुमान उसके त्यौहारो और उत्सवो से ही लगाया जा सकता है। जो देश जितना अधिक उत्सव-प्रिय होगा, वह उतना ही अधिक सुखी और समृद्ध भी होगा। हमारा देश सदा से अपने उत्सव, त्योहार और मेलो के लिए प्रसिद्ध रहा है। यही बात हमारे पूर्व गौरव को सूचित करती है। इस समय हमारा देश पूर्ववत् सुखी और समृद्ध नही है, किंतु हमारी उत्सव-प्रियता भविष्यत् सुख और समृद्धि की आशा दिलाती है।

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशो की अपेक्षा ब्रज मे उत्सव और त्यौहारो की सदा से विशेषता रही है। इस सघर्षपूर्ण युग मे जब कि प्रत्येक जन का जीवन नाना प्रकार की उलझनो मे उलझ कर अशात बना हुआ है, तब भी ब्रज का लोक-जीवन अपने उत्सव और त्यौहारो के कारण कुछ आनद का अनुभव कर लेता है। ब्रज मे वर्ष का कोई महीना ही नही, बल्कि महीने का भी शायद ही कोई दिन हो, जब वहाँ पर कोई उत्सव, त्यौहार अथवा मेला न होता हो। इसीलिए ब्रज मे 'सात वार, नौ त्यौहार' की लोकोक्ति प्रचलित है।

अत्यत पुरातन काल मे ही ब्रज मे विभिन्न धर्म, सप्रदाय और जातियो के केन्द्र बनते और बिगड़ते रहे है। इसीलिए वहाँ के उत्सव और त्योहारो मे विविधता और अनेक-रूपता दिखायी देती है। विक्रम की १६वी शती मे वैष्णव सप्रदायो की राधा-कृष्णोपासना ने ब्रज के जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया था, जिसके कारण वहाँ के उत्सव भी राधा-कृष्ण की विविध लीलाओ के रग मे रंग गये, किन्तु ऐसे उत्सव भी कम नही है, जिनमे प्राचीन धर्म और विश्वासो की छाया न दिखायी देती हो। शिवचादस, नोदुर्गा, गनगौर, देवी की जात, नाग पचमी, वट पूजा आदि के त्योहारो मे शैव शाक्त एव विविध देवी-देवता सर्प और वृक्ष पूजक सप्रदायो का प्रभाव स्पष्ट है।

उत्सवो की सरसता और सफलता के लिए लोक-गीतो का गायन आवश्यक होता है। ब्रज के मनोरम वातावरण मे कुछ ऐसे प्राकृतिक तत्त्व है जो साहित्य, सगीत और कला को स्वाभाविक रूप से प्रेरणा प्रदान करते है। फलत प्रत्येक उत्सव या त्योहार के आते ही ब्रज के नर-नारी गायन-वादन मे आनद-विभोर हो जाते है।

चैत्र-मास के उत्सवो मे फूलडोल और देवी-पूजन की प्रधानता है। ब्रज के नर-नारी नवरात्र का आरभ होते ही विविध देवियो की जात (यात्रा) की तैयारी करने लगते है। उस समय जो गीत गाये जाते है, उनमे एक गीत अधिक प्रसिद्ध है। उस गीत मे स्त्री अपने पति से जालपा देवी का पूजन करने के लिए आग्रह करती है। उस गीत की आरभिक टेक इस प्रकार है--

चलौ पिया! दोऊ मिलि जांय,
परसें देवी जालिपा, ओ माय।

'देवी की जात चैत्र शु० १ से ८ तक चलती है। जात से वापिस आने पर श्रद्धालु देवी-भक्तो के यहा 'देवी का जागरण' होता है, जिसमे रात्रि भर जग कर देवी के गीत गाये जाते है। इसी माह मे शीतला माता की पूजा भी होती है। जिन देवियो की पूजा एव यात्रा होती है, उनमे मुख्य ये है--

करौली की कैला देवी, नरी-सेमरी की देवी, नगर-कोट की ज्वाला जी, जालपा देवी आदि।

देवी के गीतो मे 'लाँगुर' या 'लाँगुरिया' का प्राय नामोल्लेख होता है। लाँगुरिया देवी का पुत्र माना जाता है, और बाल-भाव मे उसका वर्णन किया जाता है। लाँगुरिया से सबधित बाल-भाव मे रसिकता का भी पुट होता है। यह बडी विचित्र बात है कि भक्ति और श्रद्धा-पूर्वक यात्रा के लिए जाने वाली नारियाँ लाँगुरिया का नाम ले कर रसिकता ही नही, वरन् अश्लीलतापूर्ण गीत गाने मे भी सकोच नही करती है। ग्रामीण स्त्रियो का विश्वास है कि लाँगुरिया के नाम से शृगार रस के ही नही वरन् अश्लीलता तक के गीत गाने से देवी प्रसन्न होती है। इस विश्वास के कारण यात्रा के लिए जाने वाली श्रद्धालु नारियो मे रसिकतापूर्ण व्यग-विनोद एव आमोद-प्रमोद होता रहता है।

'गनगौर' लडकियो के खेल और पूजन का त्योहार है, जो गोरी पार्वती के रूप मे देवी से सबधित माना जा सकता है। प्रात काल होते ही छोटी-छोटी लडकियाँ दूब और पुष्पो द्वारा बडे उत्साहपूर्वक गनगौर की पूजा का आयोजन करती है। गनगौर का सबध ब्रज की अपेक्षा राजस्थान से अधिक ज्ञात होता है। राजस्थान मे साधारण जन की कुटिया से लेकर राजमहलो तक मे गनगौर की धूमधाम रहती है। ब्रज और राजस्थान की सीमाएँ मिली हुई होने के कारण पुरातन काल से ही इन दोनो का घनिष्ट सबध रहा है। ऐसा समझा जा सकता है

कि राजस्थान ओर ब्रज के सास्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप ब्रज के कई उत्सव राजस्थान मे और राजस्थान के ब्रज मे प्रचलित हो गये। गनगौर की पूजा करती हुई लडकियाँ जो गीत गाती है, उनमे ब्रजभाषा के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा के भी शब्द होते है। यथा—

गढि लाई म्हारी गौर, छोटौ सौ खेलना।

वैशाख मास मे अक्षय तृतीया (अखे तीज) का त्यौहार मुख्य है। ज्येष्ठ मे निर्जला एकादशी का त्योहार होता है। आषाढ मे धौंधा धरनी एकादशी तथा गुडिया पूनौ मुख्य है। गुडिया पूनौ के उपलक्ष मे ब्रज के अतर्गत गोवर्धन ग्राम मे गिरिराज जी की परिक्रमा लगती है, जिसमे लाखो नर-नारी भाग लेते है। इस अवसर पर गाने के कोई विशेष लोकगीत नही है, किंतु परिक्रमा करते हुए स्त्री-पुरुष भाति-भाँति के गीत गाते जाते है। स्त्रियाँ प्राय एक गीत विशेष रूप मे गाती है, जिसकी आरभिक टेक इस प्रकार है—

भजौ भाई, गोंविद नाम हरी।
वृन्दावन की कुज गलिन मे, दै कै धका निकरी॥
भजौ भाई गोंविद नाम हरी॥

यह गीत प्रत्येक परिक्रमा, पर्व आदि पर जाते हुए नारी-समूह द्वारा गाया जाता है। शीघ्रतापूवक जाती हुई नारियाँ प्राय एक दूसरी को धक्का देती हुई चलती है। उनकी इस गति का सकेत उक्त गीत मे भली भाँति मिलता है।

श्रावण का महीना ब्रज मे अनेक उत्सव और त्यौहारो का महीना है। वर्षा हो जाने से सर्वत्र हरियाली छा जाती है। आनद और उमग से भरी हुई ब्रज नारियाँ घर-घर मे झूला झूलती है और मल्हार के गीत गाती है।

स्त्रियो के अतिरिक्त पुरुष वर्ग भी श्रावण के महीने मे 'रसिया' आदि के गायन द्वारा आनद मनाते है। इसी महीने मे ब्रज के प्रत्येक मदिर मे राधा-कृष्ण के झूला के उत्सव भी होते है। इस सबध के जो गीत या रसिया आदि गाये जाते है, उन्हे स्त्री और पुरुष दोनो गाते है।

श्रावण के उत्सव और त्यौहारो मे हरियाली तीज, हरियाली मावस, नाग पचमी, पवित्रा-एकादशी और सलूनो मुख्य है। इन पर नर-नारियो द्वारा भाँति-भाँति के लोक-गीत गाये जाते है।

भाद्रपद मास मे कृष्ण-जन्माष्टमी, हरितालिका तीज, डडा चौथ, ऋषि-पचमी, अनत चादस आदि के उत्सव और त्योहार होते है ब्रज मे कृष्ण-जन्माष्टमी की बडी धूम रहती है। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि ब्रज मे उनके जन्मोत्सव का त्योहार विशेष आमोद-प्रमोद द्वारा मनाया जाना स्वाभाविक ही है।

१४

आश्विन मास के प्रथम पक्ष में ब्रज का लोक-जीवन साँझी, झाँझी और टेसू के गीतों से गूंज उठता है। ये गीत प्रायः दशहरा तक चलते हैं। द्वितीय पक्ष में नव दुर्गा, दशहरा, रामलीला, भरत-मिलाप और शरद पूर्णिमा की धूमधाम रहती है। साँझी और झाँझी के गीत लड़कियाँ गाती हैं और टेसू के गीत लड़के। स्त्रियाँ अपने घरों में गोबर की साँझी बनाती हैं और सायंकाल आरती के समय गीत गाती हैं। इन गीतों में स्त्रियाँ साँझी माता से अपने भाइयों के लिए अनेक वरदान माँगती हैं। झाँझी और टेसू एक प्रकार से लड़की-लड़कों के खेल के आयोजन हैं जो सामूहिक रूप से किये जाते हैं। गाँवों की छोटी-छोटी लड़कियाँ मिट्टी की छेददार हाँडी में जलता हुआ दीपक रख कर मुहल्ले के प्रत्येक घर में जाती हैं और गीत गाती हैं। उनको प्रत्येक घर से इस उपलक्ष में कुछ पैसे मिल जाते हैं। इसी प्रकार गाँव के छोटे-छोटे लड़के मिट्टी का टेसू बना कर उस पर जलता हुआ दीपक रख कर प्रत्येक घर के दरवाजे पर गीत गाते फिरते हैं। उनको भी इस उपलक्ष में प्रत्येक घर से कुछ पैसे मिलते हैं। झाँझी और टेसू के गीतों में बड़ी मनोरंजक और ऊटपटाँग बातें होती हैं, जो छोटे-छोटे लड़के लड़कियों के मुख से सुनने में बड़ी मजेदार मालूम होती हैं। साँझी के गीत संवादात्मक होते हैं। गीत की प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'पारेवरिया' की तुक रहती है। यथा—

मा! भैया कहाँ-कहाँ ब्याहे, पारेवरिया।
मा! भाभी को मुँहड़ो कैसो, पारेवरिया।
नाक चना सो, मुँह बटुआ सो, घूँघट में मन लाई, पारेवरिया।
थोरौ खानी, बहुत कमानी, जे जगु बीती आई, पारेवरिया।
मा! भाभी का-का लाई, पारेवरिया।
आठ बिलैया, नो चकचूँदरि, सोलह मूसे लाई, पारेवरिया।

टेसू के गीतों में और भी अद्भुत, ऊटपटाँग और बे सिर पर की बातें होती हैं। यथा—

टेसूराय घटार बजईयौ।
नौ नगरी, दस गाँव बसईयौ॥
बसिगे तीतर, बसिगे मोर।
हरी नैनियाएँ लैगे गोर॥
टेसूराय की सात बौहरियाँ।
नाचैं, कूदैं, चढ़ैं अटरियाँ॥

रामलीला के गीतों में भरत-मिलाप का गीत बड़ा प्रसिद्ध है, जिसे ग्रामीण स्त्रियाँ बड़े उल्लासपूर्वक गाती हैं। इस गीत की आरम्भिक टेक इस प्रकार है—

उठि मिलि लेउ राम, भरत आये।

कार्तिक का महीना स्नान का महीना है। इस माह के आरम्भ से अंत तक स्त्रियाँ प्रातःकाल सामूहिक रूप से गीत गाती हुई यमुना-स्नान को जाती हैं। वहाँ पर वे 'राधा-दामोदर' की पूजा करती हैं और गीत गाती हैं, जिसकी आरम्भिक टेक इस प्रकार है—

राधा-दामोदर बलि जइयें।

कार्तिक मास में अनेक उत्सव और त्यौहार होते हैं, जिनमें मुख्य-मुख्य ये हैं—

करुआ चौथ, अहोई आठें, धन तेरस, रूप चौदस, दीवाली, गोवर्धन-पूजा, अन्नकूट, भैया दौज, गोपाष्टमी, अखैनौमी, कंस का मेला, देव उठान एकादशी और गंगा पूनौ।

पौष और माघ में संक्रान्ति और बसंत पंचमी के त्यौहार होते हैं। फाल्गुन में शिव चौदस, फुलैरा दौज और होली के त्यौहार हैं। इनमें होली का त्यौहार सब से बड़ा है। ब्रज की होली तो सब प्रकार से उल्लेखनीय और दर्शनीय है। शिव-चौदस को महादेव जी का व्रत रख कर अमावस को 'बभोला' मनाते हैं। उसके बाद होली तक के पंद्रह दिन ब्रज में बड़े ही आमोद-प्रमोद के होते हैं। गाँव-गाँव के घर-घर में स्त्री-पुरुषों की छेड़छाड़ और उत्पात, रंग-गुलाल और पानी की बौछार में डफ, ढोल, करताल और चंग द्वारा होली के अनेक गीत गाये जाते हैं। इसी अवसर पर प्रत्येक मंदिर में भी होली के उत्सव होते हैं, जिनमें रंग-गुलाल के साथ साथ गायन, वादन और नृत्य भी होता है। पुरुष वर्ग के द्वारा डफ-वादन के साथ 'होरियां' गाई जाती हैं, जिनकी आरंभिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

ब्रज में हरि होरी मचाई ॥टेक॥
इततें निकसी सुघर राधिका, उततें कुमर कन्हाई।
खेलत फाग परस्पर हिलमिल, सोभा बरनी न जाई॥
नंद घर बँटति बधाई॥

अवधी लोक गीतों में सांस्कृतिक तत्त्व

श्रीसत्यव्रत अवस्थी

अवधी भाषा के लोकप्रिय कवि श्री सत्यव्रतजी मे जितना विनय और विवेक का अंश है, उतनी ही अनुशीलन और मनन की प्रवृत्ति है। प्रस्तुत लेख मे उनकी यही प्रवृत्ति मुखरित हुई है। —संपादक

किसी देश अथवा समाजविशेष की संस्कृति से हम उसके उत्कर्ष और अपकर्ष का इतिहास जान सकते है। संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का सब से सरल साधन साहित्य का अध्ययन है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है, उसमे मानव की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और जीवन-सम्बन्धी सभी चेतनाओ का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप वर्तमान रहता है, जो संस्कृति के विशेष अंग है। अवधी लोकगीतो मे राष्ट्रीय तत्त्व, साहित्यिक तत्त्व, धार्मिक तत्त्व तथा जीवन तत्त्व परम्परागत विद्यमान है। हमारे यहाँ संस्कारो को सामाजिक रूप मिला है। फिर भी कितने ही ऐसे कार्य है, जिन्हे हम संस्कार नही कहते। उनका भी चित्रण हमे लोकगीतो मे मिलता है। पत्नी और पति के विनोद के चित्रण का एक उदाहरण देखिये—

"अपने पिया की मै लाडली, वो तो बोले सुहावने बोल री।"
"कहौ तौ गोरी धना भइया को बुलाय लेव,
कहौ तौ पिपरी मै कूटौं री—वह तो बोले सुहावने बोल। ...

स्त्री के बच्चा होने वाला है। पति कहता है कहो तो मै माँ को बुला लूँ और कहो तो मै ही पिपरी पीसूँ। इसी प्रकार वह अपनी पत्नी से सारे कार्य स्वयं कर डालने को कह कर विनोद करता है। पुत्र जन्म की आशा से प्रसन्न पति का पत्नी से विनोद करने का ढंग भी निराला है। जीवन मे प्राय इस प्रकार के मनोविनोद पति-पत्नी किया करते है।

लोक जीवन मे प्रचलित बहु विवाह प्रथा को भी लोक गीतकारो ने अपना विषय बनाया है। दो स्त्री के पति की अवस्था का चित्रण हमे इस बिरहा मे मिलता है —

कइसे जियै जिनके दुइ दुइ नारी।
बडकी कहै हम लुगरा बनवइबे, छोटकी कहै लुगरावारी सारी।
बडकी कहै हम ककना बनवइबे, छोटकी कहै ककनावारी सारी।
बड़की कहै हम गंगा नहइबे, छोटकी करै जमुना की तयारी।

बडकी कहै हम तांगा माँ जइबे, छोटकी कहै मोटर की सवारी।
बडकी कहै हम सेजिया पै सोइबे, छोटकी कहै ओसरी है हमारी।

लोक जीवन का यह एक सच्चा स्वरूप है। प्राय दो स्त्रियो के पति को ऐसी विषमताओ के बीच जीवन व्यतीत करना दूभर हो जाता है। पिण्डदान करने के लिए पुत्र होना आवश्यक माना गया है। अत कभी-कभी पुरुष पुत्र लालसा से दूसरा और तीसरा विवाह भी कर लेते है। फलस्वरूप उन्हे जीवन की ऐसी परिस्थितियो मे फसना पडता है। लोक जीवन मे पुत्रहीन स्त्री का भी बडा निरादर होता है। पुत्रहीन निरादित स्त्रियो की मनोव्यथा का भी चित्रण हमें अवधी लोकगीतो मे मिलता है। ऐसे कितने ही सोहर प्रचलित है, जिनमें पुत्रहीन माँ की मनोव्यथा चित्रित रहती है। उदाहरण के लिए एक सोहर देखिये —

चलहु न सखिय सहेलिय जमुनहि जाइय हो।
जमुना का निरमल नीर कलस भरि लाइय हो।
कोउ सखी जल भरैं कोउ मुख ध्वावहि हो।
कोउ सखी ठाढी नहाँय कि तिरिया यक र्‌वावई हो। (रोवहु)
की तुम्हैं सास ससुर दुख की मइके दूरि बसैं।
बहिनी की तुम्हरा पिय परदेस कवन दुख र्‌वावहु हो। (रोवहु)
ना मोहे सासु ससुर दुख, ना मइके दूरि बसैं।
ना मोरे पिय परदेस, कोखि दुख र्‌वावहु हो। (रोवहु)

केवल पुत्रहीन होना ही निरादर का कारण नही बनता। पुत्री को जन्म देने वाली स्त्रियो का भी समाज मे सम्मान नही होता। इसका कारण हमारे समाज मे प्रचलित दहेज-प्रथा और आर्थिक समस्या है। पुत्री को जन्म देने वाली माता के पुत्र होता है, किन्तु पूर्व धारणा के अनुसार उसकी सास आदि रुष्ट हो कर चल पडती है। प्रसन्नवदना स्त्री उन्हे पुत्र-जन्म का समाचार दे कर रोकती है और उनका सम्मान करती है। पुत्र जन्म देने पर माता की प्रसन्नता का चित्रण इस सोहर मे हुआ है —

अब मैंने धिय नहिं जनमी, जनमे हैं हीरा लाल।
अरे मेरी सास बडी जू काहे को रूठी जाव।
अरे मेरे मइके के ककना सो पहिर घर जाव।

इसी प्रकार से अन्य लोगो को भी भेंट दे कर स्त्री उन्हे प्रसन्न करती है। ऐसा ही एक गीत और मिलता है जिसमे काग स्त्री को पुत्र जन्म की भविष्यवाणी सुनाता है। स्त्री अपनी कोख को पुत्री जनने वाली बतला कर काग को ऐसी बात कहने से रोकती है।

इन सभी गीतो मे समाज की वास्तविक दशा का ज्ञान होता है। लोक जीवन मे कितनी ही ऐसी प्रथाये है जिनके कारण स्त्री और पुरुष का जीवन दूभर हो जाता है। इन सभी विषयो पर हमे लोकगीतो मे काफी सामग्री मिलती है।

जीवन मे मनुष्य के स्वभाव का भी एक विशिष्ट स्थान है। किन्ही परिस्थितियो मे ईर्ष्या आदि दुर्गुण स्वाभाविक ढग से पनपने लगते है। सौत के पुत्र को देख कर किसी स्त्री का मन प्रसन्न नही होता। इस स्वाभाविक ईर्ष्या का भी चित्रण हमे इस विरहा मे मिलता है——

जारी का कांटा कलेजवा सालै, जल बदरी का घाम।
सौति का लरिका कनियाँ सालै, ज्यो ज्यो होय सयान।

पति के वियोग मे स्त्री की अवस्था का वर्णन भी लोकगीतो मे हुआ है। प्रेम और विरह जीवन की प्रधान समस्याये है, इनका विशद वर्णन लोकगीतो मे हुआ है। कृष्ण और राधा को नायक-नायिका के रूप मे रख कर स्त्रियो ने अपनी विरह व्यथा का बड़ा ही मार्मिक स्वरूप गीतो मे उतारा है।

जीवन मे व्यावहारिक लोकाचार की कठिनाइयो का भी लोक साहित्य मे पद्यात्मक रूप मिलता है। उन्हे हम लोकगीत तो नही कह सकते फिर भी उनमे जीवन के तत्व वर्तमान है। उदाहरण के लिए चार चरणो के ये पद देखिए——

एकु बिपति है बड्डा नाँव।
दूसर बिपति डगर का ठाँव।
तीसर बिपति है धन के हीन।
एक बिपति माँ बिपतै तीन।

(२)

एकु बिपति है करकसा जोय।
दूसर बिपति पुत्र न होय।
तीसर बिपति है कुल कै हीन।
एक बिपति माँ बिपतै तीन।

जीवन एक व्यापक वस्तु है। अत जीवन के प्रत्येक रूप का उदाहरण देना कठिन है। लोकगीतो में जीवन-तत्व पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। धर्म, रीति, नीति उपयोगी कलाओ तथा अन्य जीवन-सम्बन्धी तत्वो को लोकगीतकारो ने मानवीय सवेदनाओ के साथ अपने गीतो में चित्रित किया है। जीवन की तमाम रागात्मक प्रवृत्तियो का जितना सुन्दर चित्रण लोकगीतो में मार्मिक ढग से हुआ है,उतना किसी शिष्ट साहित्य मे सम्भव नही। साहित्य मे जीवन के आदर्शों आदि के बन्धन रहते है, किन्तु लोक साहित्य मे जीवन की सुन्दरता, असुन्दरता, समता और

विपमता आदि सभी प्रकार का वर्णन मिलता है। लोक-साहित्य जीवन के प्रत्येक अंग को छूता और अपनाता है। जीवन की कितनी ही परम्पराओ ओर मान्यताओ को लोक साहित्य अपने आप मे सुरक्षित रक्खे है। कारण लोक साहित्य काल के बन्धन मे न बंध कर समाज की स्थायी परम्पराओ से सम्बन्धित है। फलस्वरूप लोकगीतो के माध्यम से किसी काल-विशेष का ज्ञान करना अत्यन्त कठिन कार्य है। लोक साहित्य जीवन का यथातथ्य वर्णन करता है, कारण उसका सम्बन्ध वाह्य से नही, हृदय से है। बुद्धि के तर्क के लिए उसमे उतना स्थान नही जितना विश्वासो के लिये है। इन्ही विशेपताओ के कारण लोकगीतो मे जीवन-तत्व अधिक निखरे है।

अवधी लोक गीतो मे जन्म के अवसर से गीत मिलते है। जन्म के अवसर पर दो प्रकार के गीत गाये जाते है, जिनके नाम क्रमश सरिया और सोहर है। सरिया और सोहर मे कोई विशप अन्तर नही है। सरिया मे दाई आदि की व्यवस्था का वर्णन होता है। सोहर मे जच्चा की शारीरिक और मानसिक व्यथा और प्रसन्नता का वर्णन होता है।

पुत्र जन्म के छठे दिन छठी मनाई जाती है। छठी के दिन वहन वधाई ले कर आती है। इस अवमर पर वधाई नाम के गीत गाये जाते है। वधाई मे नेगचार के साथ-माथ माता और वहन की प्रसन्नता आदि के अतिरिक्त स्त्रियो के स्वाभाविक गुणो दुर्गणो का वर्णन भी मिलता है।

छठी के वाद अन्नप्राशन होता है। यह मामाजिक सस्कार है और इसका शास्त्रीय विधान भी है। कुछ मस्कार ऐसे भी है, जो शास्त्रीय मतानुसार आवश्यक नही। लेकिन समाज की परम्पराओ ने उन्हे मस्कारो का रूप दे दिया है। अन्नप्राशन को अवधी लोक साहित्य मे पसनी के नाम मे मम्वोधित किया जाता है। इस अवसर के गीतो को भी पसनी कहते है।

अन्नप्राशन के पश्चात् मुण्डन मस्कार होता है। यह सम्कार भी शास्त्रीय नियमानुसार मामाजिक है। इम अवमर पर जो गीत गाये जाने है उन्हे मूडन कहा जाता है।

इन मस्कारो के वाद यज्ञोपवीत मस्कार का विशेप महत्व है। यज्ञोपवीत होने वाले लड़के को वरुआ, जिमका अर्थ व्रह्मचारी है, कहते है। इम अवमर के गीतो को भी वरुआ ही कहते है, कही कही पर भीखी भी कहते है। वरुआ भिक्षा माँगता है और उम समय ये गीत गाये जाते है। वास्तव मे प्राचीनकाल मे विद्यार्थी भिक्षा माँग कर अपना और अपने गुरु का पेट पालते थे। आज का जीवन भिन्न हो चुका है और उम विशेप अवस्था की नकल मे वरुआ घर मे ही काशी जाने को कहता है और भिक्षा माँगता है। इन रीतियो मे हमे अपने पुराने आदर्शो का ज्ञान होता है। इम अवमर का यह गीत देखिये—

वेदी माँ ठाढे है वरुआ तौ दूरि फिरि चितवैं।
कहाँ गई माया हमारी तौ भिक्षा लई डारैं हो।

एही भिक्षा के कारन माता चलेन बनारस, (वाराणसी)
अब कस जाहु हो बनारस जिनके दादा हैं पण्डित,
आपन दरब लुटैहैं बाभन करिहाई हो।

माँ कहती है, विद्याध्यन के लिए बनारस जाने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे दादा स्वयं पण्डित हैं, वे तुम्हें यहीं विद्या पढ़ा देंगे। इन गीतों में प्राचीन काल में समाज में विद्या के प्रति अनुराग और विद्यार्थी की अवस्था का परिचय मिलता है।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् जीवन का सब से महत्वपूर्ण संस्कार विवाह आता है। इस अवसर पर कई प्रकार के गीत गाये जाते हैं।

इन गीतों में स्त्रियों के आदर्शों का भी चित्र मिलता है। उनकी सहनशीलता का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार बारात आने पर द्वारचार के समय, भावरों के समय, भोजन के समय के गीत गाये जाते हैं। भोजन के समय जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें ज्योनार कहते हैं। इन गीतों में खाने के विभिन्न पदार्थों के नामों का विवरण मिलता है। जिस दिन मण्डप उखड़ता है उस दिन भी गीत गाये जाते हैं। प्राय पति पत्नी का प्रथम मिलन उसी दिन होता है। इस अवसर का एक यह गीत बहुत ही मार्मिक है —

आज सोहाग कै रात कि चन्दा तुम निकरेहु हो।
चन्दा तुम निकरेहु, सुरिज जिन आयेहु हो।
मोर हिरदै बिरस जिनि केहेव, मुरग जनि बोलेहु हो।
मोर छतिया बिदरि ना जाय कि पौ जिनि फाटेउ हो।
आज करौ लम्बी राति कि चन्दा तुम निकरेउ हो।
धीरे धीरे चलि मोरे सुरज बिलम करि आयेउ हो।

विवाह के बाद अवधी लोकगीतों में अन्य किसी संस्कार के गीत नहीं मिलते। इन संस्कारों के गीतों में हमें समाज में प्रचलित सभी परम्पराओं एवं रीतियों का विवरण मिलता है। लोकगीतों के माध्यम से हमें व्यक्ति और समाज दोनों के लोक जीवन का परिचय मिल जाता है। किन्तु इस बदलती सभ्यता के युग में हम केवल लोक साहित्य के अध्ययन मात्र से लोक संस्कृति का ज्ञान नहीं कर सकते। कारण लोक साहित्य अज्ञात काल से अभी तक ज्यों का त्यों चला आ रहा है। कौन गीत किस समय लिखा गया, इसका पता ही नहीं लगाया जा सकता। इसके विपरीत लोकगीतों में वर्णित कितनी ही लोक रीतियाँ और आस्थायें दिन पर दिन मिटती और बदलती जा रही हैं। लेकिन जहाँ तक समाज की मूल सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के अध्ययन का प्रश्न है, लोक साहित्य हमारे लिए अमूल्य निधि है। लोक साहित्य ने हमारे इतिहास को भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखा है।

धरती की उसाँस

श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय

गुजरात के कवि नर्मद के पद-चिह्नो पर चलने के लिए प्रयत्नशील तरुणकवि नर्मदेश्वर ने धरती की उसाँस मे लोकजीवन के हर पहलू की धडकने सुनने की चेष्टा की है। —सपादक

भारतीय जन-समाज का समस्त मनोविज्ञान यदि कही सगृहीत है, तो वह लोक-गीतो मे ही ह, इसीलिए हमारे लोकगीतो मे लोक-जीवन को अनुप्राणित करने की अद्भुत् शक्ति है। इन सहज-सलोने लोकगीतो के पीछे जो मूक साधना, मार्मिक अनुभूतियाँ ओर कसकभरी सजीवता हे वह अन्यत्र दुर्लभ है। दुवली-पतली, टेढी-मेढी पगडडियो की भाँति अठखेलियाँ करती हुई जन-जीवन की इस गगा को पृथ्वी-पुत्रो ने युगो की साधना एव भगीरथ-प्रयत्न के फलस्वरूप धरती पर अवतरित कर आने वाली पीढियो को कृतार्थ किया। लीजिए, ऐसे ही कुछ गीतो का रसास्वादन कीजिए।

जीवन की धारा उद्दाम वेग से प्रवाहित हो रही है। तट पर सहमी-सी खडी हुई प्राण-वधूटी उससे तनिक धीरे वहने का अनुरोध करती है। चचल लहरो से प्रश्न उठता हे—कोन हे, उसका खिवैया, किस चीज की वनी हुई है उसकी नौका और पतवार तथा कौन है पार उतरने वाला। प्राण वधूटी के उत्तर मे ग्राम्य-दर्शन की वडी ही पवित्र एव आध्यात्मिक गूँज मिलती है। अपने आराध्य जेसा खिवैया और सत् जैसी पतवार पा कर किसके धरम की नैया नही पार हो गई, किस प्राण-वधू को सासारिक माया-जाल से मुक्ति नही मिल गई। जीवन के प्रति यह निर्गुन-दृष्टि कितनी उत्कृष्ट और सराहनीय है —

धीरे बहो गगा तं धीरे बहो
मोरा पिया उतरइ दे पार
काहे की तोरी नइया रे
काहे की करुआरि
कहाँ तोरा नैया खेवैया
के धन उतरइ पार

× × ×

धरम की मोरी नैया रे
सत लागी करुआरि
सैयाँ मोरा नैया खिवैया
हम धन उतरव पार
धीरे बहो गगा तं धीरे बहो । मोरा०

दूसरा लोक-चित्र हमारे सामने सासारिक प्रेम के अद्वितीय आदर्श की स्थापना कर रहा है। दूर देश से आते हुए प्रियतम को देख कर द्वार पर खड़ी हुई ग्राम-वधू बरबस ही गुनगुना उठती है। दर्शन-मात्र से उसका रोम-रोम प्रसन्नता मे पुलकित हो उठा। धूल-धूमरित वातावरण को चीर कर आते हुए रसिया को देख कर सूखी दूब हरी हो जाती है, रीते कूप सजल हो उठते है। द्वार पर मोतियो से चौक पूरने और सोने के कलसे स्थापित करने की कामना कितनी मगलमय है—

रसिया आये गरद उड़ी गोरी !
जब मोरे रसिया मॅड़वा पै आये
झूरि दूब हरियानी गोरी
रसिया आये गरद उड़ी गोरी !
जब मोरे रसिया कुइयाँ पै आये
रीते कुआँ भरि आये गोरी !
जब मोरे रसिया दुअरा पै आये
मोतियन चौक पुराये गोरी !
जब मोरे रसिया सेजिया पै आये
सोनवा कलस धराये गोरी !
रसिया आये गरद उड़ी गोरी ! !

और यह गीत पुत्र-जन्मोत्सव पर गाया जाने वाला एक सोहर है जो बरबस ही मानव-मन को त्रेता-युग के राम-राज्य की ओर खीच ले जाता है। सीता का गर्भ सुफल हो—इसलिए जगल का हरिन मारा जायगा। हरिनी यह समाचार पाकर उदास हो जाती है। और अपने प्रीतम की प्राण-रक्षा के लिए महारानी कौशल्या के पास जा कर वह हाथ जोड़ कर निवेदन करती है। रानी, सुना है, सीता जी को पुत्र होने वाला है। इस खुशी मे मुझे क्या उपहार दोगी। माता कौशल्या उसके सीगो मे सोना मढाने, दोनो को तिल-चाउर खिलाने तथा अयोध्या राज्य मे अभय विचरण करने का आश्वासन देती है। इस आश्वासन मे तत्कालीन राजा और प्रजा के बीच स्थापित वात्सल्य-भाव का बहुत ही मार्मिक रूप परिलक्षित होता है।

छोट मोर पेड़वा ठकुलिया
त पतवन लहलहई हो।
रामा तेहि तर ठाढ हरिनिया
हरिन वाट जोहई हो।
बन से निकलेला हरिनवा
त हरिनी से पूँछइ हो
हरिनी काहे तोर बदन मलीन
काहे मुँह पीअर हो

गइलौं मैं राजा के महलिया त वतिया सुनि अइलो हो
आजु छोटे राजा के वहेरिया हरिन मरवइहइ हो
केइ जे बगिया लगउले केई जे आए ढूँढई हो
हरिनी केकर धनिया गरभ से हरिन मरवइहें हो
दसरथ वगिया लगउलें लखन आए ढूँढई हो
प्यारे रघुवर धनिया गरभ से हरिन मरवहई हो
कर जोरे हरिनी अरज करई सुन कौसल्या रानी हो
रानी सीता के होइह नदलाल हमँहि कुछ दीहिउ हो
सोनवा मढ़उवई दूनो सिगवा भोजनवा तिल-चाउर हो
हरिनी भोगहु अयोध्या कै राज अभय वन-विचरहु हो।

अव मैं आपको गाँवो के दैनिक-जीवन के एक चित्र से परिचित कराता हूँ। भोर हो रही है। घुकर-घुकर चलती हुई चक्की के प्रभाती स्वर सोये हुए गाँव को जगा रहे है। और चक्की के स्वर मे स्वर मिला कर उठ रहे है गाँव की वहू वेटियो द्वारा गाये जाने वाले जँतसार के अक्षर-स्वर। जँतसार का यह कथानक वडा ही विकल और मर्मस्पर्शी है। लोक-कथा उतर रही है। चिर-उपेक्षिता उर्मिला रोती-सिसकती जात पीस रही है। पीसते-पीसते थक गई है। परदेस से लौटते हुए लक्ष्मण को अचानक ही ये सिसकियाँ सुनाई पडती है। पास जाकर पूछते हैं—कौन इतना कातर हो कर आँसू वहा रहा है। पूछने पर जव ज्ञात होता है कि वह विकल प्राणी और कोई नही अपितु उन्ही की चिर-प्रेयसि उर्मिला है तो लक्ष्मण व्याकुल हो उठते है। वे घर के भीतर जा कर अपनी उत्पीड़िता प्रियतमा के आँसू पोछते हुए उसे सान्त्वना देने का प्रयत्न करते है —

केरे देले गोहुँआ रामा केरे देले चँगेरिआ
कउनी वैरिनिया हो रामा भेजेल जतसरिया
सासु देले गोहुँआ रामा ननदी चगेरिया

गोतनी वैरिनिया रामा भेजेल जँतमरिया
जँतवौ न चलई रामा मकरी न डोलइ
जतवा के धइले हो रामा रोइला जँतमरिया
घोडवा चढल हो लछिमन ऋरई पुछमरिया
केकरी तिरियवा रामा रोवई जँतमरिया
घोडवा त बधलन लछिमन वर के वरुनिआ
झपसि पडसणन लछुमन पोछे नयना लोरवा
केरे देले गेहुँवा साँवरी केरे दे ल्हे चगेरिया
कउनो वैरिनिया हो रामा भेजल्न जँतमरिया
सासु देले गोहुँवा परभू ननदी चँगेरिया
गोतनी वैरिनि परभू भेजल जँतसरिया
जँतवउ न चलइ परभू मकरी न डोलई
जाँतवा के धइले परभू रोवइँ जँतमरिया
बँहिया पकरि लछिमन जँघिया वइठउलेन
अपने गमछइे हो लछिमन पोछे नयना लोरवा

यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठापित गाँव के इन गीतो मे कही हमे टीम मिलती है तो कही दर्द भरी मिठास। मन की वातो को वहुत ही साफ सुथरे ओर मीधे-मादे ढग से प्रगट करना तो जैसे इनका स्वभाव है। वरखा रितु मे गाये जाने वाले विरहा की इन पक्तियो मे कितनी सादगी है, जरा अनुभव कीजिए—

सइयाँ धोखा देइ के गइलन हमके बदरी में
ना कछु लेइ गइलन ना कछु देइ गइलन
पनियउ से पातर हमके कइलन बदरी में सइयाँ

गौने की दुलहिन को विदा करा पालकी मे विठा कर कहार कदम से कदम मिलाते हुए सध-बँधे सुर और ताल के साथ कहरवा गाते हुए द्रुत गति से चले जा रहे है। वे जा रहे है—घूँघट मे सिकुडी—माँ वाप और सहेलियो की सुधि मे सिसकती हुई लजाधुर दुलहिन को दूर पिया के देश पहुँचाने। उनकी पगध्वनि के ताल मे ताल मिला कर कहरवा से स्वर थिरक रहे है। पृष्ठ-भूमि मे आर्थिक सकट से आक्रान्त दलित ग्रामीण नवयुवक की वेवसी गूँज रही है। वह चाकरी करने के लिए परदेश जाता हे। उसकी मासूम प्रेयसी अपने प्रीतम के वियोग की आँच से तिलमिला उठती है। भूख-प्यास की तनिक भी परवाह न करती हुई वह सेर भर गेहू वरस भर खा कर अपना पेट पालने का कठोर सकल्प कर सकती है, लेकिन अपने साजन का आँखो से ओझल होना वह स्वीकार करने को तैयार नही। प्रणय का यह लोक-चित्र कितना उत्कृष्ट है —

पुरुब से आइ रेलिया पछिऊँ से आइ जहजिया
पिया के लादि लेइगइ हो
रेलिया होइ गइ मोर सवतिया पिया के लादि लेइ गइ हो !
रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी, उहै पइसवइ बैरी हो
देसवा-देसवा भरमावइ उहै पइसवइ बैरी हो !
भुखिया न लागइ पियसिया न लागइ हमके मोहियइ लागइ हो
तोहरी देखि के सुरतिया हमके मोहियइ लागइ हो !
सेर भर गोहुँआ बरिस दिन खइबै पिया के जाइ न देबै हो
रखबै अँखियाँ के हुजुरुवा पिया के जाइ न देबै हो !

विरह की व्यथा का एक दूसरा चित्र। बरखा आती है। लेकिन परदेश गया पिया लौट कर नही आता। अपढ गाव की वह अपने आचल के टुकडे पर आँखो से वहते हुए काजल मे नेह की पाती लिखवाती है। पाती किसी बटोही के हाथ भेजती है। पाती पाकर भी निठुर परदेशी घर नही लौटता और घरवाली को चरखा कात कर रात भर वियोग के दिन बिताने तथा कुल की लाज रखने की सलाह-मात्र देकर छुट्टी पा लेता है। घरवाली के भीतर सोता हुआ नारीत्व इस अप्रत्याशित प्रतिक्रिया से तिलमिला कर जाग उठता है। वह कुल की मर्यादा तोडने की चेतावनी देती है और परदेशी साजन घबरा कर तुरन्त घर के लिए प्रस्थान कर देता है।

अत मे, प्रथम मिलन के एक चित्र की सजीवता का अनुभव कीजिए। लाज के घूघट मे लिपटी हुई नव-परिणीता वधू अपने सौभाग्य-देवता के चरणो मे यौवन की अधखिली कलियो को चढाने जा रही है, अपना सर्वस्व न्यौछावर करने जा रही है। आज उसके मिलन की पहली-पहली रात है। सुहाग की पवित्र निशीथ-वेला। आकाश मे नक्षत्रो के अनन्त दीप जगमगा रहे है। चन्द्रोदय हो रहा है और दूर गाव के किसी कोने मे कुछ युवतिया समवेत् स्वर मे सुहाग का यह मगल-गीत गा रही है ——

आज सुहाग कइ रात चँदा तू उइह हो
चँदा तू उइहो सुरुज जिनि उइह
करिह बहुत बडी रात मुरुग जिनि बोलिह । इत्यादि

इस प्रकार गाव के ये गीत वरवस ही मन छूते हुए दल पर अपनी अमिट छाप छोडते चलते है। ये गीत ही नही वरिक हमारे साहित्य की निधि है जो लोक सस्कृति की प्रतिध्वनि बन कर गूजा करते है।

भोजपुरी लोकगीतों में कजली

श्री उदयनारायण सिंह, एम० ए०

लोकजीवन के कोमल और मार्मिक भावो को व्यक्त करने मे कजली, बहुत लोकप्रिय राग सिद्ध है। भोजपुरी क्षेत्र के निवासी श्री उदयनारायण ने कुछ उदाहरणो द्वारा कजली गीतो का चित्रण इस लेख मे किया है।
—सपादक

भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र की जनता, विशेप रूप मे स्त्रियाँ, सावन मास मे झूला लगाती है, और अधिकतर रात के समय इसी झूले पर झूलते हुए कजली गाती है। मिर्जापुर, काशी आदि कुछ स्थानो पर झूला झूलने की विशेप प्रथा है। इस अवसर पर प्रकृति का चित्रण करने वाले अनेक गीत प्रचलित है।। रात मे काले बादलो को देख कर एक सखी अपनी दूसरी सखी से कहती है—

"सखि हो काली बदरिया रात
देखत निक लागे ए हरी
गड गड़ गरजे, चम चम चमकै,
सखि हो! झम झम बरिसे ना।"

सावन की बहार देखने के लिए एक सहेली अपनी दूसरी सखी से बगीचे मे चलने के लिए कहती है—

"चिडिया चली चल बगइचा,
देखन सावन की बहार,
देखन फूलो की बहार—
सावन में फूले बेइला चमेली,
भादो में कचनार—
चिडिया चली चल.........।"

एक सखी जिसका प्रियतम कही बाहर गया हुआ है, अपनी विरह-व्यथा दूसरी सखी से कहती है—

"सखि हो वडा कडा जल वरिसे
राजा कत भीगत होइहे ना,
राजा कत......"

इस पर दूसरी सखी कह रही है—

वडे साहेव के नोकर चाकर,
छोटे साहेब के यार,
छूटी पावेंगे रे सँवलिया,
तब तोरे जेवना जेवेंगे।"

तुम्हारे प्रियतम वडे साहेव की नौकरी करते है और छोटे साहेव के दोस्त है। जब उन्हे छुट्टी मिलेगी तो आकर तुम्हारी तैयार की गयी रसोई का आस्वादन करेगे।

एक दूसरे गीत मे एक स्त्री का प्रियतम उसके लिए नथिया (नाक का एक आभूपण) लाने की प्रतिज्ञा कर विदेश चला गया है। इसी बीच सावन का महीना आ जाता है। वह स्त्री अपनी मनोदशा का वर्णन इस प्रकार करती है—

"नथिया का कारन हरि,
मोरे उतरि गइले पार
रतिया सेजिया हो अकेली
दिनवा वतियो ना सोहाइ।
एकत राति हो वडी है,
दूसरे सइया बिछूडी,
तीसरे सावन के महीनवा
झम झमकावे वदरी।"

सावन का महीने आ जाने से उस स्त्री को न तो दिन मे अच्छा लगता है और न रात ही को। एक अन्य युवती सावन मे अपने आगन मे वर्षा होते देख कर कहती है—

"वडे वडे वूनवारे
वरिसेला सावनवा
अरे केहू ना कहेला, हमरा-
हरि के आवनवा रे।"

प्रस्तुत गीत मे सावनवा और आवनवा का कितना सुन्दर तुक मिलाया गया है। युवती आगे कहती है, कि जो व्यक्ति मेरे प्रियतम के आने का समाचार सुनाएगा उसे मैं अपनी बाह का स्वर्ण कगन दे दूँगी।

"जे मोरा कहिहें रे
हरि के आवनवा रे-
ओके देवो हाथ के कगनवा रे।"

एक स्त्री अपने नैहर मे है। सावन मास आ जाने पर वह अपने प्रियतम के घर जाने के लिए घर के एक वयोवृद्ध व्यक्ति से गवना कराने के लिए कहती है यथा—

"हरि हरि बाबा के सगरवा
मोरवा बोले ए हरी,
मोरवा के बोलिया सुनि के जीयरा उचटले-
हरि हरि कहद बाबा हमरो गवनवा ए हरी।"

इस पर लडकी से उसके घर के अभिभावक कहते है—

"असो के सवनवा बेटी खेलिल कजरिया–
हरि हरि आगे अगहन, करवो तोर गवनवां ए हरी।"

इस पर लडकी कहती है—

"आगि लागो बाबा आगे के अगहनवा
हरि हरि समई बीतेला नईहरवा ए हरी।"

सावन मास, आने पर अनार, बेला, कचनार आदि फूल फूलते है। एक स्त्री अपने प्रियतम की उपमा फूल से देते हुए इस प्रकार कहती है—

"हरि हरि सइयाँ अनारे के फूल देखत निक लागे ए हरी।
हरि हरि सोव सवति के साथ
बलमु कुम्भिलाने ए हरी।"

उक्त स्त्री को इस बात का भय है, कि यदि मेरे प्रियतम सौत के साथ रात व्यतीत करेगे तो वे कुम्हिला जायगे। प्रस्तुत चित्र मे कितनी कोमल भावना का चित्रण किया गया है।

सावन मे काले बादलो के छा जाने और बरसते देख एक युवती उसे "बैरिन" की उपमा देती है—

"घेरी घेरो आवे पिया कारी बदरिया
हैवा बरसे हो बड़े बूद। बदरिया बैरिन हो।
सब लोग भीजे घर अपने
मोर पिया भीजै हो परदेस
बदरिया बैरिन हो।"

एक विरहिणी के हृदय मे एक ओर तो प्रियतम से मिलने की इच्छा ह और दूसरी ओर उसकी अनमोल साड़ी के भीजने की। उसके मस्तिष्क मे जो घात प्रतिघात चल रहा है, उसका बड़ा ही सजीव वर्णन एक लोकगीत मे किया गया है। यथा—

"बूदन भीजै मोरी सारी मैं कैसे आऊँ बालमा।
एक तो मेह झमाझम बरसै, दूजै पवन झकझोर।
आऊँ तो भीजे मोरी सुरग चुर्दरिया, नाहिल छुटत सनेह।
सनेह से चुनरी होइहै बहुवरि, चुनरी से नाहिन सनेह।"

इन गीतों मे न केवल वर्षा का ही वर्णन मिलता है वरन् हमे उक्त क्षेत्र क सामाजिक एव आर्थिक जीवन की भी झाँकी मिलती ह। वर्षा के महीनो मे भोजपुरी क्षेत्र मे गायी जाने वाली कजली मे हृदय-स्पर्शी आह्लादकतत्व है।

१६

भोजपुरी लोक गीतों में 'दिव्य' की प्रथा

डा० कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए०, पी-एच० डी०

लोकगीतो की मार्मिक व्याख्या करने एव लोक साहित्य की गहराई को नापने मे डा० उपाध्याय यश प्राप्त हे। पुरातन काल से हिन्दू-सस्कृति मे प्रचलित 'दिव्य' की परम्परा भोजपुरी लोकगीतो मे किस प्रकार समाविष्ट है, यही इस लेख मे व्यक्त किया गया है। —सपादक

प्राचीन भारत मे दिव्य की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी। चोरी, कर्ज (ऋण), सीमा-निर्णय, भूमि-दान ओर पशु-हरण आदि मामलो मे अपराधी का निर्णय करने के लिए दिव्य का प्रयोग किया जाता था। जब अपराधी के निर्णय मे साक्ष्य, लिखित प्रमाण आदि साधारण साधन असफल हो जाते थे तो असाधारण और अलोकिक साधनो से काम लिया जाता था। इन साधनो के अलोकिक होने के कारण इस प्रथा को 'दिव्य' कहा जाता था। नारद ने लिखा है कि जब किसी मुकदमे मे साक्षी (गवाह) न मिले तो भिन्न भिन्न प्रकार के दिव्य ओर शपथ के द्वारा इसका निर्णय करना चाहिए।[1] कुछ आचार्यो ने दिव्य ओर शपथ को दो भिन्न वस्तु माना है। उनका मत है कि 'दिव्य' के द्वारा तत्काल निर्णय किया जाता है परन्तु शपथ के द्वारा निर्णय करने मे अधिक समय लगता है। परन्तु व्यास ने इन दोनो को एक ही माना है और 'दिव्य' के लिए शपथ शब्द का प्रयोग किया है।[2]

लोकगीतो मे 'दिव्य' के लिए 'किरिया लेना' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] विष्णुधर्म सूत्र मे अलौकिक प्रमाण को 'दैविकी क्रिया' कहा गया है।[4] अत 'किरिया लेना' शब्द इसी सस्कृत शब्द 'दैविकी क्रिया' का अपभ्रश रूप है। धीरे धीरे दैविकी शब्द का लोप हो गया और क्रिया शब्द 'किरिया' रूप मे परिवर्तित हो गया। भोजपुरी मे शपथ खाने को 'किरिया लेना' या 'किरिया खाना' कहते है। अत 'किरिया लेना' शब्द शपथ लेना या दिव्य

---

१ यदा साक्षी न विद्येत, विवादे वदता नृणाम्।
तदा दिव्यैः परीक्षेत, शपथैश्च पृथग्विधैः॥ नारद ४।२४७

२ स्मृति चन्द्रिका २। पृष्ठ ९६ में व्यास का उद्धरण।

३ त्रिपाठी—ग्राम-गीत पृष्ठ २४३

४ विष्णु धर्म सूत्र ९।१

के लिए प्रयुक्त होता है। कही कही 'किरिया' के लिए 'विचरवा लेना' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है।[१]

दिव्य का प्रयोग

शपथ अथवा दिव्य का प्रयोग न्याय-संबधी मामलो मे ही नही किया जाता था बल्कि साधारण परिस्थितियो मे अपनी बात को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अथवा अपने आचारण की विशुद्धता प्रामाणित के लिए दिव्य का प्रयोग प्राचीन भारत मे किया जाता था। नारद ने लिखा है, कि दिव्य का प्रयोग उस समय भी किया जा सकता है जब किसी स्त्री के सतीत्व मे सन्देह हो जाय।[२] नारद के इस कथन मे सीता की अग्नि-परीक्षा प्रत्यक्ष सामने आ जाती है। नारद ने साधारणतया स्त्रियो के द्वारा दिव्य का प्रयोग निषिद्ध बतलाया है। परन्तु उपर्युक्त विधान केवल विशेष अवस्था मे ही है, भोजपुरी लोक-गीतो मे 'दिव्य' का जो उल्लेख पाया जाता है वह केवल स्त्रियो के लिए ही है और वह भी केवल उनके सतीत्व की शुद्धता की परीक्षा के लिए। यद्यपि पुरुषो ने भी चरित्र-संबधी वैसा ही अपराध किया है परन्तु उनके द्वारा 'दिव्य-प्रयोग' का उल्लेख इन लोकगीतो मे कही भी नही पाया जाता।

[३]किसी स्त्री का पति परदेश चला गया है, वह पत्र भी नही भेजता। वह अपना दूसरा विवाह कर परदेश मे आनन्द करता है, परन्तु बारह वर्षो के दीर्घकालीन अवधि के उपरान्त जब वह घर लौट कर आता है वह अपनी पतिपरायणा स्त्री के आचरण पर सन्देह प्रकट करता है। जब उसकी स्त्री दिव्य-प्रयोग के द्वारा अपने को सती प्रमाणित करती है तभी वह उसको ग्रहण करता है। लोक-गीतो मे दिव्य का जो विधान पाया जाता है वह केवल इसी एक अवसर पर है, अन्यत्र नही।

लोक-गीतो मे समस्त जनता के सामने विशेषकर स्त्री के संबंधी—भाई और पिता—के समक्ष दिव्य देने का वर्णन पाया जाता है। एक लोक-गीत मे चन्दा नामक स्त्री के सतीत्व पर उसके सास-ससुर एव पति सन्देह करते है। तब वह अपने भाई और पिता को बुलाती है एव ससुराल के सभी लोगो के सामने अग्नि-दिव्य को लेती है। वह कहती है कि ऊँचे-ऊँचे स्थान पर मेरी ससुराल के लोग बैठे हुए है। मेरे भाई एव पिता लज्जा के मारे जमीन पर नीचे बैठे है।[४]

---

१ भोजपुरी-ग्राम-गीत भाग १ पृ० १६७
२ नारद-स्मृति ४।२४२
३. वही, ४।२५६
४ त्रिपाठी—ग्राम-गीत, पृष्ठ ३३४

ऊचे ऊचे वइठे मोरे ससुरा के लोगवा रे ना।
रामा खाल्हावा वइठे भइया, वावा रे ना।
वडी वडी पागा वान्हे ससुरा के लोगवा रे ना
रामा भइया, वावा अगरछिया रे ना।
रामा तेहि बीच चढिहे करहिया रे ना।
रामा तेहि ढीग खाड, सती चन्दा रे ना।

इस उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट ही पता चलता है कि इन गीतो के समय समस्त जनता के सामने किसी सार्वजनिक स्थान मे स्त्री को दिव्य दिया जाता था, जिससे उसके सतीत्व की विशुद्धता सब को विदित हो जाय। एक दूसरे गीत मे स्त्री की अग्नि परीक्षा के समय बढ़ई, लोहार, तेली, कुँहार, नाई आदि के उपस्थित रहने का उल्लेख पाया जाता है।[1]

दिव्य लेने का समय

याज्ञवल्क्य[2] और नारद[3] का मत है कि सब प्रकार का दिव्य प्रधान न्यायाधीश के द्वारा प्रात काल सूर्य निकलने के समय अथवा पूर्वाह्ण मे देना चाहिए। मिताक्षरा के अनुसार रविवार का दिन इसके लिए शुभ एव उचित है। पितामह का मत है कि जल-दिव्य दोपहर को देना चाहिए और विष-दिव्य रात्रि के अन्तिम प्रहर मे देना चाहिए।[4] विभिन्न दिव्यो के लिए भिन्न भिन्न ऋतुओ एव महीनो को उचित बताया गया है। जसे अग्नि दिव्य वर्षाऋतु मे, तुला दिव्य शिशिर मे, जल दिव्य ग्रीष्म मे एव विष दिव्य को शीत ऋतु मे देने का विधान है। लोक-गीतोमे दिव्य देने के लिए अथवा 'किरिया लेने' के लिए किसी विशेष ऋतु, मास अथवा दिन का उल्लेख नही मिलता। हाँ,एक गीत मे त्रयोदशी तिथि का उल्लेख अवश्य पाया जाता है। कोई स्त्री कहती है कि आज एकादशी है, कल द्वादशी होगी। अत मै परसो त्रयोदशी के दिन 'किरिया' लूँगी[5]—

"आजु एकदसिया विहान दुवादसिया,
तेरसि के लेइहें किरियवा रे ना।"

शास्त्रकारो ने लिखा है कि दिव्य लेने वाले को व्रती होना चाहिए। सभवत इसीलिए एकादशी ओर द्वादशी को व्रत रख कर त्रयोदशी को दिव्य लेने का उल्लेख ऊपर के गीत मे किया गया है।

---

१ त्रिपाठी——ग्राम-गीत, पृष्ठ २८७
२ याज्ञवल्क्य स्मृति २।९७
३ नारद स्मृति ४।२६८, ३१०
४ याज्ञवल्क्य स्मृति २।९७ की टीकामें मिताक्षरा का उल्लेख
५ त्रिपाठी——ग्राम-गीत पृष्ठ २८७

दिव्य लेने की विधि

लोक-गीतो मे दिव्य लेते समय किसी विशेष शास्त्रीय विधि-विधान का उल्लेख उपलब्ध नही होता। एक लोकगीत मे दिव्य लेने के पहिले कोई स्त्री सूर्य की प्रार्थना करती हुई कहती है कि हे सूर्य ! यदि मै सती हू तो तुम मेरी प्रतिष्ठा रखो।[1]

"हे मोर सुरुज ! हमार पति राखेउ,
जो हम होई सतवन्ती हो राम।"

कही कही तेल-दिव्य मे कड़ाही, तेल, लकड़ी, आग आदि लाने का उल्लेख मिलता है।[2] 'किरिया लेने' के पहिले प्रारम्भिक पूजा अवश्य की जाती होगी परन्तु उसका वर्णन भोजपुरी लोक-गीतो मे उपलब्ध नही होता।

गीतों मे दिव्य के भेद

लोक-गीतो मे छ प्रकार के 'दिव्यो' का उल्लेख पाया जाता है---(१) अग्नि, (२) आदित्य, (३) गगा (जल), (४) तुलसी, (५) तैल, (६) सर्प। इनमे से आदित्य (सूर्य), तुलसी और सर्प दिव्य बिल्कुल नये और मौलिक है अर्थात् इनका उल्लेख स्मृतियो मे नही पाया जाता। गगा दिव्य---जिसे गीतो मे 'गगा-विचार' कहा गया है---जल दिव्य का ही दूसरा नाम है। लोक-गीतो का तेल-दिव्य धर्मशास्त्रो मे वर्णित तप्तमाषदिव्य म अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। सर्प दिव्य को स्मृतिकारो ने घट-सर्प दिव्य कहा है।[3] परन्तु इसका विशेष उल्लेख नही मिलता। तुलसी दिव्य और आदित्य दिव्य का विधान स्मृतियो मे उपलब्ध नही होता।

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है गीतो मे दिव्य का अवसर केवल एक ही बार आता है और वह समय है परदेशी पति के घर लौटने का। प्राचीन समय मे जब आवागमन के साधन नही थे उस काल मे लोग व्यापार के लिए दूर देश को जाते थे, तब बहुत दिनो के बाद घर लौटते थे। गीतो मे बारह वर्ष के सुदीर्घ काल के पश्चात् पुरुषो के परदेश से लौटने का वर्णन मिलता है। इतने दिनो तक उनकी स्त्रिया अपने पातिव्रत धर्म का पालन कर सकी या नही, इसकी परीक्षा ये परदेशी पति किया करते थे। एक गीत मे बारह वर्ष पर कोई पति परदेश से घर लौट कर आया है।[4] उसकी चुगलखोर बहन अपनी भावज के आचरण की निन्दा उससे

---

१ त्रिपाठी---ग्राम-गीत, पृष्ठ २८७
२ त्रिपाठी---ग्राम-गीत, पृष्ठ २८७
३ व्यवहार तत्त्व पृष्ठ ५७९
४ त्रिपाठी---ग्राम-गीत, पृष्ठ २८६

करती है। अतएव वह अपनी बहन के चगुल मे फँस कर अपनी स्त्री के सतीत्व की परीक्षा करना चाहता हैं—बहन अपने भाई से कहती है कि—

"गोडावा धोवावत बहिनी लागेला चुगुलिया,
भइया भऊजो से लेहु किरियवा हो राम।"

अभियुक्ता स्त्री बढई से प्रार्थना कर लकडी, लोहार से कडाही, तेली से तेल और कुँहार से घडा मँगाती है। वह आग जला कर खौलते हुए तेल मे, कडाही मे खडी हो कर सूर्य से प्रार्थना करती है कि हे भगवान् यदि मैं पतिव्रता होऊ तो मेरी तुम प्रतिष्ठा की रक्षा करो। लोक कवि ने इस दृश्य का बडी ही सुन्दर रीति मे वर्णन किया है—[1]

"बरि गइली अगिया औ भभकी करहिया रे,
बहिनी खड़ी किरिया देइ हो राम।
हे मोर सुरुज हमार पति राखेऊ,
जो हम होई सतवन्ती हो राम।
जब बहिनी गइली गगा किरियवा हो,
तब गगरी गइल भुराई हो राम।
जब बहिनी चलली सुरुज किरियवा हो,
उगल सुरुज गइले छिपाइ हो राम।
जब बहिनी गइली अगिनि किरियवा हो
खौलल तेल भइल जुड पनिया हो राम।
एक दाई डारै दुसर दाई डारै
तिसरे उतरि गइल परवा हो राम।"

इस गीत मे तैल दिव्य का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। कोई स्त्री खौलते हुए तेल मे हाथ डालती है परन्तु उसके सतीत्व के प्रताप से वह पानी की भाँति शीतल हो जाता है और वह नही जलती है। स्मृतियो मे जल दिव्य के वर्णन मे जल के भीतर कुछ देर तक डूबने का विधान बतलाया गया है परन्तु इस गीत मे गगा जी की शपथ खाने से घडे के जल के सूखने का उल्लेख है। सूर्य दिव्य मे सूर्य की शपथ खाने से सती के प्रताप से उनके डूबने का उल्लेख यहाँ किया गया है।

राम ने जिस प्रकार सीता की अग्निपरीक्षा ली थी उसी प्रकार कोई राजा अपनी रानी के सतीत्व पर सन्देह करता हुआ उसकी अग्निपरीक्षा ले रहा है। उसकी रानी धधकती

---

१. दुर्गाशकर सिह—भोजपुरी लोकगीत, पृ० १४२-४३

हुई आग मे खडी हो कर कहती है कि हे आग ! यदि तुझमे 'सत' हो तो मेरी देह न जले।[1]

> "जहुँ तुहुँ अगिया सत के होइबू रे ना।
> आग ! तिल नाही जरे मोर देहिया रे ना।
> लहकल अगिया जुडाइलि रे ना।
> आरे ताहि बीच ठाढी सती रनिया रे ना।"

लोक-गीतो मे अग्नि-दिव्य की प्रथा ही सब मे प्रधान दीख पडती है। इन गीतो मे कही-कही सर्प दिव्य का भी उल्लेख पाया जाता है। इसे स्मृतिकारो ने 'सर्पघट दिव्य' कहा है।[2] इस दिव्य के अनुसार सर्प को घडे मे रख देते थे और उसमे कोई अँगूठी या मुद्रा डाल देते थे। उस मुद्रा को शोध्य घडे मे हाथ डाल कर निकालता था। यदि सर्प उसे न काटे तो वह निरपराध प्रमाणित होता था।

एक लोक-गीत मे शिव जी के द्वारा पार्वती के सतीत्व की परीक्षा का वर्णन मिलता है। पार्वती जी गगा, अग्नि तथा सर्प दिव्य के द्वारा अपनी निर्दोषता प्रमाणित करती है। जब वे अग्नि मे हाथ डालती है तब आग ठडी पड जाती है। जब वे गगा मे डूबने जाती है तब गगा जी सूख जाती है तथा सर्प को हाथ से छूते समय वह काटने के स्थान पर शान्त होकर बैठ जाता है —

> जब रे गऊरा अगिनि हाथ लवली,
> अगिन गइली निभाई।
> जब रे गऊरा गगा बिचे पइठली,
> गगा गइली सुखाई।
> जब रे गऊरा देई सरप हाथ लवली,
> सरप बइठले फेंटा मारि॥"

एक दूसरे गीत मे सर्प को हाथ मे लेने का उल्लेख मिलता है। इसी गीत मे तुलसी दिव्य का भी वर्णन है। पार्वती ने अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए जब तुलसी को हाथ मे उठाया तो तुलसी जी सूख गई और इस प्रकार उनका सतीत्व प्रमाणित हो गया।

---

१ त्रिपाठी—ग्रामगीत, पृ० २५९
२ तत्प्रसिद्धानि सर्पघटादीनि इति स्मृतितत्त्वे।

इन्ही विभिन्न दिव्यो की आवृत्ति भिन्न भिन्न गीतो मे की गई है। इन दिव्यो के उल्लेख से हमे भारतीय नारी के अलौकिक सतीत्व का परिचय प्राप्त होता है। अपने पातिव्रत धर्म को प्रमाणित करने के लिए हंसते हंसते आग मे कूद पडना भारतीय ललनाओ का ही काम है। इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय सब थोडी है। संसार के इतिहास मे सतीत्व का इतना ऊंचा आदर्श शायद ही कहीं उपलब्ध हो। इस प्रकार भोजपुरी लोक-गीतो मे हमे हिन्दू संस्कृति का सच्चा स्वरूप उपलब्ध होता है।

कुरु प्रदेश के लोक-गीत

श्री विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी'

भारतीय सस्कृति के आदिम विकास क्षेत्र कुरुभूमि के लोकगीतो की अन्तर्मुखी चेतना और उद्दीप्त सुन्दरता का साक्षात्कार हिन्दी के पुराने लेखक और पत्रकार श्री प्रेमीजी ने बड़ी सवेदना के साथ किया है।
—सपादक

खडी बोली के क्षेत्र कुरु प्रदेश के लोकगीतो पर दृष्टि डालने से पूर्व हमे यह स्मरण रखना होगा, कि प्राय प्रत्येक प्रान्त अथवा प्रान्त के उन खडो मे जिनमे भाषा तथा उच्चारण मे थोडा भी अन्तर पड गया है, लोकगीतो मे विभिन्नता आ गई है। इन गीतो मे भावो, विचारो तथा कल्पनाओ का इतना सुन्दर चित्रण किया गया है कि मनुष्य बिना प्रेरणा पाये नही रह सकता। इन लोकगीतो का मानव जीवन की प्रत्येक गतिविधि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीत अपने काल की सामाजिक, धार्मिक तथा मनुष्य की गतिविधि का सुन्दर चित्रण करते है।

इन लोकगीतो के लिए न तो हारमोनियम की आवश्यकता पडती है और न तबला, सितार की। केवल एक ढोलक ही पर्याप्त है। महिलाओ के मधुर कठ से निकला स्वर स्वय ही एक सगीत का आनन्द देता है। कही कही तो ग्रामीण महिलाए ढोलक का भी प्रयोग नही करती, विशेषकर उन गीतो मे जो वह चलते चलते गाती है, अथवा मेले आदि के अवसर पर यात्रा करते समय गाती है।

इधर कुरु प्रदेश मे देवी या किसी विशेष देवता की पूजा के अवसर पर भी गीतो का प्रचलन है। तीर्थ स्थान की यात्रा के अवसर पर गाये जाने वाले भी अनेक गीत है। इस प्रदेश मे सहस्रो वर्षो से गगा पर मेले लगते रहे है। इन मेलो के अवसर पर गाये जाने वाले अनेक लोकगीत है। माता, शीतला, महम्माई पर दूध की धार चढाते समय के गीत अलग ही है। इनमे विभिन्न देवताओ के लिए अलग अलग प्रकार के गीत प्रचलित है। छोटी जातियो के गीतो के स्वर मे उच्च वर्ण की स्त्रियो के स्वर मे कुछ भिन्नता रहती है।

श्रावण के गीतो मे दो बातो का विशेष समावेश पाया जाता है। एक प्रकार के गीतो मे भाई का अपनी बहन के घर जाना और उसकी मर्म व्यथा को पूछना व्यक्त किया

गया है। इस प्रकार के गीतों में यौवन की मधुरता पति की विरह वेदना तथा सखियों का हास-परिहास अधिकतया व्यक्त किया गया है।

नीचे दिया गया गीत ग्रामों की नारियां पुत्री के विवाह के पश्चात् गौने के अवसर पर गाती हैं। इसके प्रारम्भ में लड़की से कहलाया गया है कि माता मेरा पति अभी छोटे नीबू के समान है। साथ ही उसे मूर्ख भी बताया गया है। बड़े नीबू की सराहना कराई गई है। इसके पश्चात् ग्रीष्म ऋतु में गौना करने का विरोध किया गया। माता ने उसकी बात को स्वीकार कर लिया। कृषक महिला होने के कारण सहित उसे [illegible] की ऋतु के लिए रुई की चिन्ता हुई। कार्तिक मास में उसके खेत की उसको रुई मिलेगी जिससे वह वस्त्र बनायेगी। वैसाख मास में उसकी भैंस ब्या जायगी (बच्चा दे देगी)। उसके घी द्वारा वह लड्डू बनाने की बात करती है। जेठ मास में उसके खेतों का अनाज कट जायगा। उस अनाज की वह अतिथियों के लिए पूरी बना देगी। इस गीत में आगे उसने पुत्री के ठाट के साथ विदा करने की चर्चा की है। वह कहती है रथ आयगा, बैलों की टाल बजती आयगी। किस किस सामान के साथ वह पुत्री को विदा करती है, इस गीत के द्वारा आप अनुमान लगाइए—

छोटा छोटा नीबू अलल गवार
अ बड़ा, अ बड़ा नीबू रस भरा री मेरी माय।
मे तुझे बरजू री मेरी माय,
अ गर्मी मे अ गर्मी में गौना मत करे री मेरी माय।
जाडे की प्यारी लागै सौड[1]
अ गर्मी का अ गर्मी का प्यारा बीजना[2] री मेरी माय।
आएगा कातिक मास,
अ रुई तो अ रुई तो बेटी होवेगी घनी री।
तब री कात बुनाऊँ लहगा लूगरी[3]
अ तबी तो अ तबी तो गौना करू री मेरी धीय।
आवैगा वैसाख मास
अब भूरी अ भूरी तो व्यावै भैंस री मेरी धीय।
तब तुझे कर दूगी लाडू

---

१ सौड = रुई भरा ओढने का लिहाफ, ।
२ बीजना = पंखा, भूषण कवि ने इस शब्द का विजन रूप इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है।
३ लूगरी = ओढनी।

अ डल्ला[1] अ डल्ला तो करूँ गैल[2] कू री मेरी धीय।
जेठ मे कट जायगा नाज
अ पूरी अ पूरी तो करूँ गैल कू री मेरी धीय।
आवेगे घर मे जो मेहमान
अ पाहुना[3] अ पाहुना वो आवै गैल मे री मेरी धीय।
रथ की वाजेगी टाल,
अ बलध अ बलध तो आवै जोट सै री मेरी धीय।
गाडी तो लादू तेरी गैल मे,
अ सास कू अ सास कू दूगो लूगरा री मेरी धीय।
मिल लो सहेली का साथ,
अ मै तो चालो अ मै तो चालो सास कै री मेरी धीय।
बावल रोवै चौपाल,
अ बीरन अ बीरन रोवै घर मै री मेरी माय।
मैया रोवै महलो बीच,
अ भावो अ भावो तो रोवै चौखटे[4] मे री मेरी माय।
रथ की बज गई टाल,
अ बावल दौडा अ बीरन दौडा नगे पैरो जाय।

ग्रामो मे भात न्योतने के समय गाए जाने वाले गीतो मे भाई बहिन का अगाध स्नेह एक एक शब्द मे प्रस्फुटित होता है। इधर कुरु प्रदेश के ग्रामो मे बहिन अपनी पुत्री अथवा पुत्र के विवाह के अवसर पर अपने माता पिता के घर भात न्यौतने जाती है। इसका वास्तविक अभिप्राय विवाह का निमन्त्रण देना है। माता पिता तथा भाई अपनी सामर्थ्य के अनुसार बहुत सा सामान विवाह के अवसर पर देते है। भात न्योतने मे सम्बन्ध रखने वाला एक गीत हम यहा प्रस्तुत कर रहे है। बहिन घर पर भात की प्रतीक्षा कर रही है। वह कहती है—

भुकिया अ मेरे कुजन भातई। भुकिया . ...

भाई बहुत सा सामान लेकर बहिन के घर चल दिया। मार्ग के आने जाने वाले परस्पर कहते हैं—

---

१ डल्ला = मिठाई व वस्त्र आदि सामान
२ गैल = साथ ।
३ पाहुना = दामाद ।
४ चोखटे मे = द्वार पर ।

भैया किधर दी घटा उमडी
किधर बरसनहार रे। झुकिया.....

भात ले जाने वाला उत्तर में कहता है—

पूरब दी घटा ऊमडी, बच्छम बरसनहार रे। झुकिया .

भाई अब अपनी बहिन के ग्राम में पहुंच जाता है। वहां के रहने वाले प्रश्न करते हैं—

भैया किसइयो के भातई, भैया किस भैना के बीर। झुकिया ..

उत्तर में भाई कहता है—

ए जी जीजा के हम भातई, अर अपनी भैन के हैं बीर।

अब घर पर उपस्थित व्यक्ति पूछते हैं—

एजी किनियो ने अगन लिपाइए, किनियो ने उलदा† है भात।

बहिन उत्तर देती है—

भैना ने अंगन लिपाइहै, बीरा ने उलदा है भात।
भैया जाए ने उलदा है भात। झुकिया....
बीरा भात भरा मेरे भातई, ढक दिए देवर जेठ।
मेरे पंचो की सोभा भातई, अर मडई की सोभा बीर।

भात पाकर बहिन कितनी प्रसन्न है। भात से वह पूर्णतया सतुष्ट है। आनन्दित होकर कहती है कि मेरे देवर जेठो को भी इतने वस्त्र दिये है कि मानो वे वस्त्रो से ढक गये। भाई के प्रति स्नेह प्रकट करती हुई वह कहती है कि मेरे मडप की शोभा तो मेरा भाई है। इस सम्बन्ध मे यह बात उल्लेखनीय है कि भात के अवसर पर मडप के नीचे भाई तथा बहिन परस्पर मिलते है।

अब हम एक गीत छोटे बच्चो के झूलने का दे रहे है। इसमे परबल शब्द से एक काटेदार झाडी से आशय है। इस पर छोटे छोटे बेर जैसे लगते है, जिन्हे बच्चे तोड तोड कर खाते है। इस गीत मे मुख्य रूप से इस बात की झलक पाई जाती है कि गामो मे कातने बुनने की प्रथा थी। बहिन चाहती है कि भैया जल्दी जल्दी इनको तोडे —

एक परबल पारवे* की बेल जापे आदलिगा
चढ तोडेगे भैया जाए बीर भैना उतावलिया।

---

† उलदा = दिया *पारवे—दीवार का भाग

भैना तावलिया मत होय काटेगी चूंदरी,
चिरजीवो हमरी मैया कात बुना देगी।
चिर जीवो वीरन मेरा बाप, बैठ रगा देगे,
चिरजीवो वीरन तुम आप, झमक उढा दोगे।

इम गीत मे जहा माता पिता के ऊपर असीम विश्वास झलकता है वहाँ भाई के प्रति स्नेह का कितना पारावार है।

बहुत से लोकगीत इम प्रकार के भी है जो नृत्य से सम्बन्ध रखते है। गायन और नृत्य का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। ग्रामो मे जहा लोकगीतो के गाने का बहुत प्रचलन है, वहा नृत्य भी समय समय पर होता रहता है। पाठको की जानकारी के लिए हम एक ऐसा लोक-गीत प्रस्तुत कर रहे है जिसकी एक एक पक्ति के साथ भाव-मुद्रा के साथ नृत्य किया जाता है। इम गीत का साराश यह है कि एक स्त्री अपने पति से याचना करती है कि वह उसके लिये धनुष्पुरी ला दे। पति नही जानता कि धनुषपुरी क्या वस्तु होती है। स्त्री परिचय देती है कि धनुषपुरी इस इस प्रकार की वस्तु है। पति समझ जाता है और धनुषपुरी ला देता है। अब वह स्त्री अपनी साम के भय से घर मे उसका प्रयोग नही करती। पति उसे उसके माता पिता के घर भेज देता है। वहा स्वय भी उस धनुषपुरी को देखने के लिए अपनी पत्नी के निमत्रण पर जाता है। गीत इस प्रकार है—

राजा लसकर जइयो जी, कै हमकू लइयो धनसपुरी।
गोरी हमना जानै जी, कै कैसी तेरी धनसपुरी।
राजा ऊदा ऊदा डडिया होय, किनारी चारो ओर जरी।
गोरी अब हम जहियै जी, कै लइयै तेरी धनसपुरी।

धनुषपुरी[1] आने पर स्त्री पूछती है—

राजा यहा कैसे ओढू जी, कै घर में तेरी माय बुरी।
गोरी पीहर जइयो जी, कै वही ओढो धनसपुरी।

परन्तु तुरन्त पति कहता है—

गोरी हम कैसे निरखेगे, कै कैसी लागै धनसपुरी।
राजा तीजो पै अइयो जी, कै जबी देखो धनसपुरी।

---

[1] सात रगो की एक विशेष प्रकार की ओढनी

स्त्री जब धनुपपुरी ओढ़ पहन कर आई तो—

ओढ पैर जब ठाढी, वो तो आगन बिच रपटपरी।

अब व्यगपूर्ण शब्दो मे ताना मार कर कहती है—

मुझे भइयो की सौ, कै राजा तेरी नजर बुरी।

वह भी उसी प्रकार उत्तर देता है—

मुझे राम दुहाई री, गोरी तेरी चाल बुरी।

इस प्रकार लोकगीतो मे नृत्य की भी ध्वनि विद्यमान रहती है। ब्रज मे गीत सामाजिक दोषो को छोड़ने की प्रेरणा करने वाले भी मिलते है। जुआ खेलने को रोकने के लिए गाये जाने वाले गीतो मे सदाचार के शिक्षण निहित है।

गुजराती लोकगीतों में विरह-वर्णन

श्री श्रीकान्त व्यास

गुर्जर नारियो के विरह-गीत विविध प्रकार के लोकगीतो और गरबा-गरबी नृत्यो आदि के माध्यम से मुखरित है। उन गीतो मे जो भाव-व्यंजना, रसोद्रेक और मर्मस्पर्शी भावनाएँ है, उन्ही की अभिव्यक्ति युवक लेखक और पत्रकार श्री व्यास ने इस लेख मे की है।

—संपादक

केवल साहित्य के क्षेत्र मे ही प्रिय-विरह की वेदना ने श्रेष्ठ काव्य-रचना को प्रेरणा नही पहुचायी है, इसने लोकजीवन म भी असख्य सामूहिक और व्यक्तिगत कला-कृतियो को अनुप्राणित किया है और उन्हे असाधारण रूप-गुण दिया है। हमारे देश की प्रत्येक भाषा मे पाये जाने वाले लोक-गीतो मे वे ही गीत सब मे अधिक मार्मिक और सबल, प्रभावोत्पादक और शिल्प-चातुरी मे पूर्ण है, जो प्रिय के विरह मे पीडित ग्राम नारियो और ग्रामीण युवको के भावोच्छ्वास मे मानो अनायास ही फूट निकले है। कभी-कभी तो इन विरह-गीतो का सौन्दर्य और माधुर्य, उनके भावो की गहराई और कल्पना की ऊँचाई, इनकी सहज स्वाभाविक सरलता और इनका भोलापन' नागरिक कवियो की कष्टसाध्य काव्य-साधना से भी दो कदम आगे बढ जाता है।

गुजराती भाषा को हमारे देश की सब से मधुर और सगीतमय भाषाओं मे से एक माना गया है। काव्य और सगीत मे करुण रस का इसके ऐसा परिपाक अन्यत्र दुर्लभ है। इसके लोकगीतो और खासकर विरह-गीतो मे तो करुण रस लबालब भरा है।

गुजरात मे आज भी उस जमाने के विरह-गीतो ने अपनी लोकप्रियता नही खोयी है, जब उत्तर-प्रदेश की ग्रामवधु के शब्दो मे रेलिया (रेल) बैरिन प्रियतम को परदेस नही ले जाती थी बल्कि जब प्रियतम घोडी कसकर कमाई के लिए पराये देस जाते थे, जब बैलो और ऊँटो की पीठ पर माल लादकर बनजारे की तरह वे एक गाँव से दूसरे गाँव घूमते फिरते थ, जब बडी नावो म सामान भरकर ओधवजी (उद्धवजी) आठ-आठ महीने तक सागर की बावली तरगो के थपेडे खाते हुए देस-देसावर व्यापार के लिए भटका करते थे। पति-पत्नी के इसी वियोग ने विरह-गीतो को जन्म दिया था।

कुए पर मोट हाकना हो या खेतो मे क्यारियाँ बाँधनी हो, अनाज की बोआई करनी हो या धान काटना हो, खलिहान मे दवॅनी करनी हो या मडैया का छप्पर छाना हो, सब

जगह हर काम में पति का हाथ बंटाने वाली ग्राम नारी एक घड़ी भी पति का वियोग सहन करने को तयार नही। किसी दिन सामान लेकर पति हाट करने चला गया और देर शाम तक घर नही लौट सका तो वह अकुला उठती है—

जो रे चादो तो निर्मल नीर,
तारो क्यारे ऊगशे ?
ऊगशे रे पाछली शी रात
मोतीडा घणा झूलशे !
हु ए तमने पूछुं मारा नणावहु·
कथ क्यारे आवशे ?

उसे उठने हुए चाद की शीतल चादनी आज नही सुहाती, वह तो अपने तारे (पतिदेव) की प्रतीक्षा कर रही है, वह कब उगेगा ? वह उगेगा तो, लेकिन शायद उसे उगते-उगते आधी रात हो जायगी और तब आकाश मे मोती बिखरे हुए होंगे ! रात के पिछले पहर मे पौ फटते-फटते यह उजला तारा उगता है—उसकी राह ताकती वह सारी रात बैठी रहेगी। वह जानती है कि हाट के दिन अक्सर कथ (कत) देरी से लौटते है, फिर भी वह अपनी ननद से पूछती है कि वे कब लौटेगे।

पोपटी ! पोपट क्यारे आवशे ?
दिवसे तो वनफळ वेडवा जाय रे,
राते तो पोपट पांजरे !

रात की बात तो दूर रही, उसे दिन मे भी प्रिय-विरह असह्य है। वह सुग्गी (पोपटी) से पूछती है कि सुग्गा कब लौटेगा। दिन भर बेचारा वन के फल-फूल बटोरता रहता है, रात को ही उसे (पिंजरे मे) लौटने की फुर्सत मिलेगी। पोपटी उसका अभिप्राय समझती है। वह गीत मे आगे कहती है कि बहू जी आपके नाथ कब लौटेगे। और फिर सहानुभूति के स्वर मे कहती है कि बेचारे दिन भर तो 'कचेरी बेसवा', जमीदार की कचहरी मे हाजरी बजाने जाते है, रात मे ही घर लौट सकेगे।

भीगती रात मे दूर हाट से लौटने वाले थके-मांदे लेकिन प्रसन्नवदन प्रियतम की उपमा शुक्र के उजले तारे से, और दिन भर जीविका की खोज मे भटकने वाले पति की उपमा वन-वन चुग्गे की खोज मे घूमने वाले पोपट से देना सिर्फ लोकगीतों को ही आता है !

रात और दिन का वियोग तो उस लम्बे वियोग के सामने कुछ नही जब प्रियतम धन कमाने के लिए परदेश जाने की तैयारी करते है। हमारी ग्रामवधू मन मे भले ही इस वियोग की कल्पना से कांप रही हो, लेकिन अभी तो पति तैयारी कर रहे है, अभी हिम्मत छोड़ने की

क्या जरूरत ? पति ने मजाक मे पूछ लिया, 'मेरे बिना, मेरी कोयल, तू कैसे रहेगी ?' उसने झट जवाब दिया, 'वनमा रे रे'शु ने वन फल खाशु, आबानो डाले टहुका गाशु !' वनमे रहूँगी और वनफल खाऊँगी, और आम की डाल पर बैठकर कूकती रहूँगी। कहने को तो गोरी कह गयी, लेकिन पति का मजाक सही था, कल ही उसे एक लम्बे समय के लिए पति को विदा देनी थी। रात आँखो मे कट गयी और दिन भर तयारी मे लगे रहने के बाद वह भयानक शाम आ पहुँची। अब तो गोरी के आंसू रोके न रुके। फिर भी उसने अपनी व्यथा छिपाकर कहा—

कालो कुबजा कामणगारी, आखलडी ए वसनारी,
हवे तमने केम गमशे, ओधवजी ?
हीरने हीचके बेसता, वाराफरती दोरी खेचता,
एको साथे बेसो जमता, सुख-दुखनो वातो करता । हवे०

म कमी भी हूँ, लेकिन तुम्हे प्रिय हूँ, अब मेरे बिना परदेस मे तुम्हारा मन कैसे लगेगा ? हम दोनो आनन्द मे भूले मे बैठा करते थे और दिन भर भूलते थे, हम दोनो साथ-साथ भोजन करते थे और अपना सुख-दुख बाटते थे। अब परदेस मे इन दिनो की याद आने पर, ओ मेरे उद्धव जी, तुम्हारा मन कैसे लगेगा ? वह पति से पूछ रही है, लेकिन असल मे पति के बहाने वह अपने मन से पूछ रही है कि इन दिनो की याद आने पर तुम क्या करोगे। क्या बहाना है ! उसके इसी भोलेपन पर तो ओधव जी न्योछावर है। वे उसे धीरज बधाते हैं —

चार महिना शियालो[1] वही जशे,
चार महिना उनालो[2] वही जशे,
जेठ मासे रे अमे आवीशु !

ज्येष्ठ मास तक लौट आने का कह कर पतिदेव चल दिये। राजा राम तो सीता को साथ लेकर वन गये थे और हमारे ओधवजी अपनी सीता को अपनी याद मे आँसू बहाने के लिए घर ही छोड चले। गाव के लोग जब उन्हे विदा देने आते हैं और 'कागळ' (चिट्ठी) लिखते रहने के लिए कहते हुए गले मिलते हैं तो उनका भी दिल भर आता है। जाते-जाते एक बार फिर वे अपनी 'कामणगारी' (मोहित करने वाली) से मिलने जाते है। वह अपने उस वियोग को याद कर रही है जब उसे अपना प्यारा गाँव और माँ-बाप की ममतामय गोद छोड कर एक परदेसी के साथ चले जाना पडा था। उसे क्या पता था कि एक दिन उससे भी बडा वियोग उसे सहना पडेगा और उसके प्रियतम उसे छोड कर परदेस चले जायगे ! प्रियतम उसे समझाते हुए कहते है कि 'तू घर बैठी-बैठी चर्खा कातती रहना, तेरे दिन कट जायगे। मेरे मा-बाप तो यही

१ जाडा, २ ग्रीष्म

है, इनकी सेवा करना खुश रहना, तेरे दिन कट जायगे।' लेकिन वह भल्लायी हुई है कि क्या इसी दिन के लिए मै अपने प्यारे गाव को, अपने माता-पिता और नन्हे-मुन्ने भाई बहनो को रोते छोड कर तुम्हारे साथ आयी थी। 'मै तुम्हारे चर्खे को तोड कर चूल्हे मे झोक दूगी और जिस रुई को तुम कातने के लिए कह रहे हो उसमे मेरी तरफ से आग लगे। मुझे नही चाहिए चर्खा-रुई। तुम्हारे मॉ-बाप की सेवा से मुझे कोई लेना-देना नही।' लेकिन फिर वह सोचती है कि इन धमकियो से काम नही बनेगा, इसलिए मीठे स्वर मे कहती है—

'पान सरखी रे हु तो पातली रे,
मने बीडले वाली लई जाव रे!
एलची सरखी रे हुँ तो मघमघु रे,
मने दाढमा घाली ने लई जाव रे!
तमारो राणी ने कोनो आधार?

मुझे अपने साथ ही ले चलो तो क्या बुरा है? मुझे साथ ले चलने मे तुम्हे कोई दिक्कत नही होगी, मै तुम्हे भारी नही पडूँगी। अरे, मै तो पान की तरह पतली हूँ। तुम चाहो मुझे अपने बीडे मे रख कर ले जा सकते हो। मै तो इलायची की तरह मधुर हूँ तुम मुझे अपने मुँह मे रख कर ले चलो—मैं तुम्हारी थकान हर लूँगी।

पान और इलायची से प्रियतमा की उपमा ग्रामकवियों की सहज भावुकता का एक नमूना है। विदा के समय की अंतिम वस्तु पान-इलायची अपने मुख मे रख कर प्रियतम जा रहे है और उनके साथ भी प्रियतमा की याद जोड देने की सूझ कितनी बारीक है।

ज्येष्ठ मे आने की बात कह कर प्रियतम गये थे, लेकिन हमेशा की तरह इस बार भी उनका वादा झूठा निकला। ज्येष्ठ तो कभी का चला गया। वियोगिनीने भी आसमान मे आषाढ के पहले मेघ को प्यासी धरती की ही तरह ललचायी आंखो से देखा, लेकिन यह तो 'पियु पियु' रटने वाले पपीहे की साधना सफल हो रही थी। उसका 'मेघ' तो अपना वादा ही भूल गया।

अखाड वरस्यो अंधारीओ वरस्यो झीणेरो मेघ,
'हुँ रे भींजु घर आगणें, पियुजी भीजे परदेश!

आषाढ उमड-घुमड कर बरसने लगा। पानी की झडी लग गयी। मै अपने घर-आँगन में भीग रही हूँ, और मेरे प्रियतम वहाँ परदेस मे भीग रहे है। काश, इस समय वे घर होते। वह गीत मे आगे सिसक-सिसक कर कहती है, 'मेरे प्रियतम मुझे भरी जवानी मे ही अकेली छोड कर परदेस चले गये। अगर कोई उनके लौट कर आने का सदेशा ला दे तो मै उसे एक कीमती हार भेट कर दूगी। वह मीठा सदेशा तो एक बार मिले। मेरा चित्त अधीर हो रहा है। मुझे अपने गोविन्द की मुरली सुननी है उसकी पिचकारी के रग मे रगाना है। यह पपीहा क्या

उनके आने का संदेश लाया है? मेरी बायीं आंख फड़क रही है, निश्चय ही वे आ रहे होंगे।' लेकिन—

श्रावण सरवरियो वरसे,
नदी ए नीर घणा थाशे,
वा' लो मारो केम करी ऊतरशे!

सरोवरों में श्रावण बरस रहा है। पानी इतना बरसा है कि नदियों में पानी समा नहीं रहा होगा। हाय, ऐसे में मेरा प्रियतम पार कैसे उतरेगा? पानी क्या बरसा, उसने उसे प्रिय-दर्शन से ही वञ्चित कर दिया!

वन में नाचते हुए मोर और कुलाँचे भरते हुए हिरनों के जोड़े को देखकर उसका मन तड़प उठता है, पपीहे की पुकार सुनकर उसके दिल में हूक उठती है। उसे रह-रह कर याद आता है कि इस समय उसके प्रियतम परदेस में भटक रहे हैं—

सुरत शे'रमा गुजरी भराय रे,
भली भली बगडी वेचाय रे,
आज मारो वालम घेरे नहि रे!
वालम होय तो मूल करे रे,
ते तो दरिया ना जई झोला खाय रे,
आज मारो वालम घेरे नहि रे!

सूरत शहर में बड़ा भारी बाजार लगा है। वहाँ बड़ी सुन्दर सुन्दर चूड़ियाँ बिक रही हैं। लेकिन आज मेरा बालम घर नहीं है। आज यदि प्रियतम होते तो क्या मैं इस तरह चूड़ियों के लिए तरसती! वे होते तो जाकर चूड़ियों का दाम पूछते और मुझे जरूर खरीद देते। लेकिन आह, वे आज यहाँ हैं। वे तो दूर कहीं अपनी नाव लेकर सागर की तरंगों के थपेड़े झेल रहे हैं।

गुर्जर नारियों को विरह-गीत अन्य सभी प्रकार के लोकगीतों से अधिक प्रिय होते हैं। अकेले घर का कामकाज करते हुए भी वे इन्हें गुनगुनाती रहती हैं और विशेष अवसरों पर या प्रायः जब वे किसी के आंगन में पूर्णिमा के चाँद की छाया में इकट्ठी होती हैं तो इन्हें बड़े चाव से गाती हैं। वहाँ नृत्यगीतों में विरह का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। राधा-कृष्ण के विरह-गीत गरबा और गरबी जैसे समूहनृत्यों में बड़ी भावना के साथ गाये जाते हैं।

पंजाबी लोकगीतों में समय के पद-चिन्ह

श्रीमती अमृता प्रीतम

हृदय, बुद्धि और विवेक का सन्तुलन रखकर कला, संस्कृति और साहित्य के साधना-पथ पर अमिट पद-चिह्न छोड़ती हुई अमृता जी अपने लक्ष्य की ओर सादगी और सतर्कता से बढ़ रही हैं। इस समय देहली आकाशवाणी संस्थान आपके कार्य-जीवन का वृत्त है। आपने पंजाबी लोक-गीतों में युग-छाया की एक झलक इस लेख में प्रदर्शित की है।—संपादक

लोक-गीतों में उनके उद्भव और विकास के समय का उल्लेख नहीं होता। फिर भी उनमें ऐसी चर्चायें या वर्णन होते हैं जिनसे सन् और संवतों का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए जब किसी गीत में बार-बार फिरंगी (अंग्रेजों) के युद्ध और बमरे का उल्लेख मिलता है तब हम स्वाभाविक (अनायास ही) रीति से ही सन् १९१४ से १९१८ में हुए प्रथम युद्ध के ही काल का उस लोकगीत को मान लेते हैं।

सुन वे फिरंगिया सधराँ मेरियाँ,
मैं तैनूं आख सुनावां।
छुट्टी दे मेरे सूरमे माहीनूं,
धा गल पकडी पावां।
छड मखना दे पाले माही नूं,
कदी ने रफल फडावां।
फिरंगिया तरस करीं—
तेरा जस गिधे विचगावां।

स्त्री ने सदैव शान्ति चाही है। पंजाबी स्त्री के गीतों में हमें लहलहाते हुए गेहूँ के खेत, मंजरित आम, हरे-भरे पीपल, शहतूत आदि मिलते हैं। उनमें हमें लिपे-पुते आँगन मिलते हैं जिनमें स्त्री का चीरे वाला (सुन्दर रंगीन पगड़ी बांधने वाला) पति बैठता है और बच्चों की हँसी सुनाई देती है। उनके गीतों में शान्ति और सौन्दर्यपूर्ण उपर्युक्त कामनायें बार-बार ध्वनित होती हैं।

इसके विपरीत मांस का भूखा और रक्त-तृषित मनुष्य बार-बार युद्ध का शंखनाद करता

है, जिस पुन कर स्त्री के गीतों की हरियाली पीली पड़ जाती है। लहलहाते हुए गेहूँ के खेतों के कोमल पौधे उदास हो जाते हैं। स्वय स्त्री की बहार मे पतझड़ आ जाता है, उसका सावन रसहीन होकर सूख जाता है और उसके आँगन की शोभा विलीन हो जाती है।

उस समय गोरी (स्त्री) रसहीन धन (पति के वेतन) को क्या करे? वह इकतारी मलमल के दुपट्टे पहन कर किसको दिखाये। कारण उसके आगन मे बैठने वाला तथा सुन्दर रंगीन पगड़ी धारण करनेवाला उसका पति तो फिरंगी के डेरे मे जा बसा है। वह दीन भाव से गा उठती है—

बेचारो निम्बुआ सरकारी,
इक इक दमडी नौ नौ निम्बुआ।
बाहर खडे ने व्यापारी,
आपते बसना ऐ फरगी दे डेरे—
मैं वसनी आँ अटारी।
की करा वे मैं इह लट्ठा ने खासा,
की पहना इकतारी।

गोरी ने फिरंगी को लालच भी दिया कि यदि तू दया कर मेरे पति को भेज दे तो मैं तेरे यश को अपनी सखियों के झुण्ड मे नाच, गाकर, सुनाऊँगी। निराश गोरी ने एक और प्रार्थना की—

रना वाले जग जित दे।
कित्थे लिखिया फिरंगिया दसवे—
छड़ियाँ नूँ दे जा लाम ने।
जित हो जाऊँ फरंगिया तेरी।

गोरी के आँसुओं मे भीगे और उदास मन की याद कर कभी-कभी एकाध फौजी के मन मे भी विरह जग जाता है और वह उसे इस प्रकार व्यक्त करता है—

सौण (सावन) आखदा सावा कटा दे
फौजा दे कष्ट घनेरे।
रफना मोड रखो, मैं जादा वतन दे डेरे।

लेकिन यह कैसे सम्भव हो सकता है? यह कहना भी तो केवल कहना मात्र ही था। ताप फिर किस प्रकार शान्त हो सकती है?

विरह से जलती हुई गोरी सखियों से छिपके सुनती ... कोयले का टुकड़ा लेकर खड़ी हुई दीवार पर आलिया (एक प्रकार का शकुन—लकीरें खींच कर उन्हें गिना जाता है, यदि

वे दो मे विभाजित हो जाती है, तो कार्य-सिद्धि की आशा होती है अन्यथा नहीं) बनाती है। ऐसी विरह-विदग्धा गोरी को उसका बालम क्या भेजता है और उसका क्या प्रभाव होता है—इसका चित्र देखिये—

 नी गोरिये हूँझ गलियाँ दे रोडे,
जयो घर आवागा, तैनू लै दऊँ मठा दे तोडे।
नी गोरिये हूँज गलिया दा कूडा,
जयो घर आवागा, तैनू लै दऊँ मठा दा चूडा।

किन्तु चूड़ा, पायजेब और छन कगन गोरी के मन मे उतर चुके है, उसे तो फौज की नौकरी ही पसन्द थी।

एक पजाबी गीत मे उस समय की अनिवार्य भरती पर अच्छा व्यग किया गया है—

खडे बैठे दा पहरा दें दे,
पये दा पसंदन औण।
तिन तिन वेले करन परेटा
वान्दर वांग टपोण।
नौकरी न जाइवे,
आपन देस न थियोण।
तिखी नोक दी जुती टुट गई,
नाले धस गइंया खुरियाँ
माही मेरा जग नू गया
मेरे वझण कलेजे छुरियाँ।
जे तू सिपहिया गया जग नू।
लाके मैनू झोरा।
विरहो हड्डा नू इयो खा जाऊ।
ज्यो छोलिया नू ढोरा।
जग बिच न जाई वे।
वे वागा दिया मोरा।

बसरे के युद्ध ने तो पजाब को तडपा के रख दिया था। विरह-विदग्धा रमणियाँ विलाप करती हुई गीत गाती थी—

बले बले नीचढ़ गिया रात दी गडी,
नाले धार कढा नाले रोवा।

बले बले नी बसरे दी लाम टुट जाये
नी मैं रन्डियो सुहागण होवा।

कई गीतो मे अटक से सेनाओ के चलने के समय और दिल्ली की लूटमार के वर्णन से अपने समय का बोध कराते हैं—

कत दो कत दो भैणा मेरी पूणी हिली,
मैं नूँ दियो बधाईयाँ नी माहीने भली दिली।
कत दो कत दो भैणा मेरा मोढा फुरिया,
मैं नू दियो बधाईयाँ नीमाही अटको तुरिया।

यद्यपि अटक पजाब के एक ओर और दिल्ली दूसरे छोर पर है, फिर भी दोनो स्थानो की स्त्रियाँ बोलती हैं। कारण लोकगीत व्यक्ति नही अपितु समष्टि की अभिव्यक्ति है। इसीलिए इसमे अटक और दिल्ली-निवासी दोनो बालमो की स्त्रियाँ बोलती हैं।

सवारियो मे ऊँट, घोडा, गडवहला (बलगाडी) इक्का, टमटम, टाँगा, साइकिल, मोटर, जहाज और हवाई जहाज आदि जिस क्रम मे लोक जीवन मे आये, उसी क्रमसे वे लोकगीतो मे सम्मिलित होते गये और उनके नाम लोकगीतो मे सम्मिलित होते गये।

पजाब के गाँवो के आसपास जब रेलवे लाइन बनी तो यह गीत रचा गया—

काम सरकारी शुरु हो गया, पक्की सडक बनाई।
पहिला सडक ने मिटले वाले, पिछो लायन टिकाई।
देखो गडी आई लायन ते, इजन ने सीटी बजाई।
रस्ता छोड दियो—हीर मबाजन आई।

इस गीत मे आती हुई गाडी की चाल की उपमा हीर की बाँकी चाल से दी गई है। कितनी सुन्दर उपमा है। इसके बाद साइकिल का वर्णन आता है—

घोडा है पर धाह नही खादा।
खडा करो ता डिग जिग जादा. ...

फिर हवाई जहाज का वर्णन है—

हवाई जहाज समुन्द्रो पार...

इस प्रकार गाव की गोरी के ज्ञान का विकास हो जाता है। डाक बगला जब पहली बार पजाब की धरती पर अपना नया रूप लेकर खडा हुआ, तब नाइन से बाल गूँथवाती हुई किसी रमणी को यह गीत सूझा—

हथकवी ते मन्जा परादा,
मैं गली गली नैणा दी फिरा।
सिर गुद दे कुराति ये नैणें
नी उते पादे डाक बगला।

नयी बनी रेलगाडी के साथ ही उस समय नये स्टेशन भी बने थे। इस गीत की दूसरी पक्ति उस भाइन की जवानी है——

साथों डाक बगला नइयो पंदा,
सटेसन पादियोगी

इसके बाद जब गाँव के दूर तथा नजदीक के स्टेशनो पर या बडी मडियो मे बिजली लगी, तब यह गीत रचा गया——

जिन्हादिया नारा सोहनिया,
बिजली दी को लोड।

इससे पहले शायद सुन्दरता की उपमा बिजली के साथ नही दी गई। आकाश मे चमकने वाली बिजली से भले ही उपमा दी गई हो।

असली हाथीदाँत की चूडियो के स्थान पर अग्रेज व्यापारियो ने मसाले मे बनी हाथीदाँत की तैयार कर के उनका व्यापार किया। इन मसाले से बनी चूडियो का मूल्य कम और उनकी चमक असली चूडियो से अधिक थी। घर-घर मे वे चूडियाँ छन छन करने लगी——

बिजली दा चूडा चढा दे वे, बिजली दा ..

गावो को छोड कर जब कस्बो मे पानी के नल लगाये गये, उस समय यह गीत बना——

खूहा टोबियाँ ते मिलणो रह गई,
चन्द रे लवा लये नल के।

अग्रजी राज्य के प्रारम्भिक काल की एक पक्ति इस प्रकार है——

राज फरगिया दा,
वेखो तुरपये गिलट दे आने।

इसी प्रकार दही और उबटन आदि मलने वाली सुन्दर रगवाली रमणियो के पजाब मे प्रथम बार जब पाउडर आया, तब यह गीत बना——

कालिया नू खबर करो,
गोरा रंग दुनिया बिच आया।

गाँवो मे छोटी-छोटी पाठशालाएँ खुली, तब गुरुद्वारो, मन्दिरो तथा मसजिदो मे बैठ कर अक्षर सीखने का चाव बढा। गाँवो मे अंग्रेजी का प्रभाव अधिक नही था। कचहरियो की भाषा उर्दू होने से इसी मे अक्षर लिखे जाते थे—

मेरे माही दे निक्के निक्के हथवे,
पढ़दा फारसी तै लिखदा खत वे।
छोटा जिहा मुणशी मेरा राजणा।

गाँवो मे धीरे-धीरे सम्मिलित परिवार की प्रथा कम होने लगी। भाई भाई परस्पर झगड़ने लगे—

वाहलिया भरावा वालिया,
कहिणा मन ले तै होजा वखरा।

× × ×

बापू मैं नू माह लै दे,
मैं जेठ दी लस्सी नही पीणी।

× × ×

बोल दियोरा दे, पतलो नार न सहिंदी।

इस कुप्रथा ने गाव के किसान को खेती-वाड़ी मे विमुख कर दिया और शहरो के धंधे म नौकरी करने के लिए मजबूर किया—

पिंड विच भग भुज दी,
शहर चलिये मजूरी लभिये।

पंजाब में विद्या पढ़न पढ़ाने का अधिक प्रचार बढ़ा और लड़के विलायत जाने लगे। कई शौकीनो ने जब विदेश जाकर विवाह कर लिया तब उनके साथ आई हुई विदेशी गोरियो को देख कर पंजाबी गोरियो ने यह गीत रचा—

मुंडा साडा गया विलायत, बन के लन्दन वाराही,
धी अंग्रेजी दी—चन दे चानणे विहाई।

दूध और लस्सी के स्थान पर जब धीरे-धीरे चाय ने कदम रखे तब यह गीत बना—

असां रुसिया यार मनाय
चाह् दो प्याली ऊपरो।

उस समय वावूपना का भी वोलवाला था। गांव की रमणियों को मोटी और सादी जिन्दगी विताने वाले किसानो की अपेक्षा वावुओं की चमक-दमक ने आकर्षित किया—

वाहरी वर्सी खटन गियो ते खटके लियादो सोटी।
वसना वावू दे भावें देवे इक डग रोटी।

अग्रेजी राज्य का प्रभाव वढा और विलायती रेशम ने अपना रूप दिखाया—

मैं फूका फुलकारी नूँ
लोकी पहन दे वलायती टोटे.....
खदर हड्डा नूँ खावे,
मलमल लिया दई वे.....
खदरा राह् छड दे,
इत्थे आ गया माल वलैती।
चावी दे लट्ठे ने गल छुटिया खदर दा वारो।

अकाली लहर ने जव जोर पकडा तव ये पक्तियाँ रची गई—

माही मेरा समिया,
मैनू वर्त रखण न देवे।

जव कॉग्रेस लहर ने अधिक वल पकडा तो पजाव ने वहुत सा रेशम जलाया था। राह् चलते वावुओ की नकटाइयो को उतार-उतार कर अग्नि को भेट कर दिया गया था। विदेशी शासको के चिह्नो को अपमानित किया गया और खद्दर को अपनाया गया। गाँधी जी को लोगो ने अपना वेताज का वादशाह मान लिया—

चिट्टा रुप्या चादी दा,
राज महात्मा गाँधी दा।

हृदय रूपी उर्वरा भूमि पर सदैव ही गीत उपजते रहते हैं। किसी भी लोकगीतकार के नाम का पता नही चलता किन्तु उसके गीत मौखिक रूप से चलते-चलते सारे प्रान्त के वायुमण्डल मे विखर जाते है। इस युग मे जव लोगो ने देखा कि स्वतत्र भारत के रेडियो की भाषा लोक-भाषा से काफी दूर है, तव यह व्यग किया—

आप गाऊँ दे ते आपे सुन दे, रेडियो वाजे राष्ट्र दा।

विभाजन के पूर्व पंजाबियों में अनेक धर्म होते हुए भी रीतियों और रिवाजों में साम्य था। इनका खाना पीना सादा और एक सा था। गीतों ने पंजाब के हिन्दू मुसलमानों के विचारों को इस प्रकार रूप दिया—

उन्हाँ कठियाँ रलके कनका गोडियाँ।
छोले बीजे ते जरियाँ निच वहके इजा लाइयाँ।

तब तक पंजाब के गीत उस पुरातन भाईचारे की कोमल प्रथा को इतिहास का सुनहला पृष्ठ बना कर सँभाल रक्खेंगे, जब तक कि मनुष्य और मनुष्य के बीच रंग, जाति तथा धर्म की खड़ी की गई दीवारें अपने सिर नीचे न झुका देंगी।

इक मुंडे दाना फतेह "मुहम्मद", दूजे दानां "सिरदारू"।
"गामा" "बरकत" "सोण" "चनणसिंह" सब दे उतो दीवारू।
सारे मिल के मेले जांदे गिधेदा चाऊ उभारू।

लोक-साहित्य में लोक-जीवन की व्यापक अनुभूति

श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०

जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वो को पहचानने और सचित्र करने मे निपुण श्री बहुगुणा जी आलोचक, अध्यापक, निबन्धकार और संस्मरण-लेखक के रूप मे साहित्यिक क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए हैं। इस लेख मे लोक-साहित्य की व्यापक अनुभूतियो का दिग्दर्शन कराने मे आपकी परिचयचारुता प्रबुद्ध है। —संपादक

साहित्य की दुनिया मे लोक-जीवन छन-छन कर आता है। इसलिए साहित्यिक गीत मँजे-सुधरे होते है, और उनकी चमक-दमक गिने-चुने लोगो को ही आसानी से अपनी ओर खीच सकती है। पर इस माँजने-सुधारने और छानने मे जीवन की बहुत-सी हरियाली भी कट-छँट कर बाहर ही छूट जाती है जिससे साहित्य के गीतो मे उबले-छने पानी का-सा स्वाद होता है, जब कि लोक-गीतो मे ताजे पानी का आनद आता है। लोकगीत, लोक-जीवन की जीती-जागती सपत्ति हैं। उनकी गिनती लोक-साहित्य मे होती है।

लोकगीतो मे भावना अकेले ही नही आती, उस मे प्रकृति के उपकरणो के बीच हृदय की अनुभूतियाँ तरगित होकर बहती है, आदमी के चारो ओर की दुनिया की सच्ची धड़कन लोकगीतो मे रहती है। गीतो के जन्मस्थान की विशेषताए लोकगीतो मे उजली धूप और मनोहर चाँदनी की तरह छिटकी रहती है। इन मे मनुष्य की अपनी पूरी दुनिया रहती है, मानव के सुख-दुख, उस के हँसने-रोने की कथाए, उसके प्यार-मुहब्बत की रगीन बातें, और उसकी मस्ती, सक्षेप मे उसके जीवन का सब कुछ इन गीतो मे तैरता रहता है।

लोक-गीतो मे मनुष्य अपने आस-पास की दुनिया की पूरी कहानी सुनता-सुनाता है, देखता-दिखाता है। पानी की तरह बहते इस साहित्य को सच्चे अर्थ मे लोक-साहित्य कह सकते है। लोक-साहित्य मे कथा-कहानी, इतिहास-पुराण, राग-द्वेष, ईर्ष्या-क्रोध, प्रेम-घृणा, नीति-धर्म, रीति-रिवाज आदि सभी चीजो के लिए पूरी-पूरी जगह रहती है। कभी-कभी तो लोक-साहित्य के एक ही अश मे काव्य, इतिहास, पुराण, नाटक आदि सभी एक ही जगह मिल जाते है। लोक-साहित्य के ऐसे महत्वपूर्ण अगो मे जिन मे, ये चीजे सहज ही आ जाती है, लोक

गीत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक है। काव्य, इतिहास, विश्वास, समाज-विज्ञान धर्म-नीति आदि, ज्ञान की विविध धाराओ के अध्ययन मे इन से बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। समाज के रूप को जितनी अकृत्रिमता के साथ लोकगीत सामने लाते है उतना संभवत कोई दूसरी प्रणाली नही ला पाती। कुछ उदाहरण लीजिए, गहनो की चाह स्त्रियो मे बहुत अधिक होती है। गरीब किसान, जिस बेचारे को बच्चे, बैल और घर की छोटी-मोटी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पडती है, अपनी स्त्री की गहनो की माग कैसे पूरी करे, पर स्त्री की लालसा वृत्ति लटकन के लिए इतनी अधिक बढ जाती है कि वह और किसी भी बात का हित अहित न सोचकर लटकन के लिए जिद करती है, कहती है—मुझे लटकन ला दो, पुआल-भूमी को बेचने मे जो पसे मिले उनमे क्यो नही खरीदते ? गरीब किसान कहता है—भूमी बेच दी तो बैलो को चारा नही मिलेगा। वे खावेगे क्या ? उत्तर मिलता है—'उन्हे बेच दो'। सलाप आगे बढता है—बैल बेच दे तो खेती कैसे चलेगी ? भाड मे जायँ तुम्हारे खेत मुझे लटकन अवश्य चाहिए। खेत जलाने पर तुली हुई हो, पर यह तो बतलाओ लडको के लिए खाना कहाँ से आवेगा ? सब मर जाय मुझे चिन्ता नही पर मैं लटकन लेकर रहूगी। लडके ही मर जावेगे तो घर-बार ही कहा रह गया ? घर भी बिक जाय मै नही डरती किन्तु लटकन अवश्य चाहिए। घर जो बिक जाय तो हम ही कहाँ रहेगे ? तुम भी भाग जाओ पर मेरे लिए लटकन अवश्य ला दो। गीत है—

करव बिकी जाय मोहे लटकन लैइ द्यो।
मोहे लटकन लैद्यो ! मोहे लटकन लैइ द्यौ ! ! !
करव बिकी जइहै तो बैल कहा खइहै ?
कि बैल बिकी जायँ, मोहे लटकन लैइ द्यौ !
बैल बिकी जइहै तो खेती कहा व्हइ है ?
कि खेत जली जायँ मोहे लटकन लइ द्यौ !
रे खेत जली जइहै तो लरिका कहा खइ है ?
कि लरिका मरी जायँ मोहे लटकन लैइ द्यौ !
रे लरिका मरी जइ है तो घर को कहा व्हइहै ?
कि घर भी बिकी जाय, मोहे लटकन लैइ द्यौ !
रे घर जो बिकी जइ है तो हमहूँ कहाँ रहि है !
कि तुम भी भगी जाव, मोहे लटकन लइ द्यौ !

इसी लोकगीत के इस गीत मे मानव-जीवन के [illegible] रूप की सहज, अकृत्रिम अभिव्यक्ति [illegible] जिस मे समाज का चित्र है, गरीबी है, हठ है, अज्ञान है, मोह है, अविवेक है, अनुभूति है, [illegible] कथोपकथन है, चरित्र-चित्रण है, परिस्थिति है, पात्र है, घटना है,

इतिहास है, काव्य है, एक पूरी छोटी कहानी है और सबसे बड़ी चीज मानव जीवन की सजीवता है।

नैपाली प्रवासी की प्रेम-कल्पनाओं और प्रेम-निराशाओं के दर्शन निम्नांकित गीत कराते हैं—

सुरज फूल फूल्या को होला, मानासरवर,
साइगो तेरो मेरो भेट भया को धन्ना घरवर,
सरग भरो नो लाख तारा, उजालो जून को,
कइलै मया मरनै छइना, कान गा मून को।

"आह! कैसे कैसे फूल (सूरजमुखी, चन्द्रमुखी, कमल) मानसरोवर मे फूल चुके होंगे। कहाँ की वह थी, कहाँ का मै था, बड़े भाग्य थे, देवयोग से संयोग हुआ और वह सुनहरा सौन्दर्य हृदय मे बस गया, कभी कम नही हुआ। उसकी ममता (मया) उत्तरोत्तर गहरी ही होती रही। हृदय मे लाखो के बीच, वह सुवर्ण सूरजमुखी अलग पहिचानी जा सकती है। आकाश मे नौ लाख से भी अधिक तारे हैं किन्तु उजाला जून (चाँदनी) का ही सब मे शीतल और मन मोहक होता हे। सुवर्ण अपने जीवन भर सब को अच्छा ही लगता हे।"

निराश प्रेमी नैपाली के प्रेम गीतो मे निराशा के अधकार मे प्रेम तड़फता सिसकियाँ भरता रहता है। जिसे किसी ने प्यार नही किया, जिसका ससार मे अपना कहने को कोई नही उस डोढयाली दाई और पूर्वी नैपाली को सिगरेटो की धुँआधारी ओर शराब की बेहद बाढ मे युद्ध-भर्ती मे अपने दु ख को भुलाते हम पाते है। उसके गीतो मे निराश हृदय के क्षीण होते स्वर सुनाई देते है ।

"सीरी सीरी बातास नैपाल के झरोखे मे चल रही है। हुसकी जैसी बुरी शराब मैं नही पीता। मेरा दिल रक्ष मे बसा है। महल के झरोखे से सीरी-सीरी पवन बह रही है। तुम्हे उठा तो नही ले जा रहा हूँ, मन के खयाल की दिल्लगी है। मध्य देश की गाय का सींग लम्बा है, पूछ छोटी है। मुझे तो हजूरो का ही नेह लगता है, ओरो का लगता ही नही। सदर (बाजार) जाऊँगा, सिगरेट लाऊँगा। झर्र से माचिस झार कर उसे बालूंगा। और किस तरह से मैं अपना मन बुझाऊँ? कोई भी चीज उसे बहलाने के लिए मेरे पास नही है। इस योवन मे कोई भी मेरा नही। वन का राजा करसुडा, चिडिया मार कर रहता है। कोई भी हमारा दिल ले। चाहे छोटा हो चाहे बडा, दर्द तो बराबर ही होता है। जर्मनी की फोजो ने कपनी के साथ से छ मन का गोला फेंका है। मुझे भी बम्बई के सुरक्षित बदर की ओट भेज दो।"

गढवाल के वीर गीत (पवाड़े) वीर और शृगार के साथ करुण, अद्भुत और वीभत्स को भी ले कर चलते है। लोक-जीवन उनमे कुल-परपरा, वश-परपरा और पराक्रम गाथा को सुरक्षित रखता है। एक पवाडे की कुछ पक्तियाँ है—

"शक्ति कुला को भक्ति कुला, भक्ति कुला को सहजराम कुला, हाँ सहजराम कुला को हिवा रौत, हिँवाँ रौत को भिँवाँ रौत, हाँ जव खिडविडी की माल गै छौभिँवा रौत, जव माल को रसद उगाये रौत न, यह खवर होये गुरु ज्ञानीचद कू। जव गढचपावती मा गुरु ज्ञानीचद होलो राजा।"

शक्ति कुल से भक्ति कुल, भक्ति कुल से सहज कुल जन्मा। इस सप्रदाय मे हिवारौत का पुत्र भिवाँरौत हुआ वह खिडविडी की माल गया। वहाँ की रसद उसने उगाई। यह खवर गुरु ज्ञानीचद को हुई जो कि चपावतीगढ मे राज्य कर रहा था।"

गढवाल के लोक गीत हमे वैदिक युग और आर्य सस्कृति तथा अग्नि-आविष्कार के समय तक के जीवन के दर्शन करा देते है।

अग्नि के आविष्कार, प्रसार तथा उपयोगिता के उस युग तक निम्नाकित गढवाली मगल गीत हमे ले जाता है जिसमे द्यु लोक पितृलोक के रूप मे, पृथ्वी लोक मातृ लोक के रूप मे माने जाते थे, जिसमे ब्रह्मा, ब्रह्म और अग्निहोता ब्रह्मदेव की एकता अभी थी और दो भिन्न प्रकार की सस्कृतियाँ एक दूसरे के सपर्क मे आने को थी —

अइजा अग्नी अइजा अग्नी मेरा मातृ लोक, मेरा मातृ लोक !
त्वैं बिना अग्नी ब्रह्मा भूखो रैगे! ब्रह्मा भूखो रैगे!
कनु कै की औलो, कनु कै कि औलो, तेरा मातृ लोक,
तेरा मातृ लोक, ये बुरो अत्याचार, ये बड़ो अत्याचार!
क्या होलो अग्नी बुरो अत्याचार, क्या होलो अग्नी बुरो अत्याचार ?
मेरा मातृ लोक, बुरो अत्याचार, मेरा मातृलोक बुरो अत्याचार।
ब्रह्मा ह्वै की ब्रह्मा ह्वैकी झूठ बोलला, ये अत्याचार ते क्या अत्याचार ?
माया धीया, मायाधीया ऊजो पैंछो, बेटा बाबू लेखो जोखो
बुआरी ह्वै की सासू अटाली, नौनो ह्वैई की बाबू पढालो
ये अत्याचार ते क्या बडो अत्याचार; कनु कै की औलो,
कनु कै की औलो, तेरा मातृ लोक ये बुरो अत्याचार, ये बडो अत्याचार !
अइजा अग्नी अइजा अग्नी मेरा मातृलोक, मेरा मातृलोक।

'हे अग्निदेव मेरे मातृलोक आ जाओ तुम्हारे बिना ब्रह्म देव भूखे रह गये है। किस प्रकार तुम्हारे मातृलोक आऊँ यहां सब प्रकार के बड़े अत्याचार होते है ? मेरे मातृलोक मे कैसा-सा अत्याचार है ? माता और दुहिता के बीच लेन देन चलता है, इसी तरह बाप-बेटे के बीच झगड़ा चलता है। वह अपनी सास को सीख देती है। बेटा अपने बाप को पटाता है। इन अत्याचारो से बड़ा क्या अत्याचार हो सकता है ! मै किस तरह तुम्हारे मातृलोक आऊ ? हे अग्नि देव ! मेरे मातृलोक आ जाओ मेरे मातृलोक आ जाओ।

काशी मे दडी ब्रह्मचारी के रूप मे विद्याध्ययन करने वाले बालक को घर की याद आती है। गुरुवाइन उसे घर बुलाती है। गुरु के प्रति खीभ और गुरुवाइन के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर वह कहता है—

गुरू निरदया न दडी वणायो
दयावती गुरुवानी न घर बुलायो

'निर्दयी गुरू ने मुझे दडी ब्रह्मचारी बना डाला था। दयावती गुरुवाइन की कृपा से घर अब देखने को मिला।'

मायके से विदा होती दुलहिन के भावो को व्यक्त करने वाले लोकगीत काव्य की सुदरतम सपत्ति है। पजाबी गीत मे दुलहिन कहती है—

साड्डा चिड़ियाँ दी चवा वे
बाबल अस्सी उड्ड जाना,
बाबल केहडे देश जाना ?

लाड प्यार का घर छोड कर अब मुझे दूसरे देश जाना है, मै तो पछी हूँ, मुझे न जाने किस देश मे पहुँचना पडता है। गुजराती दुलहिन के साथ गीत कहता है—

✓ आये रे लीलूड़ी बन नी चर कलड़ी
उडि जा शू परदेश जी,
आज रे दादा जी ना देश माँ
काल जाशूं परदेश जी।

हरे भरे वन की चिडिया आज अपने दादा के देश मे हूँ कल परदेश मे चली जाऊँगी। गढवाली दुलहिन विनती करती है—

काला डॉडा पोर च काली कुएडी
मैं मेरी माँ जी अकेली नी जाँदू।

काले भयावह बीहड पहाड पर घना कुहरा छाया हुआ है, ऐसे समय हे मेरी मा मै अकेले नही जाती। माँ ढाढस तो बँधाती है पर उसके अपने ही आँसू थोडी ही देर थमते है। गुजराती माँ का मन रोता है—

फुलडाँ बेलाये माली लई गया रे
में तो हरसे लाड वई मोटाँ करिया रे।

लाड-प्यार से पाली यह खिली कली माली आज लिये जा रहा है। आज तक मुझे इसी बात का हर्ष था कि मैंने इसे पाल-पोस कर बड़ा किया है। कण्व की भी तो आँखें कालिदास ने भर दी थी 'अर्थो हि कन्या परकीय एव'—कन्या दूसरे ही के लिए होती है। और वह कन्या सुहागरात किस प्रकार की कामनाएं करती है—

आजु सुहाग के रात चँदा तुम उइहौ
चंदा तुम उइहौ, सुरुज मति उइहौ
मोर हिरदा, बिरस जनि कीहेउ मुरुग मति बोलेउ
आज करहु बडि रात चंदा तुम उइहौ
धीरे धीरे चलु मोरा सुरुज बिलम करि उइहौ।

लोक-जीवन ने अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल आरंभ से ही गीतों का सृजन कर लिया। विश्राम और कार्य करने के अलग अलग भागों मे लोक-जीवन अपने को कृत्रिम जीवन की भांति नहीं बांटता, उसमें गीत के साथ ही कार्य है और कार्य के साथ ही गीत। श्रम और सुख-दुःख को भुला देने की यह युक्ति कितनी आनंदमय, कितनी आकर्षक और सरल है। शायद जीवन की धारा की तरह ही लोकगीत भी पुराने से पुराने और नये से नये एक साथ ही हैं।

वात्सल्य भाव सभी देशों के मनुष्यों में वासना रूप में पाया जाता है। सन्तान के रूप में मनुष्य अपना नया जन्म, नया स्वर्ग, पृथ्वी पर ही देखता है। स्त्रियों के द्वारा वृक्ष-वल्लरियों को जल से सींच-सींच कर बड़ा किया जाना इसी भाव का द्योतक है। लोक-गीतों ने इस पक्ष की उपेक्षा नहीं की है। एक गीत-कड़ी में लोक-हृदय इस कहानी को व्यक्त करता है 'जलधर सिंचए नवरंगिया' 'तरुणी जल दे दे कर नारंगी की डाल को सींचती है।' संतान की चाह मानव मात्र में होती है किन्तु स्त्रियों में वह विकल कर देने वाली वेदना की सीमा तक पहुँच जाती है। तीर्थ-व्रत, जप तप, दान-पुण्य सभी कुछ संतान पाने के लिए वे किया करती हैं। संतान के बिना उनका जीवन नीरस रहता है। संतान की चाह वाले सभी लोगों की इस भावना को एक राजस्थानी तरुणी अपने देवता के सामने हृदय खोल कर रख रही है—

भैरूँ जी कदेय न भीजी म्हारी दूधां कांचली!
भैरूँ जी कदेय न भीज्यो म्हारो कांधो लाल सूं!
बानीवानी! एक पुतर बिन कुल में बांझड़ी।

[illegible] जी! कभी भी सन्तान-प्रेम से [illegible] दूध से मेरी कंचुकी नहीं भीगी! कभी भी [illegible] नहीं हुआ! हे बानी बानी (भैरव) पुत्र के अभावमात्र से कुल [illegible] है। किन्तु जिस सुहागिन की गोद भर जाती है उसकी उमंग का ठिकाना नहीं [illegible]। [illegible] करते हैं। नन्हे-नन्हे की आशाएं

लोग बाँधते हैं। 'लड़की होगी तो दिव्य देवी जमी होगी, लड़का होगा तो कुल को उज्ज्वल करेगा।' ननद-भावज की ठठोलियां एसे मांके के गीतों में जान डाल देती है। होने वाले बच्चे की माँ, अपनी ननद की मीठी चुटकियों का उत्तर देती हुई एक गीत में कहती है—'लड़की होगी तो ऐ मेना! तुझे सोने का कंगन दूंगी और लड़का होगा तो तेरा मुँह चूम कर तुझे सब कुछ दे डालूँगी।'

लोक जीवन में उल्लास है उमंग है, वेदना है, किन्तु शोक भी है इसलिए जीवन के साथ मृत्यु की अवहेलना वहां नहीं हुई है। मृत्यु, शोक का अवसर अवश्य है किन्तु उन्हीं के लिए जो उसको इस जीवन के मोह में ही सीमित कर देते हैं। जो उस को नये जीवन का आरंभ हृदय से मानते हैं उनके लिए वह भी एक आनंद का ही अवसर है। कुम्हार, धोबी आदि जातियों के बीच अर्थी गाजे बाजे और गीतों के साथ निकलती ही है किन्तु रँवाई टिहरी गढ़वाल में यह भी प्रथा है कि मुर्दे को नचाते नचाते श्मशान तक पहुँचाते हैं। सत्तू (जौ के आटे) के गोले साथ रख लिये जाते हैं। मृत व्यक्ति के खेतों की सीमाएं जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ जौ के आटे का एक पिंड रख दिया जाता है ताकि लोगों में कोई उसकी भूमि पर अधिकार न करे। और साथ ही साथ 'मढोई' (मुर्दा ले जाने वाले व्यक्ति) गाते जाते हैं—

डबखी पुँगडी चै जा मियाँ,
सत्तू ढिढो खै जा मियाँ।

"हे स्वर्ग जाने वाले प्राणी! अपने खेतों की सीमाएं देखते जाओ। और उन सत्तू के ढिढो को खाते जाओ।'

इस तरह सम्पूर्ण लोक-जीवन की अनुभूतियाँ लोक-साहित्य में गीतों में ढल कर न जाने कब से जन-जीवन की प्राणधारा बनी चली आ रही हैं। एक से एक विचित्र दिव्य रूपों में ये अनुभूतियाँ लोक-साहित्य में बिखरी पड़ी हैं।

गढ़वाल के चरवाहे-गीत बाजूबन्द

श्री गोविन्द चातक

मदानीग अलकनन्दा की तरल तरगो ने राग और स्वर देकर, उत्तुग देवदारु के विटपो ने सुगन्धिमय स्वाभिमान प्रदान कर और हिमवन्त की सौन्दर्यमयी प्रकृति ने अनुभूतियाँ प्रदान कर गोविन्द चातक की तरुणाई का सस्कार किया है, इसीलिए चातक प्रकृत कवि, कोमल भावो के उपासक, लोक-जीवन के गायक और शब्द-शिल्पी बने हुए है। बाजूबन्द मे बधकर लेखक का हृदय मचल उठा है, शैली उभर उठी है और भावनाये मुखर हो उठी है। —सपादक

बाजूबन्द गढवाल का प्रसिद्ध लोक-गीत है। वह दो स्त्री-पुरुषो का गीतात्मक प्रेम-सवाद है। इसके ऊँचे स्वर सुनने के लिए हिमवत के वनो मे आइए।

देखिए, दूर क्षितिज पर एक बहुत बडा पहाड है। और उसके अनुचरो की तरह एक के बाद दूसरी गिरि-मालाएँ खडी है। उन पर बांज, चीड और देवदारु के बन श्वेत मोती सा जल बरसाने वाले झरनो के साथ हँस रहे है। वृक्षो की आनत शाखाओ पर कुसुम-लताएँ झूल रही है। इन्ही वन पर्वतो की उपत्यकाओ मे गढवाल के गाँव बसे है, जो हिमालय की शोभा अपलक देखा करते है। लोग हल चलाकर खेती करते है, नदियो के रम्य तटो पर अपनी भेडे चराकर वशी के स्वरो मे बाह्य जीवन की कठिनाइयो को भूल जाते है। युद्धो के दुष्ट विचारो से, असम वित्त-वितरण से, घृणा और द्वेष से दूर उनका जीवन उतना सरस सा मिलता है। वहाँ न अपने केन्द्रीभूत सुख के लिए वे ऊँचे भवन बने है, गरीबो के रक्त से जिनकी दीवारे पुती होती है। मिट्टी पत्थर से बने सुरुचिपूर्ण घर ही उनके [illegible] पत्थरो के घर, खेतो की हरियाली ही जिनकी शोभा है। इन्ही घरो से सुबह सुबह उठकर चरवाहो की टोली अपनी भेड-बकरियो गाय-बैलो को लेकर नदी की रम्य घाटी पर बढ रही है। [illegible] के नीचे पवन पर कहीं दो चार बकरियाँ [illegible] सचरणशील शिशु-बादलो की तरह दिखाई देती है, धीरे-धीरे सुबह का समय वन-पर्वत पर बिखर जाता है। चरवाहा [illegible] है। अपनी भेडो की काली-सफेद ऊन की प्यारी मिरजई पहने है। कमर पर ऊन की ही [illegible] है। पैरो पर भी ऊनी ही [illegible] है। हाथ पर एक [illegible] है। [illegible] छा जाती है और उसके अधर [illegible] है।

आई कि नी आई नदा डाँडू का मौटू मा,,
त्वैकू रै बार दिने छौ नदा गऊँ का छोरू मा!
तू हवा से भी हलकी छई,
पाणी से पतली छई,
हिसरी की गोद की छई।
फ्यूँली को-सी फूल!
नदा, पर्वतीय मैदानो में आई हो या नहीं?
तुझे गाँव के लडको के पास सदेशा भेजा था।
तू हवा से भी हलकी है!
पानी से भी पतली है,
आमडू से भी मीठी है,
फ्यूँली का-सा फूल है!

गीत का यह मधुर स्वर किसी देवदारु के नीचे, जल मे चरण डुबोकर, शिला पर बैठी मृदु हँसती किशोरी के कानो को स्पर्श कर उसके अधरो को प्रस्फुटित कर देता है। नोई धरती मे नवयौवन की एक माया-सी फैल जाती है। सुप्त घाटियाँ गूंजने लगती है। किशोरी के प्राण आतुर हो उठते है और नूपुर शान्त! किन्तु सहसा उसके प्राणो का जीवन-स्पन्दन उन्ही नूपुरो के गान मे चचल हो उठता है। वह उठकर देखती है, अपने स्वर्ग को पहचानती है—सभवत वह जीतू ही है। एक दिन उसकी वकरियो मे वाघ आ पडा था। तो यही जीतू दूसरी तरफ अपनी वकरियाँ छोडकर उसकी वकरियो को वचाने आया था। तव उसने अपना नाम नन्दा वताया था और जीतू को सौ-सौ धन्यवाद देकर कहा था 'मै रोज इसी पहाडी पर वकरियाँ चराने आती हूँ।'

जीतू गाता ही आ रहा है। नदा मौन ही रहती है। प्रेम मे पहले-पहल कहना ही पडता है, उसे प्राप्त कर केवल अनुभूति का रस लेने की आवश्यकता पडती है। नदा वृक्षो की अवनत शाखाओ से कोमल किशलय तोडकर विछाने लगती है। जीतू अपने उल्लास को गीतो मे विखेरता आता है। अपने प्रिय की माधुरी, उसके प्रति अपनी प्रेमानुभूति को व्यक्त किये विना पुरुष अघाता कव है—

गुड खायो माख्योन,
और खाँदा घिचीन नू खाँदी आँख्योन।
पकी जालो स्युँ,
ओठड्यूँ की लाली तेरी तरस्योदी ज्यू!

तितर की पाँख,
दाँतु -चौक ढकं लेणी, घुमं लेणी आँख !
दरजी की कैंची,
सी सनकौण्याँ आँखी मं दी देणी मंछी !
धरती खैंणी,
तू खडी होदी नन्दा जनी धार मा-सी गैंणी !
खेली जालो गेन्दो,
दूकानी-सी चीज होन्दी मोल लीई लेन्दो !
ग्यो जौ का कोस,
तरी हैंसाड खावुडी जनु ठडू पाणी तीस !
झँगोरा को झालू,
कनो सज दैंद पुटू मा की धौंपेली विगरैंलु फोदा-नालू !
घमकायो त घण,
माया को भूको छऊँ, आयो तेरा वण !
मरकाई त सुई,
राम जी न सीता जपे, मैंन जपें तुई !
तामा की टाँको,
मैं छऊँ दिलदार, तू छई मन-वांकी !
दाथुडी का छुमा,
माया-डाली मैंन लगौंण, परोसणी तेरा जुमा !
झँगोरा को खीरु,
इती त्राणू माया जु पाणी ना छीरु !
पकी जाली खीर,
उच्चू डाँडू नीसू करलू त्वै मिलण खातीर।

'और तो मुँह से खाते हैं पर तू आँखों से ही खाती है। तेरे ओठों की लाली जी तरसाती है। इन मोहक दाँतों को जरा ढक लो आँखों को फिर लो! इन [illegible] आँखों [illegible] हुआ है जी। तेरा हँसता चेहरा ऐसा लगता है, जैसा प्यास में [illegible] पानी। [illegible] चोटी [illegible] ज्यादा [illegible] मज देता है। तू धार पर [illegible] की तरह खड़ी होती है। दुकान की सी चीज होती तो मैं मोल ले [illegible]। [illegible] हूँ। राम ने सीता को जपा और मैंने [illegible] मैं दिलदार [illegible] और तू मन-बाँकी। प्रेम का वृक्ष मैंने लगाया है परोसना

तेरे जिम्मे रहा। ऐसा प्रेम करना है, जिसमें पानी भी न चुवे—कोई जिसमें छिद्र न हो। ऊँचा पर्वत भी तुझे मिलने के खातिर नीचा करूँगा।'

जीतू का थाली-सा छनछनाता हुआ गला गिरि के सूने उर को मुखरित कर उठता है —

कितना फूलू की पूजा से शोभली,
कतना गीतू से रीझली तू!
वण की आछरी मोहीन मैन,
तू कतनी-सी चीज ली तू!

'कितने फूलों की पूजा से शोभा दोगी? कितने गीतों से रीझोगी। वन की अप्सरायें मोही मैंने, तू कौन-सी चीज आली!'

जीतू का स्वर निकट-निकट आता जाता है और अंत में उस वृक्ष के नीचे, जहाँ नदा कोमल किशलय बिछाकर बैठी थी, वह खड़ा हो गया।

'आ गई तू नदा!'—उसने कहा।

'मेरी बकरियाँ बहुत पहले आ गई थी।'—नदा का स्वर था। 'मैं तुम्हारे गीत सुनती रही।'

'मेरे गीत ।'

'अपनी बाँसुरी सुनाओगे!'

'क्यो? तुम नाचोगी?'

नदा शरमाई। उसके गोरे गालो पर उषा की लाली छिटक गई।

'ओ मेरी बुराँसी।'—जीतू ने उसके गले मे हाथ डालते हुए कहा। 'आओ, तुम्हे आज सजाऊँगा।'

नदा उसकी जानुओ पर सिर रखकर बैठ गई। जीतू वन-कुसुमो से उसकी अलकावली सजाने लगा।

२

पहाड़ की निचली तलहटी। सारा वन बुराँस और सेमल के लाल-लाल फूलो से छाया हुआ है। लगता है, नीली चादर पर लाल-लाल बेल-बूटे बना दिये गये हो। हिलाँस, कफू, काफल, पाक्कू और मधुपो की ध्वनि मे सारा वन मुखरित हो रहा है। प्रकृति यहाँ सर्वत्र कार्य-संलग्न दिखाई देती है—एक क्षण भी यहाँ चेतन-शक्ति को आराम नही। मनुष्य भी यहाँ सब अपने-अपने कामो मे लगे है—कोई घास-लकड़ी काट रहा है, कोई भेड़-बकरियाँ चरा रहा है, कोई फलो को बीन रहा है।

दूसरे पाखे से ननु सीटी मारता भेड़-बकरियों को अपने पीछे-पीछे बुलाता चला आ रहा है। उसके चेहरे पर कुछ विषाद की रेखाएं हैं। उसकी बचुली आज उससे बिना कुछ कहे ही कि वह किस वन घास को जा रही है, न जाने कहाँ चली गई। पर वह जानता है, वह यहीं कहीं होगी। वह गाता चला जा रहा है —

सनकौण्या आँखी चलौंदी मेरी बचुली कथैं गैं?
दाथुडी का छुबका बजौंदी जब गौं का उथैं गैं !
तेंकी ठसक्याली चाल म क्य जादू भर्यूं छ,
कनी टमकौंदी आँखी नजरूकू मौका जथैं रैं !
बचुली की-सी मुखडी तस्वीर मा नी छ--
सुकीली दाँतड्यूँ को निकसाट बतौ दे!
बचुली खडी होन्दी जनी धार म-सी गैणी,
पालिगा की-सी डाली हली जाँदी बथौ लै!

'सांकेतिक आँखे चलाती मेरी बचुली कहाँ गई? दराँती के घुंघरु बजाती वह गाँव के उधर गई थी। उसकी मोहनी चाल में क्या जादू भरा है। कैसे आँखे मटकाती है, नजर का जिधर भी मौका रहा। बचुली का-सा मुखड़ा तस्वीर में भी नहीं, उजले दाँतों का, कैसा निकास दिखाती है। बचुली खड़ी होती है। जैसे धार पर उदित होता हुआ तारा, पालक की डाली की तरह, जो जरा-सी हवा में हिल जाता है।'

ननु उत्तर की प्रतीक्षा में थोड़ी देर चुप हुआ, पर उसे संगीत का कोई स्वर न सुनाई दिया। और दिन ननु के स्वर सुनते ही बचुली के ओंठ खुल पड़ते थे। आज वह चिटी-सी अपने काम पर लगी थी। ननु ने भी सोचा, बचुली शायद कहीं दूर गई है। उसने भेड़-बकरियां रुका दी और एक घुटने पर दूसरा घुटना टिका कर बंशी हाथ में ले ली। बंशी का स्वर सारे वन में फैल गया। ननु अकेला ही अपनी कला पर रीझने वाला था। उसी समय पास की पहाड़ी से संगीत की एक अस्पष्ट लय उसके कानों में आ टकराई —

आई गैन रितु बौडी, दायो जसो फेरो !
उबा देसी उबा जाला, उदा देसी उदा।
सौलि गैन अनमन, भाँति फूलू डाले;
फूली गैन बणू सांजे ग्वीराल-बुराँस !
झपन्याली डाली मा घूघूती घुरली,
डच्ची डाँडी-काँठ्यों हिलाँस बासली।
डोरी गदन्यो मा सेल्वडी डोलली!
स्यो जो क्री सारी हरी-भरी होइन,

डाँडू मा घूरली मुरली ग्वैरू की।
छोटि नोनी नोना डेल्यो फूल चढाला,
गौं गौं मांज ढोल बाजला बरात का,
जौंका होला भाग, उ मौंजठ्या पाली।

'ऋतुये लोटकर आ गई है। नीचे देश जाने वाले नीचे जायंगे, ऊपर जाने वाले ऊपर। भांति-भांति के फूलो के पौधे फूल गये है। वनो मे ग्वीराल और बुरांस फूल गये है। पत्तो से भरे पेडो पर घुघूती (चिडिया विशेष), ऊंचे वन पर्वतो पर हिलांस (चिडिया विशेष) और गहरे गह्वरो मे मेलवडी बोलने लगी है। गेहू जौ के खेत हरे-भरे हो गये है, शिखरो पर चरवाहो की मुरलियाँ बज रही हे। छोटे लडके-लडकियाँ देहलियो मे फूल चढायेगी। गाँवो-गाँवो मे बरात के ढोल बजेगे। जिनके भाग्य होगे, समवयस्क पति पायेगी।,

नैनु इस स्वर पर मुग्ध है। जहाँ उस स्वर मे बसत की हर्षाभिव्यक्ति है, वहाँ करुणा का एक धुँधला-सा रग भी हे जिसमे गायक की स्वर-लहरी सीधी तीरती हुई आती है। स्वर के सहारे ही वह गा उठता है —

पुली बल ग्यो की,
घास काटदारी छोरी, तू कैइ गौं की ?

घास काटने वाली लडकी तू किस गाँव की है ? उसी क्षण उत्तर मिलता है—

बाबला की कूची,
मै कैई गौं की होली तू क्या करदू पूछी ?

मै किसी भी गाँव की होऊँ तू क्या करेगा पूछ कर ?

नैनु—घमकायो त घण,
माया को भूको छऊँ आयो तेरा वण।

प्रेम का भूखा हूँ, इसीलिए तेरे वन आया हूँ।

स्त्री—हिंसरी का गोदा,
विदेशी भँवर सुवा, अपणा नी होन्दा।

विदेशी भौंरे कभी अपने नही होते।

छट फोडी छेणी,
विदेशी की माया पैली जाँची लेणी।

विदेशी का प्रेम पहले जाँच लेना चाहिए।

नैनु—रोटी खाई आदा,
तराजू न तोल, कैकी माया जादा ।

तराजू मे तोल लो, किसका प्रेम ज्यादा है।

स्त्री—डाला पक्या वेर,
तू लान्दी वार-पार मं होदी अबेर।

तू इधर-उधर की लगाता है, मुझे देर हो रही है।

नैनु—फूटी जालो पटासो,
वुरो माणनो छोरी, सभी खोजदन ढुगी को अडासो।

वुरा न मानो, वैठने को पत्थर का आधार सभी खोजते हैं।

स्त्री—चाँदी का वटण,
माया लाणी आसान, निभौणी होदी कठण।

प्रेम करना आसान है पर निभाना कठिन।

नैनु—काटी जालो घास,
सदा नी रहणो छोरी, यो दिन यो मास।

हमेशा ही यही दिन, यही मास न रहेगा।

चुदरी का तोया,
सदा नी रदा हिलाँसी पाडू पुन्दू छोया।

पहाड़ों पर भी सदा वरसाती नाले नहीं रहते।

स्त्री—हिसरी को गोदो,
बाली माया टूटी जाँदी फिर रोणू होन्दो।

बचपन का प्रेम टूट जाता है, तब रोना होता है।

लुवा गडी दैन,
ऐना मती पाणी रखी जाणी कैन?

[illegible] के ऊपर पानी को किसने स्थिर रखा है?

नैनु—[illegible] जालो [illegible],
[illegible]-[illegible] लान्दो छोरी माया को [illegible]।

[illegible] का [illegible] धीरे-धीरे [illegible] जाता है।

आग की अगेठी,

माणी जा मैणा मेरी, तेरी भायान जिकुडी लपेटी।

मान जा मेरी मेना, तेरे प्रेम ने हृदय को लपेट लिया है।

ननु स्वर के निकट आता जाता है, सामने आकर देखता है पीठ फेर कर बैठी हुई युवती उसकी वचुली ही है। उसका गोरा चेहरा, साकेतिक आखे, ननु के हृदय की चेतना को झकझोर देती है। सामने ही वह आ बैठता है किंतु वचुली मुह मोड लेती है। ननु उसे छेडता है—

हिसर की गोदी,

छिः, तेरी माया फुडू फूक तू मनौणी होंदी।

छि, हटाओ भी तुम्हारा प्रेम, तुम्हे मनाना पडता है।

बरखा का बुंद,

तू नी माणलीत, मैन फॉस खाण तेरी नथुली ऊँद।

तुम नही मानोगी तो मुझे तुम्हारी नथ मे लटक कर फास खानी है।

नैनु उसकी अलकावली पर हाथ फेरता है। वचुली एक झटके के साथ उसके हाथ को दूर फेक देती है।

'ओ. मेरी विल्ली!' नैनु वोला।

वचुली खीझ कर एक हलका हाथ उस पर मारती है।

'म्याऊँ! यह तो पजे भी मारती है!'

वचुली अचानक हँस पडती है और खिलखिला कर अपने सिर को नैनु की गोदी मे टिका देती है।

३

यह है सूमा और वसन्तू। सूमा यौवन की प्रारभिक स्थिति को पार कर चुकी है। कुछ ही साल हुए उसका व्याह हुआ था—तव वह सोलह वरस की नवयुवती थी। जीवन मे एक प्रकार का उल्लास था। वहुत सा कर्ज पच्चीस रुपये प्रति सैकडे व्याज पर निकाल कर वसन्तू ने सूमा के वाप को दिये थे—इस प्रकार स्थानीय प्रथाओ के अनुसार क्रय-विक्रय पर उनका व्याह हुआ था। कुछ ही महीने वीते होगे कि साहूकार ने उसे तग करना शुरू किया। और एक दिन उसने अपनी प्यारी सूमा से विदाई ली—'फूलो के साथ जा रहा हूँ, वादलो के साथ लौट आऊँगा।' 'अभी तो ।'—व्याह हुए कुछ ही दिन हुए है, वह कहना चाहती थी पर कह न सकी, तव उसे प्रेमी हृदय के उद्गारो को व्यक्त करना न आया था। उस दिन से कई वादल आये और गये, कई फूल खिले और मुरझाये पर सूमा का पति न आया—अव आशा भी नहीं, उत्सुकता भी नहीं।

वसन्त भी यौवन को पार कर चुका है। हजारों रुपया कर्ज निकाल कर किसी कन्या को पत्नी-रूप में खरीदने की उसमें सामर्थ्य नहीं। इसीलिए उसकी जिंदगी अब तक—अविवाहित ही कटी है। अब, जिस स्त्री के प्रेम का पात्र कोई नहीं, वसन्तू उन्हीं के क्षणिक विनोदों में जीवन बिताता है। उनकी बातचीत सुनिए —

वसन्तू—हुगर्यो त बाग,
तेरी मेरी माया, सग्वाड़ी जनो साग।

तेरा मेरा प्रेम ऐसा ही है, जसी अपने बगीचे की सब्जी।

सूमा—घोड़ी को कमर,
त्वे मरी जोड़ीदार पौंदो, होइ जान्दो अमर।

तुम-सा जोड़ीदार पाती तो अमर हो जाती।

वसन्तू—गाय का गोबर,
बुढेंद की माया, ज्वानी से दोबर!

वृद्धावस्था का प्रेम युवावस्था से दूना होता है।

सूमा—लोण भरे दोण,
छि कख आई बुबा तू दूणी खुद लगौण!

छि प्रिय, तू दूनी याद (प्यार) लगाने कहाँ से आया?

वसन्तू—धणिया को बीज,
तू इनी दिखेंदी जनु काँठो मा नुरीज।

तू मुझे ऐसी लगती है, जैसे काँठों में [illegible]!

सेरा डाले फूल,
दादो प्यारो धूर होंद, दान्यियों प्यारो फूल!

नानी को देवर प्यारा होता है [illegible]।

सूमा—तेरु दाँ [illegible] दाणी,
माया ही तेरी [illegible] की [illegible]।

[illegible]

वसन्तू—[illegible] डाली [illegible],
होंग [illegible] लेणी देणी, ज्वानी फेर नी होणी।

[illegible] ज्वानी फिर नहीं आती।

सूमा--छोटी जाली रंदी,

बार मास रयो, विखादारी वन्दी।

बारहो मास मैं दुःख मे ही बँधी रही।

खेली जाला तास,

सोनो छयो, पितलो होयो मूरखू का पास।

सोना थी, मूर्खों के पास पीतल बनी।

घसेला को गाजो,

क अनाडी का पास पड़े हारमुनी वाजो।

किस अनाडी के पास हारमोनियम वाजा पडा।

गुलेर की गारी,

औरून सौंजड़्या पैन, मैंनकरन हारी?

औरो ने समवयस्क जोडी के पति पाये, पर मैंने कहाँ हारी ?

बसंतू--अखोड़ू का डोका,

दुख सही लेणा छोरी, नी हुँसौणा लोका।

दुख सह लेने चाहिए, अपने पर लोगो को न हँसाना चाहिए।

सूमा--घूघती घुराई,

वामण को मडो मरे, जैन जुगता जुडाई।

ब्राह्मण का मुर्दा मरा, जिसने ब्याह के लिए जन्मपत्री जुडाई।

मसेटो मेवायो,

ब्वै बुबौक रोदू जौन कुघरू बेवायो।

माँ-बाप के लिए रोती हूँ जिन्होने कुघर ब्याह किया।

गौड़ी नौ छ बेन्दु,

सासु कला पाणी देंदी, मै ठाडी ठाडी पेन्दु।

सास की डर मे पानी भी खडे खडे पीती हूँ।

चरी जाला गोरू,

आदा देंदी रोटी, लोण देन्दी कोरू।

सास खाने को आधा रोटी देती है और कोरा नमक।

बसतू—डबी की ढकणी,
मासु का बोल्याँ प्यारी, परवा नी रखणी !

सास के कहने की प्यारी, परवाह नही करनी चाहिए।

समा—पाणी को जाज मोड्यो तर,
निर्दया स्वामी नी औंद घर।
जौं बैण्यो न काटे रौल्यो कु घास,
सो बैणी होइन मिडिल पास।
बाबान दिन्या खोटू का बूट,
कर्मन बोले भँगोरो कूट।
बाबा न दीने सौ रुप्या की साड़ी,
कर्मन दिने, मँडुवा को बाड़ी।
बाबा न दीने डेल परात,
आई न सौकार लीगैन रात !
मैं छऊ सुवा राजों का लैख,
मैं सणी नी मिले सौंजड्या बैन।

निर्दय स्वामी घर नहीं आना। जिन बहिनों ने कल तक घास काटा, आज मिडिल पास हो गईं। पिता ने पैरों के बूट दिये, भाग्य ने कहा भँगोरा कूट। पिता जी ने सौ रुपये की साड़ी दी भाग्य ने मडुवा दिया। पिता ने बर्तन दिये, साहूकार आये और रात ही ले गये। मैं राजों के लायक थी, मुझे योग्य पुरुष नहीं मिला।

बसतू—रागवाड़ी को साग,
फिकर नी करणी त्वैन,
मनखी जौंली माया पुरुष जौंला भाग।

तुम्हें फिक्र न करनी चाहिए, मनुष्य के अनुरूप ही उसे प्रेम और भाग्य मिलता है।

धीरे-धीरे धूप हल्की होने लगती है। सूर्य की किरणें टीलों-चोटियों पर अस्त होने लगती हैं। नभ अपना बोझ समेटती है और अन्तिम बार एक आह भर जाने को खड़ी होती है। चाहे उसे और रोकने को हाथ बढ़ाता है पर वह आगे बढ़ जाती है।

राजस्थानी लोकगीतों में शिशु-भावना

श्री कन्हैयालाल सहल, एम० ए०

श्री सहल जी राजस्थान के जागरूक शिक्षक और लेखक है। प्रत्येक विषय पर नवीन दृष्टिकोण स्थिर करना और उसका यथार्थ मूल्याकन करना इनकी विशेषता है। आपने इस लेख मे राजस्थानी लोकगीतो मे शिशु–भावना का विवेचन किया है। —संपादक

वीर-रस सवन्धी रचनाओ के लिए तो राजस्थान प्रख्यात है ही, किन्तु लोक-साहित्य की दृष्टि से भी राजस्थान का महत्त्व कम नही है। लोकगीत यहाँ पर इतनी विपुल मात्रा मे प्राप्त होते है कि जिनको देखकर सहज ही आश्चर्य हुए बिना नही रहता। क्या गृहस्थ, क्या दाम्पत्य, क्या कारुण्य, क्या त्यौहार, क्या ऐतिहासिक सभी विषयो से सम्बन्ध रखने वाले गीत यहाँ उपलब्ध है। लोक-गीतो मे 'शिशु-भावना' किस मनोमुग्धकारी रूप से प्रकट होती है इसके निदर्शन स्वरूप कुछ राजस्थानी लोक-गीत यहाँ दिये जाते है। सन्देश काव्य के रूप मे प्रचलित निम्नलिखित छोटे-से गीत को लीजिये—

उड ज्या रे काग गिगन का वासी,
खबर तो ल्याव म्हारे राजन की
नाव नही जाणूं मैं गाव नही जाणू
सूरत न जाणूं थारे राजन की
नाव बतास्या, गाव बतास्या
सूरत बतास्या म्हारे राजन की
तीखी-तीखी नाक फिरगी को नौकर
चाल चले अमरावां की।

हे गगन वासी काग! मेरे प्रियतम की खबर तो लादे। काग उत्तर देता है, कि तुम्हारे प्रियतम का न मैं नाम जानता हू, न गाँव जानता हू और न उसके स्वरूप का ही मुझे कुछ ज्ञान है। ऐसी स्थिति मे भला मै उसकी खबर कैसे ला सकता हू? प्रियतमा उत्तर देती है, कि मै उसका नाम गाँव सब बतलाऊगी और उसके स्वरूप का भी बयान करूँगी। किन्तु नाम-गाँव सब भूल कर वह केवल यही कहने लगती है कि मेरे प्रियतम की तीखी-

नीची नासिका है, अंग्रेज का वह नौकर है और अमीरों की भी चाल चलता है।

यह तो हुआ प्रियतमा का सन्देश, इधर देखिये, प्रियतम भी क्या सदेश कहला रहे हैं—

"उड ज्या रे काग गिगन का वासी
खबर तो ल्याव म्हारी गोरी की
नाव नही जाणू मै गाव नही जाणू
सूरत न जाणू थारी गोरी की
नांव बतास्या गाव बतास्या
सूरत बतास्यां म्हारी गोरी की
लाबा लाबा केस मिरग का सा नेतर
चाल चलै ठुकराण्या की।"

गगन के वासी काग! उड़कर मेरी प्रियतमा की खबर तो ला दे। काग उत्तर देता है, कि मैं तुम्हारी प्रियतमा का न नाम जानता हूँ, न गाँव जानता हूँ और न उसकी मुखाकृति से ही मेरा परिचय है। प्रियतम उत्तर देता है कि मैं उसका नाम-गाँव सब बतलाऊंगा और उसकी मुखाकृति का भी परिचय दूंगा। किन्तु नाम-गाव सब भूलकर वह केवल यही कहने लगता है कि उसके लम्बे-लम्बे केश हैं, मृग जैसे नेत्र हैं और वह ठकुरानियों की चाल चलती है।

अब दूसरे लोकगीत की नायिका की इस विलक्षण छटा को तो देखिये जो सरोवर मे पानी भरने नहीं जाना चाहती। देखिये, वह अपने प्रियतम से क्या कह रही है—

सरवर पाणीड़े नहँ जाऊ सा निजर लग ज्याय
निजर लग ज्याय वजर लग ज्याय
सरवर०
म्हारा तोलण्या माडी से टोला रग उड़ ज्याय
सरवर०
म्हारी हींगुली री बोंदली गरद भर ज्याय
सरवर०
म्हारो गोरो सो बदन टोला कालो पड़ ज्याय
थारी कालोड़ी धरती ने म्हारो पावर ड़ी रुप ज्याय
(म्हारा [illegible] रुप ज्याय) सरवर०
[illegible] मोत्या री [illegible] म्हारा [illegible] ज्याय
[illegible] म्हारै [illegible] ज्याय
सरवर०

हे प्रियतम ! मैं सरोवर पानी भरने नही जाऊगी कही ऐसा न हो कि नजर लग जाय (नायिका का लावण्य भी तो ऐसा ही मनोरम है)। पानी भरने जाऊगी तो मेरी लाल-नीली माटी का रग उड जायगा, माथे पर सुहाग का चिह्न, इगुर-बिन्दु, गर्द भर जायगा, मेरा गोरा-गोरा बदन काला पड जायगा, आपकी बालुकामयी धरती मे मेरे पैर धँस जायँगे, मुक्तामयी 'ईडी' (इडुरी) से मेरे केश घिसने लगेगे, इस स्वर्ण-कलश मे मेरे अग लचक-लचक कर कही दचक जायँगे।।

एक तीसरा लोकगीत तो और भी मार्मिक है जिसमे कन्या की विदाई के अवसर पर मानव के आदिम सहचरो से सहानुभूति की माँग की गई है—

"कोयल ए कोयल वैरण, पिहु पिहु बोल
हाँ ए वैरण, पिहु-पिहु बोल
चढती बाई नै ये सबद सुणाइयो
डूंगर रे डूंगर राजा, नीचो-सो झुक ज्याय
हा ओ राजा, नीचो-सो झुक ज्याय
चढती बाई की ओ दीखै बोरंग चूनडी
चढतै जंवाई की दीखै पचरंग पागड़ी
सूरज ओ सूरज राजा, मोड़ो-सो उग ज्याय
हाँ ओ राजा, मोड़ो-सो उग ज्याय
चढती बाई नै होसी सामो तावड़ो
बाल ए बाल राणी, मदरी मदरी चाल
हाँ, ये वैरण, धीमी धीमी चाल
चढती बाई की ए चूनड़ी सरकी जाय
चढतै जंवाई का कपड़ा खेह भरै।"

कोयल, ए री वैरिन कोयल, तू विदा होती हुई बाई को 'पिऊ-पिऊ' का मीठा शब्द सुना। पर्वत, ऐ मेरे पर्वतराज, तू जरा नीचा झुकजा जिसमे मैं विदा होकर जाती हुई अपनी प्यारी बिटिया की बहुरगी चुनडी को दूर तक नजर भरकर देख सकू और देख सकूँ प्यारे जवाई की पचरगी पगडी को।

सूरज, ऐ सूर्यदेव, जरा देर से उदय हो जिससे उदय होती हुई मेरी प्यारी बिटिया के सामने धूप न हो।

पवन, हे महारानी पवन, मद-मद चल, देखती नही विदा होती हुई मेरी बिटिया की चुनडी अपना स्थान छोड रही है ! और जवाई के कपडे धूल मे भर रहे हैं।

मानव का शिशु-मन किस प्रकार अभिव्यक्त होता है, इसके सुन्दर उदाहरण लोकगीतो मे मिल जाते हैं और वस्तुत देखा जाय तो सच्चा काव्य भी वही है जो अपनी परिधि मे केवल मानव का समावेश नही करता किन्तु मानवेतर सृष्टि के साथ भी रागात्मक सवन्ध की स्थापना करता है।

बस्तर के वनों में

श्री विनयमोहन शर्मा, एम० ए०

मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान के मननशील विद्वान् हिन्दी के मनस्वी-लेखक और विचारक श्री विनय जी नागपुर विश्वविद्यालय मे हिन्दी विभाग के आचार्य हैं। मध्यप्रदेश के निवास और सहज मनोवैज्ञानिक-वृत्ति ने विद्वान् लेखक को लोक-जीवन और लोक-साहित्य के अनिन्द्य सौन्दर्य को परखने के लिए प्रेरित किया। मध्य प्रदेश के बस्तर राज्य के सघन वनो मे विवेकी, बुद्धिवादी लेखक ने लोकजीवन की जो परख की है, उसी का वर्णन इस लेख मे किया गया है। —संपादक

मध्यप्रदेश में बस्तर का १३[illegible]६ वर्गमील का भाग ऐसा है जहां के सघन वनों में आदिम-जीवन की धारा अभी भी पूर्ववत बहती जा रही है। अबुझमाड़ पर्वत की उच्च शिखा, इन्द्रावती नदी का चित्रकूट-जलप्रपात, इन्द्रावती और शबरी नदियों का संगम, जगदलपुर की घाटी-प्रकृति के अत्यन्त आकर्षक स्थल हैं, जहां वनवासी अपने आंसुओं और मुसकानों का जीवन बिताते जा रहे हैं। ये हर परिस्थिति में अपने कंठ में गान भरना चाहते हैं—

"अले या रेलो या रेलो।
वो वो रेग कोरेग।
ए वो रेग कोरेग।
घो वो रेग कोरेग।"
(अरे हम गाते क्यो नहीं हैं?
आओ बच्चे! आओ)

ये वनवासी गोंड कहलाते हैं पर वास्तव में यह नाम इनमें प्रचलित नहीं है। यह तो [illegible] जनता ने इन्हें प्रदान किया है। वे वास्तव में [illegible] हैं। जो [illegible] राज्यों की सेवा [illegible] इन्होंने [illegible] कहना प्रारम्भ कर दिया। बाद में यही परजा गोंड कहलाने लगे। सन् [illegible] की जनगणना में बस्तर के आदिवासियों में [illegible], गोंड, माड़िया, मुड़िया, [illegible] और [illegible] हैं। [illegible] ही गोंड नाम से वर्णित किये जाते [illegible] अधिक पसन्द करते हैं। क्योंकि ये नाम [illegible] है।

[illegible]

बाल नही होते या होते भी है तो बहुत कम। नीचे की ओर झुका हुआ उनका मुंह, मोटे ओंठ तथा कुछ ठिगना पर भरा हुआ कद होता है। पहाड़ो पर रहनेवाले माड़िया अपने सिर पर बोझ नही ढोते। यह कार्य उनकी स्त्रिया करती है। बाजार मे अनाज बेचने के लिये जवान छोकरियां सरपर टोकनी रखकर तीस-चालीस मील तक चली जाती है और पुरुष 'धनुषबाण' लिये साथ मे रहते है। पहाड़ और पेड़ो पर बड़े मजे से स्त्री-पुरुष चढ़ जाते है। ये बहुत कम वस्त्र पहिनते है, पत्ते और लंगोटी ही इनका सब कुछ है। न शीत मे ये ठिठुरते है, न ग्रीष्म मे झुलसते। ग्रिग-सन ने इनकी दो जातियो का उल्लेख किया है। एक को वह "हार्न" (सिर पर सींग लगा कर नाचनेवाले) माड़िया और दूसरी को पहाड़ी माड़िया कहता है।

पहाड़ी माडिया से 'सिगहा' माड़िया अधिक स्वच्छ रहता है। क्योंकि वह 'सभ्य' बस्ती के सम्पर्क मे अधिक आता है। वह सूर्यास्त के समय नदी-तालाब मे डुबकी भी लगाता है।

माडिया-स्त्रियो का सारा शरीर 'गोदना' से भरा दिखलाई देता है—ये अपने स्तनों को भी 'गोदवा' लेती है।

माडिया बाहरियो से चौंकता नही, यदि कोई भूला-भटका उनके गांव म पहुच जाता है, तो उसका ये स्वागत-सत्कार करते है—रूखा-सूखा अन्न भी खिलाते है, उपकारी के प्रति कृतज्ञ भी होते है। माडिया-परिवार का दैनिक-क्रम भी व्यवस्थित होता है। दो-तीन बजे रात को 'मुर्गे की बाँग' सुनते ही माडिया स्त्री उठ जाती है, बालो को सवारकर चक्की पर बैठ जाती है। पतिदेव पाँच बजे के लगभग उठते है और पशुओ को चराने या खेत मे हल जोतने चल देते है। पीस कर गृहणी घर साफ करती है और नदी से पानी लेने चल देती है। लौट कर अपने पति के लिये 'पेज' (भोजन) तैयार करती है। जब कभी समय मिलता है, वह टोकनी बनाने लगती है। पुरुष भोजन के लिये प्राय घर आता है। यदि खेत पर अधिक कार्य हुआ तो स्त्री स्वय 'पेज' लेकर उसके पास पहुच जाती है। स्त्री अपने पति को खिलाने के बाद ही भोजन करती है। शाम को वह खेत से लौटते समय नदी मे नग्न-स्नान करती है और घर आकर भोजन बनाती है। पुरुष सूरज डूब जाने पर घर लौटता है, पशुओ को 'बाड़ी' म बाँधता, नदी या पोखर मे नग्न-स्नान करता, भोजन करता और सो जाता है।

माडिया ग्राम-देवी की पूजा करता है, 'वन देवी' और 'जल-कामिनी' मे विश्वास करता है। भूत-प्रेतो मे भी उसकी आस्था है।

अनाज के साथ ही 'सुअर' का मास माड़िया को बहुत प्रिय है। शहद के सचय का भी उसे शौक है। किसी भी पशु का मास वह खा सकता है। वह कुत्ता-बिल्ली पालता है। शिकार मे कुत्ते का उपयोग करता है, तोते और बुलबुल से भी वह अपना दिल बहलाता है। कुत्ते को वह 'दर्रो-दर्रो' और बिल्ली को 'मिनी मिनी' कह कर पुकारता है। मछली पकड़ने का भी वह काम करता है। खजूर, महुआ आदि पेड़ो से तयार किये गये 'रस' का नशा करता है, पहाड़ो पर मिलने वाली किसी लता के रस का भी वह पान करता है। भोजन के बाद ये नशीले

पेय ग्रहण किये जाते हैं। पीने के पूर्व अपने पुरखों के नाम पर पात्र से दो-चार बूंदें धरती पर डाल देता है। ये पेय बच्चों से लेकर बूढ़े, स्त्री-पुरुष, सभी पीते हैं।

बीमारी की चिकित्सा जड़ी-बूटी और झाड़-फूंक से होती है। वनवासियों में गर्मी-सूजाक आदि यौन-सम्बन्धी रोग नहीं होते। ज्वरों में लाल चींटी औषध रूप में दी जाती है। माड़िया का विश्वास है कि रोग प्रेतात्मा के कारण होते हैं या परमात्मा के रुष्ट होने से।

उत्सवों का आकर्षण

माड़िया गोंडों के उत्सव कृषक-जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। ये उत्सव 'पेंडम' कहलाते हैं। '[illegible]' से वर्षोत्सवों का श्रीगणेश हो जाता है। जब महुआ जंगलों में महमहा उठता है, माड़िया स्त्री-पुरुषों का मन मतवाला हो उठता है। इसे हरपू-महोत्सव भी कहते हैं। उत्सव की पहली रात को ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर स्त्री-पुरुष 'महुआ' के नीचे जमा होते हैं, मुखिया के घर में यह उत्सव मनाया जाता है। मुखिया पेड़ के नीचे चौकोन जगह को साफ कर उसके बीच में एक अंडा रखता है और उसके सामने चावल छिड़क देता है, मुर्गा वहीं पर छोड़ दिया जाता है, मुर्गा ज्यों ही एक-दो दाने चुगता है माड़िया ग्राम-माता के नाम पर उसकी गर्दन काट डालता है, और माता की प्रार्थना करता है, फिर महुआ पेड़ की जड़ पर [illegible] डालता है, महुआ के कुछ फूल भी चढ़ाता है। इस उत्सव से पूर्व कोई माड़िया महुआ का स्वाद नहीं लेता।

इसके बाद 'आम मर्जी' [illegible] है। [illegible] नन्ही अमिया आम पर झूलने लगती हैं [illegible] 'विज्जा' महोत्सव होता है [illegible] होती है। अगहन में कुम्भोत्सव मनाया जाता [illegible] जाता है। [illegible] दाल की फसल का [illegible] जाता है। इस उत्सव में अच्छी [illegible] जाती है, मुखिया मुर्ग की बलि [illegible] रहती है।

विश्वास धारणायें

[illegible]

का निर्णय करता है। डॉ० हीरालाल ने विवाह के पूर्व 'सगुन' लेने की प्रथा का उल्लेख करते हुए लिखा है—सोमवार, बृहस्पतिवार या शुक्रवार की रात को भोजन करने के बाद गोंड जंगल मे जाते है और किसी विशिष्ट प्रकार की काली चिड़िया की खोज करते हैं। यदि वह दाहिनी ओर से 'सन् मन्' चिल्लाती हुई दिखलाई देती है तो समझा जाता है कि विवाह शुभ होगा, यदि 'ची ची, फी फी' आवाज सुन पड़े तो विवाह अशुभ माना जाता है। सगाई तोड़ दी जाती है। कोमा गोंड महुआ की शराब से 'शकुन' लेते है। यदि शराब अच्छी तैयार हुई तो विवाह शुभ और बुरी तैयार हुई तो 'अशुभ' माना जाता हैं।

पहाड़ी माड़िया गोंड विश्व को 'भूम' आकाश को 'पोवो भूम' और पृथ्वी को 'आदि भूम' कहते है। मृतात्मा किस लोक मे जाती है, इसकी कल्पना इनमे नही है। तारो का टूटना मृत्यु-सूचक समझा जाता है। फसलो की बोनी और कटनी पर भी प्रभाव डालते है। पानी मेघ से बरसता है, यह तो माड़िया जानते है पर मेघ मे पानी कहाँ से आता है, इसे वे नही जानते। इन्द्रधनुष को पृथ्वी का साँप समझते है जो बामी से निकल कर आकाश मे जाकर पानी न बरसने की सूचना देता है। ग्रहण पड़ने पर वे कहते हैं 'गरहर लोपिता', पर ग्रहण का कारण नही जानते।

विवाह-प्रथा

माड़िया गोंडो की उपजातियाँ पशुओ के नाम पर है जैसे बकरवाँ 'कच्छिपवाँ' नागवाँ आदि। एक वंश का लड़का जीवन भर उसी वंश मे रहता है पर लड़की अपने पति के वंश मे चली जाती है और यदि 'छोड-छुट्टी' (तलाक) हो जाने या विधवा हो जाने पर पुन विवाह करती है तो नये पति के वंश या परिवार की हो जाती है। पुत्र पिता के वंश की लड़की से और कन्या भी पितृ-वंश से पति का चुनाव नही कर सकती। 'दादा भाई' के वंश मे भी दोनो की शादी नही हो सकती, उन्हे आकोमाया (पत्नी) के वंश मे ही शादी करनी चाहिये। सिगहा माड़िया मे बहुत वंश होने से विवाह का क्षेत्र बड़ा है, पहाड़ी-माड़ियो मे यह बात नही है। पिता के 'दादा भाई' परिवार मे विधवा शादी नही कर सकती। जो पिता अपने लड़के का विवाह करना चाहता है, वह लड़की के यहाँ कुछ सम्बन्धियो के साथ जाता है और साथ मे एक पायली (सवा सेर) चावल, बड़ी हंडी और छोटी हंडी भर महुआ की शराब ले लेता है। यदि अशुभ शकुन हुए तो लोग लौट आते है और एक पखवाड़े के बाद सगाई की बात करने जाते है। सगाई तय होने पर दूसरी बार फिर लड़के का पिता शराब आदि लेकर जाता है, इस बार एक छोटा-सा सुअर भी ले जाता है। रिश्तेदार खूब खाते पीते है और 'वचन' पक्का हो जाता है। तीसरी बार विवाह की तिथि निश्चित होती है। इसी समय स्त्री का मूल्य निर्धारित होता है। पाच से दस बड़े हंडे लाडा (एक पायली चावल या कुटकी प्रत्येक लाडा मे भरा जाता है) दो बड़े और एक छोटे मिट्टी के हंडे मे महुआ की

शराब, बड़ा सुअर, एक मुर्गा, चार गज कपड़ा लड़की की मा को दिया जाता है जो 'माई लुगड़ा' कहलाता है। यही कन्या की कीमत है। बारात के भोजन आदि पर भी विचार किया जाता है। विवाह मे खूब नृत्य-गीत होते है। वधू का जुलूस भी निकाला जाता है।

मृत्यु-सस्कार

मृत्यु के समय बीमार को खाट मे नीचे उतार दिया जाता है। हिदुओ मे भी यही प्रथा है। स्त्रियाँ तो कभी भी चारपाई पर नही सोती। मृत्यु होते ही रिश्तेदारो को सूचना दे दी जाती है। कभी कभी तो दो दो दिन तक शव रखा रहता है, स्त्रियाँ उसे घेर कर और घर के बाहर भी रोती रहती है। शव को गाड़ते समय उसका सिर पूर्व की ओर करते है।

गीत और नृत्य

गीत और नृत्यो मे जाति की सस्कृति सुरक्षित रहती है, वह उनमे गाती और नाचती रहती है पर नई सभ्यता उस पर बराबर अपना रग चढाती जा रही है। अत लोकगीतो को हम न तो बहुत प्राचीन ही मानना चाहिए और न बहुत आधुनिक ही। वे तो 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' के समान प्राचीन भाव-भूमि पर नई इमारत की तरह गिरते और खड़े होते ही रहते है पर मूल नीव को नही छोड़ते। यहाँ मुड़िया-माड़िया गोडो के कुछ प्रसिद्ध लोक नृत्य-गीत दिये जाते है।

करमा

करमा नृत्य गोडो मे [illegible] है। [illegible] अपने [illegible] रूप मे अभिव्यक्त करता है। [illegible] की बलि देने के बाद [illegible] रातभर नृत्य समारोह मनाते है—

ओ हो हो रे है—
भे बोले भे बोले सजा-सबेरे मोर हीरा
मूर्ता आधह चिरैया चिरैया जोरि के लाने
हुवार ओ सजा-सबेरा धीरे धीरे धीरे
हुआर ओ सजा-सबेरा [illegible] मोर,

[illegible] गीत [illegible] है। [illegible] गीत के प्राय तीन भाग होते है—
[illegible]।

[illegible] मे— [illegible] नृत्य की भूमिका बँधती है। [illegible] नृत्य के समय [illegible] हिलने-मिलने [illegible] है। [illegible] के समान [illegible]

[illegible] प्रचलित है। यह मनोरंजन के लिए [illegible] है तब स्त्रियाँ [illegible] गाती है।

एक सुआ गीत है—

सुआ नाचै जाव कि सुआ नाचै
जाओ रे सुआ भाई, सुआ नाचै जाओ तीनो जन
सुअना सुआ नाचै जाओ तीनो जन
अस्मन लागै गाडी माँ चढ जाती
सुअना कोटा कै माय धड़कै

(चलो हम सुआ नाच नाचे, ओ भाई चलो हम तीनो जने नाचे। हाँ तीनो जने सुआ नाच नाचे। मै गाडी मे चढने को लालायित हो रहा हूँ। सुआ नाच नाचने के लिये कोटा जाना चाहता हूँ)

भारतीय प्राचीन वाङ्मय मे तोते की बुद्धि-कुशलता की कहानियाँ भरी पडी है। वह नायक नायिका के बीच दूत का भी काम करता है। गोंड लोक-गीतो मे भी तोता स्त्री पुरुषो के प्रेम सम्बन्ध के बीच उल्लिखित है। जायसी के पद्मावत मे भी हीरामन तोते की भूमिका प्रसिद्ध है।

छत्तीसगढ मे प्रार्थना के भोजली पाय, नवरात, गौरा आदि गीतो के अतिरिक्त निदाई गीत, डडा-गीत, देवार-गीत, बाँस-गीत आदि बारह तेरह प्रकार के गीत प्रचलित है।

सावन के महीने मे जब कि चतुर्दिक हरियाली फैल जाती है, रक्षा-बधन के एक सप्ताह पूर्व बालिकाएँ एव महिलाएँ अन्न के दानो को टोकनी मे खाद डाल कर बो देती है। उगने पर वही भोजली नाम से सम्बोधित किया जाता है और इस हरियाली छाये पौधो को देवी का विशेषण देकर स्त्रियाँ पूजनादि क्रिया करते समय जो गीत गाती है, वह भोजली गीत के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार के एक गीत की कुछ पक्तियाँ नीचे दी जाती है—.

देवी गगा देवी गगा लहरा तुरगा
हमरो भोजलि देवि कै भीजै आठौ अगा।।
माडी भर जोधरी पोरिस कुसियारे।
जल्दी जल्दी बाढो भोजलि होवौ हुसियारे।।

हे गगा देवि! अपनी लहरो से हमारी भोजली देवी के आठो अग भिगो दे। हे भोजली देवी! जल्दी जल्दी बढ कर बडी होओ।

बस्तर के वनो मे गोंडी के अतिरिक्त हलबी बोली का भी प्रसार है। ग्रियर्सन हलबी को मराठी की एक बोली और केन-कोनोफ पूर्वी हिन्दी की एक बोली कहता है। हाल ही श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने उसे पूर्वी हिन्दी की एक बोली माना है। गोंडी के स्थान पर हलबी या पूर्वी हिदी के आ जाने से गोंड अपनी बोली को भविष्य मे कहाँ तक सुरक्षित रख सकेंगे, सन्देह है। शोधको को बस्तर के पहाडी गोंडो मे अभी भी गोंडी का शुद्ध रूप मिल सकता है।

छत्तीसगढ़ के ग्राम्य जीवन में रसधारा

श्री प्यारेलाल गुप्त

लोक संस्कृति के साधक, लोक–जीवन के अनुयायी, साहित्य के सत्य पक्ष के समर्थक श्री प्यारेलाल जी ने छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति की मन्दाकिनी में डुबकी लगाकर जो रत्न हस्तगत किए हैं, उन्हींको इस लेख में पिरोने की चेष्टा की है। —संपादक

भादों पूरे यौवन पर था। चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। भुट्टे और खीरे की [illegible] पर थी। [illegible] बन [illegible] था, फिर संध्या में ही घोर वर्षा हो जाने के कारण अँगीठी की आग [illegible] जान [illegible]। [illegible] ने अच्छा सा भुट्टा भून कर अपने [illegible]। [illegible] उन पर [illegible] ताजा घी जिसकी [illegible] नमक [illegible] मेरे सामने रख [illegible] (गोरस) [illegible]।

[illegible] और मैं उन्हें धीरे धीरे चबा [illegible]। [illegible] और बैठी हुई [illegible] —

"पीपर पान डोलन लइये
[illegible] बइठे [illegible] लइये।"

[illegible] की [illegible] चोट दी। [illegible] । किन्तु [illegible] बैठे हुए [illegible] —

हाथ [illegible] बेटी,
[illegible] हाने [illegible]।
[illegible] बोल उठी
[illegible] (बच्चा)
[illegible] (बहाना)

फगुवा शायद मेरा सकोच कर रहा था पर जब मै उसकी ओर देख कर मुसकुरा-या तो मानो उसे प्रेरणा मिल गई। वह बोल उठा—

"नवा तरैया गजब कापू,
गगरी नइ डूबे टपक आसू।"

चैती फगुवा की साली थी। वह तुनक कर बोली "भाटो (जीजा) तै फन लाग, नहीं तो तोला मै रोवा डारिहौ। फिर बाये हाथ की हथेली को दाहिने हाथ से दबाते हुए बोली—

"मूठा भर चना चबाये रखतेंव,
गोड़ भिजना भाटो दबाये रखतेंव।"

गोड भिजना अर्थात् पैर दबानेवाला।

चैती के इस व्यग पर सब खिलखिला उठे।

मै आज इसीलिए इस गॉव मे ठहर गया था, कि छत्तीसगढ के लोकगीत, ददरिया, माल्हो, करमा, हाना (कहावत) जनौवल (पहेली), देवारगीत जो कुछ पाऊँ सुनू और सग्रह करूँ। फगुवा से मेरी पुरानी पहिचान थी। उसी के पैठा (बरामदा) मे डेरा डाला गया और उसी ने यह गोष्ठी जमा दी थी।

लगभग एक घटा इसी प्रकार सवाल जवाब होते रहे। मै तो मुग्ध हो कर बैठा सुनता रहा। क्या उपमा, क्या अलकार, क्या भाव प्रदर्शन सभी दृष्टि से ये ग्रामीण नागरिक कवियो से किसी प्रकार कम न थे, भले ही उनकी रचनाए पिगल के पैमाने मे ठीक न उतरे। मैंने विषय बदलने की दृष्टि से कहा—"अच्छा, मै एक जनौवल जनाता हूँ, कोई जान ले तो जानू।"

सब लोग मेरे चेहरे की ओर उत्सुकतापूर्वक देखने लगे। मैंने कहा—"ऐंठे गोइठे पहार ऊपर बइठे।"

प्राय सभी के मुह से निकल पडा—"पगडी"।

फगुवा समझ गया कि मैं अब पहेली सुनना चाहता हू। उसने कहा—"बाबू, त चुपेचाप बइठे रहा, तुहला हमरमन साही जनौवल नइ जावे। मै एकठन जनावत हौं। कोनो जान ले तो ओकर टाग तरी से निकर जाव।"

उसकी साली चैती बोल उठी—"भइगे सेखिहा नहि तौ।"

फगुवा ने तेज होकर कहा—"ले बता ना, तीस तीस के बारा झोथ्था, बिलगे बिलगे नाव।"

नये ढग की पहेली थी। सब चकरा गये। मै भी सोचने लगा। इतने मे रामसिह बोल उठा—"मै जान डारेव, दिन औ महीना तो आय। तीस तीस दिन के महिना होथे औ बारा झोथ्था हर बारा महीना अय।"

मै पहेली के रचयिता की निपुणता पर मन ही मन आश्चर्यान्वित हो रहा था।

चेती ने कहा—"ले भाटो, अब तै बता, खाये मा सुखाय, बिन खाये मा मोटाय"

कोई न जान सका। फगुवा तो बुद्धू बना बैठा था। अंत मे चेती ने कहा—"भइगे जन डर्‍रय तू मन, चूदी तो आय।'

मैंने पूछा—"कैसे ?"

उसने उत्तर दिया—"जब चूदी (केश) मा तेल लगाथे तो पातर दिखथे, नहि तो मोटहा।"

मैंने कहा—"बहुत ठीक, पर ठगिया ने न तो ददरिया मे भाग लिया और न जनौवल मा, क्या बात है ?"

ठगिया लजा कर मुसकुराने लगी और अपने पति की ओर देखने लगी। उसने कहा—"ठोंका (ठीक) तो कहत हय बाबू हर। अबे ल्लामा तो बहुत चटर चटर मारथस, अब गोठिया न।"

ठगिया मे न जाने कहा से प्रगल्भता आ गई। वह बोली—"ल बतावा, नान्हे चिरया फुदकत जाय, नौ नौ अण्डा पारत जाय।'

सब सोचने लगे कि ऐसी कौन सी चिड़िया या चीज है जो फुदकते हुए चलती है और साथ ही नौ नौ अंडे देती जाती है। ठगिया की छोटी बहिन सती को उसका उत्तर मालूम था, पर वह क्यों बताने चली ? अन्त मे जब उसने देखा कि कोई उत्तर नहीं दे रहा है तब वह बोल उठी—'दीदी, मैं बताबो। सूजी ना आय।

मैं पहेली की सार्थकता पर मुग्ध हो गया।

फगवा थोड़ा शहराती हो गया था। उसके मगज मे आधुनिक चीजे भी आ गई थी। उसने पूछा—

"बिना हाथ बिना गोड़ के साधे उपर जाय,
ओकर मुह मा हाथ लागै टारे मनखे खाय।"

[illegible] भी [illegible]। मै [illegible] बोल उठा—'बंदूक'। जान पड़ा [illegible] कि यह हमारे समाज का प्राणी नहीं हो [illegible] मुझसे यह पहेली नहीं बुझाती—

फूले फूल गुलाब के रहे नगर मा छाय,
न माली के बाग मा न राजा घर जाय।'

[illegible] न निकाल सका। शायद दूसरों को मालूम [illegible] ने मेरा पक्ष लिया। उसने [illegible]

[illegible] (चन्द्रहार) बाद [illegible] देहरादून

वेटा कमिया, नाती पुचपुचिहा। अर्थ—बाप बेठने वाला, बेटा कमानेवाला और नाती हेराफेरी लगाने वाला।"

फगुवा कोई उत्तर न दे सका। अत मे बहुत खुशामद करा के चैनी ने बताया—हडा, हडुला ओर लोटा।"

कितना मौजू उत्तर था।

आधी रात हो गई थी। मुझे अलसाते देख कर फगुवा ने गोष्ठी बद कर दी। दूसरे दिन फिर एकत्र होने का आग्रह कर के मै बिछौने पर जा पडा। विदा होते होते गोड किशोरियो ने गाया—

"छोटे हय केरी बड़े हय केरा, राम राम ले ला बाबू चले के बेरा।"

सवेरा हुआ तो सूर्यदेव को बादलो की ओट से मुसकुराते पाया। उस मुसकुराहट की छाया वृक्षो की फुनगियो मे और निकटवर्ती पहाड की चोटी पर ऐसी फैल रही थी मानो कचन बरस रहा हो। नित्य कर्मो से निवृत्त होने के लिए मै उस तालाब पर चला गया जो पहाडी की तलहटी पर तरल चादी की चादर के समान फैला हुआ था—अत्यत विस्तृत। तालाब जाने के दोनो ओर धान के हरे हरे पौधे लहरा रहे थे और उनसे सुगध निकल रही थी। पूछने पर मालूम हुआ कि भिन्न भिन्न सुगधित चावलो के पौधो से भी उसी प्रकार की सुगध निकला करती है।

तालाब पहुच कर मै एक कछुए के आकार के विशाल शिलाखड पर बैठ गया, जिसका अधोभाग पानी मे डूबा हुआ था। जल के भीतर झिलमिलाते पहाडी की परछाई ऐसी जान पडती थी मानो कोई विशालकाय राक्षस तालाब के भीतर गिर पडा तो और प्राण बचाने के लिए छटपटा रहा हो। चारो ओर दृष्टि दौडाने से ऐसा भास होता था मानो मै प्रकृति माता की गोद मे बैठा हुआ हू। पहाडी उसका मुकुट है, गोलार्द्ध तालाब उसके गले का चद्रहार हे, चहु ओर छाई हुई हरियाली उसका हरित परिधान है और टेढी मेढी पगडडियाँ उस हरित परिधान की किनारिया है ऊपर नील गगन का चदोवा तना हुआ है, सूरज उसकी आरती उतार रहा है, और मै एक अबोध बालक के सदृश उसकी गोद मे बैठा हुआ अक्षय सुख का आनद ले रहा हू। इस प्रकार मै भाव विभोर हो रहा था कि इतने मे मेरे कानो मे रमणी कण्ठ से निकली हुई मधुर ध्वनि सुनाई पडी मन भजो राम के नाम, मन भजो राम के नाम।

मैने मुड कर देखा तो थोडी दूर पर दो प्रौढाए हरसिगार के पेड की आड मे बर्तन मलते हुए गा रही थी सभवत उन्होने मुझे नही देखा था। मै निस्तब्ध होकर सुनने लगा—

मन भजो राम के नाम, मन भजो राम के नाम।
कारी वन के कररौवा, वनबवई के छैछान,
नान्ह वन के सुवना, भजो राम के नाम।
दीनदयाल बिरछि के बारी मोरे प्रान अधार,

जग गोराइ लला मोर देवर, सावर कत हमार।
राजा जनक के छोकरी भरलावत हय नीर,
एडी माजत मुखड़ा धोवत निरखे नीर सरीर। मन भजो. . . . .

दोनो रमणिया इस गीत को इस तन्मयता के साथ गा रही थी जसे कोयल अपने स्वाभाविक स्वरो मे कुहू कुहू की तान छेडती है। मै मुग्धा अवस्था मे जल के भीतर किलोल करती चादी के समान चमकती हुई मछलियो को देखते हुए सोचने लगा—राम और कृष्ण ने हम पर और हमारी मातृभूमि पर कितने अनन्त उपकार किए है जो वे पीढी दर पीढी प्रत्येक नर-नारी के हृदय मे भगवान् बन कर आसीन हो गये है और कोई भजन, कोई लोकगीत बिना उनका उल्लेख किये शायद ही रचे गए हो। ये लोकगीत हमारी सस्कृति के धरोहर ही तो है। इन गीतो मे हमारा जातीय वैभव, अतीतकालीन घटनाए, प्रकृति के साथ जीवन का लगाव, पशु-पक्षी प्रेम, मन की कल्पनाए सभी कितनी उभार के साथ भर दी गई है ! मै न जाने कब तक इसी प्रकार विचारमग्न रहता कि 'बाबू' शब्द की आवाज ने मुझे एकदम चौंका दिया। सामने आकर फगुवा उलहना के स्वरो मे कहने लगा—"बाबू, अगोरत अगोरत थक लगेन, [illegible] आप [illegible] हवे।"

[illegible] असन (चाय) का नाम सुनते ही मेरी चहास तीव्र हो उठी। मै चट उठ खडा हुआ। [illegible] मे मै फिर इन लोकगीतो के विषय पर सोचने लगा। मैने विचार किया—देखू [illegible] ग्राम साहित्य पर फगुवा [illegible]। मै उससे पूछने लगा—"फगुवा, ये जो गाँव मे नाना प्रकार के गीत गाते है, ददरिया, [illegible], [illegible] आदि इन्हे किसने बनाया होगा ?"

फगुवा ने विस्मय प्रकट [illegible]— [illegible] गीत बनाही बाबू, ये हर पीढी के पीढी [illegible] हय।

मै [illegible] फगुवा [illegible] है। [illegible] हमारी परम्परा पुरानी है। [illegible] हमारी जाति और हमारे [illegible] भिन्न भिन्न ऋतुओ के त्योहारो, उत्सवो [illegible] है। [illegible] गति अजान है और [illegible] नही [illegible] है। यह वह भावना है जो प्राकृतिक [illegible] है। यह वह सस्कृति है जिसका शिक्षा के साथ [illegible]

[illegible]

छोटानागपुर के लोकगीतों में जन-जीवन का प्रतिफलन

श्रीमती माया गुप्त

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी एव साहित्य के गभीर विचारक श्री मन्मथनाथ गुप्त की सहधर्मिणी श्री माया देवी ने छोटा नागपुर के लोकगीतो की अन्त प्रवृत्ति का विश्लेषण इस लेख मे बडी कुशलता से किया है।

—सपादक

विहार के लोकगीत अन्य राज्यो के लोकगीतो की तरह जन्म से लेकर मारे जीवन को परिव्याप्त करके चलते है। हमारे यहाँ की जनता का जीवन वहुत ही इकरस है। पेट भर अन्न नही मिलता, फिर भी इन लोकगीतो की वदौलत जनता के जीवन मे कुछ न कुछ विचित्रता वनी रहती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो लोकगीत वह शक्ति है जो हमारी सब तरह से पीडित, पद-दलित जनता की कमर को टूटने नहीं देती। जो लोग इन लोकगीतो मे पले है, या जो लोग लोकगीतो मे पले हुए लोगो को वहुत पास से देखते रहे है, वे ही समझ सकते है कि ये लोकगीत किस प्रकार जादू-सा असर रखते है। उनकी आवाज कानो मे पडते ही गाव के लोगो के वुझे हुए चेहरे जल उठते है, आखो मे एक दिव्य आदिम ज्योति आ जाती है, हृदय मे गुदगुदी पैदा होती है।

मेरा ऐसा अनुमान है, कि सोहर के गीत स्त्रियो की रचना है। युग-युग से स्त्रिया उन्हे परिवर्द्धित और सरक्षित करती आ रही है। भाषा और भाव देखने से यही ज्ञात होता है कि न मालूम कितने युगो से कितनी ही जननियो की छाप इन पर पडी है। वे स्वप्न मे रगीन है, और कल्पना का घोडा तेजी मे दौडता है। एक सोहर यो है—

अठाहि कठ कुइववा पातले मिले पानी
वाही सुन्दरी नारी चुकोवा में जल भरे।
घोडा चढल आये राजा वेटा
पानी के प्यासा राजा मागे पानी,
कहे —कठ मेरा सूखल ई।

इसी गीत मे आगे जो कुछ आता है, उसकी थोड़ी व्याख्या की आवश्यकता है। वह इसलिए कि लोकगीतों मे प्रश्न के बाद उत्तर, और उत्तर के बाद प्रश्न बिना किसी तरह की सूचना दिये चलता है। जो उससे परिचित है, वह तो समझ लेता है कि यहाँ प्रश्न शुरु होता है, और यहाँ उसका अन्त होता है और उत्तर शुरु हो जाता है। इसी सोहर मे वह राजा या राजकुमार पानी पीकर पूछता है—

केकर होहि तुहि बहुआ, केकर बेटिया

इस पर वह स्त्री शायद कुछ मसखरेपन से या कि तिरस्कार करती हुई कहती है—

बाप क बेटिया ससुर क पतुहिया
आपन बालम क सुन्दरी नारी।

इतना कहने पर भी शायद वह राजा या राजकुमार मानता नही है, तब उसी मास मे वह अपनी सास से कहती है—

माचिया बैठल तुहि सासु
कुइया पर उतरल मुसाफिर आलि बोले मोरे

इस पर सास पूछती है—

कौन बरन घोड़वा कौन बरन असवारा।

इस पर वह कहती है—

लाल बरन घोड़ा सबज रग साज बाज
साँवर बरन असवारा।

इस पर सास यह समझ जाती है कि यह उसी का बेटा है परदेश से लौटा है। वह कहती है—

बाप दाहु भइया दाहु पुन्हूँ बहुरिया
कहाँ लागे बेटवा हमार

इस पर पतोह कहती है—

सत सासु भइया दाहु सत सासु बाप
परदई से अइले बिरान् जैसे तिन्हे स्वामि

[illegible]

[illegible]

आ जाता है। साथ ही रोमांस की भी कमी नहीं है, क्योंकि परदेश से आये हुए पति को राजा या राजपुत्र करके देखा जाता है।

प्रत्येक घर में जो लड़का पैदा होता है, वह उस घर के लिये रामचन्द्र का जन्म है, रामायण की कथा में राम के जन्म पर क्या-क्या उत्सव हुआ था, और क्या-क्या खुशियां मनाई गई थी, यह सब को मालूम है, पर यहां तो नवजात शिशु के लिए एक खाट भी नहीं है। इस पर गरीबों की चीख के रूप में यह गीत सुनिये--

खटिया जो हेते खटिया न मिले
काहे (कौन) खटिया सुतैवे (शयन कराव) माय
राम जनम लै लें।
खटिया खोजैंते, खटिया न मिले।
तो सोनाक खटियै सुतैवे माय
कापड़ खोजैंते कापड न मिलै,
काहे कापड राम पिधैंवे माय
राम जनम लै लें।
रेशम कापड राम पिधैंवे
राम जनम लै लें।
सोनाक छुरियै राम नारा कटैवे
राम जनम लै लें।
दीयरा खोजैंते, दीयरा न मिले
काहे दीयार करबै इजोर माय
राम जनम लै लें।
सोनाक दीयरै करब इजोर घर
राम जनम लै लें।

ऊपर के गीत में गरीब मा के अरमानो का बहुत मार्मिक चित्रण है। वह नवजात शिशु राम है, फिर भी उसके लिए न खटिया है, न कपड़े है, और न कोई और वस्तु है। शिशु को राम बताकर अज्ञात गीत रचयित्रियो ने जो रस पैदा किया है, वह सैकड़ो शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से उत्पन्न नही हो सकता था।

छठ पर्व छोटा नागपुर का एक विशेष पर्व है, यों तो यह सारे भारत मे मनाया जाता है। छोटा नागपुर मे और शायद सारे विहार मे यह विश्वास प्रचलित है, कि इस पर्व के मनाने मे कोई कसर होगी, तो कोढ हो जायगा। छठ पर्व पर जो गीत गाये जाते है, वे अन्य अवसरो पर भी गाये जा सकते है।

प्रातःकाल अर्घ्य देते समय यह गीत भी गाया जाता है—

अजोध्या नगरिये लागले बजार
वहीं रे बेसरलु नारियल
वही रे सूप, फल, अमृत
उगहु आदित देव, लेहु अरघ हमार

इस गीत में देवता को यह प्रलोभन दिया जाता है कि सारी चीजें अयोध्या से लाई गई हैं, अतएव भक्त का अर्घ्य स्वीकार किया जाय। छठ का पर्व ऐसा है कि इसे कुमारिया, सधवायें तथा विधवायें सभी मना सकती हैं। इस समय जो व्रत किया जाता है, उससे गृहस्थ का कल्याण होगा ऐसा समझा जाता है। छठ के दिन स्नान करने के लिए स्त्रिया नदी या तालाब जहा जमा होता है पहुचती हैं। वहा वे गोल बाध कर जाती हैं। अस्तायमान सूर्य को अर्घ्य देने के लिये जो स्त्रिया चलती हैं, वे रास्ते में बार-बार सूर्य को साष्टांग प्रणाम करती जाती हैं। आकंठ जलमग्न होकर सिर पर अर्घ्य रखकर अर्घ्य दिया जाता है। इसके बाद वे घर जाती हैं। घर में वे रात भर उपवास रखती हैं। फिर वे सूर्योदय के पहले ही चल पड़ती हैं, और उदीयमान सूर्य को पहले बताये हुए ढंग से अर्घ्य देती हैं। विधि यह है, कि आकंठ जलमग्न अवस्था में ही उदीयमान सूर्य का दर्शन हो। कई स्त्रिया उसके बाद दो दिन तक उपवास रखती हैं और उसके बाद प्रसाद लेती हैं।

ऐसे बहुत से गीत हैं, जिनमें जीवन के हरएक पहलू पर किसी न किसी प्रकार की रोशनी पड़ती है। किसी गीत में सास बहू के वैमनस्य का उल्लेख है, तो किसी में इसी प्रकार कोई घरेलू बात बताई गई है। सन्तान का जन्म, विवाह, तीज-त्योहार, पूजा इनके अलावा [illegible] जीवन में और है ही क्या? इन्हीं बातों को लेकर जन जीवन चलता है।

करमा बिहार की स्त्रियों का एक विशिष्ट त्योहार है। एकादशी में उपवास रख कर करम पेड़ की शाखा को पूजना ही इस त्योहार की विशेषता है। यह त्योहार भाइयों के [illegible] के लिए मनाया जाता है। भाद्र मास में यह पर्व मनाया जाता है। रात को स्त्रिया [illegible] गाना गाती हैं। एक विशेष गाना यह है—

भरी भादो फूटले फुलवा ढेन्डल
घोड़ा चढ़ के आवरे मेरे भइया

इस पर भाई कहता है—

लेहु हे बहनी फूल ढेन्डल हे

इस पर बहन कहती है —

[illegible]

कैसे लेवो हे भइया फूल वेलंजन
मारे गोदे वालक गदाधर

ऊपर के गीत मे शायद इस वात की ओर भी इशारा है कि भाई वहन जैसे हर साल खेलते थे, वैसा खेलना चाहते है, पर इस वीच मे अभी खेल की उम्र न वीतने पर भी वहन एक वालक की मा हो चुकी हे, जिसमे खेल मे वाधा पड़ती है। भाई कहता है—

वालक सुताओ वहनि सोना कै खटोल में,
लेहि लेहू फूल वेलाजन।

जितिया एक और त्योहार है। आश्विन के प्रथम पक्ष की अष्टमी को यह त्योहार पडता है। इसे जिताष्टमी कहते हैं। सन्तानो के मगल के लिए यह त्योहार पडता है, सन्तानो को भोजन कराकर दिन भर के उपवास के वाद मा खाने वेठती हैं। यह उपवास का एक गीत है—

छान छान अमृत चाछि
नसता परल वासी।
खोरये डावले।
सब बालक गृह आयली,
मोर लाल कहां रहि लैं

तीज तो सारे भारत मे मनाया जाता है। इस अवसर पर हमारे यहा छोटा नागपुर मे रात भर स्त्रिया नाचती और गाती है। यह गाना तीज मे विशेष है—

महादेव भिजल थैया थाकित रे राम
गौरी के सिरे नही पानि रे।
वारि पायस के कड़र नही भागलू ए राम
वही विधि सिरै नही पानि रे
सासु के लिपला पैर नही धरलू,
वड़ जेठ के तुकार नही मारलू ए राम,
वही विधि सिरे नही पानि रे।

वडे सरल तरीके से इस गीत मे स्त्री को सीख दी गई है। पानी वरसा। महादेव तो भीग गये, पर पार्वती नही भीगी इसका कारण यह है कि उन्होने वाग के अकुरो को पैर से रोद नही डाला। सास के द्वारा गोवर से लिपे हुए स्थान को पैर से खराव नही किया। वडो का असम्मान नही किया।

नेपाली लोकगीतों द्वारा सुन्दरं की सृष्टि

श्री कन्हैयालाल भिन्डा

साहित्य मे शिव के आराधक, सुन्दरम् के स्रष्टा कुशल शब्द शिल्पी श्री कन्हैयालाल जी ने तपपूत नेपाली लोकजीवन की सुन्दरतम अनुभूतियो को वहाँ के लोकगीतो द्वारा इस लेख मे व्यक्त करने का सत्प्रयत्न किया है। —सपादक

किसी भी जाति के लोकगीत उसके आन्तरिक सुख और प्राकृतिक सौन्दर्य के परिचायक होते है। लोकसाहित्य मे जातीय जीवन के वास्तविक सुख चैन की झलक और हृदय की धड़कन का आभास मिलता है। देवनागरी लिपि पर आधारित मधुर नेपाली भाषा अत्यन्त सरल तथा बोधगम्य है और आधुनिक नेपाली साहित्य तो प्राय साठ प्रतिशत शुद्ध हिन्दी के शब्दो से ओतप्रोत है।

पहाड़ो पर विभिन्न प्रकार के फूल बहुतायत से पाये जाते है। दीपमालिकोत्सव के समीप समूची पवनमालाये चतुर्दिक पुष्प एव लतिकाओ से सज जाती है। सुसज्जित और प्रफुल्लित हिम पक्तियो को लक्षित कर परदेश गये हुए प्रीतम की स्मृति मे सतप्तमना विरहिन एक खिलते हुये नील कमल की शोभा से विक्षिप्त होकर कितनी हार्दिक मनोव्यथा प्रकट करती है इसका सुन्दर चित्रण निम्नाकित पक्तियो मे देखिये—

"जुन फुल्ने नीलो कमल, हिउ चुली मे घुमे,
दन्त पापी हाले पनि, मन त मेरो रुने।"

[illegible] विकसित नील कमल की [illegible] को प्राप्त करने का प्रयास [illegible] लगती है, मानो गगन चुम्बिनी हिम शिखाओ को छूने ही वाली हो [illegible] को पानी [illegible] ही [illegible] प्रतीत होती हो परन्तु [illegible] है।

[illegible] छिपी हुई [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

उधो जादा देखे मेले, समपत्री विरवा
उभो आउदा, भयो छ कोपिला
फूलि गयो छ, दिदै ! फूलि गये छ
समपत्री विरुवा ! ढक मक फूलि गये, छ
यो फूल को लाडला, दिदै !
यो फूल को लाडला !!
स्वामी मेरो परदेश, मायती मेरो दूर देश
यो फूल को लाडला !
टिपी, चुडी राखू भने, ओईली जै जाला !
गाथी, गाथी, राखू भने सुकी जै जाला
यो फूल को लाडला, दिदै !

भावार्थ —

हे बहिन ! इस फूल का लाडला आज कहा है ? यह फूल भी बड़ा निर्दयी है। दीदी ! मैने अभी अभी ऊपर जाते समय देखा तब तो यह अर्द्ध विकसित-सा था और नीचे आई इतने मे ही चटपट इसकी समूची कलिया खिल गई। हे दीदी ! इस सुन्दर फूल को मै अपने लाडले प्रीतम के लिये कैसे रखू। यदि तोड़कर रखू तो यह गल जायगा और सर मे गूथ कर रखू तो सूख जायगा !

पुष्प के प्रति रमणी का आन्तरिक स्नेह आभासित कर विरवे के पात नाच उठे और प्रसन्नाकृतिमयी लतिकाओ ने विहँसती हुई मूक वाणी मे कहा —

न रो ! न रो ! चेली मेरी मै फेरि फूलुला !
तिम्रो स्वामी न आये सम्मन, म फूलि रहूंला !!

हे मधु वाले ? तू रुष्ट न हो मै पुन फूलूगा और तुम्हारे स्वामी के आगमन पर्यन्त फूला ही रहूगा। इतना कहते कहते विरवा खिल उठता है ! जिससे विरहिणी की मनोव्यथा और भी तीव्र हो जाती है।-पुष्प को सम्वोधित कर निज स्वरूप को निहारती हुई नवागना एक ठडी आह लेकर अपने मनोव्यथा पूर्ण उद्गारो का कितना मार्मिक चित्रण करती है, इसकी एक झलक इसी गीत की निम्नाकित पक्तियो मे देखिये —

'फूल को यौवन, वारम्वार आउछ,
'यो यौवन एकै वार, गे गयो गम्मै पार !

हे पुष्प राज ! सुमनो मे तो पुन पुन नवरस का सचार होता ही रहता है, किन्तु यौवन उपवन मे तो वार वार वहार नही आती, यह तो एक ही वार आता है और युवावस्था के पश्चात इसकी इति श्री हो जाती है।

हिमालय की उत्तुग शृखलाओ से आलोकित रम्य पर्वत मालाओ के मध्यवासी समुदाय के लोकगीतो मे स्फूर्ति भरने की अनुपम शक्ति होती है। धान काटने आदि कार्यो मे सामूहिक रूप से काम करने वाले जनो को इन लोकगीतो से महती स्फुरणा मिलती है।

ग्रामीणो के दल मस्ती से बासुरी की सुरीली तान, पर मादक नृत्य के साथ लोक गीत गाते है। कार्य की धुन मे उन्मत्त तरुण ओर तरुणियो के समुदाय लोक गीतो को एक स्वर मे गाते हुये अपने आप को भूल जाते है —

"सैती रे कागज, कालो रे मासो, सर सर कलम सर देना
ज्यु मेरो यह छ, धन मेरो छइना, मन पर छू कि पर दईना।"

जब श्वेत पृष्ठ ओर काली मसि दोनो ही है तो फिर सर्राटे मे कलम क्यो नही चल रही ह ! मेरे पास धन तो है नही, केवल मात्र यह काया ह ! क्या इसी लिये मै इस सयोग के उपयुक्त नही समझा जाता (या जाती दोनो ही गाते है) कि मै निधन ह।

विवाह पर लडकी को विदा करते समय स्त्रियाँ गीत गाती है :—

"हस को भाले, परेवा को डिम्मा !
आज देखी दीये बावे कुटुम्ब को जिम्मा !!
कुखुरा को चल्ला, हांस को डिम्मा !
आज देखि भईस, बावे कुटुम्ब को जिम्मा !!

हे हसनी सी मधु बाले ! आज से हमने तुम्हे कुटुम्ब के जिम्मे लगा दिया है। लहलहाती हुई खेती तथा वर्षाऋतु आदि सुहावने अवसरो पर अनेक प्रकार के रगीले गीत गाये जाते है जिनमे "धासे गीत" या "चरण गीत" आदि प्रमुख है। पति को विदेश यात्रा के समय विदाई देने के लिये दूर तक साथ गई हुई भामिनी को घर लौटना भार हो जाता है और वह मार्ग के तन खडो को सम्बोधित कर अपनी मनोव्यथा का हृदयग्राही चित्रण करती है —

पापी डाटा काटी गायो, माया नै पारेर मनाई
माइत जाउ, कि घर जाउंन बीच नै पारेर भनाई
हरि जाउ नै त्रिशूली ले लगायो हिउ को खार हजूर
दोब [illegible] परेको लाई, [illegible] पार हजूर
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हजूर
माइत न [illegible] घर न जा [illegible] [illegible] हजूर !

[illegible]
[illegible]

मुझ अबला को मझदार मे छोड़कर परदेशगामी हुये ! हिमाच्छादित पर्वत मालाओ की सुन्दरता को लक्षित कर तरुणी के हृदय मे वेदना की झलक उठती है और वह कहती है, भगवान् कैलाश की यह ज्योतिर्मयी दिव्य छटा मुझे त्रिशूल सी चुभ रही है ! जैसे हिमालय की बर्फीली चोटिया निरतर हिमपात मे बढ़ती जाती है उसी प्रकार मेरे मन की पीड़ा भी उग्रतर होती जा रही है। ये सुहावनी हिम मडित शिखाये और यह गजब की शीत ! मुझ वियोगिन की मझदार पड़ी नैया को कौन पार लगायेगा ? मार्ग मे पशुपति देवालय की छटा देखकर विरहिणी कहती है, कि अनन्त शक्तिमान भगवान् की दिव्य ज्योति किसी चतुर कर्मवीर की पुनीत कीर्ति को जगमगा रही है ! परन्तु मुझ दुखियारी के साथ आज वह अधर्मी ज्योति भी परिहास करके जियरा जला रही है। कैसी विडम्बना है कि घर और मायके का मोह त्याग कर यही रहने को आमन्त्रित कर रही है।

तरुणी का विकल हृदय चैन नही पाता है। शिवालय की स्नेहपूर्ण ध्वनियो मे उसके अन्तर मे विश्वास की एक धुधली रेखा बन जाती है। तरुणी शिवालय मे प्रवेश करती है। बहुमूल्य वस्त्रो और आभूषणो से सुसज्जित सुन्दरी जब दर्पण की ओर निहारती है तो ललाट पर सुशोभित कुकुम तिलक से मुकुर ज्योतिर्मय हो उठता है ! सहसा प्रणयिनी के उर मे प्रणय पिपासा भभक उठती है। तरुणी के व्यथित मानस की वेदनापूर्ण कसक निम्न पक्तियो मे देखिये

"वरि र परि सिन्त्रिक को टीका, माझैमा केसरी,
काकरीह्वना, यो हृदय मेरो, चीरी देखाउं कसरी।"

दोनो ओर कुकुम का लाल तिलक और बीच मे सुशोभित सिन्दूर। पिय मिलन की उत्कठा बढा रहा है। मै अपनी मर्मव्यथा कैसे प्रगट करू ? मेरा यह हृदय ककड़ी तो है नही जो इसे चीर करके दिखाऊ।

नेपाल राज्य भगवान् शिव का अनन्य भक्त है, वहा गायो को लक्ष्मी रूप माना जाता है और तदनुसार नेपाल मे परम्परा मे गोवध निषेध है। लक्ष्मी पूजा के दिन विविध रूप से गायो की पूजा की जाती है, उन्हे कपड़े की सुन्दर झूलें पहनाई जाती है सीग व खुरपर तेल लगाया जाता है माथे पर सिन्दूर व रोली का टीका लगाया जाता है। सीगो पर और गले मे फूलो की माला पहिनाई जाती है। 'आयु बढे और वर्ष भर दूध पीते रहे', इस भावना से स्त्री पुरुष व बच्चे गायो के नीचे से निकलते है तथा रात्रि को त्यौहार की प्रसन्नता मे महिलाओ की टोलिया भइलो गीत' गाती है और घर घर बधाई मागने जाती है। 'गायो की रक्षा हो और जग का भला हो' ऐसी प्रार्थना करती है। तरुण बालाओ की टोलिया जिस समय एक स्वर मे 'भइलो गीत' गाती है उस समय उनकी मधुर आवाज मे दीपावली के दीपो को

भी चार चांद लग जाते हैं दीपावली के दूसरे दिन नेपाली पुरुष देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त करके राम विजय की प्रसन्नता के उपलक्ष में देवसी नाम का त्यौहार मनाते हैं। ताल



[illegible] गीत नृत्य

गर्दी व ढोलक व हारमोनियम के साथ [illegible] देवसी गीत गाती हुई घर घर घूमकर [illegible] बधाई मांगती हैं। यह देवसी गीत [illegible] गाया है—

देवसी गीत

[illegible] झिलि झिलि झिलि देवसी रे
[illegible] झिलि, देवसी रे।
[illegible]

भावार्थ

[illegible]



देवसी गीत नृत्य

आशीर्वाद गीत	आशीर्वाद गीत का भावार्थ —
इस घर को लक्ष्मी ले, पानी छूदा तेले हुने इस घर को लक्ष्मी ले, ढूगा छूदा द्रव्य हुने जसको वारीमा केरा, उसे को काख मा छोरा जरनेली वन्दूक पास गरो, हामी जाछू राजगरो !	इस घर की लक्ष्मी पानी छुये तो तेल हो पत्थर छुये तो सोना हो जिसकी बगीची में केला हो उसको पुत्र हो ! हम जाते हैं आप सुख से रहे।

किसी भी जाति की गोपनीयता उसके लोक साहित्य में अन्तर्हित होती है और उसका सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत प्रदेशीय भाषा के लोक गीतो या कथाओं में ही सन्निहित होता है। लोक गीतो मे जनता के मनोभावो को परिवर्तित कर देने की अनुपम शक्ति होती है। लोक जीवन मे जितना प्रभाव लोक गीतो का होता है उतना किसी भी अन्य भाषा या साहित्य का कदाचित् नही हो सकता।

लोक गीतो मे भक्ति भावना गहराई मे अभिव्यक्त रहती है। भारतीय लोक जीवन मे भक्ति का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। भारत के लोक गीतो मे चाहे वह किसी भी प्रदेश के हो भक्ति रस का सांगोपांग सम्पुट मिलेगा। भारतीय लोक गीतो की भाति नैपाली लोक गीतो मे भी भक्ति भावना का सरस और गहरा सम्पुट है।

कश्मीरी लोकगीतों में लोकजीवन की व्याख्या

श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प', एम० ए०

प्राकृतिकसौन्दर्य और सांस्कृतिक हृदय पाकर शारदापीठ कश्मीर के झरने, झील, सरोवर की हर लहर ने, फूलो और वनस्पतियो के हर स्पन्दन मे और वायु के हर श्वास मे भारतीय संस्कृति के अमल तत्त्व गीत बनकर भूमि और अन्तरिक्ष मे व्याप्त रहते है। उन लोकगीतो मे लोकजीवन की कैसी प्रतिष्ठा है, जीवन की गति मे कैसा स्पन्दन है, इन सबका संक्षिप्त विवेचन सहृदय कवि और लेखक श्री 'पुष्प' जी ने इस लेख मे किया है। —संपादक

कश्मीर का इतिहास प्राचीन होकर भी चिर नवीन रहा है। सहस्रों वर्षों की गाथा में अनेक संस्कृतियों ने इसको पाला पोसा है। सभी के उपयोगी [illegible] को अपनाकर इसने एक ऐसी समन्वित संस्कृति का विकास किया, जिसमें [illegible] नाग, आर्य, शक, कुषाण, [illegible], भोट, अफगान, ईरान, मंगोल, ब्राह्मण, बौद्ध और इस्लामी [illegible] का सामंजस्य [illegible] हुआ है। इस सांस्कृतिक साधना का मानवतावादी [illegible] कश्मीर के लोकगीतों में भी बज उठा है। प्रकृति-प्रेम के उल्लास के साथ-साथ [illegible] इन गीतों की एक मनोरम विशेषता है।

प्राकृतिक परिवेश ने कश्मीर के लोक-जीवन [illegible] भी किया है। यदि [illegible] [illegible]

[illegible]

— [illegible] —



देवसी गीत नृत्य

आशीर्वाद गीन	आशीर्वाद गीत का भावार्थ —
इस घर को लक्ष्मी ले, पानी छूदा तेले हुने इस घर को लक्ष्मी ले, ढूगा छूदा द्रव्य हुने जसको वारीमा केरा, उसे को काख मा छोरा जरनेली बन्दूक पास गरो, हामी जाछू राजगरो !	इस घर की लक्ष्मी पानी छुये तो तेल हो पत्थर छुये तो सोना हो, जिसकी बगीची मे केला हो उसको पुत्र हो ! हम जाते है आप सुख से रहे।

किसी भी जाति की गोपनीयता उसके लोक साहित्य मे अन्तर्हित होती है और उसका सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत प्रदेशीय भाषा के लोक गीतो या कथाओ मे ही सन्नि-हित होता है। लोक गीतो मे जनता के मनोभावो को परिवर्तित कर देने की अनुपम शक्ति होती है। लोक जीवन मे जितना प्रभाव लोक गीतो का होता है उतना किसी भी अन्य भाषा या साहित्य का कदाचित् नही हो सकता।

लोक गीतो मे भक्ति भावना गहराई मे अभिव्यक्त रहती है। भारतीय लोक जीवन मे भक्ति का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। भारत के लोक गीतो मे चाहे वह किसी भी प्रदेश के हो भक्ति रस का सागोपाग सम्पुट मिलेगा। भारतीय लोक गीतो की भाति नैपाली लोक गीतो मे भी भक्ति भावना का सरस और गहरा सम्पुट है।

कश्मीरी लोकगीतों में लोकजीवन की व्याख्या

श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प', एम० ए०

प्राकृतिकसौन्दर्य और सास्कृतिक हृदय पाकर शारदापीठ कश्मीर के झरने, झील, सरोवर की हर लहर मे, फूलो और वनस्पतियो के हर स्पन्दन मे और वायु के हर श्वास मे भारतीय सस्कृति के अमल तत्त्व गीत बनकर भूमि और अन्तरिक्ष मे व्याप्त रहते है । उन लोकगीतो मे लोकजीवन की कैसी प्रतिष्ठा है, जीवन की गति मे कैसा स्पन्दन है, इन सबका सक्षिप्त विवेचन सहृदय कवि और लेखक श्री 'पुष्प' जी ने इस लेख मे किया है। —सपादक

कश्मीर का इतिहास प्राचीन होकर भी चिर नवीन रहा है। सहस्रों वर्षों की यात्रा मे अनेक सस्कृतियो से इसका पाला पडा है। सभी के उपयोगी तत्त्वो को अपनाकर इसने एक ऐसी सयुक्त सस्कृति का विकास किया, जिसके सगीत मे नाग, आर्य, शक, कुशाण, दारद, भौट, अफगान, ईरान, मगोल, ब्राह्मण, बौद्ध और इस्लामी स्वरो का तालमेल मुखरित हुआ है। इस सास्कृतिक साधना का मानववादी सरगम कश्मीर के लोकगीतो मे भी बज उठा है। प्रकृति-प्रेम के उल्लास के साथ-साथ अध्यात्म की जीवन-पोषक अन्तर्दृष्टि का आलोक इन गीतो की एक सनातन विशेषता है।

प्राकृतिक परिवेश ने कश्मीर के लोक-जीवन को स्फूर्ति ही नही दी है, सौंदर्यानुभूति से सम्पन्न भी किया है। यदि राजनैतिक और आर्थिक शोषण ने इसकी क्षमताओ को विफल न किया होता तो इन लोकगीतो मे विषाद की अपेक्षा प्रसाद अधिक झलकता। फिर भी इन लोकगीतो के ताने-बाने मे गुथी हुई विरह-मिलन की भावमय झाकिया बहुत ही आकर्षक बन पड़ी है। यो तो कश्मीर की प्रत्येक ऋतु सुहानी होती है, पर वसन्त के 'शुगूफे' [illegible] की 'इन्द्रधनुष-छटा' की रमणीयता अद्वितीय ही होती है। लोक-कवि के [illegible] :—

'पहले तो बेदमुश्क खिल खिल उठता है
उसके पीछे ही बादाम दौड़ा चला आता है !

अरे बगूगोशे के फूल! तू भी शीघ्र निकल
सेब का फूल सोच रहा है—देर हो रही है मुझे
तूत का फूल कहता है—डाली-डाली भर दूँ
हे लाल! तेरे प्यार से।"

फूलों की यह बहार देख कर विरहिणी का जिया डोलने लगता है—

सखि, फूलों पर बहार आ गई

आज मेरे बाल-मीत को बुला तो ले आओ! तुरत ले आओ उसको; शालामार खिल उठा है! .....आएगा नहीं तो मैं बाला जान पर खेलूँगी। मेरा चमेली-सा तन मजार में पड़ा रह जाएगा! ....

आह! डल की सैर शुरू हो गई,
शालामार खिल उठे!
आज मेरे बाल-मीत को बुला तो ले आओ!"

अधीर उत्कण्ठा पुकार उठती है—

"सीमान्त के वनों में फूल खिलने लगे। तूने मेरा (सन्देसा) सुना नहीं क्या? 'कोलसर' के आसपास फूल खिलने लगे। चल, मर्गजारों की सैर करें! यासमन भी तो खिलने लगे! तूने..."

आशंका शिकायत करती है—

"मीत मेरा पाम्पुर की ओर चला गया री। केसर के फूलों ने उसे गले लगा लिया। मैं यहाँ हूँ, वह मेरा वहाँ। कान धरो तो निवेदन करूँ!"

कोई उपेक्षिता सुन्दरी आह भरती है—

"अरे केसर के फूल रे! एक दुनिया तुझे देखने को उत्सुक रहती है, मुझे देखने वाला कोई भी नहीं। ओ केसर के फूल रे!"

केसर की खेती में सलग्न नरनारी कई प्रकार के गीत गाते रहते है, कभी-कभी अपने श्रम की विडम्बना भी ध्वनित कर ही लेते है—

"केसर के ढर लगाते लगाते हम पसीने से तर हो गये। तब कहीं यह केसर सरकार की सेवा में पहुँच जाय!"

और—

"पाम्पोर के केसर की किश्ती मारवल (नाले) में से चली, बाजार में मोल मिलेगा नहीं! पाम्पोर के करेवे पर केसर के फूल खिल उठे। हाजी रे, रत्ती भर केसर दे दोगे? मैं अपने मीत को धो-धो कर भेज देता! बाजार में मोल मिलेगा नहीं!"

इसी प्रकार 'माछ तुल्लर त ग्रीस्तियवाय' (मधुमक्खी और किसान पत्नी) शीर्षक लोकगीत में शोषित किसानों की विवशता का यथार्थ चित्रण हुआ है—

"वसन्त को जब मुअतसद् (=गणक) आ गये
किसानों को ढाढस बधाने के लिए
मीठी बातों से उन्होंने हमारा पेट भर दिया—
हम जाल में आ गये।
शरद्-ऋतु में वे 'दर्द' भूल कर हमें मारने आ दौड़े।
मैं तो किसान-पत्नी हूँ, अरी हम यहाँ रहने नहीं आये हैं।
जो फस्लें मैंने धरतीमाता में बो दी थीं
अरी वह पक भी गई,
खलिहान में उसके ढेर भी लगा दिये मैंने—
सैंकड़ों खरवार निकले।
अरी, चकले चकले में मुकद्दम और पटवारी आ पहुँचे।
आतुर और अभावग्रस्त कितने ही, सखि,
आंचल पसार पसार कर आ पहुँचे
मैंने उनके आंचल भर दिये—
यही तो छूटने का उपाय है।"

धान के खेतों में काम करते हुए किसान इन सामूहिक गानों में अपने शोषण के प्रति अपना रागात्मक प्रतिरोध व्यक्त तो करते रहे, पर परिस्थितियों पर उनका वश नहीं चलता था। फिर भी वह अपने काम में तनमन से लगे रहते। उनकी अन्तरात्मा से आवाज आती—

"हूरों से कह दो सखियो कि धान के ढेर लगा दें।
शायद 'लाल' दर्शन देने आ ही जाय।
मेरा दिल तो चित्त-चोर ले गया है
शायद मेरा चारा करने आ ही जाय।
धान की खेतियों के अन्दर धान के खोशे थर्रा उठे
शायद 'गुले लाल' यहीं आ जाय।. .
बाद में शरद् की हवा दावे से आ जाएगी
रोआं रोआं सिहर उठेगा। हूरों से कह दो"

[illegible]—

[illegible] यह दुनिया [illegible]

एक ओर रह घडी भर, गनीमत है!.......

वसन्त आया, उठ! हल चलाने निकल
प्यार के बैल लेके जमीन जोत ले!
देखना कही हल का 'फाल' निकल न जाए!
एक ओर रह.........
शरद् आ जाए तो तोड करता निकल
रे अनाज को पीट कर दाना निकालने वाले,
खलिहान को समेट ले!
'लाल' और 'सफेद' को कारदार आप ही जाने!
एक ओर रह.............."

अध्यात्म की यह पुट कई वार अस्वस्थ भाग्यवाद का समर्थन भी करती नज़र आती है, और नि सन्देह ससार की असारता का रोना भी अनगिनत लोकगीतो मे फूट पडा है, पर जीवन की व्यर्थता या उद्देश्यहीनता का उद्घोषण इन गीतो मे बहुत कम हुआ है। इसके विपरीत अधिकाश गीतो मे जीवन को सार्थक बनाने की साधना का यह उत्प्रेरक सदेश ही सवाक् हो उठा है—

"आ बाले, यौवन को 'रोव्ह' नाच नाच कर मनाएँ,
यह दुनिया तो नई से नई है--नित नई है!
अपनी प्रिया के विरह में 'नागराय' का क्या हाल हुआ--
'हीमाल' के पीछे मतवाला हो गया! आ.......
अपनी प्रिया के विरह मे 'बम्बूर' (=भौरे) का क्या हाल हुआ
'यम्बरज़ल' (नर्गिस) के पीछे मतवाला हो गया! आ..."

इस लोकप्रिय 'रोह्व' (नाचगीत) मे जिस दृष्टिकोण की अभिव्यजना हुई है वह त्रिक-दर्शन और सूफीमत के सामजस्य का परिणाम है। कश्मीरी भाषा अभी शैशव को पार कर ही रही थी कि राजनैतिक परिस्थितियो ने पलटा खाया और सामाजिक उथल-पुथल ने लोकजीवन को झिझोड दिया। पर सन्तो की वाणी ने त्रिक-दर्शन की जीवन-पोषक परम्पराओ को एक नये मानववाद से अनुप्राणित किया और लोकगीतो मे भी इसकी नई झकार सुनाई दी—

"शिव तो कण-कण में विद्यमान है
हिन्दु और मुसलमान में भेद नहीं!".....
"'शिव' हो या 'केशव' हो या 'जिन' हो
या 'कमलजनाथ' नाम वाला (=ब्रह्मा) ही हो;

मुझ अबला की 'भव-रुज' दूर करे
वह हो या वह हो या वह हो या वह!"

धर्म के बाह्याडम्बरों पर गहरी चोटें होने लगी—

"सच मानो तो पाँच (इन्द्रियों) को ही झुका लो,
नहीं तो हाड चाम-मात्र झुकाने से तुम्हारी खैर नही!
'शिव' के साथ यदि तुम्हारा मिलाप हो जाय
तो ऋषिनंदन! तेरी 'नेमाज़' सिद्ध हो जाय!"

शैव-साधना और नेमाज तो सचमुच लोकसंस्कृति के धरातल पर ही एक हो सकती है क्योंकि इसी धरातल पर—

"जब उसने अपने मुखड़े पर बाल बिखेर दिये
'कुफ्र' और 'ईमाँ' (के कजिये) भुला डाले!
अन्धेरा और उजाला गले मिल गये!"

इसी माधुर्य-मूलक रहस्य-कल्पना की आध्यात्मिकता 'हीमाल-नागराय', 'गुलरेज [illegible]', 'रावाम्बरयम्बर', 'शिवलग्न', 'नल दमयन्ती', 'यूसुफ़ ज़ुलैख़ा', 'शीरीं ख़ुसरो', और 'लैला-मजनू' आदि प्रेम काव्यों में प्रतिध्वनित हुई है। शिल्पियों के कारखानों में, बेलबूटे निकालते हुए, नक्काशी करते हुए या पेपरमाशी की चित्रकारी में नित नये गुल खिलाते हुए, कारीगरों की टोलियों में प्रायः इसी प्रकार के गीत गाये जाते हैं। खलिहानों में जब फसलों के ढेर लग जाते हैं तो गांव के भांड-गवैये आदि भी [illegible] की दुहाई देकर ही भीख पाने की सफलतम चेष्टा करते हैं। रबाब, सारंगी और नगाड़े पर [illegible] (लोक के [illegible]) पर यह गीत बड़े भावावेश से सुनाये जाते हैं। [illegible] और उत्सवों पर गाये जाने वाले नाच-गीत भी रहस्योन्मुख हुआ करते हैं। जैसे—

"दीपक और परवाना मिल जलने के विचार से चल दिये,
दोनों जल पड़े पर कहीं उनकी मिलाई सिद्ध हुई!
रे मस्त दीवाने (लोक कवि)! एक क्षण भी (उनसे) अलग नहीं,
बात इतनी-सी है—तू पर्दा उठा ले सब एक हो जायगा!"

इसी प्रकार का दूसरा गीत

मेरे मोहन—मेरे निर्मोही प्रभु!
तू किस कारण से रूठ के बैठा है?
मुझे क्या ज्ञात था [illegible] तुझे [illegible]
एक [illegible] तुझे [illegible]

मेरे मतवाले! मेरे दिल को कल नही पडती;
फूल की टहनी से तुझे हवा करूँ?"

अध्यात्म की अभिव्यक्ति मे लोक-कवियो ने प्रकृति का भी अवलम्बन लिया है। प्रभात मे उन्हे किसी की मुस्कान दिखाई देती है—

"नूर-भरा भस्म-भूषित (रमता जोगी) मुस्करा दिया—सवेरा हुआ!"
"प्रभात को गोद में लिये हुए
श्याम हमारे घर आया!"

शादी-व्याह आदि सस्कारो के गीतो मे भी अध्यातम की यह आभा छिटकी हुई है। 'वर' का स्वागत करते हुए नारिया गाती हे—

"एक राजहंस आज मेरे घर आ गया
आज मेरी तमन्ना पूरी हो गई।
ठौर-ठौर जिसे मै खोजती फिरी
शहर-शहर, गाँव-गाँव, ससार-भर में
मन के अन्दर ही मै उसे पहचान पाई
—आज मेरी तमन्ना पूरी हो गई!"

शादी-व्याह के इन गीतो मे कई प्रतीक भी प्रचलित है। वधू को प्राय सीता, राधा, पार्वती, हीमाल, यम्बरजल, लैला, शीरी, जुलैखा आदि प्रेमोन्मादक नामो से याद किया गया है, और वर को राम, कृष्ण, शिव, नागराय, बम्बूर, मजनू, खुसरौ, यूसुफ आदि का प्रतिनिधि गिना जाता है। वर के मा-बाप वसुदेव-देवकी या नद-यशोदा आदि बन जाते है ओर वधू के माता पिता मे वृषभानु-दम्पती की झलक दिखाई जाती है।

नामो की प्रतीकात्मकता तथा कर्मकाण्ड के विधि-विधान की सूचनाओ के अतिरिक्त इन लोक-गीतो मे कोई साम्प्रदायिकता नही पाई जाती। 'मुडन' मुसलमानो के यहाँ नहीं होता, पर नाई के विना यह सस्कार हो नही सकता, और काश्मीर मे नाई प्राय मुसलमान ही हुआ करते है। उनकी अभिलाषाए लोकगीत मे यो सुनाई पडती है—

"नाई कहता है—मै चावल ले कर क्या करूँ,
मुझे तो 'शमला' और 'दुशाला' चाहिए;
'व्वस्ता' (=सिद्धहस्त नाई) कहता है—मैं 'वरी' ले कर क्या करूँ,
मै अपने मकान पर चौथी छत डालना चाहता हूँ।
'व्वस्ता' कहता है—मै नमक ले कर क्या करूँ—
मै अपने मकान में 'जून-डब' (ज्योत्स्नागार) बनाना चाहता हूँ!"

कश्मीर के धोबी भी प्रायः मुसलमान ही हुआ करते हैं। उनसे प्रार्थना की जाती है—

"एक मोहर धुलाई मिलेगी, ज़रा धीरे धीरे धो लेना,
एक सिरे से दूसरे सिरे तक अर्क़ और कलफ
लगा कर ले आना।"

इसी प्रकार के बीसियों गीत मिलते हैं जो शादी-ब्याह पर हिन्दू-मुसलमान दोनों के यहां समान रूप से गाये जाते हैं। ब्याह की तयारी, वर की छब, वधू का सिंगार, बरात की सजधज, सम्बन्धियों की चहल-पहल, मां-बाप की मनोकामनाएं और वर-वधू की उछाह-उमंग—इन सभी में ये लोकगीत एक स्वर होकर बोल पड़ते हैं। हां, विशेष परिस्थितियां या मत-मतान्तरों की रस्मोरिवाज की मांग पूरी करने के लिए कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की परिवृत्ति कर दी जाती है। पर तान बदल कर भी फिर से सम पर आ ही जाती है।

लोक-गीत की असली धूम तो 'मेहन्दी-रात' को मचती है। उस रात वर या वधू के हाथ-पैर रंग दिये जाते हैं और सम्बन्धियों के अतिरिक्त अड़ोस-पड़ोस के लोग भी समारोह में भाग लेते हैं। हिन्दू-मुसलमान दोनों के यहां यह रात मनाई जाती है और दोनों एक दूसरे के उत्सव में शरीक होते हैं। रात पड़ते ही सामूहिक स्वर गूंज उठता है—

"मेहदी लगाऊँ तुझे, हाथ तेरे पीले हैं।
पीले पीले गुलाबों से तुझे सजा तो दूँ।"

"मेहदी स्वर्ग से उतर आई है
मेहदी पानी में से उभर आई है
मेहदी ने हम पर मेहरबानी की है।"

कविताए भी तुम्बकनारी पर ही गाई जाती है जिन्हे साधारणतया घुमक्कड भिक्षमगे सुनाया करते है। 'महगाई' पर व्यग का यह उदाहरण बहुत अर्थ-गर्भित है—

"नदपुरी हाँजियो के धन को फफूदी लग रही है !
किश्ती-भर शलगम का साग वे ग्यारह रुपये में बेचने लगे है !
सुनिए तो पैसे कितने निकम्मे हो गये है !
'टक'—सिक्के वाले रुपयो से आँचल भर लो
हर्ष से घर जाओ—कि 'राशि' मिल गई !'
सौदा लेने चलो तो अफसोस से हाथ मलते रह जाओ !
पैसे का नमक तो तीन ही अडो के लिए काफी है !
या खुदा ! बनियो के (हाथ के) पंजे टूट जाएँ
नमक तोल कर देते है तो आधा पलडो से चिपक कर ही रह जाता है !"

महदीरात के बाद बरात के आगमन पर भी गीतो की अच्छी गूंज रहती है। बरात के स्वागत को अधीर वधू-पक्ष की अभिलाषा चिन्ताकुल हो जाती है—

"जौ के खोशे फूट निकले है
धान कब तक पक जाएंगे ?
दूर की बरात जाने कब तक आ पहुँचेगी !"

बरात आ पहुची तो वधू की मा को बधाइयाँ मिलने लगी—

"अरी ओ वधू की माँ, उतर गया तेरा ताप ?
चमचमाता हुआ 'लाल' जो आ पहुँचा !"

माँ अपनी बेटी की ओर ममत्व-भरी दृष्टि से देखकर आह भरती है—

"अपने 'अब्बा की लाडली', अपनी माँ की इकलौती !
अभी तू गुडिया को भूला भुला ही रही है ?"

बराती दावत खाने बैठते है तो वधू मन ही मन मे रसोइए से अनुरोध करती है—

"रसोइए रे रसोइए ! तेरे हाथो पर वारी जाऊँ !
मेथी-वाला गोश्त कूडो में भर-भर कर ऊपर तो ले आना !"

अपने वर को कनखियो से देखती हुई वह मन ही मन मे गुनगुनाती जाती है—

"मैं हूँ तुम्हारी यम्बरजल—खुमार-भरी,
शर्म से गर्दन नीची किये !"

व्याह हो जाने पर वधू ससुराल के लिए तैयार हो जाती है। उसका सिंगार करते हुए कंघी के गुण यों गाये जाते हैं—

"तेरी सोने की कंघी के दन्दे चान्दी के हैं,
अरी ओ परी! तेरे बालों का जूड़ा गूंथ लूं?
चन्दन की कंघी से तेरे केश सुलझा लूं?
रेशम की गुत्त बुन डालूं?
केश तेरे कोमल हैं, मांग तेरी खूब निकली!
शारिका-देवी तेरी गुत्त बनाने आई है!"

'डोली' चलने लगती है तो माँ का दिल धक् से रह जाता है। ऐसा लगता है कि—

"सिंह द्वार से डोली निकल नहीं पाती
कुंद-माला दे डालने को हमारा जी नहीं करता!"

मुहल्ले की औरतें ऊंचे सुरों से गाने लगती हैं—

"मैके की चाटिया अब अपनी अम्मा के हवाले कर दे,
उठ री बिटिया, ससुराल के नाते उठ री!"

तो सुनने वाले कलेजा मसोस के रह जाते हैं। मां-बाप के अन्तस्तल से अनुरोध निकलता है—

"हमने आप लोगों से पूरा पूरा निवेदन किया है
कि अभी हमारी बिटिया नादान है!
नादान किसने कहा, आप ही तो काम करने लग जाएगी!
हर समय इसे लाडली समझ लेना। अभी
सवेरे इसे जगा देना बहुत के छोटे-छोटे [illegible] देना,
धीरे-धीरे ही सारी काम [illegible] लेना! अभी

[illegible] के सन्तान हो जाने, [illegible]
[illegible]—

हमें [illegible] झूले में [illegible]
बाप तेरा इन्द्रराज है [illegible]
तेरे झूले में ही [illegible] (फूल) [illegible]

तेरे झूले के किनारों से झूमर लटक रहे हैं! तुझे. ...
तुझे आकाश में उडने वाला पछी चाहिए कि (कलकंठी) 'कस्तूर'?

तुझे झुलाने के लिये स्वर्ग की हूर ले आऊं? आऊं––"

पर इस प्रकार के पारिवारिक सुख से वंचित विधवाओं, सधवा विधवाओं और परित्यक्ताओं की भी कश्मीरी समाज में कमी नहीं। धान कूटते हुए, चक्की चलाते हुए या चरखा कातते हुए जो गीत गाये जाते हैं, उनमें प्राय पारिवारिक विषाद की तानें ही उभरती रहती हैं। धान कूटते समय यह गीत बहुत प्रचलित है—

"अरी उसका जीव न किया कि मेरी प्याली परोस दे!
बड़े (उत्सव के) दिन मुझसे धान का बडा टोकरा कुटवाया,
ईद के (या शिवरात्रि के) दिन मुझसे चरखा कतवाया!
सातो कमरों में झाड़ू दिलवाई।
(फिर भी) कुत्तो और बिल्लियों का झूटा खाने को दिया!
अरी उसका जी न किया......"

'मैके' और 'ससुराल' की तुलना यों की गई है—

"परवाने ने शमा (=दीपक) पर अपने आपको वार दिया;
मेरे मैके! तुझ पर मैं अपनी जान न्यौछावर कर दूं?
सास और ससुर तो एक कयामत हैं
भाई और बहन एक निआमत (=वरदान) हैं मेरे मैके....।"

चरखा कातते समय भी ससुराल की विपदा का रोना यों गाया जाता है—
"दर्दीला मैका मुझे धकेल चला, सुसराल कठोर ही मिला
हक था सास का, सख्ती की ननद ने––सहना ही पडा
जो भाग्य मे (लिखा था). वही मिल गया सहना ही पडा!
इस रग रगीले चरखे पर मैंने 'पश्मीना' काता था, लपेटते लपटते उलझ गया,
बेचने चली तो मोल घट गया––सहना ही पडा! ओ...."
यही वेदना एक और गीत मे यों क्रन्दन कर उठी है—

"मैं यौवन की रतियाँ चुन ही रही थी
कि सुसराल बुलाने आ पहुँचा!
आँखें अभी नीद-भरी थीं........
इन्द्रराज की मतवाली सुन्दरिया

अन्दर ही अन्दर सोर्ज वजाया करती थीं।
'पश्मीना' कातते कातते अब वे चूरचूर हो गई हैं !"

ससुराल के जीवन की इन विडम्बनाओ ने ही मा से कहलवाया—

"पहली लडकी तो राज दुलारी है
दूसरी लडकी 'फिर भी कुछ ' है
तीसरी लडकी तो सिर पर कुल्हाडा है
भगवान तेरी 'गति' को नमस्कार !"

बच्चो के एक क्रीडा गीत मे यही भाव यो प्रकट हुआ है—

"लडके का जन्म तो 'सीधी दस्तार' है
लडकी का जन्म 'तवरदार' (का जन्म) है !"

नारी की इस पारिवारिक विडम्बना ने कश्मीरी समाज मे भाग्यवाद की अस्वस्थ मनोवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन दिया और कश्मीरी कविता मे इस समाज-घातक धारणा का स्वर ऊचा होता गया। और तो और——ईद, शिवरात्रि, वसन्त, नवर्यह आदि उत्सवो पर जो नाच-गीत (रोह्ल ओर हिचकिया) गाये जाते है उनके उल्लास मे भी विषाद की फास अटकी ही रहती है, और 'शैशव' को लौटा लाने की यह चाहत अधिक सार्थक हो जाती है——

"मुझसे छल कर के चला गया, बाजीगर रे शैशव रे !
अभी अभी तू रवोआर (नदी का पार) था——
पर्वतो को बहा ले जाता था;
इस समय तुझसे गर्द के गुब्बार उट रहे है, रे शैशव रे !"

नया नया युग कश्मीर के लोक-जीवन को इतना सुखी और भरपूर कर सकेगा कि शैशव को लौटा लाने की चाहत शेष न रहे ?

२२

मराठी लोकगीत

डॉ० सदाशिव कृष्ण फडके, डी० ओ० सी०

पनवेल, महाराष्ट्र, निवासी डॉ० फडके भारतीय दर्शनशास्त्र के मननशील विद्वान् और मराठी भाषा के उन्नत लेखक है। आपने इस लेख मे कुछ गीतो के उदाहरणो द्वारा मराठी लोक-गीतो का तात्विक विवेचन किया है।
—सपादक

लोकगीतों की व्याख्या

मराठी लोकगीतो की सही-सही व्याख्या कर सकना अथवा उनका ठीक-ठीक लक्षण वता सकना कठिन है, क्योकि मराठी लोकगीतो मे जहा एक ओर होली के ग्राम्यगीत है, वही दूसरी ओर लोगो द्वारा सदा कहे जाने वाले सतगीत भी है। इसी प्रकार उनमे एक ओर सावित्री गीत, कटाव, पोवाडे आदि दीर्घ गीत है, तो दूसरी ओर छोटे भजन, शिशुगीत, कहावते आदि फुटकर वाक्प्रचार भी सम्मिलित है। भाषा की दृष्टि मे भी इन लोकगीतो मे अनेक भेद है। ये लोकगीत वच्चो की तुतली वोली, खेतिहर आदि ग्रामवासियो और मल्लाहो की अशुद्ध भाषा, आग्री, कुर्मी, शूद्र एव अन्य व्राह्मणेतर जातियो की प्रातीय वोली, पूना की व्राह्मणी भाषा, स्त्रियो की भाषा तथा पुरुषो की भाषा आदि अनेक भाषाओ मे प्रचलित है। किन्तु इन सव भेदो की ओर विशेष ध्यान न देते हुए यह कहा जा सकता है कि शास्त्रीय नियमो की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग मे लाने के लिए मानव अपने आनद-तरग मे जो छदोवद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।

लोकगीतों का तात्विक स्वरूप

लोकगीतो को लोक-साहित्य का विषय माना जाता है, किन्तु थोडा सूक्ष्म विचार करने से यह विषय मानसशास्त्र किवहुना अध्यात्मशास्त्र का भी प्रतीत होता है, और 'सम्मेलन-पत्रिका' का अन्य भाषाओ के लोकगीतो का यही अर्थ करना सार्थक होगा। देशभेद, प्रातभेद, धर्मपथभेद, भाषाभेद आदि से लोकरीति एव लोकसाहित्य वदल सकते है, परन्तु इन भेद-जनक विशेषताओ के पीछे जो एक सामान्य समष्टि-जीवन की पार्श्वभूमि होती है, वह चिन्त-नीय है। लोकगीत विद्यादेवी के वौद्धिक उद्यान के कृत्रिम फूल नहीं वे मानो अकृत्रिम निसर्ग के श्वास-प्रश्वास है। वे भारी विद्वत्ता के भार से, सूक्ष्म वुद्धि की नली के हजारे से छूटने

बाह्य तर्क-वितर्क का फौवारा नहीं, अज्ञात मलयाचल से आनेवाली सुगन्धित लहरियों से उद्भूत हृदय की सूक्ष्म तरंगें हैं। वे सहजानंद में से ही उत्पन्न होने वाली तथा श्रुति मनोहरत्व से सहजानंद में ही विलीन हो जाने वाली आनंदमयी गुफाएं[1] हैं। आत्मीयभाव ही लोकगीतों की आत्मा है।

१—अहेवाच लेन, हातभरूनी काकनं।
हळदीवरी कुंकु कपाळ दिसे छान।
माझा नमस्कार गिरीच्या व्यंकोबाला, आउख मागते कुंकवाला॥
देवीच्या दरसनाला जीव झाला येडा, जल्मभरी लावाया दिला कुंकवाचा पुडा।
पाऊसा वाचून रान दिस ना हिरव, माऊली इतक कुनी बघेना बरव॥
माझ्या अंगनात तुळसी मालनी तुझा वोफा।
देव गोविंद घाली खेपा॥
काय पुन्य केलं, तुम्ही नाशिकच्या बाया।
अंघुळीला गोदावरी। दरसनाला रामराया॥
अंतरीच गुज माझ्या हृदयीं दाटलं, सावळा पांडुरंग कधी एकांती भेटेल॥
जिवाला वाटतं, पंढरीला जावं जावं,
आई बापाला भेटू यावं, बघु पुंडलीकाला लुटावं॥
चंद्रभागेच्या तीरी धुन धुते, इटू देव तिथं बसे॥
दोघांच्या पिर्तीच, चंद्रभागेला येतं हसं॥
उगवला नारायण, तुझा रानदेवी पती. हातीं ओवाळ आरती॥

(इस आनंदमयी गुफा में देवी जी की मूर्ति है, जिनके पूरे हाथ में कंगण हैं और ललाट हल्दी और रोली से विभूषित है। गिरी के व्यंकोबा को मेरा नमस्कार है, मैं उनसे आजीवन सौभाग्य की याचना करती हूँ। देवी जी के दर्शन के लिए मैं पागल हो रही हूँ, जिन्होंने मुझे जन्म भर लगाने के लिए रोली की पुड़िया दी है। बिना वर्षा के जिस प्रकार वन हरा नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार देवी माता के इतना कोई अच्छा नहीं लगता। मेरे आंगन में तुलसी देवी का निवास है अत गोविंद भगवान् चक्कर लगाते रहते हैं। हे नासिक की स्त्रियो, तुम लोगों ने कौन सा पुण्य किया कि स्नान के लिए गोदावरी और दर्शन के लिए रामचन्द्र जी प्राप्त हुए। मेरा हृदय प्रेम से भर गया है मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ कि वह सांवला पांडुरंग मुझे एकान्त में कब मिलेगा। इच्छा होती है कि पंढरपुर जाऊँ और वहां [illegible] आदि [illegible] उन पांडुरंग के दर्शन करूँ। चन्द्रभागा नदी के तीर पर [illegible] हैं और भगवान् विट्ठल वहां रहते हैं। इन दोनों की प्रीति देख कर चन्द्रभागा [illegible] [illegible] मेरे पति सूर्यदेव का उदय हो गया है [illegible] आरती [illegible]'।

लोक-श्रुति

जिस प्रकार हीरा और कोयला, शाल और कमरी, तथा अरण्यवासी मंत्रद्रष्टा ऋषि और लोकगीतो के स्रष्टा आदि वन-ग्रामवासियो की कृतियो की लौकिक योग्यता मे बहुत वैषम्य है, उसी प्रकार उसमे तत्वत कुछ साधर्म्य भी है। जिस प्रकार श्रुतियो का कर्त्ता उपलब्ध नही, उसी प्रकार लोकगीतो का कर्ता भी बहुधा उपलब्ध नही होता। श्रुतियो के आर्ष-प्रयोग की भाति लोकगीत भी व्याकरण के नियमो से परे रहते है। श्रुतियो की तरह लोकगीत भी अलिखित थे। श्रौत मत्रो का मुख्य विनियोग जैसा पठन-श्रवण मे है, वैसा शब्दो के अर्थातर और भाषातर मे नही, यही स्थिति अधिकाश मे लोकगीतो की है। सामवेद के गीतो के अर्थ के बारे मे जैसे कोई विचार नही करता, वैसे ही लोकगीतो के केवल गायन-श्रवण का आनद शब्दार्थ मे नही उतर सकता। लोकगीतो का लक्ष्यार्थ उनमे निहित प्रेम की भावना है, जिसके आगे वाच्यार्थ की कोई कीमत नही। भगवान् व्यास ने जिस प्रकार तत्कालीन लोक-कथाओ को पुराणेतिहास ग्रथो मे सग्रहीत किया, उसी प्रकार श्रौत लोकगीतो का सग्रह चार वेदो मे किया। आगे चलकर वेदो मे उपनिषद् और उपनिषदो से ब्रह्मसूत्रो का निर्माण हुआ। इस प्रकार लोकगीतो मे साहित्यशास्त्र, और उस शास्त्र मे से कुछ आध्यात्मिक सूत्रो का निर्मित होना सभव है। समाज मे विद्वान् और निरक्षर ये दो वर्ग थे। पहले वर्ग के ऋषिमुनि मत्रद्रष्टा हुए, दूसरे वर्ग के लोक प्रधानत स्त्रिया और शूद्रादि लोकगीतो के प्रादुर्भाव के कारण बने। हा, मत्रद्रष्टाओ मे कुछ स्त्री-शूद्रादि तथा लोकगीत-निर्माताओ मे कुछ सत कवि अवश्य विद्यमान है।

प्रयोजन

प्रत्येक क्रिया के लिये कोई-न-कोई स्थूल-सूक्ष्म कारण अवश्य होता है। ज्ञान-इच्छा-क्रिया अथवा इच्छा-ज्ञान-क्रिया यह क्रिया का अनुक्रम है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने मे मानव आनद-भोग मे ही स्थित दिखाई पडता है। मानव जब रोता है, तब भी उसे उस रोने मे सूक्ष्म सुख की प्राप्ति होती है, अर्थात् दु ख से व्याकुल मन को कुछ शाति मिलती है। इसीलिए समाज मे श्रेष्ठ एव शिष्ट समझे जानेवाले बुद्धिजीवी सदुद्योगरत वर्ग के आनद-प्राप्ति के साधन और विषय भी भिन्न-भिन्न होते है। अनजान छोटे बच्चे यो ही नाचने-कूदने और गाने-गुनगुनाने मे निमग्न रहते है। इसी प्रकार स्त्री-शूद्रो अर्थात् विद्याहीनो के आनद का विषय नृत्य-गायन होता है। इस आनद मे ही अनेक लोकगीतो का निर्माण और उपयोग होता रहता है। लोकगीतो का साथ नृत्य के लिए उत्तम[२] होता है। इसके अतिरिक्त स्त्रियो को दलना-कॉडना आदि

२—फुगडी खेळू दणा दणा। रुपये मोजू खणा खणा।।
किकी चे पान वाई की की की की। सागर मासा सू सू सू सू ।।
दंडावरून जाईन ग। पाच पानें खाईन ग। एक भुई सारवू सारवूं । पाच खडे माडूं।।

श्रम के काम[1] करने में तथा मल्लाह,[2] माली, कुर्मी, कुली, मजदूर आदि श्रमजीवियों को अपने-अपने श्रम के काम करने में लोकगीतों से बहुत सहायता मिलती है, ये उन्हें नूतन उत्साह प्रदान कर उनकी थकान मिटाते हैं। इसके अतिरिक्त मांगलिक परम्परा,[3] मनोरंजन, पड़ोस-प्रेम,[4] ईश्वरस्मरण,[5] शुभ-मंगल भावनाओं[6] का उद्रेक, कृतज्ञता,[7] उपदेश[8] आदि कारणों से भी

(स्त्रियाँ और लड़कियाँ नृत्य करते हुए या इसी तरह के खेल खेलते हुए यह गीत गाती हैं। इनका कोई विशेष अर्थ नहीं है।)

३--दळण दळीते। वाह्य गवळ माझं। मायबाई वाघिणी दूध तुझं॥

दळण दळीते। हाताच्या पाच बोटी। माऊलीच दूध खेळत मनगटी॥

(शक्तिशालिनी माता से जो बल मुझे प्राप्त है, उसके सहारे मैं चक्की चला रही हूँ। मैं अपने हाथ की पाँचों उँगलियों से चक्की चला रही हूँ। मेरी कलाई में मेरी माता के दूध की ताकत विद्यमान है।)

४--होडी वल्लाव माझी होडयन्ना, माझ्या होडयन्ना। ही होडी जाउ दे झरारा ॥

(हे मेरे मल्लाह, मेरी नाव को खेओ। इसे सर-सर चलने दो।)

५--गणराज गणपति, शेंदूर चर्चिलो तें मनि चिन्तिलो तेंचि होय॥१॥

घाणा भरीयेला, विडा ठेवीयेला। आधी स्मरीयेला गणराज॥

आधी मूळ धाडा, धरूनाची पाठी। [illegible] नवऱ्याची गणराज॥

(सिन्दूर-चर्चित गणेशजी का स्मरण करने से मनोकामना पूरी होती है। विवाह की विधि हो रही है, [illegible] प्रथम गणेशजी का पूजन हुआ है। वर को लाने के लिए शानदार [illegible] भेजिये।)

लोकगीतो का निर्माण होता है और वे उपयोग मे लाये जाते है। घर-घर घूमकर लोगो को

७—सपन पडियेल। काय सपनाची मात,
माझ इठू रुक्माई। उभ उशाशी सारी रात॥
पढरीचा बुका, लागला माझ्या मुखा।
सावळा पाडुरग, मला भेटुन गेला सखा।
जल्म मरनाची, किती करू मी येरझार।
इठु राया ठेव माझं, वैकुंठी घरदार॥
इटेवरी उभा, युग झाल्याती अट्ठाईस।
देवा माझ्या इठूला, कुनी म्हनं ना खाली बैस॥
पंढरीला जातें, वाट लागे चिखलाची।
लंगं, सोबत इठलाची॥
पढरीला जातें, संग भरतार सासुबाई।
मला तीर्थाला उणं काई।
रुक्माई बोलते, देवा तुमचा येतो राग।
जनीच्या काजळाचे, तुमच्या शेलीयाला डाग॥
पढरपुरी जाते, उतरते धर्मशाळे।
इट्ठल बोलती, कवां आलीस ? येग बाळे॥

(मैने स्वप्न में विट्ठल-रुक्मिणी जी को अपने सिरहाने सारी रात खडे देखा। पंढरिनाथ की विभूति मेरे मुख पर लगी है, मेरा सखा सावला पाडुरग मुझसे मिल गया है। मै अब जन्म-मरण के चक्कर में क्यो फँसी रहूं, क्योकि विट्ठल भगवान् मेरे देवता है और वैकुण्ठ में घर-बार है।

मेरे विट्ठल भगवान् अट्ठाइस युगो से खडे है, कोई उन्हें बैठने को नही कहता। पढरपुर की ओर जाते हुए कीचड का मार्ग मिलता है, किन्तु कोई परवाह नही, क्योकि विट्ठल भगवान् मेरे साथ है। मै पढरपुर जाती हूँ, साथ में पतिदेव और सास है। तीर्थयात्रा के लिए मुझे कोई अभाव नही है।

रुक्मिणीजी विट्ठल भगवान् से कहती है कि हे देव, आप पर मुझे क्रोध आता है, क्योकि आपके दुपट्टे पर जनाबाई (एक महिला संत) के काजल के दाग लगे हुए है। पंढरपुर जाकर धर्मशाला में ठहरती हू। विट्ठल भगवान् मुझसे कहते है, आ बेटी, तू कब आई ?)

८—घालीन लोटांगण वदिन चरण, डोळयानें पाहीन रूप तुझे ॥
प्रेमें आलगीन, आनदें पूजीन। भावे ओवाळिन। म्हणे नामा॥

उपदेश देने और जो कोई जो कुछ भी दे दे, उसी से अपना पेट पालने के उद्देश्य से ए...
प्रथा के लोकगीतों का सहारा गरीबों के लिए बड़ा सफल सिद्ध हुआ है।

रचना-प्रकाश

गीतों के लिए छंद, वृत्त, गति, ताल, अनुप्रास यमक आदि की आवश्यकता होती ...
इन्हीं के कारण गीत गद्य की अपेक्षा श्रुति-मनोहर होते हैं। शिशु-गीत तो प्रा...
अर्थहीन ही होते हैं उनमें अनुप्रास, यमक आदि का ही बाहुल्य रहता है। ए...
गीतों को कुछ लोग नाद के गीत कहते हैं। इन्हें ध्वनिगीत भी कहा जा सकता है ...
किन्तु ध्वनिगीत उन शब्दों को जो अर्थ लोगों में प्रचलित है वह बिल्कुल उल्टा...

अनरीच गूज माझया हृदयीं दाटल।
सावळा पाहून, वचा एकान्तीं भेटेन।
(नामदेव कहते हैं—हे भगवान मैं तुम्हारे सामने लोट जाऊंगा, तुम्हारे पैर पड़ूंगा
और अपनी आंखों से तुम्हारा रूप निहारूंगा, प्रेम से तुम्हारा आलिंगन करूंगा, आनंद से तुम्हारा
पूजन करूंगा और भक्तिभाव से तुम्हारी आरती उतारूंगा। मेरा हृदय प्रेम से भर गया है,
मैं प्रतीक्षा कर रही हूं कि वह सांवला पांडुरंग मुझे एकान्त में कब मिलेगा।)
१—आपुलिया बळे नाहीं बोलत, सखा [illegible] नाना रावी।
[illegible] हा [illegible] दे, [illegible] बोलि ॥

लोकगीतो का निर्माण होता है और वे उपयोग मे लाये जाते है। घर-घर घूमकर लोगो को

७—सपन पडियेल। काय सपनाची मात,
माझ इठू रुक्माई। उभं उशाशी सारी रात॥
पंढरीचा बुका, लागला माझ्या मुखा।
सावळा पाडुरंग, मला भेटुन गेला सखा।
जल्म मरनाची, किती करू मी येरझार।
इठु राया ठेव माझ, वैकुठी घरदार॥
इटेवरी उभा, युग झाल्याती अट्ठाईस।
देवा माझ्या इठूला, कुनी म्हन ना खाली वैस॥
पढरीला जातें, वाट लागे चिखलाची।
संगं, सोवत इठलाची॥
पढरीला जातें, संग भरतार सासुवाई।
मला तीर्थाला उणं काई।
रुक्माई बोलते, देवा तुमचा येतो राग।
जनीच्या काजळाचे, तुमच्या शेलीयाला डाग॥
पढरपुरी जाते, उतरते धर्मशाळे।
इट्ठल बोलती, कवां आलीस? येग बाळे॥

(मैंने स्वप्न में विट्ठल-रुक्मिणी जी को अपने सिरहाने सारी रात खडे देखा। पंढरिनाथ की विभूति मेरे मुख पर लगी है, मेरा सखा सावला पाडुरंग मुझसे मिल गया है। मैं अब जन्म-मरण के चक्कर में क्यो फँसी रहूं, क्योकि विट्ठल भगवान् मेरे देवता है और वैकुण्ठ में घर-बार है।

मेरे विट्ठल भगवान् अट्ठाइस युगो से खडे है, कोई उन्हें बैठने को नही कहता। पंढरपुर की ओर जाते हुए कीचड का मार्ग मिलता है, किन्तु कोई परवाह नही, क्योकि विट्ठल भगवान् मेरे साथ है। मै पढरपुर जाती हूँ, साथ में पतिदेव और सास है। तीर्थयात्रा के लिए मुझे कोई अभाव नही है।

रुक्मिणीजी विट्ठल भगवान् से कहती है कि हे देव, आप पर मुझे क्रोध आता है, क्योकि आपके दुपट्टे पर जनाबाई (एक महिला सत) के काजल के दाग लगे हुए है। पढरपुर जाकर धर्मशाला मे ठहरती हू। विट्ठल भगवान् मुझसे कहते है, आ बेटी, तू कब आई?)

८—घालीन लोटागण वदिन चरण, डोळयानें पाहीन रूप तुझें॥
प्रेमें आलंगीन, आनदें पूजीन। भावे ओवाळिन। म्हणे नामा॥

उपदेश देने और जो कोई जो कुछ भी दे दे, उसी से अपना पेट पालने के उद्देश्य से एकनाथी ग्रथो[11] के लोकगीतो का सहारा गरीबो के लिए बडा सफल सिद्ध हुआ है।

रचना-प्रकाश

गीतो के लिए छद, वृत्त, गति, ताल, अनुप्रास, यमक आदि की आवश्यकता होती है। इन्ही के कारण गीत गद्य की अपेक्षा श्रुति-मनोहर होते है। शिशु-गीत तो प्राय अर्थहीन ही होते है, उनमे अनुप्रास, यमक आदि का ही बाहुल्य[12] रहता है। ऐसे गीतो को कुछ लोग ताल के गीत[13] कहते है। इन्हे ध्वनिगीत भी कहा जा सकता है। किन्तु 'ध्वनिगीत' इन शब्दो का जो अर्थ लोगो मे प्रचलित है, वह बिल्कुल उल्टा

अतरीच गुज माझ्या हृदयी दाटल।
सावळा पाडुरग, कवा एकान्ती भेटेल।

(नामदेव कहते है—हे भगवान्, मै तुम्हारे सामने लोट जाऊँगा, तुम्हारे पैर पडूँगा और अपनी आँखो से तुम्हारा रूप निहारूँगा, प्रेम से तुम्हारा आलिगन करूगा, आनद से तुम्हारा पूजन करूगा और भक्तिभाव से तुम्हारी आरती उतारूगा। मेरा हृदय प्रेम से भर गया है, मै प्रतीक्षा कर रही हू कि वह सावला पाडुरग मुझसे एकान्त मे कब मिलेगा।)

९—आपुलिया बळें नाही बोलवत, सखा भगवंत वाचा त्याची।
काय म्या पामरें बोलावी उत्तरें, परि त्या विश्वभरें बोलविलें॥

(मुझसे कुछ नही बोला जाता, वह सखा भगवान् ही मुझे वाणी देता है। मै पापी भला क्या उत्तर दे सकता हू, वह विश्वभर ही मुझसे ऐसा करवाता है।)

१०—असा धरि छद। जाय तुटोनिया भवबध।
(उपदेश—ऐसा व्यसन ईश्वर-भजन का लगा लो कि भव का बधन टूट जाय।)

११—श्री एकनाथ महाराज ने जोशी, वासुदेव, बाळसतोष, आधळा, पागूळ, कोल्हाटी, डोबारी, शिमगा, अर्जदस्त, कौल, जोहार, महारीण, वेसकर, गारूड आदि अनेक उपदेशप्रद लोकगीतो की रचना की है।

१२—आटक माटक, चन्ने चाटक, चन्ने झाले गोड गोड।
(बच्चो के एक खेल का गीत—अर्थहीन है।)

१३—प्रेमाची टिपरी, भावानें घेवोनी, म्हणावें वदनी नामसार।
उद्गाराचे टोले, टणाटण हाणा, टणाटण जाणा, मारा उड्या॥

(यह नृत्य अथवा इसी प्रकार के खेल खेलते समय के गीत है। भावार्थ है—प्रेम की टिपरी (डडा) प्रेम-भाव से खेलते हुए मुख से भगवान् का नाम लो। भगवन्नाम-रूपी घटा जोर-जोर से बजाओ और आनद से खेलो-कूदो।)

है। मराठी के स्त्री-गीत अधिकांश में तीन, साढ़ेतीन और चार चरणों के ओवी वृत्त में और अंशत पद्यरूप में होते हैं। लोकगीतों का छंदशास्त्र अभी नहीं बना है, इस कारण कुछ स्त्री-शूद्रों की लोकगीत-रचनाओं को कोई विशिष्ट नाम नहीं प्राप्त हुए हैं। नृत्य के साथ जो लोक-गीत गाये जाते हैं, वे तालबद्ध होते हैं। एकनाथ महाराज के उपदेशप्रद रूपक ओवी, अभंग, पद तथा विभिन्न छंदोबद्ध रचनाओं में हैं। अमृतराय एवं अनतफंदी के लोकगीत कटाव, फटके, पद्य आदि में हैं। मराठी शाहीरों की पोवाडे नामक रचना प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भूपाळी, आरती, भजन आदि मराठी की गीत रचनाएं भी प्रसिद्ध हैं। मराठी के कुछ वाक्प्रचार लोक-गीतों की भांति व्यवहृत किये जाते हैं, किन्तु उन्हें गद्य अथवा पद्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बच्चों के वाक्प्रचार इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

लोक-गीतों के विषय

लोकगीतों के विषय यद्यपि भिन्न-भिन्न होते हैं, तथापि वे प्राय सामान्य व्यवहार के ही होते हैं। प्रेम-भावना उनका मुख्य सूत्र होता है, इस कारण उनमें निर्जीव वस्तुओं का वर्णन भी बड़ा सजीव और मूर्तिमान होता है।[१४] देवभक्ति, पौराणिक प्रसग, निसर्ग-शोभा, ससुराल-नैहर, पति-पत्नी, मा-बच्चा, भाई-बहन, अडोस-पडोस आदि आत्मीय संबंध, कृषि, नौकानयन आदि श्रमजीवियों के विभिन्न व्यवसाय, परोपदेश, समाज-स्थिति-दर्शन, शुभेच्छा, मंगल-भावना, मनोरंजन, कृतज्ञता-भाव, नृत्य और खेलों के गीत, शिशुपालन, विनोद, पहेलियां, ईश्वर से याचना, मांगलिक परंपरा आदि विषय सादे शब्दों में साधारण व्यक्तियों द्वारा लोकगीतों में प्रतिपादित रहते हैं। लोक-संस्कृति की दृष्टि से यदि लोकगीतों की ओर देखा जाय, तो उनमें सामान्य धर्मप्रधान लोकसंस्कृति का ही प्रतिबिंब दिखाई देगा। लोकगीत एक

१४—मेघरायाच लगीन। ईजबाई करवली।
भाऊच्या शेतावर। ह्याची वरात मिरवली॥
पडतो पाऊस, नका करूं गलबला।
जिमिनी बाईचा पती आला।
येरे येरे पावसा। तुला देईन पैसा॥
जात्या तूं ईसवरा, तुझं ज्येवन मला ठाव॥
घास घालितें मनोभाव।
(मेघराज का ब्याह है, बिजली वधू है। भाऊ (एक व्यक्ति विशेष) के खेत में इनकी बरात घूम रही है। वर्षा हो रही है, शोर न कीजिए। मानो पावस के रूप में पृथ्वी देवी के पतिदेव आये हैं। पावस, आ जा, आ जा, मैं तुम्हें पैसा दूंगा। हे जाता, तू साक्षात् ईश्वर है, तेरा भोजन मैं जानती हूं। मैं तुम्हें मनोभाव से ग्रास दे रही हूं।)

प्रपच-कैवल्य अर्थात् मसार का सहजानद है। सादगी, प्राजलता, प्रेम-भावना और कुतूहल लोकगीत के प्रमुख अग है। "गृहिणी गृह मुच्यते" इम मुभाषित की भाति लोकगीतो के मसार मे भी स्त्रियो को ही अग्र स्थान देना चाहिए। मराठी लोकगीतो मे स्त्री-गीतो की ही सख्या अधिक है। स्त्रिया भावना-प्रधान होती है, जिससे लोकगीतो मे वे प्रेम की भावना, जो कि लोकगीतो का मुख्य मूत्र ह, महज ही अपनी कोमल वृत्तियो मे भर देती है। मराठी लोकगीतो मे स्त्रियो की प्रेम-भावनाओ के पश्चात् प्रकृति-देवी की गोद मे खेलने वाले किसान, मल्लाह, माली, कुर्मी आदि वर्गो की वाल-भावनाओ का जो क्रम आता है, वह भी स्वाभाविक ही है।

सामूहिक और अकेले गाये जाने वाले गीत

होली के गीत, शिशुगीत, निदाव्यजक गीत आदि निकृष्ट प्रकार के गीतो से लेकर सतगीत[१५] तक मराठी मे लोकगीत है। इनमे से कुछ सामूहिक रूप से, कुछ अकेले और कुछ उभय पद्धति से गाये जाते है। प्रातःकाल के जाते के गीत (ओवी[१६], भूपाली[१७]) अकेले गाये जाने वाले गीतो के उदाहरण है। इसके विपरीत आरती,[१८] भजन,[१९] गोपालकाला, ललित आदि

१५—हेंचि दान देगा देवा, तुझा विसर न व्हावा॥ इ.

सदा सर्वदा योग तूझा घडावा, तुझे कारणी देह माझा पडावा,

उपेक्षू नको गूणवता अनता, रघूनायका मागणे हेंचि आतां॥

(हे भगवान्, यही वरदान दो कि मैं तुम्हें भूल न जाऊ। हे भगवान् रामचन्द्र, सदा तेरा ही सयोग हो, तेरे ही कारण मेरी देह का पतन हो जाय और तू मेरी उपेक्षा न करे, यही अब मेरी याचना है।)

१६—पहाटेच्या पारामदी दळन सँधवा सखीच, पारव धुमत्यात माडीयेच।

पहाटेच दळन, येरवाळी शेनपानी, काम झालया गवळनी॥

(सवेरे सखी चक्की चला रही है। कबूतर छत पर विचरण कर रहे है। सवेरे का लीपना आदि काम कर के ग्वालिनें चक्की चला रही है।)

१७—उठा उठा हो सकळिक, वाचे स्मरावा गजमुख, रिद्धि सिद्धिचा नायक, सुखदायक सर्वांसी।

घनश्याम सुदरा श्रीधरा अरुणोदय झाला, उठि लवकरि वनमाळी, उदयाचळी मित्र आला॥

(सब लोग उठो और रिद्धि-सिद्धि-नायक एव सब के लिए सुखदायक गणेशजी का भजन करो। हे श्रीकृष्णजी, अरुणोदय हो गया, उदयाचल पर सूर्यदेव आ गये, अब आप जल्दी उठिये।)

१८—सुखकर्ता दुःखहर्ता वार्ता विघ्नाची, नुरवी पुरवी प्रेम कृपा जयाची।

के गीत और उत्सव, नृत्य, खेल, सामूहिक नामोच्चारण,[२०] समारोह आदि मे गाये जाने वाले गीत एक साथ कई व्यक्ति गाते है। इनके लिए यही प्रथा प्रचलित है। उत्सवो मे मध्यम वर्ग के पुरुषो द्वारा गाये जाने वाले लोकगीत (भजनी वाडा को छोडकर) मराठी मे नही के बराबर है। निम्न जातियो के ही पुरुष नाचते हुए लोकगीत गाते दिखाई पडते है। किन्तु महाराष्ट्र मे गौरीदेवी के सामने मध्यमवर्ग की स्त्रिया नाचती-खेलती हुई लोकगीत[२१] गाती सर्वत्र दिखाई देती है। यह प्रथा बहुत प्रचलित है। झूले पर झूलते समय अनेक छोटी-बडी स्त्रिया प्रतियोगिता के साथ झूले के गीत गाती है। इस प्रथा मे प्राय प्रत्येक स्त्री अकेले गाती है।[२२] काँडते समय दो-तीन स्त्रिया एक साथ भी लोकगीत गाती है।

मुद्रित लोकगीत

एकनाथादि सत और प्राचीन पोवाडो के रचयिता शाहीरो का साहित्य मुद्रित हुए अनेक

(जो सुखकर्ता और दु:खहर्ता है, जो विघ्न बाधाओ को दूर कर देता है और जिसकी कृपा से प्रेम प्राप्त होता है।)

१९--मारुति राया बलभीमा दे मज रामभजन प्रेमा ॥
उमावर रमावर, सितापति रघुविर, राधे गोविंद, रखुमाई पाडुरग ॥
जीवाचे जीवलगे, मनाचे मोहने, येइ पांडुरगे हो, येइ पांडुरगे ॥

(हे बलशाली हनुमानजी, मुझे रामभजन-प्रेम प्रदान कीजिए। प्राणो का प्राण और मन को हरने वाला वह उमावर, रमावर, सीतापति, रघुवीर, राधा-गोविन्द, रखुमाई-पाडुरग आदि नामो से पुकारा जाने वाला भगवान् आवे।)

२०--विठूचा, गजर हरिनामाचा, झेंडा रोविला, वाळवटी चंद्रभागेच्या काठी डाव माडला ॥

(चन्द्रभागा नदी के तीर पर बालू मे भगवन्नाम का झडा गाड दिया है और भजन का दॉव लगा दिया है।)

२१--झिमा खेळू कडाकडी, अबीर बुक्का नाडापुडी, झिम पोरी झिम ॥
पिगा बाई पिंगा, चवलीच्या शेंगा। इ० काच किरडा पाय मुरडा ॥इ०॥

(ये गीत महाराष्ट्र में सौभाग्यवती स्त्रिया और कुमारिया गौरीदेवी के सामने नाचते-खेलते हुए गाती है। इनका कोई खास अर्थ नही है।)

२२--पहिली माझी ओवी, पहिला माझा नेम, तुळसी खाली राम। पोथी वाची ॥
दुसरी माझी ओवी। दुज नाही कुठें, मला ध्यानी मनी भेटे पाडुरग ॥

(मेरा पहला गीत सुनो, यह मेरा पहला नियम है। तुलसी के पेड के नीचे राम पोथी पढ रहा है। मेरा दूसरा गीत सुनो, मै पाडुरग भगवान् से एकभाव हो गई हू, मेरे मन में और ध्यान में सदा वे ही विराजते है।)

वर्ष हो गये। सतो के ग्रथ, काव्य सग्रहादि मासिकपत्र, भजनीवाडे, शाहीरो के पोवाड, स्त्रियो के गीत, भूपाली-आरती की पुस्तिकाए आदि छोटे-बडे ग्रथ पहले ही प्रकाशित हो चुके है। इन्हे पहले कोई लोकगीत कहने को तैयार न था, पर जब अग्रेजी की प्राचीन लोक-कथाए एव लोक-गीत दृष्टिपथ मे आये, मराठी के प्राचीन लोकगीतो के सग्रह की ओर भी लोगो का ध्यान विशेष रूप से गया। तब से इस सबध मे मराठी मे जो पुस्तके प्रकाशित हुई है, उनमे साने गुरुजी की स्त्रीजीवन, सौ० मालतीबाई दाडेकर की लोक साहित्याचे लेणे, चोरघडे की साहित्याचे मूलधन, कमलाबाई देशपाडे की अपौरुषेय वाड्मय, गोरे की वर्‍हाडी लोकगीते, जोशी की लोकगीते व लोककथा आदि पुस्तके तथा कुमारी दुर्गाबाई भागवत, डाक्टर कुमारी सरोजिनी बाबर आदि लेखक-लेखिकाओ के लेख विशेष रूप से प्रसिद्ध है। मराठी के आधुनिक भावगीत अभी लोकगीत की कोटि मे नही आये है।

इस सबध मे और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर इस लेख का कलेवर और अधिक बढाना अभीष्ट न होने से, इतना ही अलम् है।

वर्ष हो गये। सतो के ग्रथ, काव्य मग्रहादि मासिकपत्र, भजनीवाडे, शाहीरो के पोवाड, स्त्रियो के गीत, भूपाली-आरती की पुस्तिकाए आदि छोटे-बडे ग्रथ पहले ही प्रकाशित हो चुके है। इन्हे पहले कोई लोकगीत कहने को तैयार न था, पर जव अग्रेजी की प्राचीन लोक-कथाए एव लोक-गीत दृष्टिपथ मे आये, मराठी के प्राचीन लोकगीतो के सग्रह की ओर भी लोगो का ध्यान विशेष रूप से गया। तव से इस सवध मे मराठी मे जो पुस्तके प्रकाशित हुई है, उनमे साने गुरुजी की स्त्रीजीवन, सो० मालतीवाई दाडेकर की लोक साहित्याचे लेणे, चोरघडे की साहित्याचे मूलधन, कमलावाई देशपाडे की अपौरुपेय वाड्मय, गोरे की वर्हाडी लोकगीते, जोशी की लोकगीते व लोककथा आदि पुस्तके तथा कुमारी दुर्गावाई भागवत, डाक्टर कुमारी सरोजिनी वावर आदि लेखक-लेखिकाओ के लेख विशेप रूप से प्रसिद्ध है। मराठी के आधुनिक भावगीत अभी लोकगीत की कोटि मे नही आये है।

इस सवध मे और भी वहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर इस लेख का कलेवर और अधिक वढाना अभोष्ट न होने से, इतना ही अलम् है।

राग या जोड़ राग बनाये गये है। भैरव-बहार, सोनी-भटियार, नट-केदार, हेम-नट, नट-मल्हार, नट-बिहाग आदि इसी प्रकार के राग है। किन्तु लोक-धुनों मे जितने मिश्र या जोड़-धुने मुझे मिली है वे अत्यन्त ही सुन्दर और सुमधुर है। उनका मिश्रण कलात्मक और अत्यन्त स्वाभाविकता से युक्त है।

(ङ) लोक-धुनो की स्वर-रचना प्रसगानुरूप भी होती है । उन स्वरो के प्रसग के अनुरूप भाव व्यक्त होते है। उदाहरण स्वरूप इधर मध्यप्रदेश, मध्यभारत आदि के गाँवो की ओर कही-कही बलि का आयोजन किया जाता है। उस समय जो धुन गायी जाती है उसकी स्वर-रचना मे वीभत्स भावो का सचार होता है। मुझे जो धुन प्राप्त हुई है उसका रिषभ इतना विचित्र लगता है कि सुनने वालो को रोमाच हो आता है। मैने स्वय प्रयोग कर यह अनुभव भी किया है। झूले की धुनो मे झूले के दोलन (**pangs**) बहुत स्पष्ट और मार्मिक प्रतीत होते है। शास्त्रोक्त सगीत मे भावना को स्वरो मे व्यक्त करने के लिए सम्पूर्ण शक्ति खर्च करनी पडती है, परन्तु बहुत ही कम गायको को भिन्न-भिन्न स्वरूपो को व्यक्त करने की कला हस्तगत हुई है।

(च) एक ही धुन मे अनेक गीत गाये जाते है । किन्तु गीत के बोल भिन्न होने के कारण और विशेषत लय मे परिवर्तन होने से वे बिलकुल एक-दूसरे से भिन्न हो जाते है। स्वर-रचना करने के पश्चात् ही ऐसी विभिन्न धुने ज्ञात होती है।

लोक-धुने लोक भाषा मे होती है यह सभी जानते है। लोक भाषाओ की विशेषताओ को देखा जाये तो वे सरल, सुमधुर और आडबर-हीन होती है। उनमे क्लिष्ट शब्दो का अभाव होता है। इसीलिए सरलतापूर्वक भावो को व्यक्त किया जाना उनमे स्वाभाविक है। शास्त्रीय सगीत मे काव्य का महत्त्व लोक गीतो जैसा नही होता। दो पक्तियो मे एक लम्बी कहानी का चित्रण उसमे किया जा सकता है। इतना ही नही, उसको अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न भावनाओ द्वारा व्यक्त भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से गीतो के शब्द शास्त्रीय सगीत मे 'बदिश' रहे जाते है। उदाहरणार्थ नीचे की 'बदिश' देखिये —

मगल दिन आज बना घर आयो
आनद मन भरा बावरी भई मै तो ।
बनरा मुख देखन सहेलिया मिल आए
गावन लगी गीत, बावरी भई मै तो ।

उक्त दो चरणो मे एक चित्र है। स्वरो द्वारा चित्र को अनुरजित करने का कार्य गायक करता है। स्वरो के ही माध्यम से एक ही चित्र अनेक रूपो मे प्रस्तुत किया जा सकता है। श्रोताओ को नये चित्र, नयी-नयी भावनाएं एक ही चित्र मे अनुभव होने लग सकती है। अतएव

शब्द या काव्य का महत्त्व सगीत मे अवश्य है, परन्तु उसकी एक सीमा है। इस आधार पर हम एक भवन खडा करते है। काव्य द्वारा गायक अपने चित्र का विषय प्रस्तुत करता है, इसलिए उसका भी महत्त्व अवश्य है। काव्य द्वारा चित्र अनुभव होते ही शब्दो का महत्त्व समाप्त हो कर गायक की कसोटी आरम्भ होती है। वह स्वरो के जरिये पहचानी जाती है। शब्दो की इस चर्चा मे मै खडी बोली को सगीत के अनुपयुक्त समझता हू। उसमे क्लिष्ट और कठोर वर्ण होते है, इसलिए जब भी गायक खडी बोली की कोई चीज लेता है तो अपनी सुविधा के लिए उसकी कठोरता को क्रमश कम कर देता है। यह बात प्राचीन काल से चली आ रही है और अब प्रवृत्ति बन गई है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए साम वेद की गायन पद्धति को देखा जाय। नीचे उदाहरण-स्वरूप सामवेद की एक पक्ति स्वर-रचना-सहित दी जा रही है जिसके मूल पाठ और गायन पाठ मे कितना भेद है। यह भेद केवल कठोर और क्लिष्टता से बचने भर के लिए सगीत ने उत्पन्न किया है।

सामन् ॥ कौथुमी गायन-पद्धति

ऋचा— **तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाधऊरिये।**

माध्याह्न सवन

```
               म        म
║ म ० ० ० प म ० ० │ री ग ० ० ० ग० ० ० पम रि रि ग ० ० ०
║ हु   – – – – म्  │ त रो – – – भा – – आऽ इ र वो – – –

ग म प प मपम री ० ० ० म ग ० ० ग म ० ० ० ० ० ० प
वी – द द् व  सू – – – ऊ – – म् ओ  – – – – – – ओ

प प ० ० म ० प ० ग ग ० ० म ० प म प म ० ग│
ओ मिंद्र – – ग् – ऊ स वा – – ध – – ऊ – – – – │

री ० ० ० ० म ० ० ० ०│
त – – – – या – – – – │ *
```

लोक भाषाएँ नादमयी होती है और इसी कारण आज तक जितनी 'बदिशे' गाई जाती है वे सब प्राय राजस्थानी, मालवी, ब्रज, पूरबी, पजाबी आदि मे मिलती है। कुछ 'बदिशे' नीचे दी जा रही है—

राग सोरठ । ताल तिलवाडा (ख्याल)

(राजस्थानी) होजी म्हारी बेग सुध लीजो रे, होजी म्हारा राज।
कब की मे ऊबी ठाडी दरवजवा, अरज करे छो बोलो म्हारा राज ॥

---

* देखिए—कृ० गो० मुळे कृत 'भारतीय सगीत'

राग: सूर-मल्हार—त्रिताल (मध्यलय)

(ब्रज) बरखा ऋतु वेरी हमारे। मास अखाड घटा वन गरजत
पियु परदेस हमारे।
दादुर मोर पपइया चात्रक पिउ पिउ करन पुकारे,
अब न सहत सखि चतुर विरह दुख निकसत प्रान हमारे।

राग: धनाश्री—त्रिताल (मध्यलय)

(मालवी) आरिया विरा म्हारा हो सखी
आज हूँ तो जायाँ मैका लेवा आयो रे म्हारा (वीरा)
हूँ उत खेलूँ झूला झूलूँ गाऊँ नाचू सखी मिल
देख्यो वीराजी म्हारा—

राग—भीमपालास—त्रिताल (मध्यलय)

(पजाबी) ढोलन मेडे घर आवे सोणा मिया तोमे विताडे
सध के जावा।
मुखे वेखा ता मै जीवाँ 'सदा रगीले' दरस ताडा पावा॥

—इत्यादि।

बीच-बीच मे खडी बोली मे ख्याल-बदिशे बाँधने की चर्चा चल रही थी, परन्तु प्रयत्न निष्फल हुआ। वस्तुत बदिशे लोक भाषा मे ही बनती रही। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सगीत-क्षेत्र मे लोक-धुनो के साथ-साथ लोक-भाषाओ का महत्त्व भी है। जैसे मिट्टी मे सब कुछ समाया हुआ है वैसे ही इस लोक-सगीत मे—लोक-साहित्य मे—लोक-नृत्यो—लोक-गीतो मे अन्तर्निहित है। अन्त मे एक लोक-धुन का उदाहरण देना मै अनिवार्य समझता हूँ। इसके साथ ही मूल धुन के आधार पर रागोत्पत्ति की स्वर-रचना भी दी जा रही है जिससे खोज की प्रवृत्ति स्पष्ट हो सके।

लोक-धुन

री म म म प प प—। म प म ग री—प प—। म प म ग री –, – – –।

सा री प म म ग री—। ग री ग री सा रीगरी—सा सा,ग। ग री ग री सा

री ग री—सा सा—। ध सा सा सा री म म ग—। ग री ग री सा रीगरी —

सा सा, ग । ग री ग री सा री ग री—सा सा—॥

उक्त स्वर रचना झूले के एक गीत की धुन की है। अब लोक-धुन से जो राग निर्माण होता हैं उसका स्वरूप देखिये—

सीधा आरोह-अवरोह

सा ग म प, म ध नि सा। सा ध नि प ध म प ग म री ग सा ।

राग-युक्त आरोह-अवरोह

सा ग री सा नि, सा ग म प, म ध प म प म ग, म ध नि सा। सा ध नि प ध, म ध प ध प म ग, म प ग म री ग सा॥

शास्त्र

इस धुन प्रमाण राग मे दोनो गधार, दोनो धैवत और दोनो निपाद लगते है। इसका आरोह-अवरोह स्वरूप वक्र है। अवरोह पूर्ण वक्र है। सा ग री सा नि, सा ग म प इस टुकडे के प्रयोग से यह राग एक अस्तित्व रखता है। शुद्ध गधार वादी होकर, सवादी शुद्ध धैवत हैं। तीव्र निपाद का प्रयोग ग री सा नि सा इस टुकडे के साथ बहुत ही सुन्दर लगता है , मगर आरोह-अवरोह मे उसका उपयोग ठीक नही। वादी गधार हो कर भी पचम स्वर पर न्यास एक वैचित्र्य निर्माण करता है। उसे अवश्य करना चाहिए जिससे राग को हानि नही पहुँचती। इस राग का गाने का समय रात्रि का है जिसकी आत्मा (पकड) निम्न स्वर-रचना से स्पष्ट होती है—

सा ग री सा नी सा ग

म ध प म ग, म री ग सा।

राग विस्तार :—

सा—, ग री सा नि सा—,। सा ग – –, म प म, प ग– –, म री ग सा। ग री सा॥ सा ग म प–। म ध प म ग – –। म प म ध म प ग – –। म री ग सा, ग री सा नि सा–। ग म प – –, म ग –। म ध नि प – –। ध म प ग – – । म ध प म ग – – । म प ग म री ग सा, ग री सा ॥ सा ग म

ध प म ग --। म ध नि प, ध म प-, म ध प म प म ग--। म प ग म री ग सा, ग री सा॥ म ध नि सा, ग री सा। नि रीं सा नि ध-। नि सा ध नि प, ध प म ग-। म प ग म री ग सा, ग री सा नि सा॥ म ध प म प म ग--। म ध नि सा। ध नि प-, ध म प म ग--, ग प ग म री ग सा-ग री सा। नि-री सा॥ सा ग म ध प म ग, म ध नि सा ध, नि प, ध ग प ग म री ग सा, ग री सा नि सा॥

प्राचीन भारतीय कला में लोक-जीवन की व्याख्या

डा० मोतीचन्द, एम० ए०

आधुनिक हिन्दी के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के वंशज डा० मोतीचन्द जी भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के प्रतिष्ठित विद्वान् और अपनी कुल-परम्परा के गौरवशाली प्रतीक है। प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम (वम्बई) के डाइरेक्टर पद पर रहते हुए आपने जो शोध प्रस्तुत किये है, उनसे अतीत के विस्मृत इतिहास का एक परिच्छेद वनता है। उन्ही शोधो पर अपनी जो मान्यता है, उसी का दिग्दर्शन इस लेख मे किया गया है।

—संपादक

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन भारतीय कला के अवशेषो का परिचय सिन्धु-सभ्यता से प्राप्त होता है। कुछ लोगो का कहना है, कि सिन्धु-युग की कला १२०० ईस्वी मे समाप्त हो गयी, किन्तु सिन्धु-सभ्यता मे कला का जो रूप हम देखते है, उसी से कला का एक रूप खडा कर सकते है।

सिन्धु-सभ्यता की प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री मे हमे "सादृश्यवाद" और "रूढिवाद" दो धाराएँ परिलक्षित होती है। मोहन-जो-दडो की नर-मूर्तियो मे हमे सादृश्यवाद का अभाव मिलता है, पर हडप्पा मे प्राप्त एक नर-मूर्ति ऐसी है जो कुषाणकालीन-जैसी जान पडती है। कुछ लोग इस पर सन्देह करते है, पर मुझे सिन्धु-सभ्यता की कला मे दोनो परम्पराओ के पालन मे कोई आपत्ति नही दीख पडती। पशुओ की मूर्तियो मे जो सादृश्य है [illegible] मिस्र और सुमेरियन आदि की कला मे नही है।

हडप्पा मे प्राप्त माताओ की मूर्तिया सर्वसाधारण मे प्रचलित [illegible] सभ्यता मे मिले है, उनमे अनेक परम्परागत लक्षण ऐसे है, जिन्हें [illegible] मे देख सकते है और इससे हम सिन्धु-सभ्यता और ऐतिहासिक [illegible] जोड सकते है। सम्भवत दो हजार या पन्द्रह सौ वर्ष [illegible] के क्षेत्र मे आर्यो का ध्यान लक्षणवाद की ओर [illegible]

सम्पर्क होने पर आर्यों द्वारा अनुप्राणित कला मे साकार मूर्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया। इस युग की सादृश्यवादी कला-कृतियाँ तत्कालीन लोक-संस्कृति से अनुप्राणित रहीं, गप भावनात्मक विचारधारा से, जिसे बाद मे आर्यों ने अपनी जातीय विशेषता के फलस्वरूप अपनाया।

भारतीय कला का प्राचीन युग

सम्राट् चन्द्रगुप्त मोर्य ने अफगानिस्तान से बंगाल तक देश-सम्बन्धिनी एकता स्थापित की थी। उत्तर-पश्चिम सीमा पर मोर्य-सेनाओ के पहुचने पर यवन और भारतीय सभ्यताओ का मिलन हुआ। भारतीय कला की, मौर्य-काल के पहले उसके तारतम्य मिलाने वाली शृंखला के अभी अप्राप्य रहने से इस धारणा को बल मिला है, कि मौर्य-कालीन कला भारत के विदेशी सम्पर्क का फल है। कुछ लोगों का कहना है, कि इस मध्यान्तरकाल मे कला का माध्यम काष्ठ रहा है, और कालान्तर मे उनके गल जाने से माय युग की मूर्तिया उस काष्ठ-कला की ही वास्तविक प्रतिक्रिया है। यदि भारत के प्राचीन एतिहासिक स्थानों पर व्यापक रूप मे उत्खनन कार्य किया जाय तो वह दिन दूर नही जब कि हम प्राचीन कला की अप्रतिम शृखला को जोड सकेगे।

कला के क्षेत्र मे भारतीय कलाकार सदैव ग्रहणशील रहे है, जो तात्पर्य उन्होने बाहर से लिये है उन्हे भारतीयता का रूप दिया है। मौर्य युग मे यही बात रही है। उस काल की कला को देख कर उस पर विदेशी प्रभाव जान पडता है। कुछ लोगो का कहना है कि सिकन्दर के आक्रमण से भयभीत बहुत से विदेशी कलाकार शरणार्थी के रूप मे भारत मे आकर बस गये थे, जिससे भारतीय सभ्यता और विदेशी सभ्यता के सम्मिश्रण से कला मे भी सम्मिश्रण हुआ है। पर बहुत सभव है कि सिकदर के बहुत पहले भी कला के क्षेत्र मे मध्य-पूर्व और भारत का आदान प्रदान जारी रहा हो। अशुइ बनिपाल की राजधानी निनेवा मे भारतीय कला के अनेक प्रतीक उपलब्ध हुए है। मेरी समझ मे भारतीय पर्यटको के विदेश भ्रमण से सभ्यताओ का जो आदान-प्रदान हुआ उसी के साथ विदेशी अलकारो का भी भारतीय कला मे प्रचलन हुआ। यह बात मोहन-जो-दडो की प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री से अधिक पुष्ट होती है। यह सबध काफी दिनो तक जारी रहा। इसका पता हमे असीरिया के शिलालेखो मे भारतीय वस्तुओ के उल्लेख से मिलता है। ईसा पूर्व चौथी शती के पहले की कला के कुछ उदाहरण जो अब तक मिले है वे मिट्टी के पात्रो तक अवलम्बित है। आशा है, अधिक खुदाई होने पर यह निश्चय हो जायगा कि भारतीय और विदेशी सस्कृतियो का क्या सबध था। मोर्य काल की कला की विशेषता यह है कि उसमे पालिशदार पत्थर का प्रयोग हुआ है। भारतीय कला के इतिहास मे फिर ऐसे पत्थर का प्रयोग नही हुआ। एक विदेशी पुरातत्त्ववेत्ता ने दीदारगज की एक यक्षिणी की मूर्त्ति की ऐसी ही पालिश को कुषाणकाल की माना है, किन्तु यह निराधार और सन्देहास्पद सिद्धान्त है। मोर्य और आरम्भिक शुगकाल की यक्षो की मूर्त्तियो को देख कर यह पता चलता है कि

शायद उस समय के पहले मूर्त्तिया लकड़ी की बनती थी, किन्तु इस समय पत्थर की बनने लगी थी। इन भीमकाय यक्षो की प्रस्तर मूर्त्तियो के निर्माण का उद्देश्य साधारण जन मे भय और श्रद्धा उत्पन्न करना ही रहा है।

ईसा पूर्व तीसरी ओर दूसरी शती की कला मे एक विशेपता यह रही कि इस काल की कला का सबध नाग-पूजा ओर यक्ष-पूजा से था जो जनता मे प्रचलित थी। बौद्ध जनता ने भी इस नाग-यक्षो के ही प्रतीक को अधिकतर अपनाया और बोद्ध प्रतीको को कम। धर्म प्रचार के लिए तत्कालीन जन-धर्म के साथ समझौता करना आवश्यक था। इस समय के साहित्य मे वुद्ध को भी महायक्ष कहा गया है। वस्तुत उस समय यक्ष-पूजा हेय नही समझी जाती थी। रामायण मे यक्षत्व को अमरत्व का प्रतीक कहा गया है। वाद मे तो यक्षो को नरभक्षक तक माना गया। यक्षो का सवध जल-सृष्टि से माना गया है। जल मे जो विशेप रस था उसी से यक्षो का सबध था। आजकल नाग और सर्प की पूजा मे भेद नही है पर प्राचीन काल मे नागो का सवध जल से था।

कला का लोक-जीवन से नैकट्य

प्राचीन भारतीय कला के अलकार समझने के लिए उनका तात्पर्य पहले समझ लेना चाहिए। प्राचीन भारतीय कला विभिन्न युगो मे अपने अपने युग की दाशनिक विचारधारा का प्रतिविम्व है। भरहुत और साची की कला मे अनेक नये-नये अलकार मिलते है जैसे कमल वेलि, मकर आदि। प्राचीन कला मे यह स्पप्ट हो जाता है कि कमल की बेले जल का प्रतीक है, इस तरह मकरो की अनेक कल्पनाए जल का प्रतीक है। हाथी का भी जल से सम्पर्क है। फूल पत्तियो की सजावटे भी जल से सम्वन्ध रखती है। हाथी आकाश के बादलो का प्रतीक है। लक्ष्मी का जल से अभिषेक करते हुए हाथी पर्जन्य, वृष्टि एव अन्नोत्पत्ति के वाचक है। वस्तुत लाक्षणिक दृप्टि से जाच पडताल करने पर ही यह वोध होता है।

कला और साहित्य दोनो की धाराएँ साथ-साथ वहा करती है। जो दार्शनिक धाराएँ चलती है, कला उनकी प्रतीक वन जाती है। कला केवल कला के लिए नही है वल्कि उसकी पृप्ठभूमि मे विशेप विचार-धारा काम करती हे। भारतीय कला का जन-जीवन से गाढ सम्वन्ध है। भरहुत-साची के कला-चिह्न वुद्ध के प्रतीक है, यद्यपि वौद्ध धर्म मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध था किन्तु कला मे वह उदार रहा। कला और कथा मे उदार होने के कारण ही वौद्ध धर्म आगे वढा। यही वात शैव धर्म मे भी रही और इसीलिए शैवो ने यक्षो को अपना अग स्वीकार किया।

वोद्ध ग्रन्थो मे जिन चीज़ो की मनाही थी, कला मे वही अपनायी गयी। इसका कारण जन-जीवन के प्रति आस्था थी। भरहुत की कला मे वुद्ध के प्रतीक स्तूप के चारो ओर यक्ष और यक्षणियो का होना यह वतलाता है कि यक्ष-पूजा को वौद्ध धर्म ने आत्मसात् कर लिया था। इस कला का उद्देश्य वुद्ध को सर्वोपरि समझने की भावना उत्पन्न करना था। गुप्तकाल मे कला का

आध्यात्मिक रूप अपूर्व है। इस युग मे सभी दार्शनिक विचारो की समष्टि मे कला की सृष्टि हुई है।

बुद्ध की मूर्त्ति के उद्गम को कुछ लोग यूनानी समझते है, किन्तु इन मूर्त्तियो की गम्भीरता, दृढता ओर लाक्षणिकता देख कर उनका भारतीय होना निश्चित है। उस समय का दृष्टिविन्दु यही था कि जनता के जो भाव है, उसे लेकर आगे वढा जाय। जातको की कथाओ के आधार पर उस समय अनेक अर्धचित्र वने, किन्तु देवत्व की भावना की उनमे कमी है। उनमे सादृश्यवाद ओर लोक-जीवन है। भारतीय वेष, भूषा, आभूषण, रहन-सहन की जानकारी इस युग की भारतीय कला से ही मिलती है। उसके वाद की कला जन-जीवन मे दूर रह कर तात्कालिक धार्मिक विश्वासो पर आधारित रही।

प्राचीन भारतीय कला ने सस्कृति पर पूरा प्रभाव डाला। भारतीय सस्कृति के इतिहास के लिए साहित्य और कला दो ही साधन है। साहित्य का इतिहास अधूरा इसलिए रहता है कि उसे हम प्रत्यक्ष नही देख सकते, किन्तु ईसा पूर्व तीसरी शती की कला को देखकर भारतीय जीवन का इतिहास लिखा जा सकता है। इस कला से भारतीय जीवन के उन अगो पर भी प्रकाश पडता है जिनके सवध मे साहित्य चुप है। जैसे जहाजो की मूर्त्तिया देख कर हम उस समय मे होने वाले अपने देश के व्यापार और यातायात का इतिहास जान सकते है। नगर-रचना के सम्वन्ध मे भी हमे कला का ही सहारा लेना पडता है।

भारतीय लोक-सस्कृति के अनेक पहलू है। प्राचीन भारतीय कला का लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्वन्ध रहा है। धीरे-धीरे गुप्तकाल के बाद मध्यकाल मे यह लोक-जीवन से दूर हो गयी। मेरा विश्वास है, कि प्राचीन भारतीय कला ने लोक-जीवन से अनुप्राणित होने के कारण अपनी सजीवता को वनाये रखा। इसलिए इस कला के प्रति अधिक अनुराग रख कर इसका गहन अध्ययन करना हमारा कर्तव्य है।

तेरहवीं शताब्दी का दाक्षिणात्य संगीत

डा० एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, एम० ए०, डी० लिट्०

श्री एस० श्रीकण्ठ शास्त्री जी (मैसूर) भाषातत्त्व, अक्ष विज्ञान और भारतीय पुरातत्त्व साहित्य के विशेषज्ञो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। आपने देवनागरी लिपि एव हिन्दी भाषा ही मे यह लेख लिख कर तेरहवी शताब्दी के दाक्षिणात्य सगीत का तात्विक विवेचन किया है।
—सपादक

ऐतिहासिक विवेचना

भारतीय सगीत के विकास मे १३-१४ शताब्दी को क्रान्तियुग कह सकते है। अत्यन्त प्राचीन भारतीय सगीत शास्त्र ने इस समय के सशोधनो के कारण तथा अरवी और पर्शियन् सगीत सप्रदायो के सपर्क के कारण दो मुख्य रूप धारण किये, जो होते होते औत्तरेय और दाक्षिणात्य सगीत की भूमिका वनी। एक ही जगह से निकली यह सगीत-गगा अपनी कई उपनदियो के कारण तथा स्वय नदी का पाल वडा होने के कारण दो शाखाओ मे विभाजित हो गयी। यह विभाजन अकवर-तानसेन के जमाने तक भले ही स्पष्ट रूप से लक्षित न हो, पर विभाजन की सूक्ष्म जड १३-१४ वी शती से पहचानी जाती है। भारतीय सगीत के इतिहास के सम्वन्ध मे कहते समय उस युग के शास्त्र ग्रन्थो का विमर्शन तथा उस समय के प्रचलित भिन्न मतो का सशोधन करना चाहिए।

भारत के इतिहास मे १३ वी शती मे उत्तर के सुल्तानो ने दक्षिणापथ पर अपने हमलो को आरम्भ किया। अलाउद्दीन खिल्जी ने मल्लिकाफूर को देवगिरि, ओरगल और होयसळ राज्यो पर हमला करने के लिए भेजा। इस तरह मुसलमानो का सपर्क पहले पहले ई० १३१० मे हुआ। ई० १३३० मे मोहम्मद-विन्-तुग्लक वहाउद्दीन गूर्षास्प पर वदला लेने के लिए आया ओर देवगिरि वालो को तथा ओरगल के प्रतापरुद्र को हरा कर कपिलि और द्वारसमुद्र (होयसळ) राज्यो का नाश किया। जव तक दक्षिण भारत मे भारतीय सस्कृति के पुनरुत्थान के लिए विजयनगर साम्राज्य की स्थापना (ई० १३३६) न हुई तव तक मुसलमानो का राज चलता था। यह प्रसिद्ध है कि उस अरसे मे प्रख्यात पडित अमीर खुसरो ने भारतीय सगीत सीख कर उस सगीत मे कई सशोधन भी किये थे। मगर तानसेन के जमाने तक यह माना गया था कि हिन्दुस्तानी सगीत मे "ध्रुपद" रीति ही शास्त्रीय है।

उसी युग मे दाक्षिणात्य सगीत मे आचार्य पुरुष शार्गधर ने देवगिरि के सिहन के दर्बार मे (१२१०-१२४०) "सगीत रत्नाकर" नामक एक सगीतशास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की थी। देवगिरि उत्तर कर्णाटक की हद मे ओर दक्षिणापथ का सीमाप्रान्त होने के कारण सिहण के आस्थान मे प्राचीन कर्णाटक सगीत पद्धति ओर उत्तर देश के कई सम्प्रदाय शार्गधर के ग्रथ मे प्राप्त होते हैं ऐसा हमे भान होता है। सगीत रत्नाकर मे न केवल आर्य, द्राविड रीतियो मे समन्वय किया गया है वल्कि नृत्य-भेदो, रसो, ताल रागो की विशद रूप से चर्चा की गयी है अत बाद मे रचे गये सगीतशास्त्र-ग्रन्थो का आधार-ग्रन्थ सगीत रत्नाकर ही रहा है।

ऐसा मालूम होता है कि उस समय कई ग्रन्थ लिखे गये। क्योकि सिहण के समकालीन होयसळ दूसरा वीर वल्लक "सगीत भरत" नाम से प्रसिद्ध था। राना हम्मीर (ई० १३३०) "शृगार हार" ग्रन्थो मे वर्णित है—

> जैन्त्रसिह नृपतिश्च रुद्रटो भोजविक्रम महीभुजौ
> तथा जगदेक महीपालः केशिदेवोऽथ सिहणः
> गणपत्यवनीशश्च जयसिहादयो नृपा.

देवगिरि के यादव राजा जैन्त्रसिह (जैतुगि), जगदेकमल्ल (कल्याणि चालुक्य), देवगिरि का सिहण, ओरगल के काकतीय राजा गणपति ओर चालुक्य जयसिहो को इसी ग्रन्थ मे सगीत-शास्त्र प्रवर्तक बताया गया है। सगीत रत्नाकर मे भी चालुक्य तीसरे सोमेश्वर (अभिलषितार्थ चिन्तामणि या राजमानसोल्लास के रचयिता) को ओर "सगीत रत्नचूडामणि" के रचयिता जगदेकमल्ल को "परमर्दी च सोमेशो जगदेक महीपति " कहा गया है। जगदेकमल्लकी 'सगीत चूडामणि" मे वर्णन ऐसा मिलता है—

> दृष्टिर्दुर्गति हारिणी प्रणयिना नम्र शिर· श्रीपतौ
> पाणिर्यस्य रणे विनम्रशिरसा रक्षाकृते क्ष्माशुलाम्
> दर्पोन्मत्त नरेन्द्रमस्तक तले पादश्चयेनार्पित.
> प्राज्ञोऽजो ज ाि ाप ृपि तन्नृत्यलक्ष व्यधात्।

यो १३ वी शताब्दी मे कई सगीत शास्त्रो का जन्म हुआ। इनमे से बहुत से शास्त्रो ने काल के गर्भ मे शरण ली। परतु केवळ शार्गधर का 'सगीत रत्नाकर" बना रहा है ओर उसकी प्रधानता सब ने स्वीकार की है। हाँ, उस समय के कन्नड ओर तेलुगु साहित्यो मे सगीत-सम्बन्धी फुटकल लेख मिलते हैं। वे भले ही शास्त्र-ग्रन्थ न हो, फिर भी उनमे उद्दाम कवियो द्वारा अपने अपने सगीतशास्त्र ज्ञान का प्रदर्शन करने के कारण उनका महत्त्व कम नहीं है। उस समय के सगीत को अच्छी तरह से जानने के लिए उन उद्दाम कवियो के काव्य मे प्राप्त होने वाले सगीत वर्णनो की समालोचना आवश्यक हो जाती है।

काकतीय दूसरे प्रतापरुद्र के समय (ई० १२९०) मे प्रसिद्ध वीरशैव कवि पाल्कुरिके सोमनाथ ने वीरशैव मतोद्धारक बसवेश्वर और मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्यो के चरितो की रचना तेलुगु मे द्विपदी (दोहे) मे की है। पाल्कुरिके सोमनाथ के समय के बारे मे विवाद के होते हुए भी वह १३ वी शताब्दी के अतिम भाग मे था यह बात निश्चित हो गयी है। पाल्कुरिके सोमनाथ ने औरगल के आसपास कही जन्म लिया था। वह सकल विद्यासपन्न तथा अष्ट-भाषा प्रवीण था। कन्नड, तेलुगु और सस्कृत भाषाओ मे उसने "बसव पुराण, पडिताराध्य चरित, वृषाधिप शतकमु, रघटा, सहस्रगण नाम भाष्य, पञ्चरत्न, शील सपादन, पञ्च गद्य, बसवोदा-हरणम्, मल्लिदेवी पुराणम्" आदि ग्रन्थ रचे हैं।

पाल्कुरिके सोमनाथ ने बसव पुराण मे तथा पडिताराध्य चरितम् के पर्वत प्रकरण (१५ वे अध्याय) मे नृत्य वा सगीत का वर्णन किया है। गुरुराज ने पण्डिताराध्य चरितम् नामक तेलुगु ग्रन्थ का सस्कृत मे अनुवाद किया है। इस तरह अनुवाद करते समय पाल्कुरिके सोमनाथ ने सगीत शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो को अपनी क्षमता के अनुसार सस्कृत मे दिया है। फिर भी गुरुराज के सस्कृत के अनुवाद मे पाल्कुरिके सोमनाथ के तेलुगु ग्रन्थ के कई अश छूट गये-से लगते हैं। इसलिए सस्कृत के अनूदित इस ग्रन्थ के साथ उसके मूल ग्रन्थ का भी परिशीलन करना होगा।

परम पवित्र शिवक्षेत्र श्रीशैल मे शिवरात्रि के दिन भारत के कोने-कोने से कई भाषाओ के, कई वेशो के भक्तो के समूह बस जाते हैं। वे भक्त लोग अपने इष्टदेवता मल्लिकार्जुन की सेवा कर के मदिर के मुखमडप मे रतजाग करते है। कहा जाता है कि उस गोष्ठि मे देवता लोग भी मर्त्याकार मे आकर नृत्य, नाद्य और वाद्य गीतो से श्री शैलाधिपति की आराधना करते है। भृगी अपने विकट नृत्यो के द्वारा हास्य रस का पुटपाक करता है। उसके उपरात सगीत जमता है। नदिकेश्वर तथा भरत ही मृदग बजाते हैं। किन्नर लोग वीणावादन करते हैं। कबळ, अश्वतर, तुम्बुरु और नारद आलापते हैं। रभा आदि अप्सर स्त्रियाँ नृत्य करती है।

तन्त्री वाद्यो, वीणाओ और भृगी के नृत्यो के पश्चात् किन्नर लोग निम्नलिखित भाँति भाँति की वीणाओ को बजाते है —

१ वीणोत्तम	९ गौरी ,,
२ ब्रह्म वीण	१० अविका ,,
३ कैलास ,,	११ बाण ,,
४ मारग ,,	१२ काश्यप ,,
५ कूर्म ,,	१३ स्वयभू ,,
६ आकाश ,,	१४ भुजग ,,
७ मार्ग ,,	१५ भोज ,,
८ रावण ,, (Violin)	१६ किन्नरि ,, (Kinnari)

१७ त्रिसरि ,,
१८ सरस्वती ,,
१९ मोल्लि ,,
२० मनोरथ ,,
२१ गणनाथ वीण
२२ कोमार ,
२३ अणि वाणि ,, (?)
२४ रावण हस्त ,, (Fiddle)
२५ दिविरि ,,
२६ चकनय ,,
२७ अधिक ,,
२८ चित्रिक ,,
२९ नट ,,
३० नागरक ,,
३१ कुम्भिक ,,
३२ विपञ्चिक ,,
३३ स्वर ,,
३४ परिवादि ,,
३५ मल्लरि ,
३६ अकुत्लाप्टि ,,
३७ स्वर मण्डल ,
३८ घोपावति ,,
३९ ओदुम्बर ,,
४० तन्त्रि सागर ,,
४१ अनुज ,, इत्यादि

गीतानुगम, उभयानुगम, वीणानुगम, श्रुत्यानुगम प्रमाण-विनियोगो के प्रकार तात "कणिको" से जुडे हुए, दाण्डा पर काशतकारी की गयी वीणाओ से—

चित्र	पयिळाण	पोट्टु वणिग
मृदु	मोगसाळ	तिरुपु
ललि	सुकळ	पत्ति
माधुर्य	अयळाण	ताळवट्टि
लसव	करहरण	कर्तरि
सालय	सार	नेर्परि

नामक जन्यजनक रचनाओ को किन्नर लोग वजाते थे।

ताळ

नदिकेश्वर, भरत प्रच्छन्नवेश से मृदग वजाते हैं। मृदग वजाने के पहले वे मृदग पर "ठवणी' से मेल लाकर समहस्त, विषमहस्त आदि वादन हस्तो स करामातो (पट्टावुज आदि भेदो को) दिखाते है। उसके उपरान

१ चच्चपुट
२ चाचपुट
३ षड्गीति
४ स्फुटित
५ नमोचित
६ समपाळ
७ पत्रच्छेद

नामक सात प्रथम ताल—

१ ओडवड	१० आस्थान मडप	१९ रछुवट्टे
२ मोरियग	११ फल	२० मुदुव
३ वोवड	१२ चक्रवाक्	२१ पदुवठ्ठे
४ एडराड	१३ कलहस	२२ वर रूपक
५ गारुहडक	१४ आर्य	२३ एताल
६ वन्दिकरण	१५ ललित	२४ अठताल
७ वाडकरण	१६ सर रद्दुलय	२५ निल
८ क्रौन्चपद	१७ मदिरय	२६ शुद्ध
९ अरकरण	१८ मत्त मातग	२७ दाय इत्यादि

२७ ताल

वडातत	अद्दिषाण	सन्न गुन्जाभरण	सरस्वती कठाभरण
रयव खण्ड	चवटि	चतुरश्र	सिह विक्रीडित
ककाळ	अक्षोरिक	धार	सिहनाद
खण्डित	कचधिच	कृत्तिच्छ	सिह नन्दक
चण्डकि	यष्टिक	विद्याधर	लक्ष्मी
वण्डवर्ण	पूर्वककाळ	रक्तधार	स्तनमुक्त
विधूणित	मणिमिश्र	उत्तम	खुरुविसम
रटिल	ककाळ खण्ड	मेरु	खुरु उत्तर
रेघूर्णित	ककाळ काव्य	तावुलि	पञ्चवण
गोद्दियार्ण	ककाळ पचाळि	आणमलपु	हरिण
कच्चणयाण	भिन्नक	उत्फुल्लिक	कणियाण
आदिमातृकत	कोकिल प्रिय	मातग	
रक्षण पुत्रि	निरवद्य	अर्थ कळिक	

आदि ककण	लखावति	आदि मठ्ठ
खञ्जर चतुरस्त	घ्रुव	मणिति
खञ्जर कृष्ण	लाव	घ्रुव मठ्ठे
खञ्ज	सुभद्र	जपमठ्ठे
समल्लखा	लखणियाण	तेगमान मठ्ठे
नमताळ	विलवित	

इस प्रकार प्रथम, शुद्ध आदि विभग, विमन विभग, अभग नामक विविध वर्गो के १०८ ताल प्रसन्न होकर तूर्या से मेल खा कर—

जातिवासनाद

एक अगुल ताल परिमिति से १८ अगुलो तक पैदा होने वाले जातिवास नाद—

१ भासुर वास	,,	१० दधि वास	
२ विज्योति	,,	११ अप्टदिग्	,,
३ कुमार	,,	१२ ऋपि	,,
४ पक्ष	,,	१३ कार्तीक	,,
५ कन	,,	१४ अघोर	,,
६ श्वेत्	,,	१५ ब्रह्म	,,
७ भास्वर	,,	१६ त्रिपुर	,
८ वररुद्र	,,	१७ शिवशक्ति	,,
९ हरि	,,	१८ भुवनाधिप	,,

गति भेद

आलाप	सोपु	भजवण
हेळन	अणकु	होपु
व्याप्ति	तिरुवु	नेवण
वेडगु	जय	वहणि
चाळन	अणुजय	सर्वागुळ वहणि
उरिक	कोकवुण	धर वहणि
चर	ऊण	
इपु	वळि	

नामक गतियो से

स्वर आलाप

स रि ग म प ध नि स नामक सप्त स्वरो के "आरोहि, अवरोहि, चक्रवाक, सवत्ति, प्रव्यक्त, सुव्यक्त, आलील नामक सात आलापो से, ओर वे ही सप्त स्वरो से जन्य ४९ (६९ ?) तरह के वाश (हस ?) नादो से

ग्राम-श्रुति

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, निषादो से प्रकाशित हुआ सात गामो (?) मे

पैदा हुआ स्वर, जनन काल, तिथि, नक्षत्र, योग, जाति भेद, स्वजाति स्वर आदि जाति ओर स्वर के साथ—

षड्ज से पैदा हुए	कल, सकल निष्कल, गह्वर	नामक ४
ऋषभ से पैदा हुए	आवरि, मधुर, एकाक्षर	नामक ३
गान्धार से पैदा हुए	भृग जाति, परेगित	नामक २
मध्यम से पदा हुए	पूर्ववास, रजिक, आलकरिणि	नामक ३

(प ओर ध से पैदा हुआ स्वर लुप्त है)

निपाद से पैदा हुए प्रच्छन्न, सर्व, व्यापि नामक ३

एव सात स्वरो से २२ श्रुति है,

श्रुति गमक

दीर्घ	उल्लसित	ललितान्तम
लातिक	उच्चरित	ललित प्रस्तुत
दीर्घिक	स्फुरित	कुम्भ
दीर्घ	मूर्ध्निक्षिप्र	सूक्ष्मातर
दीर्घोल्लमित	कोमल	कुञ्चित
दीर्घकपित	आक्षिप्त	गुरुस्थित
उरलसित	भ्रमित	
मर्मोल्लसित	आहत	

नामक नादश्रुति जन्य २२ गमको से,

कपित, स्फुरित, लीन, आरिद त्रिभिन्ने तिथि सप्तधा, आदोळित, आहत, सूक्तिकलत्र नामक ७ प्रत्येक गमको मे,

स्वर, श्रुति, गमक प्रकर गीत जान राग—

१ श्रीराग	८ गाधारी	१५ गुप्त ,,	२२ देशाक्षि
२ आदोळि	९ मध्यम गावारी	१६ गुप्त साधारण	२३ मधुकरि
३ चिन्तागि	१० रिक्त ,,	१७ गुप्त कसलित	२४ दिवि
४ ललित	११ पचम ,,	१८ देशि	२५ मेघरजि
५ मार राग	१२ देवगुप्त ,,	१९ कुभक	२६ रगवराळि
६ गाळि	१३ श्रोकार ,	२० धन्यासि	२७ तरगिणि
७ नकराभरण	१४ एक गुप्त ,,	२१ काभोजि	२८ वहुळि

२९ वगाळ	५० त्रिणेत्र	७१ अपार वराळि	९२ कैशिक मध्य
३० माहुरि	५१ माळवि	७२ भल्लान	९३ विभिन्न
३१ ब्राह्मणि	५२ गोऽ (?)	७३ काळिंदि	९४ माळग नाट
३२ शुद्ध	५३ रामक्रिय	७४ वैवति	९५ भूपाल (?)
३३ वाहिनि	५४ छायागोळ	७५ घटारव	९६ छाया (?)
३४ वृहति	५५ द्राविळ ,,	७६ आळिंदि	९७ तोडि
३५ देवक्रिय	५६ कर्णाट ,,	७७ देवाळि	९८ मोवीर (?)
३६ रूप	५७ सौराष्ट्र ,,	७८ अभ्र पञ्चम	९९ हिंदोळ
३७ सोहरि	५८ देसाळ ,,	७९ कवि	१०० तुरुक तोडि
३८ सैन्धवि	५९ भैरवि	८० कामारि	१०१ दिव्यावति तोडि
३९ शुद्ध वराळि	६० सारग भैरवि	८१ श्रीकठ	१०२ नाट्यनारायणि
४० सोराष्ट्र सैधवि	६१ नन्दयन्ति	८२ काभोज (?)	१०३ ऋषभ नर्तकि
४१ पोराणि	६२ नादोत्तरि	८३ सिंधु वराळि	१०४ शुद्ध हैरि
४२ भिन्न पौराणि	६३ अन्य सैन्धवि	८४ कोशिक	१०५ कैनकि
४३ उत्पल	६४ वसन्त	८५ पूर्ण नाट	१०६ व्यभिचारिणि
४४ पद पजर	६५ मेघ छवि	८६ गुज्जरि	१०७ कर्म
४५ नाग वदाळि	६६ सोधरि	८७ सोराष्ट्र गुज्जरि (?)	१०८ वेलावळि
४६ कर्णाट वदाळि	६७ ढक्क राग	८८ द्रविळ ,,	१०९ चित्रवेळावलि
४७ नाग (१)	६८ चौहरि	८९ मलहर	११० माधव श्री
४८ कुरजि	६९ रक्कपि	९० कोलाहल	१११ मधुमाधवी
४९ नाट	७० सोम राग	९१ माळव (?)	

नाम का सर्वाग सहित रागाग, भाषाग, क्रियाग और उपाग से पैदा हुआ राग (सिधु वराळि आदि ४ राग उपाग से, नीलोत्पलिनी आदि २२ राग क्रियाग से, कोशिकि आदि ३४ राग भाषाग से, मधुमाधवी आदि २० राग रागाग से पैदा होते है।)

षडज आदि ग्रामलयो से पैदा हुए रागोमे (१०८) स्त्री, पु०, नपुसक भेदो से [३६ रागो मे २८ स्त्री राग, ७पुराग और १ नपुसक राग। इन ३६ रागो मे हर एक के लिए ३ दासियाँ है, इसलिए १०८ राग हैं] पाडव, औडव भेद हो कर ववळ, नाराट, मिश्र, काबुळ नामक ४ ध्वनि भेदो मे खास कर के नाराट और काबुळ ध्वनियो से, चार तरह के शारीरो मे पेशल शारीर से सरिधाचक, जय, अनुजय से, दुहाय, सुहाय, गाणाय, गूडाय, काय, रेणाय, वह्ळाय, धृति, वडिमाय घननिविडाय, चोक्काय, निक्काय नामक १२ पाचको (अनुवाचक) से—

तीन तरह के जय (देहावळि, पदावळि, कठावळि) से, पट्स्वादु, सप्त स्वादु, अप्टावलि, नवस्वादु, सरसदायायि नामक पाच स्वादुओ से

विजय स्थान	उप्पर वलय	भग स्थान	उदर गत
वळिग	घडरण	कमकाय	कठगत
अन्तर	पाळ,गर्वत	अतिनाभिगत	

नामक १२ तिरुपो (मरि) से, देह, नाभि वक्ष, उदर, कठ पाच स्थान से पैदा होने वाले रागो से

परिहारि	नागि (सर्वांगि)	पाणि
वोक्कट	हाणि	वट्टि
	वर	अणकुट
सरि	कळिका	मुडव

नामक ११ वहणि भेदो से,

१ ललित गाढ	९ रोक्कट्टि	१७ उपु	२५ अणकु
२ गाढ ललित	१० गमक	१८ देन	२६ तरहर
३ पोच्च ललित	११ दोक्कटि	१९ काकु	२७ अनुतायि
४ नेपण	१२ केपिन	२० फेल्लाफल्लि	२८ ओजि
५ लवलगित	१३ विवाश	२१ धल्लि	२९ सरिदि
६ गद्गुहिक	१४ खाणायित	२२ स्वभाव काकु	३० पिठ्ठापिठ्ठि
७ पोच्चगाढ	१५ इपु	२३ कोकु	३१ सरिवसर
८ विवरण	१६ गोठ्ठागोठ्ठि	२४ कपित (?)	३२ मोट्टायित

नामक ३२ विशुद्ध ठायो (स्थायी) से,

मोदलु नेवण तावपु पोरलेहि, सुटिड आपूरण, रगु सोह, रक्त, संगति, गमक , कपित, आलाप, आरैके, समण, वोलय, मुठायि कमळ, आवाळ, व्यक्ति, प्रथम आदि १५ साळग स्यायि भेदो से

क्षेत्राग, अलकूलि, पडक्ष, अराज, विहित, उभय काळास, दाहत्तु रयदि, भजवणि, भजने वैसिगे नामक गतियो से,

नागावति, नदावति, भद्रावति, विनयवति, भोगवति, इन्द्रावति नामक ६ (७ ?) आलप्तिओ से, अपनी कृति रचना मे अनिवद्ध, निवद्धोक्तियो से भूपित वैदर्भी, गौळी, पाचाळी ३ रीतियो से, मन्द्र, मध्य, तार नामक ग्रामलयाश्रयो से, धात्वओ से, देशी-मार्ग प्रभेदो से, दश

प्राणों से, रस, वर्ण, अलकार, भावों मे, मृदु मधुर समुचितोक्तियों मे, अष्टादश गायकों के समूह मे कवळ, अश्वतर, तुबुरु और नारद मर्त्य रूप मे गान करते है।

सगीत रत्नाकर, शिवतत्व रत्नाकर आदि ग्रन्थों मे कहा है—

नाद श्रुति स्वर ग्राम मूर्छना तान वर्णकाः।
अलकारोऽथ गमक जातिरागौ तथापरौ॥
रागाग भाषा भाषाग विभाषान्तर भाषिका।
उपाग चक्रियाग चेत्यगान्यष्टौ तथा दश॥

नाद, श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, तान, वर्णक, अलकार, गमक, जाति, राग, रागाग भाषा, भाषाग, विभाषा, अन्तर भाषिक, उपाग, क्रियाग, नाम का १७ लक्षणों मे सोमनाथ ने, कहा हुआ लक्षण इस तरह दीख पड़ता है कि किसी अन्य ग्रन्थों मे चुना हुआ होगा। वहा राग स्त्री, पु० तथा नपुसक (२८, ७, १) बनाकर कुल ३६ प्रधान रागों का वर्णन किया गया है। औत्तरेय सगीत मे केवल स्त्री (रागिणी) और पु० (राग) भेद तथा उनकी सन्तानें आदि प्रसिद्ध है। सगीत रत्नाकर के अनुसार प्रधान राग ३२ (८ पुरुष और २४ स्त्री) अथवा ६ पुरुष और ३० स्त्री, कुल ३६ राग है। पुरुष रागों के बारे मे एक मत नही है। पडित भातखडे ने कहा है कि पुरुष राग औडव है और स्त्री राग सपूर्ण है। ऐसा भान होता है कि सोमनाथ ने बहुत कर के अकेले षाडव राग को ही नपुसक गिना है। ठीक ही हम लगता है कि सोमनाथ ने भी देशीय तालों को और "मेक" नामक इस तरह के भेद प्रभेदों का अध्ययन करके लिखा है। ई० १३-१४ वी शताब्दी के सगीत से अवगत होने के लिए पाल्कुरिके सोमनाथ का विवरण बहुत सहायक सिद्ध होगा।

भारतीय कला में लोक-संस्कृति का प्रदर्शन

श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०

पटना विश्वविद्यालय के व्याख्याता तथा हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ ऐतिहासिक ग्रथो के लेखक श्री उपाध्याय भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के अनुशीलन मे सफल अन्वेषक और विचारक सिद्ध हुए है। आपने इस लेख मे भारतीय कला के अन्तर्गत लोक सस्कृति की सुन्दर व्याख्या की है।

——सपादक

ऋगवेद के प्रथम मण्डल मे कई मत्र मिलते है, जिनमे ग्रामो की समृद्धि की प्रार्थना की गई है। उनमे नगरो का नाम तक नही मिलता। बौद्ध साहित्य मे भी ग्रामोन्नति का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि, ऋषियो का लोक-सस्थाओ तथा उनकी अभिवृद्धि की ओर विशेष ध्यान था। कला सदा से समाज की भावना तथा प्रचलित रीति-रिवाजो का प्रदर्शन और चित्रण करती चली आ रही है। शिष्टकला की वृद्धि ग्रामीण कला के ऊपर ही अवलम्बित है। यो तो ऐतिहासिक युग के बाद ही कलात्मक उदाहरण मिलते है किन्तु ईसा पूर्व तीन हजार वर्षो मे विकसित मोहेन्जुदारो मे भी कला के नमूने पाये जाते है, जिनमे लोक-सस्कृति का प्रदर्शन किया गया है। भारतीय कला मे कला का धर्म से चोली दामन का साथ रहा है। सब से प्राचीन पूजा 'पृथिवी-माता' की थी जिसका आरम्भ मोहेन्जुदारो मे हुआ। यह पूजा विभिन्न रूप मे होती रही, किन्तु वैदिक सस्कृति तथा मोहेन्जुदारो मे पर्याप्त अन्तर होने के कारण उसका सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है। जब ऐतिहासिक युग से कला का प्रादुर्भाव हुआ तो समाज तथा राजा की विचारधारा मे काफी विभिन्नता थी। मौर्यकालीन कला मे यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अशोक 'समाज' तथा 'धर्ममगल' का विरोधी था। लोगो मे उत्सव तथा मनोविनोद की मनाही थी, अत शक्तिशाली राजा के सम्मुख सब को झुकना पड़ा था। यही कारण है कि मौर्यकला मे लोक-सस्कृति का प्रदर्शन तनिक भी नही है। अशोक की निषेधाज्ञा अधिक दिनो तक स्थायी न रह पायी। उसके मरते ही जन-साधारण मे लोक-सस्कृति की पुन स्थापना के लिए प्रयत्न होने लगे।

यो तो उस परिवर्तन का मुकुट पुष्यमित्र के सिर पर रक्खा जाता है किन्तु वह जनव्यापी आन्दोलन एक व्यक्ति के वश की बात नही थी। लोगो ने सब पहल मे लोक-सस्कृति को प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया था। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, लोक सस्कृति का प्रदर्शन चरम

सीमा तक पहुचाया गया। शुगकला तो इमी के लिए प्रसिद्व है। इममे पूर्व की कला व्यक्तिगत स्वरूप रखती है। मनुष्य-चित्रो का अभाव ही नही किन्तु पशुओ मे विशेष प्रेम दिखलाई पडता है। अशोक ने लोक सस्कृति का वहिष्कार क्यो किया, यह एक रहस्यमय प्रश्न है। सम्भवत यह उसकी हठधर्मिता अथवा महान शक्ति की अभिव्यक्ति थी। अस्तु। शुगकाल मे वही लोक-सस्कृति ने पुराना स्थान ग्रहण कर लिया। साची की मूर्ति तक्षण-कला मे यह अच्छे रूप मे दिखलाई पडती है।

जो चरण चित्र या पट चित्र साची तोरण पर खचित है वह पिछले लोक-चित्रो का आरम्भ था। जातक कथाओ के चित्रण मे लोक जीवन की बातो का प्रदर्शन मिलता है। इसी-लिए साची की कला सामाजिक तथा लोक भावनाओ का प्रदर्शक समझी जाती है। साची के पूर्व तोरण पर प्रदर्शित ऊरूवेला गाम का चित्र देखा जाय तो अधिक बाते साफ हो जाती है। कथा है कि देवगण ऊरूवेला (बोध गया के समीप) नामक स्थान पर भगवान बुद्ध का दर्शन करने गये है। बीच मे वज्रासन है तथा देव हाथ जोडे खडे है। यहा ध्यान रखना चाहिए कि हीनयान मत मे बुद्ध के प्रतीको की पूजा होती रही। उनमे वज्रासन भी था। उन चित्र के पिछले भाग मे ग्राम का चित्र है। स्त्रिया बैठी है। कोई प्रस्तर के शिला पर मसाला पीस रही है तो कोई चक्की चला रही है। दूसरी ओर सूप से किसी अनाज को साफ कर रही है और चौथी ओखली मे चावल कूट रही है। हमारी सस्कृति का यह ऐसा प्रदर्शन है जो हजारो वर्षों के बाद भी ज्यो का त्यो अपनी जगह पर वर्तमान है। इसके अतिरिक्त नारियो के शृगार की बाते शुगकालीन मृन्मयी मूर्तियो से भी जानी जाती है। कपडा पहनने का ढग, आभूषण से शरीर ढकने का प्रकार तथा सिर की सजावट सुन्दर रीति से दिखलाई गई है। यह लोक जीवन-सम्बन्धी कार्य अधिक मात्रा मे मृन्मयी मूर्तियो मे पाया जाता है। प्रत्येक काल की मूर्ति मे तत्कालीन समाज का चित्र अवश्यमेव दृष्टिगोचर होता है। ऐलेफेन्टा की प्रतिमा तथा उडीसा की मूर्तियो मे स्त्रियो के द्वारा शीशा देख कर सिन्दूर लगाने का रिवाज दिखलाया गया है। बाए हाथ मे शीशा ले कर दाहिने हाथ से माग सवार रही है। अथवा बिन्दी लगा रही है। पूर्व मध्यकाल मे लोक सस्कृति के प्रदर्शन के उदाहरण अधिक मिलते है। गाम जीवन के प्रदर्शन मे पशुओ, वृक्ष तथा झोपडियो का सहारा लिया गया है। भाव तथा प्रतीक चित्रो मे परिस्थिति तथा वातावरण के द्वारा वास्तविक ध्येय का प्रदर्शन हो जाता है। अतएव झोपडी मे एक वृद्ध आदमी के बैठने का चित्र साची मे मिलता है जो पैरो को पीठ से कपडे की पट्टी द्वारा बाधे है। ऐसा रिवाज आज भी गावो मे बहुत दिखलाई पडता है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ तक सम्भव था शुग कलाकारो ने हमारी लोक-सस्कृति का प्रदर्शन सुचारु रूप से किया है। शिष्ट कला मे प्रस्तरो का प्रयोग जन साधारण मे प्रचलित बांस के स्थान पर किया गया था। झोपडी के सिद्धान्त को ले कर गुफाए बनाई गई जिनमे लोमश ऋषि की गुहा विशेष उल्लेखनीय है। भित्ति चित्रो मे ग्रामीण अलपना के नमूने को ले कर सुन्दर अलकरण तैयार

किये गये थे। महायान की कथा से बुद्ध की पूजा आरम्भ हो गई और जातक कथाओ के साथ सामाजिक तथा भारतीय जीवन का प्रदर्शन बद हो गया।

खजुराहो तथा भुवनेश्वर के मदिरो पर कुछ लोक-सस्कृति का प्रदर्शन पाया जाता है। परन्तु शुगकाल इसका स्वर्ण युग था। साराश यह है कि लोक सस्कृति के प्रदर्शन बिना कला पनप नही सकती तथा उसका एक अग सूना रह जायेगा।

गंगा घाटी के मिट्टी के खिलौने

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त, एम० ए०

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कलाभवन के सहायक सग्रहाध्यक्ष श्री परमेश्वरी लाल गुप्त सुपरिचित लेखक और पत्रकार है। आपने गगा घाटी मे प्राप्त कतिपय विशिष्ट मिट्टी के खिलौनो का परिचयात्मक विवरण इस लेख मे दिया है। —सपादक

खिलोने वनाने के लिए मिट्टी का उपयोग अति प्राचीन काल से होता आ रहा है। मानव ओर पशु आकृति के मिट्टी के खिलाने इस देश एव अन्यत्र अनेक प्राचीन स्थानो मे वहुतायत से पाये गये है। क्रीट, साइप्रस, ईराक, ईरान (एलम), मिस्र, चीन आदि देशो मे प्राचीन नगरो से ये खिलौने तो मिले ही है, इस देश मे भी मिट्टी के खिलोनो की प्राचीनता ताम्र युग और नव्यप्रस्त युग तक जाती है। सिन्धु घाटी मे मिले ध्वसावशेषो मे इस युग के मिट्टी के खिलोने पाये गये है। किन्तु अन्यत्र इन खिलोनो का इतिहास इतने पीछे जाता हुआ नही पाया जाता।

सिन्धु घाटी के वाद गगा घाटी मे ही मिट्टी के खिलाने अनेक प्राचीन स्थानो के ध्वसावशेषो मे मिले है किन्तु कही भी उनका इतिहास ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से आगे नही जाता। गगा घाटी मे मथुरा, काशी, कोशाम्बी, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, काम्पिल्य आदि नगर महाभारत काल तक वैभवशाली नगरो के रूप मे जीवित जागत थे और उसके वाद भी उनका वहुत दिनो तक महत्त्व रहा है। इनमे से काशी, कोशाम्बी, हस्तिनापुर और अहिच्छत्रा के ध्वसावशेषो की पुरातत्वविदो ने खुदाई भी की है पर इन खुदाइयो मे कही भी ऐसी कोई वस्तु नही मिली जिससे ३०० ई० पू० से पूर्व के खिलोनो पर प्रकाश पड सके। इन सभी स्थानो मे इस काल के वाद के स्तरो मे ही खिलोने पाये गये है। इस काल के पश्चात् लगभग ८००-९०० ई० तक खिलोनो का इतिहास इन खुदाइयो से प्रकाश मे आया है। उनके देखने से ज्ञात होता है कि कुम्हारो की यह कला अत्यन्त विकसित थी और लोक चेतना से इन खिलानो के निर्माता पूर्णतया परिचित थे।

प्राचीन काल मे खिलौने वनाने के लिए किस प्रकार मिट्टी तैयार करते थे, इसके सम्वन्ध मे कोई लिखित उल्लेख अव तक प्राप्त नही हुआ है। शिल्प और वास्तु शास्त्रो मे मिट्टी की मूर्तियाँ वनाने का उल्लेख पाया जाता है और उनके लिए मिट्टी वनाने की विधि

भी दी हुई है पर वह विधि निश्चित रूपेण खिलोनो की मिट्टी बनाने की विधि नही है। उपलब्ध खिलोनो के परीक्षण से ज्ञात होता है कि आज से हजार-डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भी कुम्हार उसी ढग से मिट्टी तैयार करते थे जिस ढग से आज करते है और उनके बनाने का ढग भी आजकल के समान ही था।

मोटे तोर पर गगा घाटी के प्राचीन खण्डहरो से दो प्रकार के खिलोने पाये गये है— एक तो हाथ से डोल कर बनाये गये ओर दूसरे साचे मे ढाल कर बनाये गये। हाथ से डोल कर बनाये गये खिलोने स्वाभाविक रूप से बेढगे ओर बेडोल है ओर उनमे किसी प्रकार की कला कुशलता ज्ञात नही होती। वे शेशव कला के समान जान पडते है पर निस्सन्देह वे शिशुओ द्वारा बनाये गये खिलौने नही है। उन्हे निश्चय ही व्यावसायिक रूप से प्रस्तुत किया गया होगा क्योकि इस ढग के खिलोने बडी मात्रा मे ओर कालक्रम से अवशेषो के प्रत्येक स्तर पर पाये जाते है। पर इनकी अपेक्षा साँचे से बने खिलोनो की सख्या अधिक है। साचे से बने खिलाने एकहरे ओर दोहरे साँचे, दोनो प्रकार के बने पाये जाते है। आजकल खिलौने प्राय दोहरे साचे के बनते है जिनमे आगे पोछे का अश दो भिन्न साचो से बना कर जोडा रहता है ओर बीच का अश खोखला रहता है। कभी कभी अगल बगल के अश दो साचो से बना कर बीच से जोड दिये जाते है। इस प्रणाली से दोना प्रकार के खिलोने प्राचीन काल मे बनते थे पर इस ढग के खिलोने इतनी कम सख्या मे मिले है कि अनुमान होता है कि उसका प्रचलन बहुत कम था। जो खिलोने इस ढग के मिले भी है वे मानव आकृति की अपेक्षा पशु आकृति के ही अधिक है। एक साँचे से बने खिलोनो का ही प्राचीन काल मे प्रचलन अधिक था। इस प्रकार के बने खिलोने मिट्टी के फलक पर उभरे हुए होते है और पीछे का अश पोला न हो कर फलक के समान ठोस होता है ओर आकृति मे वे चौकोर अथवा लम्बोतरे गोल होते है।

प्राचीन काल मे साँचे से बने खिलाने कला की दृष्टि से इतने मोहक और सुघर ढग से बने है कि उनकी तुलना किसी भी अन्य वस्तु को बने कला वस्तुओ और मूर्तियो से की जा सकती है। साचे के बने खिलोनो का प्रचार शुग काल मे ही अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे ही आरम्भ हो गया था। उस काल के खिलाने मथुरा, कोशाम्बी ओर राजघाट (बनारस) मे काफी मिले है। शुगकालीन अन्य वस्तुओ की बनी खिलोने के आकार की मूर्तियो का अब तक सर्वथा अभाव है, अत यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि साचे बनाने के लिए किस प्रकार के माडल का प्रयोग कलाकार करते थे। यह प्रश्न इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि शुग काल ओर उससे पूर्व के बने खिलाने हाथ से बने ओर बेडोल ही पाये जाते है। इस प्रश्न का अब तक समाधान नही हो पाया है। भीटा (इलाहाबाद) से मिले आश्रमवासिनी शकुतला के दृश्य से अकित टिकरा, कोशाम्बी से प्राप्त वासवदत्ता हरण के दृश्य का टिकरे (चित्र ८) और ताम्रलिपि (बगाल) से मिला नारी का टिकरा कला की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि के है। उनमे बारीक से बारीक बाते स्पष्ट रूप से अकित की गयी है। निश्चय ही उनका मूल (माडल) जिनमे

इन टिकरो का साँचा बना होगा, उच्चकोटि की कला का नमूना रहा होगा। सर जान मार्शल का, जिन्हे भीटा मे शकुन्तला वाला टिकरा मिला था, अनुमान है कि उसका साँचा हाथी दात का बना रहा होगा। इतने कीमती साँचे की आशा तो कुम्हारो से नही की जाती किन्तु हो सकता है कि उनका माडल हाथी दात अथवा सेल खडी का रहा हो और उससे उन्होने मिट्टी का साँचा बनाया हो।

साचे से निकालने के पश्चात् कुम्हार कदाचित् उसे हाथ से कुछ सजाते सॅवारते रहे हो पर इसकी सम्भावना कम ही ज्ञात होती है। हा, उन्हे पकाने से पूर्व उसे मिट्टी के पतले रग से उसे वे रग अवश्य देते थे जिससे पकने पर खिलौनो का रग गहरा लाल या चमकता हुआ काला हो जाता था। प्राय अधिकाश खिलोने लाल रग के पाये गये है जो हलके गाढे सभी तरह के है। कुछ खिलौने भूरे ओर काले रग के भी पाये गये है पर इनकी सख्या कम है। अधिकाशत इस रग के खिलोने मथुरा से मिले है ओर वे शुग काल के है। इन काले खिलौनो पर काले रग की हलकी पर्त भी पायी जाती है जो आसानी से छूट जाती है। जान पडता है कि यह रग उनके ऊपर बाद मे लगाया जाता था। पटना और कोशाम्बी से भी मिले कुछ खिलोने काले अथवा भूरे रग के है पर उनकी सख्या इनी गिनी है। गुप्तकालीन खिलोनो मे शायद ही कोई खिलाना काले रग का हो। वे प्राय हलके ईट के रग के होते है। किन्ही किन्ही पर ऊपर से गेरू का रग भी पोता पाया जाता है, पर बहुत कम।

इस प्रकार की एक रगी रगाई के अतिरिक्त गुप्त काल मे खिलोनो को रग-बिरगा भी बनाते थे। राजघाट (बनारस) की खुदाई मे अनेक खिलानो पर विभिन्न प्रकार के रग पाये गये है। अनेक खिलौनो पर बालो को काले रग से रगा गया है। कपडे धारीदार है । चेहरे पीले रग से रगे गये है। इन्हे देखने से ब्रश के कुशल प्रयोग का अनुमान होता है। केशो को बडी बारीकी के साथ अनेक खिलौनो पर अकित किया गया है। रगीन खिलाने अकेले राजघाट की विशेषता नही है। अहिच्छत्रा मे भी एक आध रगीन खिलोने मिले है। गगा घाटी के बाहर काबुल के निकट शाहगिर्द से अनेक गुप्तकालीन रगीन नारी मस्तक मिले है जो काबुल सग्रहालय मे रखे हुए है।

कुछ थोडे से खिलौने ऐसे भी है जो साचे ओर हाथ दोनो की सहायता से बनाये गये है। ऐसे खिलोने आकार मे बडे और भारी है। उन्हे हल्का बनाने के लिए बीच मे पोला कर देते थे। इसके लिए गोबर के कण्डे के ऊपर मिट्टी लगा कर मूर्तियाँ बनायी जाती थी। आग मे पकाने के समय कण्डा जल कर राख हो जाता था और बीच मे मूर्ति पोली हो जाती थी। खिलाने के पीछे या नीचे एक सूराख होता था जिससे राख बाहर निकाल दी जाती थी। इस प्रकार की मिट्टी की मूर्तियाँ अथवा खिलौने अधिकाशत गुप्तोत्तर काल के पाये जाते है।

प्राचीन कालीन मिट्टी के खिलौनो मे अधिक सख्या स्त्रियो की आकृतियो की है। पुरुषो की आकृतियाँ इक्के दुक्के ही पायी गयी है। यह एक अद्भुत बात है। इकहरे साँचे के

वने अधिकाश टिकरो मे ऊपर की ओर ओर कभी कभी अगल वगल छेद पाए जाते है, जो इस वात के द्योतक हैं कि वे खिलोने वच्चो के खेलने के काम न आ कर कमरो मे सजावट की दृष्टि से टागे जाते रहे होगे ओर चित्रो के अभाव की पूर्ति करते रहे होगे।

मिट्टी के खिलोनो की कला पर अन्य कलाओ की तरह समय का प्रभाव पड़ा है ओर विभिन्न कालो के वने खिलोने तत्कालीन विभिन्न अवस्थाओ को व्यक्त करते है, साथ ही स्थान भेद से भी उनमे वैभिन्य प्रकट होता है और खिलोनो को देख कर उनका उद्गम क्षेत्र वताया जा सकता है। इस प्रकार लोक कलाकार जहाँ कला की सामयिक लहर से अछूते न थे वही वे अपनी कला के निजत्व के प्रति भी सजग जान पड़ते हैं। पर समय की गति के साथ उनकी यह जागरूकता कम होती गयी और परवर्ती काल मे कला मे समग एक रूप का दर्शन होता है।

हाथ के गढे खिलोने, जिन्हे आदिम अथवा 'आर्केयिक' और 'शैशविक' अर्थात् 'प्रिमिटिव' कहते है न तो आदिम है ओर न शैशविक। वे कलात्मक खिलोनो के साथ साथ सव जगह ओर सव कालो मे पाये जाते है। किन्तु निश्चय ही उनका प्रचलन शुग काल ओर उसमे पूर्व रहा होगा। मथुरा से इस ढग की जो मूर्तिया मिली है, वे नि सदिग्ध शुग काल की है। दूसरी ओर घोसी (जिला आजमगढ) मे मिली इस प्रकार के खिलोनो की मिट्टी की वनावट गुप्तोत्तर काल की मिट्टी की वनावट के समान है जो उनकी समकालिकता को व्यक्त करते है। इस प्रकार के खिलौने सजावट के काम तो आ ही नही सकते, वच्चो को भी अपनी ओर आकृष्ट करने मे सक्षम नही जान पडते। अत अनुमान यही होता है कि इस प्रकार के मिट्टी के खिलोनो की उपयोगिता न हो कर धार्मिक रही होगी और पूजने के काम आती रही होगी। ये खिलोने सम्भवत नारी के प्रतीक है। इन खिलौनो के शरीर पर कोई वस्त्र नही पाया जाता। किन्तु विवस्त्र होते हुए भी इनमे नारीत्व के स्पष्ट चिह्नो का अभाव है। इस ढग के जो खिलोने सिन्धु घाटी के प्राचीन नगरो एव ससार के अन्य प्राचीन स्थानो से जो खिलोने मिले है, उन सव मे नारीत्व के चिह्न, मुख्यत योनि स्पष्ट अकित किये गये है। इन मूर्तियो को विद्वानो ने मातृकाओ 'मदरगाडेज' माना है। उन्ही के अनुकरण पर गगा घाटी की मूर्तियो को भी लोग मातृकाओ की मूर्ति अनुमान करते है ओर वैदिक अदिति, कद्रु सुपर्णि, अम्विका आदि मानते है। किन्तु इन पक्तियो के लेखक का मत है कि गगाघाटी की ये मूर्तिया सिन्धु घाटी की मूर्तियो से दो हजार वर्ष वाद की है और वैदिक काल से भी उनका उतना ही अन्तर है। इस लम्वी अवधि के वीच सामाजिक एव धार्मिक विचारो मे महान परिवर्तन हुए। अत इन मूर्तियो को पहचानने के लिए आवश्यक है कि तत्कालीन समाज मे प्रचलित लोक धर्म, धार्मिक विचारो एव विश्वासो पर दृष्टि डाली जाय। उन दिनो यक्ष और यक्षिणी पूजा काफी प्रचलित थी और उनके प्रमाण जव हमे तत्कालीन धर्म और प्रस्तर कला मे मिलते है तो यह असम्भव है कि वे मिट्टी की लोक कला मे न हो। अत मेरी दृष्टि मे ये मूर्तिया यक्षिणी पूजा की प्रतीक है।

इन हाथ के गडे खिलौनो के साथ साथ मथुरा मे कुछ ऐसे भी खिलौने मिले है जिनका सारा शरीर, आभरण आदि हाथ का बना है और उपर्युक्त ढग के खिलौनो के अविकल अनुरूप है। अन्तर केवल इतना है कि उनका चेहरा एव शिरोभूषण साचे मे बना कर लगाया गया है। जिस ढग के ये चेहरे है उसी ढग के साचे मे बने खिलौने भी वहा एव अन्यत्र पाये जाते है। ये सभी खिलौने तत्कालीन पत्थर की कला मे अकित यक्षियो के अत्यन्त निकट है। मथुरा के बाद, बक्सर, पाटलिपुत्र और बनगढ (बगाल) से हथगढे धड और साचे के सिर वाले खिलौने मिले है। पर तीनो स्थानो के इस ढग के खिलौनो का अपना निजस्व है। पाटलिपुत्र से मिले इस ढग के खिलौनो की गिनती इनी गिनी है और वे सभी देखने मे एक दूसरे से भिन्न है अर्थात् उन्हे किसी एक भाँति का खिलौना नही कह सकते। इन खिलौनो मे मथुरा वाले खिलौनो की भाति हाथ से बने होने पर भी अनगढ पन नही है। उनमे कुम्हार की कला-कुशलता टपकती है। उसने शरीर, वस्त्र आदि को सुघर ढग से बनाया है और अग प्रत्यग देखने मे गतिशील जान पडते है। इन खिलौनो को कुछ लोग मौर्यकालीन अनुमान करते है।

बक्सर से जो खिलौने मिले है वे अपने ढग के अनोखे है। इन खिलौनो के सिर मिट्टी के लड्ड से बनाये गये है जिनमे आँख और मुह रेखाए बना कर अकित की गयी है। इनके सिर पर केश के कोई चिह्न नही है। इसके स्थान पर एक पक्ति मे तीन छेद पाये जाते है जिनसे जान पडता है कि इन सरो के ऊपर मुकुट आदि सरीखी कोई वस्तु अलग से लगायी जाती रही होगी। इस प्रकार हथगडे खिलौनो का प्रतिरूप साँचे से बने सिर वाले खिलौनो मे भी पाया जाता है। इनमे टिकरे के ऊपर चेहरे के साँचे की छाप देने के बाद, कर्ण फूल आदि के साँचो से अलग अलग छाप दी गयी है। इस प्रकार के खिलौनो मे अनेक प्रकार शिरालकरण एव केश प्रसाधन पाये जाते है।

बनगढ मे इस प्रकार के जो खिलौने मिले है वे पलथी लगा कर बैठी स्त्रियो की है और आकृति एव बनावट मे एकदम भिन्न है। और व मथुरा, बक्सर और पाटलिपुत्र के खिलौनो से बहुत पीछे काल अर्थात् उत्तर कुषाण और गुप्त काल की है।

इकहरे टिकरे के बने खिलौने गगाघाटी के चप्पे चप्पे मे जहा भी पुराने अवशेष है पाये जाते है। इस ढग के खिलौनो मे स्थानिक कला की अपेक्षा सामयिक कला पायी जाती है। एक ही तरह के खिलौने मथुरा से ले कर बनगढ (बगाल) तक समान रूप से पाये जाते है। उनमे यदि कोई अन्तर है तो इतना सूक्ष्म कि स्थानो के अनुसार उनका वर्गीकरण नही हो सकता। अस्तु, शुगकालीन इकहरे टिकरो मे युवतियो की अत्यन्त मनोरम भाव भगिमापूर्ण आकृतियाँ अकित पायी जाती है। वे प्राय सुकुमार ढग से खडी होती है। कभी कभी वे त्रिभग मुद्रा मे खडी पायी जाती है। उनके हाथ या तो कटि विनयस्त होते है या नीचे को लटकते होते है। कभी कभी कोई युवती हाथ के सहारे खडी भी पायी जाती है। उनके केशो का अनेक प्रसाधन पाया जाता है पर प्राय वे किसी न किसी प्रकार के शिरो-

वस्त्र अथवा शिरोभूषण से आच्छादित होते है। उनके केशविन्यास एव शिरो वस्त्रो का अध्ययन स्वत एक लेख का विषय हो सकता है। इन टिकरो पर स्त्रिया यद्यपि चोली और धोती पहने हुए होती है तथापि अनेक टिकरो मे शुग ओर कुशाण कालीन प्रस्तर कला की भाति ही नारीत्व के चिह्न स्पष्ट रूप मे अकित होते है। इस नग्नता द्वारा वस्त्र की बारीकी प्रदर्शित करना ही तत्कालीन कलाकारो का उद्देश्य जान पडता है। शुगकालीन एक अत्यन्त सुन्दर टिकरा आक्सफोर्ड के इडियन इन्स्टीट्यूट मे है। यह टिकरा ताम्रलिपि (तामलुक, बगाल) मे रूपनारायण नदी के रेत मे मिला था किन्तु उसकी कला कोशाम्बी की है। (चित्र ६) कुषाण काल मे भी युवतियो के ये टिकरे काफी पाये जाते है। इस काल की युवतियो के सुन्दरतम् नमूने मथुरा से मिले शाल भजिका मुद्रा के टिकरे है जो आजकल मथुरा सग्रहालय मे है।

गुप्त काल के टिकरो मे शुग ओर कुषाण काल के टिकरो मे पाये जाने वाले आभूषणो के भार से युक्त प्रसाधन का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इस काल की मूर्तियो मे आभूषणो के सौन्दर्य की अपेक्षा शरीर के सौदर्य को निखरे रूप मे व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस काल का कोई भी खिलौना अभी तक पूरा नही मिला है। जो मिले है वे या तो शिर मात्र है या वक्ष के अश है। जिनमे गोल मटोल एक दूसरे सटे हुए उभरे हुए उरोज अकित है, जिनका तत्कालीन नारी सौदर्य के रूप मे कालिदास ने कुमारसम्भव (१ ४०) मे वर्णन किया है। आभूषणो के भार से युक्त शरीर की इस सादगी की कमी कलाकारो ने अनेक रूपो मे केशो को सवार कर पूरी की है। केश विन्यास के ये ढग इतने मनोरम है कि कोई भी व्यक्ति उन पर मुग्ध हुए बिना नही रह सकता। इन खिलोनो के केश विन्यास पर डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किया है। (नागरी प्रचारणी पत्रिका, भाग ४५, पृ्ठ २१५-२२१)।

इन मनोरम टिकरो मे (शुग काल से लेकर गुप्त काल तक)—युवतियो के सोन्दर्य-निरूपण के साथ-साथ उनके जीवन के कुछ पहलुओ को भी अकित किया गया है। अनेक टिकरो मे युवतियां शुक-क्रीडा करती दिखाई गयी है। शुक-क्रीडा की गणना स्त्रियो के योग्य तत्कालीन ६४ कलाओ मे की गयी है। इस प्रकार के टिकरो मे शुक युवती के हाथ, कटि अथवा स्कन्ध पर बैठे दिखाये गये है। स्त्रियो की लीला कमल मुद्रा भी कवियो और कलाकारो के लिए प्रिय विषय रहा है। अत खिलौनो मे भी कमल युक्त युवतियो को अकित किया गया है। कुछ टिकरो मे युवतियां प्रसाधन-रत अकित पायी जाती है।

एकाकी सुन्दरियो के अतिरिक्त कुम्हारो ने अनेक टिकरो मे स्त्री-पुरुष दोनो को दम्पती अथवा मिथुन रूप मे अकित किया है। किन्तु इस प्रकार टिकरे मुख्य रूप से शुग और कुषाण काल मे ही पाये जाते है। गुप्त काल मे भी मिलते है पर कम। इस प्रकार के टिकरो मे आलवाल तट पर खडे दम्पतियो की विभिन्न मुद्राए तो पायी ही जाती है, अनेक टिकरो मे

वे मधुपान रत एव काम-क्रीडा रत भी अंकित किये गये है। कामक्रीडा अंकित अनेक टिकरे कोशाम्बी से मिले है। एक टिकरा राजघाट (बनारस) मे भी मिला है। स्त्री-पुरुषो के आमोद-प्रमोद तथा नृत्य के दृश्य वाद्य-गान के दृश्य, झूलने के दृश्य, पिकनिक के दृश्य, शिकार के दृश्य भी इन टिकरो मे पाये जाते है। इस प्रकार कलाकारो ने स्त्री-पुरुषो के यौवन के उद्दाम स्वरूप को जहाँ तक सम्भव हो सका है मिट्टी की कला मे अंकित किया है, उसके साथ ही वे नारी के मातृ रूप को भी नही भूले है। गोद मे बच्चा लिये अथवा दूध पिलाती माताओ को भी इन कलाकारो ने अपने टिकरो का विषय बनाया है।

स्त्री-पुरुष के सामयिक जीवन के साथ साथ कुम्हारो ने ऐतिहासिक रोमानो को भी मिट्टी के माध्यम से कला मे उतारने का प्रयत्न किया है। कोशाम्बी के कलाकारो ने वासवदत्ता के साथ उदयन के पलायन को अत्यन्त सुन्दर रूप मे अंकित किया है। भीटा से मिले एक गोल टिकरे मे कण्व के आश्रम मे शकुन्तला और रथ पर दुष्यन्त के प्रवेश का दृश्य अंकित पाया गया है।

इस प्रकार के जितने भी मिट्टी के खिलोने अब तक मिले है उनका सम्बन्ध नारी अथवा दाम्पत्य जीवन से है। अत यह कहना कठिन है कि उनका उपयोग बच्चे खेलने के लिए करते रहे होगे। सम्भवत बच्चो के खिलोने न हो कर ये कमरो के सजावट के ही ये उपकरण थे। बच्चो के खेलने के लिए भी खिलौने बनते रहे होगे इसमे सन्देह नही। इन सभी स्थानो से हाथी, घोडे, बैल, भेडा, कुत्ता आदि जानवरो के छोटे बडे बीसो ढग के मिट्टी के खिलोने मिले है। उनके उपयोग के सम्बन्ध मे लोगो का मत है कि वे धार्मिक पूजा के उपकरण रहे होगे। उनकी इस कल्पना मे सम्भव हो कि कुछ तथ्य हो पर वह अभी छान बीन की चीज है। मेरी धारणा है कि इन्ही पशुओ के खिलौनो का उपयोग बच्चे करते रहे होगे।

गुप्त और गुप्तोत्तर काल की बनी बने आकार की मिट्टी की मूर्तियाँ मिलती है। ये मूर्तियाँ हाथ और साँचे दोनो की सहायता से बनायी जाती थी। और आकार मे नौ दस इच से ले कर कद-आदम तक की पायी गयी है। इनमे बडी मूर्तियाँ तो प्राय धार्मिक देवी देवताओ की है पर छोटी आकृतियाँ लौकिक ही अधिक है। इस ढग की बनी मिट्टी की मूर्तियाँ गुप्तोत्तर काल मे ही विशेष पायी जाती है और वे स्त्री-पुरुष दोनो की है और बहुत बडी सख्या मे मिली है। इनके चेहरे-मोहरे आदि की बनावट ऐसी है कि देख कर अनुमान होता है कि वे फारस और मध्य एशिया से आने वाले विदेशियो की है। इस प्रकार की मूर्तियो का अभी पूर्णत अध्ययन नही हो सका है अत उनके सम्बन्ध मे कुछ कहना कठिन है।

लगभग आठवी-नवी शताब्दी के पश्चात् की मिट्टी की कला के नमूने आजकल उपलब्ध नही है। यह तो नही कहा जा सकता कि इस काल के पश्चात् यह कला मर गयी क्योकि लोक कला कभी मरती नही और आज भी मिट्टी के खिलोनो की कला जीती जागती है। वस्तुत इस काल के पश्चात् देश का इस बुरी तरह से ध्वस हुआ कि उनके अवशेष भी मिट्टी मे दबे बचे न रह सके। यदि कही दबे हुए बचे हो तो अभी तक वे प्रकाश मे नही आ सके है।

लोकगीतों का संगीत-पक्ष

श्री महेशनारायण सक्सेना, एम० ए०, साहित्य-रत्न

प्रयाग विश्वविद्यालय के सगीत अध्यापक श्री महेशनारायण जी एम० ए० साहित्यरत्न सगीत के सिद्धान्त पक्ष के गहरे विद्वान् हैं। इस विषय में वह वर्षो से खोज कर रहे है। आपने इस लेख में लोक-गीतो के सगीत पक्ष की एक शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। —सपादक

जीवन और सगीत के नैसर्गिक सम्बन्ध का जितना वास्तविक परिचय हमे लोक-सगीत द्वारा मिलता है, उतना शास्त्रीय सगीत से नही। वैसे तो किसी ललित कला के प्रत्येक रूप मे सौंदर्य और आकर्षण रहता है, किन्तु उसके शास्त्रीय रूप का निर्माण और विकास मुख्यत हृदय और बुद्धि के समन्वयात्मक प्रयत्नो से होता है—और इसीलिए उसका सरल व निश्छल सौंदर्य प्राय कुछ दब जाता है। लोक सगीत और शास्त्रीय सगीत मे यही प्रमुख भेद है। शास्त्रीय सगीत मे बुद्धि-प्रयोग के फलस्वरूप चमत्कार की प्रवृत्ति क्रमश बढती गई है, यह सभी सगीत-विद्वान् स्वीकार करेगे। आज भी वे शास्त्रीय सगीतज्ञ जो चमत्कार की प्रवृत्ति को कम महत्त्व देते हुए 'भाव' की साधना मे लीन होते है, उन्हे अन्य सगीतज्ञो से अधिक स्थायी श्रद्धा व सम्मान प्राप्त होता है और विशेष रूप से वे ही श्रोताओ को मत्रमुग्ध सा कर देते हैं। चमत्कारवादी सगीतज्ञो का प्रभाव क्षणिक अथवा अस्थायी होता है।

लोकगीतो के भी शास्त्रीय गीतो की भाति दो अग होते है, कविता और धुन अथवा शब्द और स्वर। गीत की रचना तीन प्रणालियो से हो सकती है। कुछ रचयिता पहले धुन बना कर उन पर शब्द बैठाते है। कुछ रचयिता पहले कविता बनाते है और फिर उसे सगीत देते है। तीसरे प्रकार के रचयिता वे होते है, जिनके हृदय से शब्द और स्वर एक साथ निकल पडते है अर्थात् जब वे किसी भाव विशेष मे निमग्न होते है, तब अन्तर्प्रेरणा से वे अपने मुख से कविता के शब्द स्वयं गाते हुए ही निकालते है। उनसे शब्द-रचना और स्वर-रचना एक साथ होती है। उत्तम लोकगीत अधिकतर तीसरी प्रणाली मे ही रचे गये है। यह लोकगीतो की एक बडी विशेषता है, इसी से लोकगीतो मे कविता के भाव और उसकी धुन के भाव मे एक साम्य मिलता है जिसके कारण वे गीत अधिक हृदयग्राही बन जाते है। लोकगायक मुख्यत अशिक्षित होकर गायक होता है। वह सुख दुःख के समय अपने अनुभवो को गीतो के माध्यम से प्रकट कर देता है। इसके लिए वह शास्त्र का विचार नही करता। वह चमत्कार-प्रदर्शन की

बात भी नही सोचता। वह तो भावोद्रेक के समय अपनी मस्ती मे कुछ कह उठता है अथवा कुछ गा उठता है और वही वास्तविक लोकगीत होता है। ऐसे लोकगीत की कविता और धुन, दोनो मे प्राण होता है, जीवन होता है। लोकगायक अपने लोकगीत मे अपने व्यक्तित्व और अपने समाज के व्यक्तित्व का मानसिक चित्र खींच देता है।

लोक जीवन का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब लोकसगीत मे दिखाई पड़ता है क्योंकि लोकगीतो के शब्दो व स्वरो के चयन मे कृत्रिमता का अभाव रहता है। उनमे लोक जीवन का सीधा-सादा परिचय होता है। वे व्यक्ति के बाह्यजीवन के साथ साथ उसके मानसिक भावो के भी परिचायक होते है परतु उनमे सूक्ष्मता की अपेक्षा स्थूलता और स्पष्टता का अधिक महत्त्व होता है। लोकगीत सक्षिप्त, सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, सुन्दर, अनुभूतिमय और सगीतमय होते है। कदाचित् ही ऐसा कोई लोकगीत हो जो सगीत से अनुप्राणित न हो। उनका सगीत भी लोक जीवन का उतना ही सफल परिचायक है जितनी उसकी कविता। ग्रामीणो ने इन गीतो के स्वरो व शब्दो मे मानो अपनी सम्पूर्ण सवेदनाओ और अनुभूतियो को निष्कपट, सरल और स्वाभाविक ढग से रख दिया है।

लोकसगीत के गायन पक्ष को ही यहाँ लिया जा रहा है। वादन पक्ष उसके साथ सयुक्त रहेगा, किन्तु लोकनृत्य पर इस स्थल पर विचार करना विषयान्तर मे जाना होगा, यद्यपि उनका भी लोकजीवन के निर्माण व विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सामूहिक रीति से नाच नाच कर गाना ग्रामो मे बहुत प्रचलित है। वादन के क्षेत्र मे लय व ताल दिखलाने वाले वाद्यो का ही उपयोग ग्रामगीतो के साथ अधिक होता है। स्वतत्र वादन का विकास लोक-सगीत मे नही हुआ है।

लोकसगीत मे अकेले गाने से कही अधिक सामूहिक ढग से गाने के महत्त्व का पता चलता है और उसमे स्वर की अपेक्षा लय का भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रभाव मिलता है। उत्तर भारत मे लोकसगीत मे प्रयुक्त होने वाले अवनद्ध अथवा घन वाद्यो मे से ढोलक, खँजड़ी, झाँझ और करताल उल्लेखनीय है। इनमे भी ढोलक सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ढोलक के बाज मे कही-कही अद्भुत विकास मिलता है। उसके पृथक बोल होते है और कुछ ढोलक-वादक तो ऐसे मिलते है जो तबले के बाज के सदृश ही ढोलक पर भी पूर्ण विस्तार और चमत्कार दिखलाते है। किन्तु लोकगीतो मे ढोलक पर केवल लय व सरल ताल दिखलाना ही पर्याप्त होता है यद्यपि यह कार्य भी अत्यन्त प्रभावशाली और रोचक ढग से सम्पादित होता है। लोकगीतो मे अधिकतर कहरवा, दादरा, खेमटा और दीपचदी (चांचर) तालो का प्रयोग मिलता है। शास्त्रीय सगीतज्ञ भी जानते है कि इन तालो के विभागो और ताली-खाली आदि से जो 'वजन' अथवा 'लय की चाल' निर्मित होती है, वह कितनी सरल, सुग्राह्य और आकर्षक होती है। मनुष्यमात्र के हृदय मे जो प्रधान भाव रहते है, उनकी अभिव्यक्ति के लिए ये ताल लगभग पर्याप्त है। हर्ष, उल्लास, स्फूर्ति, उत्साह और वीरता आदि

भावो के लिए कहरवा बहुत उपयुक्त है ओर दादरा भी सहायता पहुँचाता है। दादरा अथवा खेमटा का उपयोग शृगार मे भी होता है और दीपचदी ताल तो शृगार व करुण आदि भावो की अभिव्यक्ति मे विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। ये नियम अटल नही है। इन तालो का प्रतिकूल रसो मे भी प्रयोग मिलता है, किन्तु उपर्युक्त निर्णय अधिकाश प्रयोगो के आधार पर किया गया है। अधिक विलम्बित लय का प्रयोग लोकगीतो मे नही होता, इसी से दीपचदी ताल भी मध्य व द्रुत लय मे ही प्रयुक्त होता है।

यद्यपि स्वरो के चढाव-उतार का अधिक वैचित्र्य ओर तद्विपयक विविधता लोकगीतो मे नही मिलती किन्तु जो भी स्वर-प्रयोग उनमे मिलते है वे अपनी सरलता ओर स्वाभाविकता के कारण हृदय को वरवस अपनी ओर खीच लेते है। फिल्मी गीतो मे लोकगीतो के इन्ही स्वर व लय-प्रयोगो का उपयोग कर के उनकी रोचकता और लोकरजकता वढाई जाती है।

शास्त्रीय सगीत का आधार राग-तत्त्व है और प्रत्येक राग का एक व्यक्तित्व होता है किन्तु सभी शास्त्रीय सगीतज्ञ यह स्वीकार करेगे कि प्रत्येक राग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले असख्य स्वर-समुदायो मे से कुछ गिने चुने ऐसे समुदाय होते है जो बहुत ही मधुर एव आकर्पक होते है। अन्य समुदाय केवल उस राग के वातावरण का विस्तार करने व उसकी प्रतिष्ठा कराने मे सहायता पहुचाते है। सफल शास्त्रीय गायक वही है जो राग के ऐसे प्रयोगो को चुन सके ओर उनका सही ढग से ठीक स्थान पर प्रयोग कर सके। लोकगीतो मे इतना विस्तार विल्कुल नही होता, केवल एक दो चुने हुए स्वर-प्रयोग ही दिल को खीचने के लिए पर्य्याप्त होते है। उनमे स्वरो का साज-शृगार नही होता किन्तु उनका उन विशिष्ट गिने चुने प्रयोगो का सीधा सादा पहनावा ही विस्तृत शृगार की अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता है ओर वह सव को आकर्षित करता है। शास्त्रीय सगीत मे स्वर समाधि का लक्ष्य होता है अत एक राग के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा अपेक्षित है जिसके लिए विविध स्वर विस्तार किया जाता है ओर जो सर्व साधारण के लिए सरलता से ग्राह्य नही होता। लोकगीत एक स्पष्ट भावना अथवा वातावरण की एक तीव्र और सक्षिप्त झलक दिखाते है जो सर्वसाधारण को तत्काल प्रभावित करती है।

लोकगीतो मे अधिकतर सात शुद्ध स्वरो और दो विकृत—कोमल गधार और कोमल निपाद—स्वरो का प्रयोग मिलता है। अर्थात् उनमे मुख्यत. विलावल, खमाज ओर काफी थाटो के स्वर लगते है। शास्त्रीय सगीत की दृष्टि से भी इन थाटो के राग अपेक्षाकृत अधिक सरल व सुग्राह्य होते है। कुछ गीतो मे अन्य विकृत स्वरो का भी प्रयोग मिलता है उदाहरणार्थ, कोमल धैवत ओर कोमल ऋपभ। इनमे भी कोमल ऋपभ का प्रयोग कोमल धैवत से कम मिलता है। तीव्र मध्यम युक्त गीत तो कदाचित् ही दो चार मिलेगे। किसी एक लोकगीत की स्वर-परिधि भी वहुत सक्षिप्त होती है अर्थात् अधिकाश लोकगीतो मे तीन, चार अथवा पाँच स्वर ही

प्रयुक्त होते है। देश मे शास्त्रीय सगीत के प्रचार व विकास के साथ साथ और ग्राम तथा नगर के पारस्परिक अधिकाधिक सम्पर्क होने के कारण अनेक स्थानो में लोकगीतों की स्वर-सीमाये भी बढती जा रही है। फिर सभी प्रान्तो के लोकगीतो की स्वर सीमाओ मे भी अन्तर मिलता है। कुछ प्रान्तो मे तो स्वर-वैचित्र्य बहुत अधिक मिलता है उदाहरणार्थ बगाल और महाराष्ट्र। अन्य प्रान्तो मे भी अब स्वर-सीमाये और स्वर वैचित्र्य कुछ बढ रहा है। किन्तु फिर भी हर प्रान्त के लोक सगीत मे सरलता, स्वाभाविकता और सक्षिप्तता आज भी वर्तमान है। अधिकाश लोकगीत सप्तक के पूर्वांग मे भी गाये जाते है, केवल उन्हे प्रभावशाली और स्पष्ट सुनाई देने योग्य बनाने के लिए ऊँचे स्वर का षड्ज मान लिया जाता है। उत्तराग के स्वरो का प्रयोग भी अब क्रमश बढ रहा है परन्तु पूर्वांग के स्वरो की अपेक्षा उनका प्रयोग कम होता है।

यहाँ पर एक बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। लोकधुनो मे सरलता होने का यह तात्पर्य नही है कि उनमे गायन क्रिया के सौंदर्य्य-वर्द्धक उपकरणो का पूर्णतया अभाव है। यह लोकगीत को गाने वाले व्यक्ति पर निर्भर है। ऐसे अनेक गायक मिलते है जो सरल से सरल धुन को गाते समय भी स्वभावत अनेक प्रकार के खटके, मुरकियाँ और मीड का प्रयोग अनायास कर जाते है जिन्हे शास्त्रीय सगीतज्ञ यथेष्ट प्रयत्न करने पर अपने कठ से उत्पन्न कर पाते है। वास्तव मे लोकसगीत के अनेक प्रयोग शास्त्रीय सगीत के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते है और यह सच है कि अनेक रागो का जन्म ही लोक धुनो से हुआ है जैसे आसा, माँड, झिझोटी, पहाडी आदि। वर्तमान काल मे तो लोकसगीत पर भी शास्त्रीय सगीत का प्रभाव पडने लगा है और यह आशा की जा सकती है कि भविष्य मे लोकसगीत और शास्त्रीय सगीत का पारस्परिक आदान प्रदान दोनो को ही अधिकाधिक धनी बनाता जायेगा। किन्तु इस प्रक्रिया मे सावधानी इस बात की रखनी आवश्यक होगी कि दोनो का निजी मुख्य लक्ष्य और उसके अनुकूल स्वरूप विकृत न होने पाये। आवश्यक यह है कि शास्त्रीय सगीत, लोक सगीत के रोचक और प्रभावशाली प्रयोगो को लेकर अपने को अधिक मधुर और आकर्षक बनाये और दूसरी ओर लोकसगीत, शास्त्रीय सगीत की सहायता से अपनी सीमाये और विविधता बढाये परन्तु शास्त्रीय सगीत अपनी कलात्मकता को और लोकसगीत अपनी सर्वग्राहिता एव लोकप्रियता को न छोडे।

अत मे सगीत पक्ष के महत्त्व का सकेत देने के लिए एक भोजपुरी लोकगीत "बिदेसिया" की स्वरलिपि नीचे दी जाती है। यह दीपचदी ताल मे है और इसमे स्वर क्षेत्र सम्पूर्ण सप्तक का है। इसमे दोनो निषाद और शेष स्वर शुद्ध प्रयुक्त हुए है अर्थात् इसे खमाज थाट का मान सकते है। अन्य अन्तरे भी पहले अन्तरे की धुन पर ही गाये जाते है। इस गीत की एक विशेषता यह है, कि उसके स्वरो के चढाव-उतार तथा लय से वही भाव व्यक्त होते है जो उसकी कविता में अभिव्यक्त है—

बिदेसिया (ताल दीपचंदी)

स्थायीः—

सा रे –	रे प म –	ग मग –	सारे – सा –
र हि ऽ	या ऽ त ऽ	क तऽ ऽ	मोऽ ऽ री ऽ
×	२	०	३

सा रे –	म – ग –	रे सा –	सा – – –
भा री ऽ	भइ ऽ ले ऽ	अँ खि ऽ	याँ ऽ ऽ ऽ
×	२	०	३

अन्तरा (१) :—

प प –	ध सा सा –	नी सा नी	ध नी धप –
अ मु ऽ	वा ऽ मो ऽ	ज रि ऽ	ग इ लेऽ ऽ
×	२	०	३

प ध –	प ध धप –	म ग –	सारे – सा –
म हु ऽ	आ ऽ टऽ ऽ	प क ऽ	गइ ऽ ले ऽ
×	२	०	३

सा रे –	रेप – म –	ग मग –	रेसरे – सा –
क त ऽ	दि ऽ ऽ न ऽ	व टिऽ ऽ	याऽऽ ऽ जो ऽ
×	२	०	३

सा रे –	रेम – ग –	रे सा –	सा – – –
हु इ वे ऽ	रेऽ ऽ वि ऽ	दे सि ऽ	या ऽ ऽ ऽ
×	२	०	३

अन्य अन्तरे—

(२) बाट बटोहिया रे तुहू मोर भइया हो,
हमरा सनेस ले ले जइहे रे बिदेसिया॥

(३) हमरा सनेसवा रे प्रभु समुभइहे हो,
तोरी धनि जलप वयस रे बिदेसिया॥

(४) तोहरा वलमुवा के चीन्ह नहिं जनिहौ रे,
कइसे कहवि समुझाइ रे विदेसिया ॥

(५) हमरा वलमुवा के टेढी मेढी पगिया हो,
जुलफि झरेली टेढी वाल रे विदेसिया ॥

(६) हमरा वलमुवा के लाल लाल अंखियां हो,
घुरुमि घुरुमि मारे वान रे विदेसिया ॥

(७) हमरा वलमुवा के ,घुटो भर धोतिया हो,
जइसे चले मोर उमराव रे विदेसिया ॥

(८) चिठिया जे लिहलेन मन मुसकउले हो,
वांचे लगले वरहो वियोग रे विदेसिया ॥

(९) वाट वटोहिया रे तुह मोर भइया हो,
हमरा सनेस ले ले जाहु रे विदेसिया ॥

(१०) हमरा सनेसवा रे धनि समुझइहे हो,
चरखा कातहिं कुल राखहिं रे विदेसिया ॥

ब्रज का लोक-संगीत

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०

उत्तर प्रदेशीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी भारतीय पुरातत्त्व के विशेषज्ञ है। आपने ब्रज के लोक-सगीत और उस से सबधित कलाओ का मार्मिक विवेचन किया है।
—सपादक

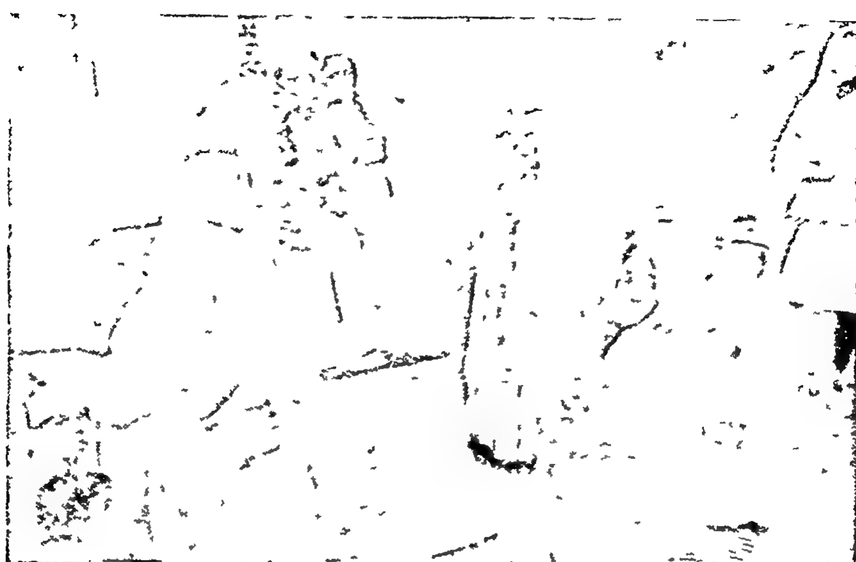
ब्रज भूमि को प्रकृति ने एक नैसर्गिक सुषमा प्रदान की है। लोकनायक श्रीकृष्ण ने ब्रज को अपनी मधुर लीलाओ का केद्र बना कर इसका महत्त्व और भी बढा दिया। भागवतकार ने ठीक ही लिखा है कि श्रीकृष्ण के ब्रज भूमि मे जन्म लेने के कारण यह भूमि अधिक गौरवान्वित हुई और यहा श्री का शाश्वत् निवास हो गया—

"जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।"
(भाग० १०, ३१, १)

इस प्रकार के ब्रज मे लोकजीवन के साथ सरस सगीत का समागम होना स्वाभाविक ही था। ई० पू० चौथी शती के पहले की कलाकृतियाँ ब्रज प्रदेश से अभी तक नही प्राप्त हो सकी। उसके बाद से ले कर गुप्त काल के अत तक के जो सैकडो कलावशेष मथुरा और उसके आसपास की भूमि मे प्राप्त हुए है उनसे पता चलता है कि सगीत प्राचीन ब्रजवासियो के धार्मिक और सामाजिक जीवन का एक अपरिहार्य अग बन गया था। इन मूर्तियो पर वशी, वीणा, मृदग आदि वाद्य बजाते हुए तथा विविध आकर्षक नृत्य मुद्राओ मे स्त्री-पुरुष दिखाये गये है। यात्रोत्सवो, उद्यान-क्रीडाओ तथा अन्य कितने ही प्रकार के मनोरजक उत्सवो मे नृत्य और गायन का प्रमुख स्थान था।

ब्रज से गुप्तकाल (चौथी से छठी शती) के बाद की सगीत परिचायक मूर्तिया यद्यपि अधिक नही मिली पर जो कुछ मिली है उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन लोकरजक सगीत की परपरा ब्रज मे बारहवी शती के अत तक जारी रही। इसके बाद मुसलमानी शासन-काल मे प्राय सोलहवी शती के मध्य तक ब्रज की लोक कलाओ को गहरा धक्का पहुचता रहा। सगीत का भी इस काल मे बडा ह्रास हुआ। परतु सोलहवी शती के मध्य मे सास्कृतिक पुनरुत्थान की लहर ने जनता मे एक बार फिर नयी आशाओ का सचार किया। इस समय ब्रज मे पुन सगीत

का प्रवाह जारी हुआ और श्रीकृष्ण की लीलाओं का प्रदर्शन रास के रूप मे किया जाने लगा। यह रास व्रज की एक अनोखी वस्तु कही जा सकती है। इसमें नृत्य, गीत और वाद्य—संगीत के



राधा के साथ कृष्ण का वंशीवादन

इन तीनों रूपों का सम्मिश्रण है। रास में वस्तुतः व्रज के बहुमुखी लोकजीवन की सुन्दर झाँकी मिलती है।

व्रज में रास का जो वर्तमान रूप प्रचलित है उसके आरम्भ होने का समय ई० सोलहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। कहा जाता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री घनण्डदेव ने, जो व्यासदेव के शिष्य थे, रास को आरम्भ किया। दूसरी परम्परा के अनुसार 'व्रज भक्ति' विलास आदि अनेक ग्रंथों के रचयिता श्री नारायण भट्ट इसके आविष्कारक थे। सम्भव है कि रास के प्रारम्भ करने में इन दोनों व्यक्तियों का हाथ रहा हो। रास का प्रधान रूप भगवान कृष्ण का अनेक गोपियों के साथ एक मंडल में नृत्य करना है। इसको इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया गया है—

"बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रासः।

अर्थात् एक विशेष प्रकार का नृत्य 'रास' कहाता है, जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं।

रास का पूर्व रूप 'हल्लीसक' या 'हल्लीशक' नृत्य है।

एक मण्डल या घेरे में नृत्य करने वाली अनेक नर्तकियों के साथ जब एक पुरुष नृत्य करता है तो इस प्रकार के नृत्य को हल्लीसक कहते हैं।

भारतीय चित्रकला में हल्लीसक के दो बहुत सुन्दर उदाहरण बचे हैं। एक अजंता की

गुफा मे लगभग ई० पाचवी शताब्दी का है और दूसरा ग्वालियर राज्यान्तर्गत वाघ (प्राचीन व्याघ्र) गुफा मे है, जो इसके कुछ समय बाद का है। दोनो मे विविध वस्त्राभूषणो से सज्जित स्त्रियो के साथ नृत्य करते हुए एक-एक पुरुष चित्रित है।



रासलीला का मडल नृत्य

पुराणो मे वर्णित श्रीकृष्ण और गोपियो के हल्लीसक नृत्य का व्यापक मधुर रूप हमे ब्रज के रास मे देखने को मिलता है। रास ब्रज का ठेठ नृत्य कहाता है। इसमे नृत्य के साथ-साथ विविध लीलाओ के अनुरूप सम्वाद भी चलते रहते है। ये सम्वाद गद्य-पद्यमय होते है। पद्यो मे सूरदास, नन्ददास, ललिताकिशोरी आदि के पद विशेष रूप से गाये जाते है और वे विविध रागो मे होते है। कभी-कभी बीच मे कवित्त और सवैये भी गाये जाते है। रास के आरम्भ और अवसान मे कतिपय सस्कृत श्लोक भी सुनाये जाते है। उपर्युक्त गीतादि विभिन्न रास मडलियो मे अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार पृथक्-पृथक् होते है।

रास का एक मुख्य अग भ्रमर गीत है, जिसमे विरहिणी गोपिकाओ द्वारा श्रीकृष्ण के पास अपना विरह-सदेश भेजना दिखाया जाता है। सस्कृत साहित्य मे 'मेघदूत' 'पवनदूत' आदि अनेक विरह गीतो मे निष्कपट प्रेम की जो गम्भीरता, करुण रस की उत्कृष्टता तथा विप्रलभ शृगार की सजीवता देखने को मिलती है वह कई दृष्टि से बेजोड है।

ब्रज के लोक गीतो मे ध्रुपद बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि ध्रुवा नामक प्राचीन गीत से ध्रुपद का जन्म हुआ है। जो हो, ई० सोलहवी शताब्दी मे हमे ध्रुपद गायन शैली का ब्रज मे विशेष प्रचार मिलता है। ध्रुपद गीत वीणा, पखावज तथा तम्बूरा के साथ गाये जाते है। यह गायन

पद्धति कव्वाली, ठुमरी आदि विदेशी गीत शैलियो से भिन्न है, और उससे कही अधिक सरस तथा गम्भीर है। अष्टछाप-कवियो के समय व्रज मे सगीत की मधुर धारा प्रवाहित हुई। सूरदास, नददास, कृष्णदास आदि प्राय सभी कवि गायक भी थे। इन कवियो ने विविध सरस गीतो का अक्षय भण्डार अपनी रचनाओ मे भर दिया। सगीत के प्रकाण्ड आचार्य तथा गायक स्वामी हरिदास जी का नाम कौन सगीत प्रेमी नही जानता ? बैजू बावरा, तानसेन—जैसे सगीतज्ञ भी उनके शिष्य थे। उनके समय मे मथुरा, वृन्दावन, गोकुल तथा गोवर्धन उत्तर भारत के प्रधान सगीत-केन्द्र थे। स्वामी हरिदास के बहुत समय बाद तक भी ये केन्द्र बने रहे, जहा विभिन्न स्थानो से सगीतज्ञ और कला-प्रेमी आते रहे। प्रसिद्ध है कि स्वामी जी का मधुर गायन सुनने के लोभ का सवरण सम्राट् अकबर भी न कर सके और इस उद्देश्य से वे वृन्दावन आये।

व्रज मे यो तो रास के अतिरिक्त अन्य अनेक मनोहर लोक नृत्य प्रचलित है पर उनमे चरकला नृत्य विशेष उल्लेखनीय है। इस नृत्य को देखने का सौभाग्य हाल मे लेखक को मथुरा से १० मील दक्षिण-पश्चिम रामपुर नामक गाव मे प्राप्त हुआ। चरकला, जिसे वहा के लोग 'चरखुला' भी कहते है, काठ की बनी हुई एक विशेष वस्तु होती है, जिसमे नीचे एक तवेहडी लगी रहती है। उसके बगल मे नीचे-ऊपर गोलाकृति मे पखुरिया बनी होती है, जिन पर तेल से भरे दीपक रखे जाते है। तवेहडी के ऊपर छोटे कलश होते है। कुल ३८ दीपक जलाये जाते है। इस चरकले को एक स्त्री सिर पर रखती है और दोनो हाथो मे जल से भरा हुआ एक-एक लोटा रखती है। इन लोटो पर भी दीपक जला दिये जाते है। तब वह नृत्य करती है। उसका देवर लगने वाला गाव का एक व्यक्ति उसके आगे-आगे नाच कर ताल बजाता है और नर्तकी को प्रोत्साहित करता रहता है। नृत्य की यह खूबी रहती है कि सिर तथा हाथो के दीपक बुझने नही पाते। इस नृत्य मे गाव की बहुए ही भाग लेती है, कन्याये नही। इस नृत्य का विशेष प्रचार ऊमरी, रामपुर तथा नगरी नामक तीन गावो मे है। यहा के वृद्धो का कहना है कि पहले चरकला बडे वज़नदार बनाये जाते थे और नीचे की तवेहडी को रेत से भर दिया जाता था। इसे सिर पर रख कर कोई-कोई जाट स्त्री लगातार ४-५ घटो तक सरपट्टा दे कर (तेजी से) नाचा करती थी।

चरकला के अतिरिक्त व्रज मे रामलीला, फूलडोल, होली आदि के अनेक नृत्य प्रचलित है, जो लोक-परम्परा की कितनी ही मधुर गाथाए सजोये हुए है।

लोक रंगमंच का रूप और संगठन

श्री जगदीशचन्द्र माथुर, आई० ए० एस०

विहार राज्य सरकार के शिक्षा-विभाग के सचिव श्री जगदीश चन्द्र जी अभिनय और नाटचशास्त्र पर प्रकृत्या अधिकार रखते है। इनके लिखे हुए नाटक रगमच के लिए सर्वथा उपयुक्त और हिन्दी साहित्य के गौरवशाली-ग्रथ सिद्ध हुए है। आपने अपने इस लेख मे लोक रगमच के रूप और सगठन पर अपने समीचीन विचार व्यक्त किये है।

—सपादक

रूपक का ऐतिहासिक पक्ष

लोक रगमच और नागरिक अथवा साहित्यिक रगमच मे मुख्य अन्तर यह है कि लोक रगमच जनसाधारण, विशेषत देहाती जनता, के दैनिक जीवन की एक प्रक्रिया, एक अग रहा है और सामाजिक उद्देश्यो का एक माध्यम, नागरिक रगमच वर्गविशेष के लोगो के मनोरजन का साधन, उनकी फुरसत के क्षणो का मन बहलाव। दूसरे शब्दो मे लोक रगमच लोक-समाज की देह का अग है, नागरिक या साहित्यिक रगमच उसका बाहरी आभूषण, लोक रगमच जीवन की उमग की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है, नागरिक रगमच कलात्मक और चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति। इसलिए लोक रगमच सर्वदा रहा है और रहेगा भी, किन्तु नागरिक और साहित्यिक रगमच राजाओ और धनिक वर्ग के आश्रय अथवा व्यावसायिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है और तदनुसार ही जीवित अथवा विलुप्त होता रहा है।

लेकिन चिरतन अस्तित्व के अर्थ यह नही है कि लोक रगमच चिरतन प्रवाहशील या विकासोन्मुख रहा है। वस्तुत जब कभी जनसाधारण के जीवन मे राजनैतिक और आर्थिक विषमताओ के फलस्वरूप विपत्तिया और अन्धकार छा गये, तभी उनके उल्लास की अभिव्यक्ति सकीर्ण, रूढिग्रस्त और स्वाभाविक सौन्दर्य से विहीन हो गई। पिछले दो सौ तीन सौ वर्षो मे भारतीय लोक रगमच का यही हाल रहा है। पर जो लोग यह समझते हो कि गुलामी और दरिद्रता के आघातो से आहत जनता तो नृत्य, नाटक और सगीत को प्रवचना समझती रही है, वे गलती पर है, क्योकि जैसे गुलाम और दरिद्र जनता का काम रोटी, चाहे वह रूखी सूखी ही हो, के बिना नही चल सकता ऐसे ही ये तीनो मानसिक भोजन भी उसके जीवन के अनिवार्य अग रहे है। किन्तु राजनैतिक परतत्रता और आर्थिक शोषण ने उनके रगमच को गतिशील

(Dynamic) से जडीभूत (Static) अवस्था मे ला दिया। रामलीला, नौटकी, रासलीला, कठपुतली, यात्रा इत्यादि १७ वी १८ वी सदी के मानसिक स्तर मे आगे न बढ पाये, उनके पात्र, उनके कथानक, समस्याये और रस-प्रतिपादन एक बीते हुए युग के निर्जीव प्रतीक मात्र बन कर रह गये।

स्वतत्र भारत मे लोक समाज के नव निर्माण के साथ ही साथ स्वत और बिना विशेष प्रयत्न और आयोजन के ही शायद कुछ समय म लोक रगमच भी नवीन स्फूर्ति और चेतना से भासमान् और भास्वर हो उठेगा। प्रगतिशील समाज आप ही आप पुष्ट और नगवत माध्यम का निर्माण कर लेता है। इसलिए यदि हम लोग लोक रगमच का सगठन देहाती जनता की सास्कृतिक उन्नति के ही उद्देश्य से करना चाहे तो यह हमारी अहम्मन्यता होगी। इस सगठन के द्वारा हम लोक रगमच का जितना उपकार कर सकेगे उससे अधिक लाभ होगा नागरिक रगमच और साहित्यिक नाटक का, लोक रगमच से सीधा सम्पर्क हो जाने के कारण। इस सम्पर्क-द्वारा नागरिक रगमच और साहित्यिक नाटक कुछ ऐसी विशेषताओ को पुन प्राप्त कर सकेगे जो प्रारभिक नाटच परम्परा के अग होते हुए भी कालान्तर मे विस्मृत हो गई। भारतीय नाटचकला और रगमच का इतिहास हमे बताता है कि प्राचीन नाटक का प्रादुर्भाव लोक रगमच और लोक नाटच के रूप ही मे हुआ था। भरत नाटचशास्त्र के अनुसार आदि नाटक की रचना ब्रह्मा द्वारा ऐसे पचम वेद के रूप मे की गई थी जो शूद्रो के भी ज्ञानवर्धन और आनन्द का साधन हो सके। यहा शूद्रो से तात्पर्य जनसाधारण ही से जान पडता है। ऋग्वेद के वे १५ मन्त्र, जिनमे इन्द्र और मरुत् की ओर से दो दलो का वार्तालाप किया हुआ है, लोक नाटच के आदितम रूप माने जाते है। कुछ विद्वानो का कहना है कि ऋग्वेद मे वह वार्तालाप सुवर्णा ध्यान मे आया और फिर उसका साहित्यिक रूप सस्कृत नाटक बन गया तथा लोकप्रिय रूप जात्रा आदि मे चालू हो गया। अन्य विद्वानो के अनुसार सामवेद के उपासना नृत्य और गान, नाटक के आदि रूप थे। लोक नाटच का दूसरा उदगम रामायण और महाभारत के उन गायको मे था जिन्हे 'पाठक' और 'धारक' की सज्ञा दी गई है। सम्भवत उन्ही गायको से भाटो की परम्परा चल निकली। इतना तो स्पष्ट है कि रामलीला और रासलीला की प्रेरणा शायद पाठक' और 'धारक' की वाणी से ही मिली। पातजलि मे शोभिको और ग्रथिको का उल्लेख मिलता है। ग्रथिक अभिनय का रूप बहुत कुछ यूनानी 'डायथिरम्ब' से मिलता था, अभिनेता दो दलो मे विभक्त हो जाते थे, एक कृष्ण का अनुयायी, दूसरा कस का और यो महाभारत और पौराणिक चरित्रो की कथा प्रदर्शित की जाने लगी। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पौराणिक चरित्रो मे कृष्ण की ही कथा इस प्रकार के अभिनयो का वस्तु विषय प्रारम्भ मे रही। वस्तुत कृष्ण लीला आर्येतर जातियो मे लोक वार्ता के रूप मे पहिले ही प्रचलित थी और कृष्ण आर्येतर जातियो मे लोकप्रिय कथानायक के रूप मे प्रसिद्ध थे। भारतीय आर्यो के प्रथम नाटको मे कृष्ण कथा की अवतारणा इस बात का प्रमाण है कि सस्कृत नाटको के

उद्भवो मे आर्येतर लोक-रगमच का बहुत कुछ हाथ था। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि सस्कृत नाटको मे गद्य की भाषा सस्कृत नही बल्कि शोरसेनी प्राकृत है, यानी उस प्रदेश की बोल चाल की भाषा जहा की सामान्य जनता शायद पहले से ही, कृष्ण लीला के अभिनय करती रही थी। सस्कृत नाटको मे विदूषक का प्रवेश भी सम्भवत लोक अभिनयो के प्रभाव मे हुआ हो, ओर कोई आश्चर्य नही यदि भाण ओर प्रहसन इत्यादि रूपक के विकास को लोक-प्रवृत्तियो ने प्रभावित किया हो।

मध्य युग मे जब एक ओर तो सस्कृत नाटको की परम्परा जन सम्पर्क से दूर हट कर प्राणहीन सी हो चली ओर दूसरी ओर मुसलमानी राज्य मे रगमच को राजभवनो से निर्वासित कर दिया गया तब लोक रगमच ही लगभग तीन चार शताब्दियो तक प्राचीन नाटच रूपो का क्रीडास्थल और पोषक बना रहा। सन् १५३२ के आसपास वल्लभाचार्य ने प्राचीन ग्रथिको के कृष्ण अभिनय को रास लीला के रूप मे प्रचारित कर एक गीत नाटच की परम्परा स्थापित की जो १९ वी सदी तक उत्कृष्ट कलापूर्ण लोक रगमच का काम देती रही। गजरात मे भी रास-धारियो द्वारा स्थानीय अभिनय कला सजीव रखी गई। महाभारत की भाति रामायण के चरित्र साहित्यिक रचना मे पहले लोक रगमच मे आविर्भूत हुए या नही, इस विषय मे निश्चित रूप से कहना कठिन है, किन्तु रामचरित्र मध्य युग से ही लोक रगमच की प्रमुख प्रेरणाओ मे रहा है ओर अठाहरवी सदी के अत मे रामलीला के काशी मे प्रदर्शन का जो विवरण प्रिन्सेप नामक अग्रेज विद्वान ने छोडा है, उससे उत्तरी भारत के लोक रगमच की तत्कालीन सजीवता का परिचय मिलता है। दक्षिण मे राम कथा कथकली के अभिनय मे लोकप्रिय हो गई। महाराष्ट्र मे लोक नाटच का सर्वप्रिय रूप रहा है 'ललित'। 'ललित' प्रारम्भ मे पौराणिक कथानको तक ही सीमित था, यथा कचदेवयानी और दशावतार। कालान्तर मे ग्रामीण जीवन की कुछ "प्रतिनिधि मूर्तियो" (Types) का व्यग्यात्मक शैली मे प्रदर्शन भी किया जाने लगा। 'ललित' मे सूत्रधार परिचय ही नही देता, यदाकदा मुख्य अभिनय के बीच मे भी प्रकट हो जाता है। बगाल और पूर्वी बिहार की जात्रा उत्तरी भारत मे लोक रगमच का शायद सब से अधिक सगठित और परिष्कृत रूप रही है, कृष्णलीला से इसे वस्तु विषय प्राप्त हुआ, चैतन्य के वैष्णव सम्प्रदाय से रसानुभूति और लेबेडेफ जैसे उत्साही और कर्मठ व्यक्तियो से सगठित लोक रगमच केवल पौराणिक और धार्मिक विषयो और कथानायको के आसरे रहा हो सो बात नही। पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे हीर राझा और हकीकत की नौटकिया बरसो तक लाखो जन-हृदयो का कठहार रही। इस पद्धति की मर्मस्पर्शिनी प्रेमकथाओ का प्रचार और उत्तर भारत मे किसी न किसी रूप मे बराबर रहा है। औरगजेब के समय मे मौलाना गनीमत ने साग (स्वाग अथवा सागीत) या 'नकल' के अभिनय का ब्योरेवार वर्णन छोडा है। दिल्ली के आसपास इन सागो का बहुत प्रचार था और इनमे प्रेम कथाओ के अभिनय के साथ-साथ तात्कालीन सामाजिक चरित्रो और व्यवहारो पर छीटे भी कसे जाते थे। यही विशेषता हम

गुजरात के 'मवई' नामक लोकनाट्य मे दृष्टिगोचर होती है। 'मवई' मे कथानक जैसी कोई वस्तु नही होती, कुछ विषय दैनिक जीवन और अनुभतियो मे से चुन लिये जाते है और मनोरजक पात्रो के द्वारा उनका उल्लेख कराया जाता है। पात्रो की एक लडी सी बध जाती है। प्रेमकथा और समसामयिक समस्याओ के सयोग मे जिस शैली के लोकनाटको का प्रचार उत्तर भारत मे हुआ उसके आधुनिक और अत्यन्त लोकप्रिय नमूने है पश्चिमी बिहार के श्री भिखारी ठाकुर के 'विदेशिया" और उसी वर्ग के अन्य अन्य नाटक। 'विदेसिया' पद्धति का अपना रगमच है जिस पर भोजपुर की जनता अब भी निछावर होती है और जिसके अनुसरण मे आज भी बीसियो छोटे मोटे नाटक खेले और प्रकाशित भी किये जा रहे है।

इस सिलसिले मे कठपुतली के नृत्य का उल्लेख करना भी आवश्यक है। कठपुतली अत्यन्त प्राचीनकाल से लोक रगमच का एक महत्वपूर्ण अग रही है। वात्स्यायन ने ६४ कलाओ मे काष्ठ पुतलिकाओ के निर्माण को शामिल किया है और सम्भव है कि सूत्रधार शब्द कठपुतलियो को सूत्र के द्वारा नचाने वाले व्यक्ति के नाम से ही लिया गया हो। आजकल राजस्थान ही उत्तर भारत मे कठपुतली के दलो का केन्द्र है, राजस्थानी कठपुतलियो के तमाशे मुगल युग के राजपूत वीरो की जीवन कथाओ की झाकिया देते है, प्राय शाहजहा के दरबार का अत्यन्त रोचक प्रदर्शन होता है और अमरसिह की बहादुरी उस प्रदर्शन मे चार चाद लगा देती है। व्यग्य भी मुख्यत मुगलकालीन दरबारियो के ऊपर होता है। ऐसा जान पडता है मानो मुगलकाल के बाद से कठपुतलीकारो की कल्पना कुठित हो गई हो।

लोक रंगमंच की विशेषताएँ

उत्तरी भारत के लोक रगमच के इस विहगावलोकन से लोक रगमच की कतिपय विशेषताये हमारे सामने आती है (१) लोक रगमच समूह या समाज (Community) की अनुभूतियो, भावनाओ एव प्रवृत्तियो की अभिव्यजना करता है, व्यक्ति की कल्पना और अनुभवो के नही। समूह की स्वाभाविक भाषा गद्य नही काव्य है, क्योकि काव्य की अप्रस्तुत योजना मे समूह की कल्पना का साधारणीकरण होता है, और गद्य के इतिवृत्तात्मक स्वरूप मे व्यक्तिगत विचारो की बारीकियो और चरित्र की मानसिक उलझनो का विश्लेषण। इसलिए लोकनाटको मे पात्र प्रधानत पद्य अथवा काव्यात्मक गद्य मे बोलते है। गद्य का प्रयोग प्राय समसामयिक विषयो के हास्यप्रधान अभिनय मे किया जाता है। (२) लोक रगमच के पात्र भी प्राय 'Types" या प्रवृत्ति विशेष या समूह विशेष के द्योतक होते है। आप उन पात्रो की स्थूल विशेषताओ को तो बता सकते है लेकिन उनमे व्यक्तिगत और बारीक विभेदो को खोजना व्यर्थ होगा क्योकि प्राय एक तरह के पात्र एक से अधिक नाटको मे तत्सम रूप मे ही आते जाते मिलेगे। सौत, पापिष्ठा भौजाई, विरक्त पति, कुटनी, नयी पत्नी का गुलाम पति, खुशामदी दरबारी, बूढा दूल्हा इत्यादि ऐसे ही पात्रो के उदाहरण है। (३) लोक रगमच प्राय खुला होता

है। पट परिवर्तन का विधान शायद ही किसी लोक रगमच मे होता हो। हा, पृष्ठभूमि म अवसर एक पर्दा टगा रहता है जिसके पीछे से पात्र आते रहते है। स्पष्ट है कि ऐसे रगमच के नाटको के दृश्यो का आदि अत न हो कर ताता बधा रहता है और गीत, नृत्य, वार्ता इत्यादि के द्वारा दर्शको का ध्यान बटा रहता है। (४) लोक रगमच के अभिनय मे सकेतो (Symbols) का उपयोग इस रीति से किया जाता है कि बहुत सी बाते बिना बोलचाल के दर्शको की समझ मे आ जाती है। ऐसे सकेतो के द्वारा यथार्थरूपी (Realistic) रगमच के अभाव की भी पूरा किया जाता है। यह अभिनय नृत्य के हावभावो का खासा उपयोग करता है। (५) लोक रगमच पर प्राय नाटक का कोई शुद्ध रूप नही टिक पाता। पौराणिक अथवा रामकथा से ली गई, रामलीलाओ और रामलीलाओ मे भी मनसुखा जैसे विदूषक समसामयिक धाराओ का समावेश करते है। प्रेम कथाओ मे विरह या सयोग शृगार के मर्मस्पर्शी अभिनय के बीच बीच मे या तो आदर्श जीवन सम्बन्धी तथ्यो का उपदेशात्मक निरूपण होता है या समसामयिक विषमताओ का दुखड़ा रोया जाता या उच्चवर्गो पर छीटे कसे जाते है। (६) लोक नाटको मे कथानक (प्लाट), प्राय ढीला-ढाला होता है और पूर्वार्द्ध मे जितनी विलम्बित गति से कथा बढती है, उत्तरार्द्ध मे उतनी ही द्रुत और अस्वाभाविक गति से घटनाओ को ढकेला जाता है। किन्तु इनमे अधिक कलात्मक वे लोक नाट्य होते है जिनमे घटनाओ के शिल्प-विधान के स्थान पर जीवन की झाकियो की लडी होती है अथवा जिनमे पौराणिक और धार्मिक कथाओ का पूर्व-परिचित प्रदर्शन होता है। जो भी हो, लोक रगमच के दर्शक कथानक मे चमत्कारपूर्ण अश अथवा घटनाओ के कौतूहलपूर्ण उद्घाटन की आशा नही करते। वे प्राय पहले ही से कथा से परिचित होते है और इसलिए कथा से प्राप्त मनोरजन उनका लक्ष्य नही होता बल्कि रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति। (७) लोक रगमच मे नाटक मडली का प्रत्येक सदस्य लगभग हरेक काम कर सकता है और करता ही है। वहा निर्देशक (Director) अभिनेता भी होता है, अभिनेता वस्त्राभूषणो का विधायक हो सकता है, नर्तक और गायक अभिनेताओ से भिन्न नही होते। आज का विदूषक कल का 'हीरो' बनने के लिए प्रस्तुत रहता है। नाटक मडली एक कुटुम्ब की भाँति काम करती है। (८) इस रगमच के नाटको मे लोक जीवन के रीति-रिवाजो और उत्सवो जैसे विवाह, तिलक, उपनयन, रोपनी, फाग इत्यादि का उल्लेख प्राय किया जाता है और कई नाटक तो ऐसे उत्सवो पर प्रदर्शित करने के लिए ही लिखे जाते है। मिथिला का जट जटिनी सवाद तो वर्षा के आह्वान के लिए किये जाने वाले उत्सव पर अभिनीत होता है। इसीलिए लोक नाटक या तो किसी समाज विशेष की सामूहिक कृति होते है या व्यक्ति विशेष की रचना होने पर भी उनमे लोक-प्रचलित गीतो और कहावतो का समावेश अवश्य होता है।

लोक रगमच के सक्षिप्त इतिहास और उसकी विशेषताओ पर विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ज्यो-ज्यो लोक जीवन पुन पुष्ट और स्वस्थ होता जायेगा त्यो-त्यो लोक रगमच नवीन वाणी से सम्पन्न, चित्तरजक रूप मे सज्जित और ओजस्वी सदेश का

वाहक बन जायेगा। किन्तु संगठन द्वारा हम लोक रंगमंच को उस स्थान पर पहुंचा सकते हैं जो उसे इतिहास में कभी नहीं मिला और जो आधुनिक जनतंत्र युग में उसको मिलना चाहिए, यानी जनजीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का माध्यम होने के साथ ही साथ वह सम्पूर्ण समाज की सांस्कृतिक चेतना का उद्‌गम और प्रतीक बन जाय। इसीलिए जैसा मैंने ऊपर कहा है, लोक रंगमंच का संगठन जनसाधारण के उत्थान के लिए ही नहीं बल्कि इसलिए भी वांछनीय है कि उसके द्वारा हमारे लिखित साहित्य को नये उपादान और नई प्रेरणायें मिलेंगी। ऊपर लोक रंगमंच की जिन विशेषताओं की चर्चा मैंने की है उनमें से कुछ परिवर्धित रूप में हमारे नागरिक या साहित्यिक नाटकों द्वारा अपनायी जा सकती हैं। इस तरह न सिर्फ हिन्दी नाटक में नवजीवन का संचार होगा, बल्कि उसका संस्कृत नाटकों की परम्परा से नाता जुड़ जायेगा। दूसरे शब्दों में लोक रंगमंच का संगठन आधुनिक नाटक को अपने उद्‌गम की खोज निकालने, अपनी मूल प्रवृत्तियों में अभिभूत होने का अवसर देगा।

संगठन-विधि

संगठन किस तरह किया जाना चाहिए? नागरिक रंगमंच का निर्माण तो किसी भी शहर में कुछ नाट्यानुरागी व्यक्तियों के सम्मिलित उद्योग से स्थापित संस्था के रूप में भी किया जा सकता है। किन्तु लोक रंगमंच तो देहातों अथवा जनसाधारण के समुदायों में अपने खेल दिखाने वाली मंडलियों या गाने बजाने वाले दलों में ही बिखरा पड़ा है। इनमें जो व्यावसायिक मंडलियां हैं जैसे जात्रा पार्टियां, नौटंकियां, "बिदेसिया" मंडलियां, रासधारी और रामलीला दल इत्यादि उन्हें तीन प्रकार की सहायता दी जा सकती है। एक तो अच्छे नाटककार उनमें प्रचलित नाटकों की विशेषताओं का अध्ययन कर के उसी रूप विधान के कुछ उत्कृष्ट नये नाटक लिखें। नाटक का रूप, रसपरिपाक और वातावरण वैसा ही हो किन्तु कथानक अधिक सुव्यवस्थित और चरित्रगठन अधिक परिमार्जित हो। प्रादेशिक नाट्य परिषद् या ऐसी कोई भी संस्था लेखकों को विशेष सुविधाएं दे कर उन्हें देहातों में भेज कर पुस्तकें उपलब्ध करा कर ऐसे नाटकों की रचना कराये और फिर मंडलियों को पहले से आर्थिक सहायता दे कर उन नाटकों को खेलने के लिए उत्साहित करे। कोई भी छोटी व्यावसायिक मंडली ५०० से १००० रुपये की सहायता पाने पर नये खेल खेलने के लिए प्रस्तुत हो सकती है। जब ऐसे ५-६ खेल रंगमंच पर आ जाय तो आर्थिक सहायता धीरे धीरे कम की जा सकती है और लेखकों का भी मंडलियों से सीधा सम्पर्क स्थापित हो सकता है। दूसरे इन मंडलियों को जो प्रायः घूमती फिरती रहती हैं, कलापूर्ण पोशाक, पर्दे और संगीत के साज लैम्प इत्यादि के लिए सहायता दी जाय। रुपया देना तो ठीक न होगा, उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए विशेष रूप से कलाकारों द्वारा तैयार कराई गई वस्तुएं ही उन्हें, प्रारम्भ में तो, बिना मूल्य के ही और बाद में सस्ते दामों में दी जायं। इस तरह भद्दी वेशभूषा और पर्दों और हारमोनियम इत्यादि बाजों का क्रमशः बहिष्कार होता

जायेगा। तीसरे, इन मडलियो मे से चुने हुए कलाकारो को कुछ समय के लिए छात्रवृत्तिया दे कर संगीत, सजावट, नृत्य और अभिनय कला मे शिक्षा के लिए विशेष केन्द्रो म भेजा जाय। ध्यान यह रखना होगा कि ये शिक्षा केन्द्र लोक रगमच की विशेपताओ से विमुख न हो जाय।

यह तो रही व्यावसायिक मडलियो की बात। इनसे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है वे मडलिया जो अनेक गावो मे वहा की भिन्न भिन्न जातियो के लोग अपने मनोरजन के लिए बना लेते है। आदिवासियो मे तो मडली बनाने की जरूरत ही नही पडती। सारा गाव या कम से कम गाव के युवक और युवती उसमे शामिल होते है। अन्यत्र भी मडलियो की सदस्यता सीमित नही होती जो चाहे शामिल हो जाय। मुख्यत ये लोग नृत्य और गाने बजाने के लिए एकत्र होते है। इनके सगठन का सब से अच्छा तरीका यह होगा कि गाव के एक सुरम्य स्थान मे उनका केन्द्र स्थापित कर दिया जाय। वहा सप्ताह अथवा पखवारे मे एक बार उनका प्रदर्शन हुआ करे। थोडी बहुत आर्थिक सहायता से उस स्थान पर एक खुला रगमच एक कलापूर्ण चबूतरे के रूप मे बनवा दिया जाय। गाव की ही स्त्रिया और बच्चे उसकी सजावट करे। गाव के कारीगर उसके लिए सामग्रिया जुटाए। रगमच का गाव की दस्तकारी से सीधा सम्बन्ध हो, जिससे देहाती समाज का प्रत्येक अग इस रगमच को, अपनी चीज समझने लगे। प्रारम्भ मे तो ये मडलिया पूर्ववत् नृत्य और गान का ही प्रदशन करेगी, किन्तु धीरे धीरे उनमे छोटे छोटे नाटक खेलने के लिए शौक पैदा किया जाय। ये नाटक या सवाद देहात की ही भाषा मे होने चाहिए और सरल शैली मे तैयार किए जाय। कथानक ऐसा हो जिसमे व्यक्ति नही समुदाय के चरित्र का विकास हो, समुदाय की समस्याओ का सीधी सादी रीति से उद्घाटन हो।

इन ग्राम मडलियो का सगठन और उनके रगमच का सचालन और निर्देशन करने के लिए उत्साही कार्यकर्ताओ की आवश्यकता है। आज दिन हम रचनात्मक कार्यकर्ताओ की माग सुनते है। यह भी सास्कृतिक क्षेत्र की निर्माणकारी योजना है। इसके लिए ग्रुप (Theatre Groups) रगमच दलो की आवश्यकता है। विश्वविद्यालयो या कालिजो के उत्साही छात्र और अध्यापक ऐसे दलो की स्थापना करे। दल के सदस्य यह नियम बाध ले कि हफ्ते या पखवारे मे एक बार गाव मे रगमच के आयोजन का कुछ काम करे। थियेटर ग्रुप के सदस्य अपने उन ग्रामीण रगमच के लिए चदा इकट्ठा करे, उनको हर कदम पर सहायता देते रहे, उनके लिए नाटक, गीत लिखे, अखबारो मे उनकी कला का प्रचार करे। जन सस्कृति के उत्थान मे हाथ बटाने का इससे श्रेयस्कर और कौन कार्यक्रम हो सकता है? अमेरिका के नार्थ कैरोलिना विश्वविद्यालय मे तीस वर्ष हुए प्रोफेसर फ्रेडरिक कोश ने इसी तरह का एक ग्रुप स्थापित किया और अपने छात्रो से जनजीवन से सम्पर्क रखने वाले लघु नाटक लिखवाये और उन्हे अभिनीत कराया। परिणामत नार्थ कैरोलिना प्रदेश मे जो अमेरिका का देहाती भाग है, एक सजीव लोक रगमच चल निकला और बिना व्यावसायिक रगमच के ही वहा लोक रगमच के आन्दोलन ने जोर पकड लिया। १९ वी सदी के अत मे आयर्लेंड के डब्लिन नगर मे यटीस, लेडी

ग्रेगरी ओर जे० एम० सिज इत्यादि के उद्योग मे एबी थियेटर की स्थापना भी वहुत कुछ इसी सिद्धान्त पर हुई थी।

यह तो स्पष्ट ही है कि लोक रगमच के सगठन मे सरकारी सहायता के विना काम नहीं चल सकता। यदि सरकार इसे अपने प्रचार विभाग का अग न वनाये तो किसी को सरकारी सहयोग मे आपत्ति नही होनी चाहिए। लेकिन जहा तक हो सके व्यावसायिक और ग्राम मडलियो को सहायता देने और उन्हे सगठित करने का भार सरकार को प्रादेशिक सगीत नृत्य नाट्य कला परिषद् या इसी ढग की गैर सरकारी सस्थाओ पर छोड़ देना चाहिए और उन्ही को प्रति वर्ष आवश्यकतानुसार अनुदान देना चाहिए जिससे वे ऊपर दिये हुए सुझावो के अनुसार सगठन कर सके। इसके अतिरिक्त दो वाते सरकार अपनी ही ओर से कर सकती है। एक तो कुछ घूमने फिरने वाली नाटक मडलियो की स्थापना सरकारी खर्चे से ही करे। ये मडलिया देहातो मे घूम घूम कर अच्छे नाटको का प्रदर्शन करे, रगमच इनका भी सीधा सादा हो, नाटको का रूप भी लोक परम्परा का अनुगामी हो। जहा जहा ये मडलिया जायेगी, एक नवीन रगमच का नमूना देहाती जनता के सामने पेश कर देगी। उनके अनुकरण मे न सिर्फ व्यावसायिक मडलिया उसी ढग के नाटक खेलने लगेगी, वल्कि देहातो मे स्थायी रगमचो की भी स्थापना होने लगेगी। इन मडलियो की साल भर मे एक वार ट्रेनिग का भी प्रवन्ध होना चाहिए। दूसरी वात जो सरकार के द्वारा की जा सकती है वह लोक रगमच के महोत्सवो का आयोजन। ऐसे महोत्सव अलग अलग इलाको मे हो तो अच्छा है। उत्सवो मे प्रतियोगिता और पुरस्कारो का आयोजन होना चाहिए। विहार सरकार ने मोद मडलियो के नाम से घूमने फिरने वाली नाटक मडलियो का सगठन किया है, और वर्ष मे एक वार प्रादेशिक रगमच महोत्सव को भी चालू किया है।

पिछले वीस पच्चीस वर्षो मे लोक नृत्य और लोक सगीत की ओर सस्कृति-प्रेमी व्यक्तियो का ध्यान गया है और नगरो मे उनका प्रचार भी वहुत कुछ हुआ है। किन्तु लोक रगमच जैसी चीज की स्थापना करने की कोई योजना हमारी नजर मे नही आई। लोककला को नगर और सभ्य कही जाने वाली जनता के सामने रख देना एक वात है और जन जीवन के वीच मे उन्ही के मनोरजन और उन्ही की सम्पूर्ण अभिव्यजना का आयोजन करना, दूसरी वात। गाव से नगरो की ओर दौलत भी खिची, उसकी गोदी के लाल भी खिचे, उसकी धरती के गीत भी उड़े। क्या यह नही हो सकता कि उन गीतो की पौध अव उसी धरती मे जमे, फले फूले और लोक जीवन को आनन्द-रस से सरावोर करे ?

लोक जीवन में कला की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय

श्री विजयवर्गीयजी, राजस्थान के चित्रकारो एव कलाविदो मे अपना प्रमुख स्थान रखते है। आपने इस लेख मे लोक जीवन मे प्रस्फुटित होने वाली कलाओ की विभिन्न अभिव्यक्तियो का परिचय अपने दृष्टिकोण से दिया है। —सपादक

उपयोगिता और आनन्द जीवन की दो प्रधान प्रवृत्तिया है। उपयोगिता मे जीवन का मूल पोषण सन्निहित है तथा आनन्द मे सत्व। जीवन के विभिन्न अगो का यदि विवेचन किया जाय तो आनन्द की आवश्यकता उपयोगिता से भी अधिक दिखलाई पडेगी। आहार, निद्रा आदि शरीर धारण के प्रमुख आधारो के अतिरिक्त यदि कोई आवश्यकता है तो वह आनन्द के अन्तर्गत ही जान पडती है।

मनुष्य ने किस प्रकार अपने जीवन के चारो ओर आनन्द की रचना की है इसका कोई प्रामाणिक इतिहास नही है और न इन रचनाओ की जन्म तिथियो का कोई निर्धारित समय ही। आनन्द के ये अनन्त रूप कब और किस समय मानव जीवन मे प्रस्फुटित हुए वह स्वयम् नही जानता।

आनन्द की मूल प्रेरणा है रसात्मक अनुभूतिया जो पृथक् पृथक् इन्द्रियो द्वारा ग्रहण की जाती है। यद्यपि सभी रस मनुष्य को ग्राह्य और प्रिय है किन्तु कुछ उनमे गुप्त रूप मे ग्रहण किये जाने योग्य है और कुछ प्रकट रूप मे। जो गुप्त रूप से ग्रहण किये जाते है उनका आनन्द केवल एक ही मनुष्य ले सकता है परन्तु कुछ वे है जो सामूहिक रूप मे सब को समान आनन्द दे सकते है। इन्द्रिया जो आनन्द ग्रहण करती है क्रम से रूप, रस, गन्ध, श्रवण, स्पर्श पाच है इनमे से दो स्पर्श और रस को मनुष्य गुप्त रखता है तथा इनकी अनुभूति भी स्वत ही चाहता है। किन्तु तीन रूप, गन्ध और श्रवण के आनन्द को वह सामूहिक रूप मे उपभोग करने मे सुख अनुभव करता है। इन तीन मे भी गन्ध का महत्व गौण रह जाता है, रूप तथा श्रवण ही प्रधान बच रहते है।

पाच इन्द्रियो के अतिरिक्त मन है जो सभी रसो का उपभोग करता है साथ ही मनन करना भावनाये देना इसका गुण है। इस प्रकार इन तीन प्रमुख इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त किया

गया रस विपाक मानव जीवन मे अधिक ग्राह्य और पल्लवित हुआ है। इन तीनो रसो को साहित्य, सगीत और कला कह कर हमारे पूर्वजो ने व्यक्त किया है।

सगीत वाणी का विलास, साहित्य भावनाओ का विलास तथा चित्र-कला दृष्टि का विलास, दृष्टि का सुख है।

तीनो प्रकार के विलासो को ले कर मनुष्य ने एसे आनन्द की रचना की है जिसके आदान प्रदान मे वह द्वेष रहित हो कर महद् समूह मे सम्मिलित होता है और बिना कृपणता का आश्रय लिए इनका सुख लेता है यहा तक कि ये आनन्द अधिक सचित हो जाने पर स्वत ही धारण करने वाले के हृदय से फूट निकलते है। ये तीनो प्रवृत्तिया अनादि काल से मानव हृदय मे पोषित होती चली आ रही है, न इन्होने पाषाण युग की प्रतीक्षा की और न लौह युग की। आज भी वे जातिया जो लौह और पाषाण युग के समीप है इन तीनो प्रवृत्तियो से रहित नही है। उनके जीवन मे आहार, निद्रा, भय और मैथुन की जितनी प्रधानता है उतनी ही आनन्दोपभोग की जो उपर्युक्त प्रवृत्तियो द्वारा साध्य है। यहा तक कि पशुओ का जीवन भी इन तीन प्रकार के विलासो का अपवाद नही है।

लोक जीवन मे इन तीनो विलासो की अभिव्यक्ति अनेकानेक रूपो मे विद्यमान है यद्यपि इस जीवन ने इसके लिए कोई प्रयास नही किया, न कही शिक्षा प्राप्त की। उनके अन्तरात्मा से निकली हुई रस धाराओ मे उन्हे स्वत आनन्द आने लगा और वे इसके उपभोग मे रत हुए तथा स्वाद लेने लगे।

सर्वप्रथम भावनाओ का विलास है जिसका प्रादुर्भाव प्रेम, करुण, और क्रोध भरे हृदयो से हुआ है, परन्तु देखा गया है कि प्रत्येक प्राणी अपनी भावनाओ को दूसरो तक पहुचाने मे असमर्थ होता है। वह तो केवल अश्रुपात, दीर्घ निश्वास और अधर दशन तक सीमित रह कर एक प्रभाव उत्पन्न कर देता है, उसके अन्तर की पुकार सुनने वाला, उसके अन्तरात्मा मे पैठ कर उसकी पीडाओ का मार्मिक विवेचन और प्रदर्शन करने वाला एक दूसरा ही व्यक्ति होता है जो आँखे फाड फाड कर, कान लगा लगा कर दूसरो की व्यथा को देखा और सुना करता है। यह प्राणी कब, किसके सम्मुख अपने उद्‌गार उगलता है? उसे किसी ने नही देखा, उसका किसी ने सम्मान नही किया, न उसने सम्मान चाहा, वह तो न जाने किस अज्ञात वेला मे कुछ कह गया जो केवल श्रुति और स्मृतियो के आधार पर जीवित है। उसकी मर्मान्तिक पुकार जन समूह की भावनाओ मे गीत बन कर फूट निकलती है, सहस्र सहस्र जिह्वाये उसे गा उठती है। उस नव वधू की कातर वाणी जो घूघट के कपाटो मे बदी है, उस प्रवासी के निश्वास जो लोक लाज के प्रकाश मे नही आते। उस विद्रोही की हुकार जो रात्रि के गहन अन्धकार मे विषधर की फुकार की तरह सुनी जाती है यही प्राणी उसे बटोरता है और उन पगडण्डियो मे बिखेर देता है जो बल खाती हुई पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक चली गई है।

इसके अतिरिक्त कुछ वे हृदय है जो आनन्दातिरेक मे स्वत ही मुखरित हो उठते है।

उन्हें किसी दूसरे के हृदय को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। ये हैं उत्सवों, विवाहों, मेलों और देवार्चनों के उपलक्ष में प्रस्फुटित हुए उद्गार जो तत्काल अन्तर में निकल कर जिह्वा पर आ जाते हैं और अपनी व्यापकता को अमर बना जाते हैं। कुछ उद्गार वे हैं जो वनान्तर के किसी कोने में बकरिया चराते समय, गायें चराते समय, किसी अज्ञात कण्ठ से फूट निकलते हैं। इनकी ताल और लय नियमों के बन्धनों से दूर स्वयम् सिद्ध हैं। कोई विरही कण्ठ कब प्रतीक्षा में आतुर हो कर ध्वनित हुआ? कोई कातर ध्वनि कब रुदन बन कर पवन की सासों में उतर गई, कोई नहीं जानता। दो वियोगियों का मिलनातुर स्वर किन सम्बोधनों से व्यक्त हुआ यह भी अज्ञात क्षणों के ललाट पर कब लिखा गया किसी को ज्ञात नहीं है।

आज के ग्राम्य गीत उन्हीं अज्ञात स्वरों की ध्वनियां हैं जिनके प्रत्येक वाक्य में अन्तर की ज्वालाएं अंकित हैं। ये गीत सरोवर के तट पर, किसी एकान्त पर्वत उपत्यका के वृक्ष के नीचे, किसी टूटे छप्पर की भग्न कुटीर में प्रायः गाये जाते हैं। शृंगार की विविध भावनाएं, शृंगार की अनेक प्रेरणाएं इनमें भरी रहती हैं, यहां तक कि जीवन की व्यापक और आधुनिक समस्याएं भी इन गीतों का एक अंग हैं जो मेलों तमाशों में सुनाई पड़ जाती हैं।

भाव व्यक्त करने की यह कला स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। वे कभी दो चार एकत्रित हो कर या कभी अकेले में बैठ कर दुःख और प्रेम के आवेश में वाक्यों को शृंखलाबद्ध कर लेती हैं, थोड़े में उलट फेर संशोधन अपने आप होते रहते हैं और इस काव्य धारा का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है।

छोटे गीत ही नहीं बड़े बड़े काव्य भी इस अबोध जीवन में लिखे गये और वे प्रचलित हैं मारू की प्रेम कथा, हीर की रांभा के प्रति मिलन भावना, सोहनी की महिवाल से निपा मिलन वाली दुर्घटना, सारंगा का प्रेम निवेदन, मधु मालती की विरह व्यथा, गोपीचंद और रानी पिंगला के कथोपकथन, राठोर अमर सिंह, पाबूजी रायड़ आदि की वीर गाथाएं गांव के चारण, भाट, ढोली, दमामी, डूम अब तक गाते हैं, इन कहानियों को आद्योपान्त रात्रि के घने अन्धकार में किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर ग्रामीण जन बड़े मनोयोग से सुनते हैं। यही काव्य कभी छोटे गीतों में परिवर्तित हो जाते हैं और यही प्रेरणाएं प्रेम की रस भरी संगीत धारा बन कर प्रवाहित होती हैं। इसीलिए वाणी का विलास अर्थात् संगीत लोक जीवन का इतना आवश्यक अंग है कि बिना इसके कोई उत्सव, कोई प्रसन्नतासूचक समारोह, कोई देवपूजा कोई जीवन के व्यवहारिक कार्य सम्पादित नहीं होते।

सावन की तीज आई कि गीतों भरे स्वर घर घर की दीवारों के चारों ओर ध्वनित हो उठते हैं जिनमें प्रियतम के घर लौट आने की चाह है। वर्षा की झड़ियों का प्रलोभन प्रवासी को दिया जाता है, विद्युत् प्रकाश में प्रवासी की नववधू डर डर जाती है, वर्षा के शीतल बिन्दु शर की भांति शरीर में लगते हैं, मयूरों की ध्वनि का आकर्षण, सरिता के प्रवाह, झरनों की कल कल ध्वनि, पक्षियों के मधुर गान, चातक के प्रति उपालम्भ इन गीतों की प्रमुख अभि-

व्यक्ति है। इसी प्रकार शीत के दिन आते है और पत्नी अपने प्रियतम से अनुरोध करती है कि वह उसे अकेली छोड कर कही न जाय। शीत मे तो मानु भी एक स्थान पर बैठ कर धूनी तपते है, सर्प भी बाबियो मे शीत निद्रा लेते है। यही अवस्था ग्रीष्म के गीतो की है जिनमे चादनी रात, कोकिल का मधुर कण्ठ, चैत मास के फूलो की गन्ध, झरने की शीतल धारा मे तृषा बुझाने की चाह मे प्रियतम को यात्रा न करने देने की कल्पना छुपी रहती है।

सगीत के साथ नृत्य का स्थान भी प्रमुख होता है, विवाहो के नृत्य, उत्सवो के नृत्य, सम्बन्धी ओर सम्बन्धिनो की परस्पर भेट होते समय के नृत्य, भाभी देवर के विवाह मे नाचती है, बहिन अपनी भाभी के प्रथम आगमन पर नाचती है, मा अपने पुत्र के सम्मुख उस समय नाचती है जब वह बरात सज कर घोडी पर बैठता है। युवक युवती मेलो मे नाचते है, ये नृत्य ताल और लय के आधार पर ऐसी तल्लीनता, लावण्य और भगिमा का प्रदर्शन करते है कि दर्शक चकित रह जाता है।

इसके पश्चात् दृष्टि विलास का महत्त्व है जो लोक जीवन मे सौन्दर्य बोध विकास का सूचक है इसका विकास चित्रो के रूप मे, तमाशो के रूप मे लघु कथाओ के नाटकीय प्रदर्शनो मे, रामलीला, रासलीला, स्वाग भरना, शृगार सज्जा करना, भवनो को चित्रित करना आदि कितने ही भेद दृष्टि को सुख पहुचाने के है। नृत्य भी दृष्टि सुख का ही एक अग है तथा वेष भूषाओ की विविधता भी इसी प्रवृत्ति का विकास है। चित्र रचना को आधार बना कर कितनी भावनाओ ने, कितने उद्गारो ने जन्म लिया, किस किस प्रकार मनुष्य ने अपने चारो ओर सौंदर्य की सृष्टि की, एक लम्बा इतिहास है। पत्थरो के कठोर से कठोर कलेजे मे उसने रसो की प्रतिष्ठा की, मिट्टी की विविध आकृतिया बना कर अपने वर्तमान जीवन की प्रगति को मूर्त रूप दिया, काष्ठ, धातु और शिला खण्डो को तोड फोड कर उनमे सौंदर्य की कोमल कल्पनाओ को स्थापित किया। क्षुधा निवृत्ति के पश्चात् मनुष्य ने जो कुछ भी किया वह अपनी सौदर्य भावना को पोषण करने का ही अभिप्राय था। जीवन की सभी सुखमय आवृत्तिया सौदर्य के आधार पर हुई। धार्मिक देवता भी इसी भावना की परितृप्ति तथा उत्सव, सामूहिक आयोजन भी प्राय इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विकसित हुए।

वे चित्र जिनमे विरही पति आकाश को देख कर विह्वल होता है, वे आलेखन जिनमे अभिसारिकाएँ सरिता प्रवाह को उल्लघन करने के प्रयास मे है, वे अश्वारोही जो प्रिय के मिलन की आतुरता मे उडे चले जा रहे है, वे प्रोषित पतिकाएँ जो मयूर के रव मे आहत हो उठी है वे आगत पतिकाएँ जो द्वार की ओर टकटकी लगाये खडी है, वे पक्षी जो शकुन के सूचक है वे पशु जो पवित्रतम है, वे भाव जो हृदय को विह्वल बना देने वाले है, कितनी सरलता से कितनी उत्कृष्ट अनुभूतियो से लोक जीवन ने निर्माण किये, देखने योग्य है! इनमे यद्यपि कुशल शिल्पी की जैसी श्रम साध्य कृतिया नही मिलती किन्तु जो रस, जो सृजनात्मक प्रतिभा लोक कला मे है वह कुशल शिल्पी मे नही प्रतीत होती। प्रस्तर खण्डो, काष्ठ फलको और मृण्मयी आकृतियो मे भी

लोक कला इतनी प्रभावोत्पादक सरल अभिव्यक्तियो को ले कर प्रस्फुटित हुई है कि साधना सम्पन्न शिल्पी भी उनके सम्मुख नत मुख हो जाते है। वस्त्रो की छपाई, उनके बेल बूटे और छोटी रेखाओ मे दिखाये गये अभिप्राय बडे ही सार्थक और सजीव प्रतीत होते है। उपयोगी वस्तुओ मे भी ग्रामीण जनता बडे सुन्दर साधनो की सृष्टि कर लेती है तथा उनके उपयोग अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल और परिमित होते है।

लोक कला का उदय

श्री मार्कण्डेय

नवयुग की नयी चेतना से प्रभावित श्री मार्कण्डेय जी ने लोककला के उदय का सिहावलोकन अपने दृष्टिकोण से किया है। तरुण लेखक की तरुण भावनाओ का प्रतिविम्ब इस लेख मे है। —सपादक

लोक-कला की व्याख्या करते समय साधारणत इतना तो सोचा ही जाता है कि वह समस्त कला जो लोक द्वारा निर्मित होती है, इसके अन्तर्गत आ सकती है। अपने देश की प्रचारित भावानुभूति मे इस 'लोक' शव्द के प्रयोग मे अधिक व्यापकता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो लोक-निन्दा, लोक-लज्जा, लोक-सम्मान इत्यादि शब्दो का प्रयोग करते समय हमारे मन मे समस्त मानव-समाज के द्वारा होने वाली निन्दा, लज्जा और सम्मान का चित्र रहता है। ऐसी अवस्था मे 'लोक' शव्द की व्यापकता के अनुसार लोक-कला का तात्पर्य वह समस्त कला है जो मनुष्य के द्वारा निर्मित होती रही है या होती रहेगी। लेकिन जब हम लोक-सगीत, लोक-नृत्य या लोक-सस्कृति इत्यादि शव्दो का प्रयोग करते है तो इसका कुछ दूसरा ही अर्थ होता है। स्पष्टत 'लोक' शव्द को हम अग्रेजी के 'फोक' शव्द के अर्थ मे लेते है, जिसका भावानुगत अर्थ असल मे जन समुदाय के उस अग मे सम्बद्ध हो जाता है जो नागरिक-सस्कृति से कुछ दूर हो। "प्रत्येक देश की सस्कृति तथा साहित्यिक परम्परा के दो भाग होते है—ग्रामीण परम्परा तथा नागरिक परम्परा। इन दोनो का सम्वन्ध ऐसा समझिए जैसे दूध और उसके ऊपर की मलाई की तह का।"[1]

'लोक' या 'फोक' शव्द की आधुनिक व्याख्या मे धीरेन्द्र जी का मत चाहे मान्य हो पर आदिम काल की सभ्यता के मानवीय स्तर मे इस प्रकार का कोई भी विभेद नही दीखता। समस्त मानव-प्रकृति की एक रूपता ही आदिम-मानव की मूल-प्रवृत्ति थी। एक से कार्य, एक सी सवेदनाए, एक सी चेष्टाए, एक से रागातमक-सम्वन्ध इत्यादि उसकी विशेषता थी। वस्तुत 'लोक' शव्द की आदिम मर्यादा का ही फल है कि आज भी उसकी व्यापकता का बोध शेष रह गया है। लेकिन सभ्यता और सस्कृति के विकास के कारण आदिम मानवता मे एक ऐसा वर्ग बनता गया जो 'लोक' या 'फोक' से अपने को अलग समझने लगा। वैसे लोक-गीत (Folk song)

१—देखिए डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० सत्येन्द्र, 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' का परिचय।

जर्मन के (Volkslied) का अपभ्रंश माना जाता है जिससे भी जनता के समग्र सौन्दर्य मूलक भावों का प्रतिपादन होता है यहा भी लोक शब्द का प्रयोग जनता की समग्रता का ही सूचक हैं।

ध्यानपूर्वक देखने से इस 'लोक' शब्द की वर्तमान अर्थगत परम्परा का उदय स्थान यही ठहरेगा। सम्भवत यही से उसका क्षेत्र सीमित हो गया। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इस विकास-काल मे परिश्रमशील जनता के लिए जिन्हे विद्वानो ने पिछडी हुई, मूर्ख और असभ्य कहा है 'फोक' या 'लोक' सज्ञा दी गई। दुनियाँ के अनेक देशो की श्रमिक जनता का इतिहास देखने पर इस बात की कुछ और पुष्टि हो जाती है। हिन्दुस्तान मे श्रमिक जनता को ज्ञानार्जन और पठन-पाठन से दूर रखा गया। 'शूद्र' को 'क्षुद्र' बता कर उसके लिए अलग से सामाजिक नियम गढे गये, जिसमे उसे साधारण अपराध मे भी भयानक दड की व्यवस्था की गई। ग्रीस का विश्वविख्यात दार्शनिक अरस्तू तक गुलामी को स्वाभाविक बतलाता था। रोम मे 'सर्फ' की दुर्दशा का इतिहास पाठको से छिपा नही हैं।

लोक और उसकी कला की प्रस्तुत व्याख्या का समाज मे व्यक्तिगत पूजी के उदय से गहरा सम्बन्ध है। इस प्रकार इन दो विभिन्न वर्गो और उनके स्वाभाविक सघर्ष ही के कारण "कला की प्रतिभा को चन्द लोगो मे सीमित किया गया और बडे पैमाने पर जनता की कलात्मक भावना को दबाया गया।"[1] यह सघर्ष चाहे बाह्य रूप से उतना उग्र न रहा हो पर उन लोगो द्वारा जो अपनी भौतिक चेतना द्वारा या बौद्धिक विकास मे साधारण जन समुदाय से आगे थे, ऐसे अनेक उपायो का उपकरण किया गया जिससे साधारण जनता को कार्य विभाजन की सीमाओ को लाँघने का अवसर न मिले। इस सघर्ष कालीन जन-चेतना द्वारा उद्‌बुद्ध कला ही वास्तविक रूप से लोक कला की सीमाओ मे आती है। "श्रमिक वर्ग के लिए कला का निर्माण एक विशेष अर्जित गुण के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ क्योकि श्रमिक-वर्ग की चेतना का उद्‌बोधन ही उसका मुख्य कार्य है।"[2]

लोक प्रवृत्तियो की परम्परा का निरीक्षण करने पर पता चलता है, कि इसके समस्त तत्व श्रमिक जीवन के विभिन्न अनुभूतियो से भरे पडे है। पहली बार जब आदि मानव ने शिकार की खोज मे दौड लगाई होगी या पत्थर के एक पैने टुकडे का निर्माण किया होगा या वृक्ष के कई पत्तो को जोड लिया होगा, तो वही उसकी कला का प्रारम्भ माना जाना चाहिए। पेरी के शब्दो मे आदि मानव का उल्लास मे लिया गया विकृत अलाप ही आदि सगीत है।' यह तो एक साधारण सी मान्यता है। लोक कला के उदय पर तो विद्वानो मे बडा मतभेद है। इतना अवश्य है कि उनकी सम्मतियो के सार को दो मुख्य धाराओ मे बाटा जा सकता है।

१—देखिये Karl Marx and Frederick Engles, Literature and Art p 75

२—देखिये Luis Harap, Social Roots of all the Arts p 119

कुछ लोगो का कहना है कि लोक-कला का उदय आदि मानव के श्रम का प्रतिफल है। दूसरे शब्दो मे उत्पादन ही आदि कला का जन्म स्थान है।

कुछ लोग इसे भ्रामक बनाते हुए कहते हैं, कि उत्पादन ने कला को अभिवृद्धि तो दी पर उसके उदय मे इसका वैसा हाथ नही था। इनका कहना है कि शान्ति और व्यवस्था मे कला का जन्म हुआ। या यों कहे कि कला स्वत मानव मे फूट पड़ी या जगलो में घूमते फिरते हाथ लग गई।[1]

"लय, सगीत, ओर कविता आदि मानव के श्रम से पैदा हुई। शारीरिक परिश्रम उस दशा मे अत्यन्त आसान हो उठता था जब कार्य एक लय के साथ किया जाता था। हाथ से सामूहिक रूप से काम करते समय, शक्ति का एक सग्रहीत रूप उपस्थित करने के लिए उसे एक लय मे बाँधना जरूरी हो जाता था और इस प्रकार मांस पेशियो के कार्य मे जब अधिकतम शक्ति लगने लगती थी तो अपने आप एक स्वर फूट पडता था। इन स्वरो पर आदि मानव ने शब्दो का पर्दा चढा दिया और सगीत बन गया। इसके अतिरिक्त ओजारो का धातुओ से टक्कर लगना ओर उनसे स्वर का निकलना भी उनके लिए प्रेरणा का कारण बना। इसी तरह बहुत से ओजार भी वाद्य यत्रो मे परिणित हो गए।"[2]

शारीरिक परिश्रम के अलावा भी आदि मानव की अनेक समस्याएँ थी। प्रकृति के बाह्य तथा आन्तरिक रूप विधानो मे अनेक ऐसी विस्मय जनक वस्तुएँ जिनका कोई ज्ञानात्मक साक्षात-कार उनसे नही था। इसलिए उनके सामने प्राथमिक सघर्ष तो यही था कि वे प्रकृतिजन्य बाधाओ पर विजय प्राप्त करे। पहाडो, जगलो तथा अँधेरी खौफनाक गुफाओ के अतिरिक्त वर्षारम्भ के काले कजरारे मेघ तथा बादलो का घर्षण भी उनके सम्मुख एक आसन्न विपत्ति के रूप मे उपस्थित होता रहा होगा। इन बाधाओ का मुकाबला भी उन्होने जरूर किया था ओर वह भी सामूहिक रूप मे। प्राचीन धर्म गाथाओ मे जो सूर्य पूजन या अनेक प्रकार का ऐसा अभ्य-र्थना-साहित्य मिलता है उसका मूलश्रोत यही भय ही माना जाना चाहिए। 'आदिम मानव का आध्यात्म जीवन चिन्ता और आशका की तथा मौन-प्रेरणा अथवा काम चेष्टाओ का जीवन है।"[3]

१—Frank Boas महोदय का कहना है कि साहित्य, सगीत और कला आदिम युग मे सार्वदेशिक रूप से पाई जाती थी। इनके अनुसार कला के लिए शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता होती है। कृषि तथा अन्य समुदायो में खाद्य सामग्री इकट्ठी करने का एक समय होता था। बाकी समय में लोग कलात्मक वस्तुओ का निर्माण करते थे।

२—See Karl Bucher, Arbeit und Rhythmus

३—देखिये १९४३ के Indian historical quarterly में प्रकाशित विनय कुमार सरकार का लेख 'A study of Meyer's Trilogy of vegitation powers and Festivals'

वैदिक साहित्य की ओर दृष्टि डालने पर हमे इस धारणा की पुष्टि के लिए पर्याप्त मसाला मिल जायगा। यदि वेदो को धर्म गाथा मान लिया जाय, जिस पर बडे मतभेद हैं तो आदि मानव की प्रारम्भिक सम्वेदनाओ का एक वृहत् रूप सामने आता है।

कृषि कर्म को प्रारम्भ करता हुआ वेदकालीन किसान कहता है—

"यत् ते भूमे विश्वनामि क्षिप्त तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमितवरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥"

"हे भूमि! मै तुझे जहा से खोदू वह शीघ्र ही हरा भरा हो जाय। मै तुम्हारे मर्म पर आघात न करू, मैं तुम्हारे हृदय को व्यथित न करूँ।"

इसी प्रकार—

"माता भूमि. पुत्रो अह पृथिव्या." (अथर्व, १२।१।११)

'यह भूमि मेरी माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।'

इस प्रकार मारा का सारा वैदिक साहित्य जीवन की जागृत प्रेरणाओ से भरा है। आदिम मानव का प्रकृति मे सघर्ष और उमसे उद्भूत स्फूर्ति का जगह जगह चित्रण मिलता है इस दृष्टि मे वेद का यह वाक्य बडा ही मनोहारी है—

"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः"[१]

"बिना स्वय परिश्रम किये देवो की मैत्री प्राप्त नही होती।"

वैदिक साहित्य की विवेचना के लिए यह स्थान नही है। यहा तो इतना ही अभीष्ट है कि इन धर्म गाथाओ का उदय भी श्रमिक जनता की मानसिक परेशानी और सामाजिक सघर्ष से ही हुआ है।

तत्कालीन नृत्य या चित्र कला मे भी हमे पेशे की प्रधानता ही लक्षित होती है। अपने कामो मे लगी हुई जनता कला को कला समझ कर नही वल्कि अपने पेशे का ही एक माध्यम या मुलभाव समझ कर स्वीकार करती है। 'उत्तरी पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे बरसात की बडी आवश्यकता रहती थी। आदिम काल मे इसके लिए वहा के लोग एक जादू के पत्थर का टुकडा बहुत से टुकडो पर रख कर तब तक नाचते थे जब तक कि बेहोश नही हो जाते थे। उनकी नृत्य-मुद्राओ मे बिजली का चमकना, बादल का गरजना इत्यादि लक्षित होते थे। उनके बहुत ऊचाई तक कूद कूद कर नाचने का अभिप्राय केवल मात्र इतना ही था कि वे जितना ही उछलेंगे

१—ऋ० ७, ४, ३३, ११।

उनके पोदो के डठल उतन ही लम्बे होगे। इमके अलावा वे अपने मुह मे प्राय वैसे ही शब्द करते थे जिम तरह के जानवरो का वे शिकार किया करते थे।"[1]

इसी प्रकार की एक व्याख्या भारतीय आदि मगीत के बारे मे भी मिलती है। मामवेद ही आदि मगीत का मूल श्रोत माना जाता है। माम गान के रूपो के नाम क्रुष्ट, प्रथमा, चतुर्थी, मन्द ओर अतिस्वार्य है। उनके तीन वाद्य भी थे दुन्दुभि, वीणा और वेणु। मामवेद ही का उपवेद गन्धर्ववेद या गान्धर्व वेद है जिममे मोलह हजार राग रागिनियाँ निकली।"[2]

इस वेद मे मोमरस तथा मोमलता के कतिपय महिमा गान है। मोमरस बनाये जाने की एक व्यापक प्रणाली थी। जिममे तत्कालीन मानव-मन की तन्मयता और श्रम का उपयोग होता था। क्योकि सोमरस उस काल का बडा ही प्रिय आर प्रशमनीय पेय पदार्थ था। इमसे वल, विद्या, बुद्धि इत्यादि की अभिवृद्धि का भी उल्लेख मिलता है। इम पर भी बडा माहित्य है। यहा स्ट्रेग वेने महोदय का यह मत देखिए—यह समस्त माहित्य 'मोमरस बनाये जाने तथा चन्द्र लोक मे निवास करने वाले पूर्वजो की पूजा के समय गाया जाने वाला माहित्य है।"[3]

इस व्याख्या मे आशिक मत्य तो जरूर है, क्योकि मोमरस का मामाजिक महत्त्व इतना महान माना गया है कि उसके उपार्जन के लिए किये गए श्रम के दरम्यान मानव-अह्लाद तथा श्रम की एक कल्पना की जा सकती है। इस कल्पना मे आदि सगीत का मन्निहित होना विशेप सशयकारी नही है।

नृत्य की उत्पत्ति पर तो आदिम मानव की श्रम साधना का स्पष्ट प्रभाव अब भी देखा जा सकता है। देहातो के धोबी, कहार और अहीर इत्यादि जातियो के नृत्यो मे श्रम साधना के लक्षण अब भी अवशेप मिलते है। उन पर उनके पेशो का भी स्पष्ट प्रभाव है। धोबी के नृत्य गीतो मे कपडे धोने की बात या घाट पर जाने इत्यादि की स्पष्ट छाप मिलती है। नृत्य पर "विशेप समुदाय के पेशो का पर्याप्त प्रभाव था। शिकार करने वाली जातिया उस प्रकार के विशेप नृत्य करती थी जिसमे शिकार के पकडे जाने की नकल हो। खेतिहर समुदाय के नृत्यो मे कटाई, बोआई, रोपाई आदि के चित्र मिलते है। इस प्रकार आदि मानव के नृत्य का जीवन मे एक विशेष महत्त्व था। हाँ, इतना जरूरी है कि उनका सारा का मारा नृत्य शास्त्र उनके उत्पादन से समन्वित था। इसी प्रकार उनकी खुदाई, चित्रकला और शिल्पकला भी इसी भावना से भरी थी।"[4]

१—देखिएCurt sachs, World Histoiy of the Dance
२—देखिए रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य, पृ० १०५।
३—देखिए स्ट्रेगवेने,
४—देखिए Erenest Grosse, the Beginning of Ait, p. 231

वे अपनी कला में इतने प्रवीण थे कि नुकीले औजारो का इतना उच्चकोटि का निर्माण खेतिहर युग मे भी नही हो सका। स्कीमो की भी यही विशेपता थी। अफ्रीका के विभिन्न समुदायो मे भी इस प्रकार की विशेपताये पाई जाती है। उनके यहा के साधारण उपकरणो द्वारा कला के उच्चतर माध्यमो की सुरुचिपूर्ण उपस्थिति के अनेक उदाहरण मिले है। उनकी चित्र कला मे कीडे मकोडे भी बडी कुशलता से चित्रित किये गये है।

इस प्रकार कला की उत्पत्ति की सार्वदेशिक सूचना के आधार पर यह निश्चित सा हो जाता है कि कला का मूल श्रोत मानवीय श्रमिक-सस्कृति ही है। हाँ इतना अवश्य है कि इस कला मे स्थान स्थान पर प्रकृति भीरुता और वर्णन की अस्वच्छता भरी पडी है। सम्भवत इसका कारण भी मानव की निरन्तर सघर्ष शील प्रवृत्तिया ही हो। कला या सौन्दर्य की उपासना मे शक्ति या साहित्य की अभिरुचि का निर्माण प्रकृति भीरूता से सम्भव भी नही है।

"प्रकृति के ऊपर मनुष्य की दक्षता जितनी ही अधिक होती है, सौंदर्य की प्रतीति भी उसके अन्दर उतनी ही होती है। जिस समय पर्वत मालाये मनुष्य के लिए एक दुर्गम बाधा के रूप मे थी, उस समय पर्वतीय दृश्य मन मे भय और आशका की भावना का उदय करता था। चित्रकला और साहित्य मे दृश्य चित्रो का इतिहास इस वक्तव्य को प्रमाणित करता है।"[१]

कला का विकास मानव के विकास के साथ उत्तरोत्तर परिष्कृत होता गया पर इसके साथ एक प्रश्न और सामने आता गया कि क्या लोककला की उस परिभाषा को जिसके आधार पर इसका उदय आदिम काल के मानव से माना जाता है, मान लिया जाय। यदि 'हाँ' तो कला के रूप निर्धारण का एक बडा ही जटिल प्रश्न उपस्थित हो जाता है। आदि मानव के कार्यों का विवेचन करते समय विद्वानो ने उनके समस्त क्रिया कलाप को कला के अन्दर ले लिया है। जिसमे एक सी रुचि, एक सी प्रवृत्ति और एक सी चेष्टाओ का दर्शन होता है। इतना ही नही एक ही आदमी की सौन्दर्य मूलक दृष्टि कतिपय लोगो की सी जान पडती है। इस प्रकार कला वस्तु और उपयोगी वस्तु की निर्माण की कोटियो को अलग करना भी मुश्किल हो जाता है। मानसिक और शारीरिक श्रम की बात तो दूर रही एक आदमी द्वारा इन दोनो प्रकार के कार्यो का सचालन होता रहा। सम्भवत इसीलिए उपयोगी वस्तुओ का निर्माण दिन पर दिन महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता गया और कला को मानसिक वृत्तियो का खिलवाड बता कर एक हीन स्थान देने की चेष्टा की गई। लेकिन यह लोगो का भ्रम था। बहुधा कलात्मक वस्तुओ के निर्माण मे दोनो प्रकार के श्रम का एक सामञ्जस्य जरूरी था। सम्भवत मार्क्स ने इसे ठीक पहचाना था। इसीलिए कला की सामाजिक उपयोगिता बताते हुए उन्होने लिखा—कमोडिटी

१—दे० सोवियत विश्व कोष, सौन्दर्य शास्त्र निबन्ध।

"हमारे वाहर की वह वस्तु है जो मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। चाहे वह पेट से पैदा हुई हो, चाहे भावनाओ से।"[1]

इस विवेचन के आधार पर आदि मानव की कला को ही यदि लोककला मान ले तो फिर उसके आगे की 'लोक' व्याख्या का कोई भी रूप स्पष्ट नही हो पाता। क्योंकि लोक कला का वह व्यापक अर्थ जो हमे आदिम कला मे मिलता है वह एक रूपीय और एकागी है। वहाँ मानव का श्रम तो है पर उद्‌वोधन की वह क्षमता नही है जो जनता के जीवन को उत्प्राणित करती है, उनकी विविधता, उसका सघर्ष चित्रित करती है।

यहाँ यह भी कह देना अनुचित नही होगा कि यद्यपि आदिम मानव की चेतना के अनेक प्रभाव जैसे प्रेत पूजा, पिडिया के गीत या करवा चोथ को गाये जाने वाले गीत और प्रथाये इत्यादि आदिम कला ही से हमारी लोक कला मे आई है पर लोक-कला का उदय तो वहाँ से होता है, जहाँ से वर्गो का निर्माण होने लगा था। 'इस तरह यह साफ हो जाता है कि 'आदिम मानव की कला' और 'लोक कला' समाज की प्रगति के दो विभिन्न सीडियो पर उदित हुई। जहाँ समाज के अन्तर्भूत विभिन्न वर्गो के सम्बन्ध भी वहुत कुछ विभिन्न हो चुके थे।'[2]

उपलब्ध लोक कलाओ के विवेचन के आधार पर यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि इनमे जीवन की उत्पन्न वाधाओ तथा विपत्तियो का वडा ही गहरा और मार्मिक विवेचन है। इन परिस्थितियो को यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका उदय सवर्गीय समाज ही मे हो सकता था जिसके प्रति गम्भीर अक्रोश की भावना लोक कला के विभिन्न माध्यमो मे परिलक्षित होती है। जहाँ अक्रोश नही होगा वहाँ जन-जीवन की दैनिक वातो को कला का माध्यम वनाया गया है। इस तरह हम लोक कला को सवर्ग-समाज की कसौटी के रूप मे स्वीकार कर सकते है।

१—देखिये Karl Maise, Capital Vol I

२—देखिये Luis Harap, Social Roots of all the Arts p. 119

लोक-नृत्य और लोक-वाद्यों में लोक-जीवन की व्याख्या

श्री शान्ती अवस्थी

नृत्य और बाजे लोकजीवन की आन्तरिक अनुभूतियो के व्यजक हुआ करते है। इनकी अभिव्याप्ति समाज मे सर्वतोभाव से समायी हुई रहती है। नृत्य और वाद्यो का लोक-जीवन से कितना सामीप्य है इसी की व्याख्या शान्ती देवी ने इस लेख मे की है। ——सपादक

स्वरो मे तन्मयता होने पर लय की उत्पत्ति होती है। लय सगीत और नृत्य दोनो का आवश्यक अग है। इसी लय के आधार पर लोक-गीतो का निर्माण हुआ है। यही कारण है कि वे तर्क (बुद्धि)-प्रधान न हो कर हृदय-प्रधान है। लोक गीतो के दो अनिवार्य सहकारी नृत्य और वाद्य है। शास्त्रीय विवेचना के अनुसार नृत्य और वाद्य कई विभागो मे विभक्त हो गये है। उदाहरण के लिए भारतीय नृत्य को चार परम्पराओ का माना गया है (१) मनीपुरी, (२) कत्थक, (३) कथकलि, (४) भारतनाट्यम्। इसी प्रकार वाद्यो को भी अलग अलग करने के लिए शास्त्रकारो ने प्रयत्नो के आधार पर उनके भेद कर दिये है—१ फूंक कर बजाये जाने वाले (वशी, शहनाई आदि), २ तारो से बने हुए (सितार, सारगी, वीणा आदि), ३ चमडे से मढे जाने वाले (तबला, ढोलक आदि)। लेकिन शास्त्रीय नृत्य और वाद्य की व्यापकता लोक-नृत्य और वाद्य को अपने आप मे बाँध लेने में सर्वथा असमर्थ रही है। इसका भी कारण हृदय और बुद्धि का अन्तर रहा है।

शास्त्रीय नृत्य और वाद्य आडम्बरयुक्त बौद्धिक साधना है। इसके विपरीत लोक-नृत्य और वाद्य हृदय से प्रकृत गुणो के आडम्बरहीन आलबन है। इसके अभिव्यक्तीकरण ने जीवन को सरसता प्रदान कर लोक सस्कृति और कला को युग-युग से सुरक्षित रक्खा है। अगर विचार कर देखा जाय तो सगीत और वाद्य के शास्त्रीय रूप का उद्गम लोक जीवन का ही सगीत और वाद्य है। लोक जीवन मे लोक गीतो की एक चिरन्तन धारा अनादि काल से चली आ रही है। मेरे अपने विचार से ये लोक-गीत मानव हृदय की प्रकृत भावनाओ की तन्मयता की चरम अवस्था की गति है, जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय या धुनि (ध्वनि) प्रधान होते है। अब तो यदि किसी वैज्ञानिक ढग से ध्वनि-लहरो (sound waves) मे

वदला जाय तो निश्चित रूप मे एक झकार (Harmonious vibration of sound) का रूप होगा। यही झकार हमारे लोक गीतो की आत्मा है। तन्मयता की चरम स्थिति लय है। किसी स्थिति मे तन्मयता लाने के लिए इस झकार की आवश्यकता है। इसीलिए लोक-गीतो मे हृदय को तन्मय करने के लिए लय (झकार) की आवश्यकता पडी। फलस्वरूप वाद्यो का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। लोक जीवन से लेकर साधना-पथ तक इस झकार का अपना महत्त्व है। कवीर ने हृदय-वीणा से झकृत होने वाली इसी झकार को अनहदनाद की सज्ञा दी है। नृत्य मे इसी (झकार या लय) के दो रूप हो जाते है, ताण्डव मे अन्तिम विनाश की अवस्था का प्रदर्शन और लास्य मे सृजन की मुसकान का मुद्राओ-द्वारा अभिव्यक्तीकरण। इन्ही आधारो पर मै इसे तन्मयता की अवस्था से उत्पन्न लय की स्थापना को लोक वाद्यो की आवश्यकता का कारण मानती हूँ।

लोक कलाओ ने कभी वन्धन स्वीकार नही किया। जीवन-कला मे भी जन-जीवन ने मुक्ति के लिए साधना की है। हमारे लोक वाद्यो ने भी वन्धन स्वीकार नही किये। आज तो गाँव मे हारमोनियम भी पहुँच चुके है, किन्तु ये हमारे वाह्याडम्बरो के प्रभाव से। सरल लोक-जीवन मे वाद्य प्रत्येक स्थान पर वर्तमान रहते है। प्रात काल जव स्त्रिया चक्की चलाती है (जहाँ पर आटा पीसने की मशीने नही है) तो उसकी घरघराहट ही उनके स्वर मे मिलकर वाद्य का रूप धारण कर लेती है। वच्चा पैदा होने पर माताओ की प्रसन्नता के मूक स्वर को थाली वाद्य द्वारा स्वर मिल जाते है। ढेकली चलाने वाले आदमी पानी की सरसराहट और छप छप की ताल पर ही गा चलते है। गाडी हाँकने वाला व्यक्ति वैलो की घटियो ओर खुरो की आवाज से ही अपना स्वर मिला लेता है। वर्तन माँजने वाली स्त्री वर्तनो की खनखनाहट को ही अपने गीत का माध्यम वना लेती है। धोवी कपडे की फटाफट से ही अपने स्वर को मुखरित कर सगीत की सृष्टि करता है।

इस प्रकार हम प्रत्येक स्थान पर गाने वाले के लिए वाद्य उपस्थित पाते है। यदि इन सव अवस्थाओ की ध्वनियो को ध्वनि-सचालक यत्र (Sound recording machine) द्वारा सचित कर के उनकी व्याख्या की जाय, तो उनमे सगीत के वहुत से ऐसे नवीन तत्व मिल सकते है, जो जीवन के समीप हृदय की वस्तु होगे। प्राय सभी शास्त्रीय वाद्यो का विकास लोक-वाद्यो को ही माध्यम बना कर हुआ है। वशी या वाँसुरी को शायद पहले चरवाहे नरकुल या वाँस काट कर वना लेते थे और वजाया करते थे। कृष्ण का वशी वजा कर गायो को वुलाना इसका प्रमाण है। किंगीरी से ही सितार, सारगी आदि का विकास हुआ होगा। किंगीरी, लौकी (गोल) या नारियल मे एक लकडी लगा कर सितार की भाँति वना ली जाती है, जिसमे तारो के स्थान पर घोडे की पूँछ के वाल लगा लेते है और वालो की प्रत्यचा वना कर एक धनुषाकर लकडी से ही उसे वजाते है।

लोक-जीवन मे वाद्यो के हमे दो स्वरूप मिलते है—(१) मनुष्य की क्रियाएं वाद्य का

स्वरूप धारण कर लेती है, जैसे ढेकली के चलाने से उत्पन्न ध्वनि। इन क्रियाओ को हम सुविधा के लिए 'क्रिया वाद्य' नाम दे सकते है। (२) जहाँ किसी वस्तु को हम वाद्य के स्वरूप मे पाते है, जैसे ढोलक, उन वस्तुओ को हम 'वस्तु वाद्य' का नाम दे सकते है। इस प्रकार के वस्तु साधनो मे ढोलक ने सब से महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर रखा है। पंजाब से लेकर मध्यभारत तक तथा पश्चिम के सिन्ध प्रान्त से बंगाल आसाम तक इसका प्रमुख स्थान है। दक्षिण और पश्चिम मे ढोलक का परिवर्तित रूप डफ काम मे लाई जाती है। ढोलक को स्त्रियो और पुरुषो से समान रूप मे आदर मिला है। भिन्न भिन्न जातियो मे इसके भिन्न भिन्न प्रकार हो गये है। उदाहरण के लिए कहार जाति के लोग डमरूनुमा ढोलक का प्रयोग करते है, जिसे हुडक या दहकी कहते है। इसे एक ओर ही बजाया जाता है, फलस्वरूप ढोलक से भिन्न प्रकार की ध्वनि निकलती है, जो उनके अटूट स्वर मे तन्मयता ला देती है। डफ को भी हम आधी ढोलक कह सकते है। इसका घेरा ढोलक से बडा होता है।

लोक-नाट्यो मे तरगे और तबले आदि का भी प्रयोग होता है। नौटकी मे नगाडो की प्रधानता होती है। लेकिन ये सभी वाद्य किसी न किसी प्रकार से शास्त्रीय संगीत से सम्बन्धित है। नाटकी का भी विकास नागरिक जीवन के विकास से हुआ है। इसलिए हम उसे लोक-जीवन से सम्बन्धित नही कह सकते। लोक जीवन तो आडम्बरहीन हृदय पक्ष-प्रधान कलाओ को ही प्रश्रय देता है। लोक-वाद्यो मे ऐसे वाद्य आते है जिनका विकास और प्रसार लोक-जीवन तक ही सीमित है। उदाहरण के लिए भिखमंगे दो लकडियो को, जो चपटी होती है, बजाते है। उनसे निकलने वाली खटपट की ध्वनि गायक के स्वरो मे पूर्ण साम्य स्थापित करती है। साधू उससे एक कदम आगे बढ कर अपने लोहे के चिमटो का वाद्य रूप मे प्रयोग करते है। चिमटो को दोनो पत्तियो और कडे की सहायता से बजाते है। इसका प्रयोग वैरगिया धुनि के गीतो मे विशेष होता है। इस प्रकार साधुओ का संगीत अपना अलग स्थान रखता है। साधुओ ने संगीत कला के विकास मे सब से अधिक सहयोग दिया है। तानसेन और बैजू बावरा के गुरु बाबा हरिदास एक साधु ही थे। आजकल भी इस दिशा मे साधु वर्ग के लोग सब से आगे है। कबीर पन्थी साधु डी० आर० पर्वतीकर ने 'स्वर मंडल और रुद्र वीणा' का आविष्कार किया है जिन्हे इलाहाबाद रेडियो ने प्रसारित किया है। पर्वतीकर जी महाराज के कथनानुसार 'स्वरमंडल' की रचना मे नाद ही प्रधान है।

काठ की लकडियो, लोहे के चिमटो को छोड कर धोबी जाति के लोग सूप और गागर बजाते है। जिसकी ध्वनि वृन्द-वादन के समान होती है। तोमडी का भी लोक-वाद्यो मे अपना विशिष्ट स्थान है। लोक जीवन के अविकसित वाद्य न जाने कब से संगीत-रक्षा के लिए प्रयुक्त होते आ रहे है। ग्राम जीवन मे लोगो ने मुंह से भी वाद्य ध्वनियो के निकालने का सफल प्रयास किया है। पासी लोग एक लम्बा बांस बजाते है। दीवाली के दिनो मे अहीर दो लम्बी छडियो का प्रयोग करते है। भिखमंगो ने खजरी, किगारी और इकतारे को वाद्य रूप मे सम्मान मिला

है। चमारो के नृत्य मे ढोलक के साथ कटोरे को भी उपयोग मे लाया जाता है। कहीं-कहीं पर कुम्हार लोग मटके भी वजाते है। ग्रामीण गायकों का सब से प्रिय वाद्य करताल है। झींका के विना तो फाग का साज ही नही सजता।

सगीत मे सात स्वर माने गये है। स्वरो के सम्बन्ध मे एक शब्द ग्राम भी शास्त्रीय सगीत मे प्रयुक्त हुआ है। ग्राम का सस्कृत मे गाव या ठाम के लिए प्रयोग हुआ है। सगीत मे ग्राम उस स्थान (ठाम) को कहते है जहा स्वर वाले यत्र मे ये सप्त स्वर पाये जाते है। मेरा अपना विचार है कि शायद सगीतशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न गावो मे भिन्न-भिन्न प्रचलित प्रणालियो के वादन को ही एकत्र कर सप्त स्वरो का निर्माण किया होगा। इस मत से वाद्य स्वरो के आविष्कारक ग्रामवासी ही रहे है। भरत के नाट्यशास्त्र मे भी सगीत के विषय मे प्रयुक्त शब्दो मे 'ग्राम' और 'जाति' विशेष ध्यान देने योग्य है। अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारभिक सगीत (गीत, नृत्य, वाद्य) अवश्य ही ग्रामो और जातियो से सम्बन्धित रहा है। फलस्वरूप सगीतज्ञो ने सगीत की व्याख्या मे इन शब्दो को स्थान दिया था और आज उनका प्रयोग विशेष अर्थ (Technical terms) मे होने लगा है।

जीवन मे वाद्यो का प्रमुख स्थान रहा है। पौराणिक गाथाओ मे भी हम वाद्यो को किसी न किसी रूप मे पाते है। शिव जी डमरू वजाते थे, जो आज तक लोक वाद्य बना हुआ है। इसका प्रयोग नैपाल तथा उसके तराई प्रान्त के लोक-जीवन मे मिलता है। विष्णु के हाथ मे शख मिलता है, जिसे वजा कर विष्णु ने प्रथम नाद उत्पन्न किया था। कृष्ण के हाथ मे वशी का होना भी जीवन मे वाद्यो की व्यापकता का द्योतक है। रामायण काल मे रावण सगीतज्ञ था। यह प्रसिद्ध है कि वह शिवजी के नृत्य के समय मृदग वजाया करता था। किम्वदन्ती है कि ब्रह्मा ने ढोल की रचना त्रिपुर राक्षस के रक्त मे मिट्टी सान कर तथा उसी के चमडे से मढ कर की थी।

उपर्युक्त सभी वातो से जीवन मे वाद्यो की व्यापकता स्पष्ट होती है। लोक जीवन मे आनन्द और उत्साह वढाने मे वाद्यो का सदैव से प्रयोग होता आया है। नृत्य और गीत दोनो ही वाद्यो के आश्रित है। अत लोक जीवन मे इन कलाओ को सुरक्षित रखने मे वाद्यो ने समुचित सहायता दी है। साथ ही हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी वाद्यो का विकास लोक जीवन से ही हुआ है। क्योकि आज भी वाद्य जीवन के एक अग के रूप मे लोक-जीवन मे मिलते है। वालक आम की गुठली घिस कर पपिहरा बना कर वाद्य रूप मे प्रयोग करते है अथवा ज्वार के पत्तो को मोड कर मन वहलाने के लिए अपना वाजा तैयार कर लेते है। पण्डित अपनी पूजा मे शख और घडियाल का वजाना नही भूलता। वृद्ध जन कीर्तन के समय करताल अवश्य वजाते है। इन लोक-वाद्यो ने हमारे जीवन के साधना और भक्ति पक्ष को सदैव वल दिया है। मीरा भी नाची तो पैरो मे घुँघरू बाँधना नही भूली। यक्ष और किन्नरो को नृत्य वाद्य एव गीत प्रवीण होने के कारण ही हम उन्हे देव योनि का मानते आ रहे है।

लोक नृत्य

लोक नृत्य सभी कलाओं में अति प्राचीन है। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य में भाव प्रकाशन की आकांक्षा जन्मजात मानी गयी है। सृष्टि के प्रारम्भ में भावहीन मानव ने भाव-प्रकाश के लिए शरीर के हाव भाव का ही आश्रय लिया होगा। भाव-प्रकाशन की सार्थक मुद्राओं को ही भाषा ने नृत्य कहा है, निरर्थक मुद्राओं का नाम नृत है। शास्त्रकारों ने भी संगीत को दैवी सृष्टि माना है। एक किम्वदन्ती है कि त्रिपुर नामक दैत्य का वध करने पर प्रसन्न शिव नाचने लगे और इसी से नृत्य कला की सृष्टि हुई। ब्रह्मा ने त्रिपुर के रक्त से मिट्टी सान कर ढोल प्रस्तुत किया एवं त्रिपुर के चमड़े से उसे मढ़ा और शिव के पुत्र गणपति से कहा कि ताल दो। तब से ताल की सृष्टि हुई, जिसका गीत और वाद्य में बाद में प्रयोग हुआ।

शिव नृत्य के आदि देव कहे जाते हैं। शिव और पार्वती दोनों ही नृत्य कला में प्रवीण थे। शिव का ताण्डव और पार्वती का लास्य (कोमल) नृत्य माना जाता है। शिव और पार्वती का नृत्य-विशारद होना, इस बात की पुष्टि करता है कि यह कला जन-जीवन में अति प्राचीन काल में व्यापक और महत्वपूर्ण रही है। ताल की उत्पत्ति के विषय में एक और मत है कि ताण्डव से 'ता' और लास्य से 'ल' ले कर ही 'ताल' का निर्माण हुआ है। ताल नृत्य और संगीत दोनों का आवश्यक अंग है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि नृत्य ही पहले प्रारम्भ हुआ।

नृत्य भी लोक जीवन में ही विकसित हुआ। नृत्य के आदि देव शिव स्वयं किसी नगर में न रह कर कैलाश पर्वत पर रहते थे। इस बात से अगर हम यह अनुमान करें कि नृत्य ही आदिम युग में भाव प्रदर्शन का एकमात्र साधन था तो अनुचित न होगा। आज भी आदिवासियों में भिन्न प्रकार के नृत्य पाये जाते हैं। शिव के बाद के देवों में भी अधिकांश नृत्यविज्ञ रहे हैं। विष्णु ने भी कृष्ण रूप में नृत्य किया है। स्वामी कार्तिकेय के नाम से तो उदयशंकर ने एक नृत्य को अपने 'कल्पना' नामक चलचित्र में भी स्थान दिया था।

भिन्न-भिन्न प्रकार की नृत्य शैलियों के भी कई कारण हैं। प्रारम्भिक काल में मनुष्य छोटे-छोटे दलों में विभाजित था। प्रत्येक समूह ने भाव प्रकाशन के लिये कुछ संकेतों को मान्यता प्रदान की होगी। लेकिन आपस में सम्बन्ध न होने के कारण ये संकेत भी भिन्न ही रह गये। इन भिन्न भिन्न संकेतों (जिन्हें हम आज मुद्रा कहते हैं) के आधार पर ही नृत्य-शैलियों का निर्माण बाद में शास्त्रीय पद्धति से हुआ होगा। इस प्रकार आज के नृत्य के मूल में भी हमारा लोक-नृत्य प्रधान है। वास्तव में क्रमिक विकास ने ही लोक जीवन से नागरिक जीवन का निर्माण किया है। और लोक जीवन के विशिष्ट अंगों को परिष्कृत कर अपना बना लिया है।

लेकिन हमारे लोक जीवन ने वाद्यों की भांति नृत्य में भी किसी बन्धन को स्वीकार नहीं किया। लोक जीवन में त्याग और देन मानव हृदय के कारण सीमित हो गये हैं। लोक

जीवन मे एक जीवन-साम्य है। प्रत्येक स्थान के लोक जीवन से एक ही तत्व मिलते है। लोक-नृत्य साधारणीकरण के क्षेत्र मे इतना व्यापक है कि उसे समझने के लिए किसी बौद्धिक यत्न की आवश्यकता नही पडती। इस साधारणीकरण का भी कारण मानव हृदय की रागात्मक प्रवृत्तिया है। भाषा के कारण आज लोक-नृत्य की परिधि काफी सकुचित हो गई है। आज के लोक नृत्य आनन्द-प्रदर्शन और देवी-आराधना तक ही सीमित है। फिर भी इनमे शास्त्रीय-नृत्य के सभी मूल तत्व मिलते है।

लोक नृत्यो को जातियो के आधार पर विभाजित किया जा सकता है। शिक्षा और सभ्यता के प्रसार ने इस कला को उच्च जातियो मे समाप्त कर दिया है। किन्तु निम्न वर्ग की सभी जातियो मे नृत्य पाया जाता है। अवध प्रान्त के गावो मे कत्थक और व्रजवासी पाये जाते है। वास्तव मे ये जातियाँ नही, किन्तु अपने पेशे के कारण जातिया बन गई है। इन कत्थको से मेरा मतलब लखनऊ के कत्थक शैली के नृत्यकारो से नही। मेरा मतलब एक वर्ग विशेष से है, जो पुत्र जन्म आदि के अवसर पर नाच कर अपनी जीविका उपार्जित करते है। इन्ही से मिलती हुई जाति व्रजवासियो की है।

इन जातियो को छोड कर सभी आदिवासी जातियो मे नृत्य कला पाई जाती है। कहार लोग अपने यहा शादी आदि उत्सवो पर "स्वाग' करते है, जो नृत्य-प्रधान होते है। इसी प्रकार धोवी, पासी, खटिक, चमार आदि जातियो मे भी नृत्य-प्रधान स्वाग प्रचलित है। ये लोक-नृत्य कत्थक और कथकलि के सम्मिश्रित रूप मे मिलते है। कहारो और चमारो मे प्राय पुरुष ही स्त्री वेश धारण कर नृत्य करते है। कहार जाति मे नृत्य का विशेष महत्त्व है। गावो मे यह सुनने को भी मिलता है कि प्राय हुडक वजाने वाले कहार और नृत्य करने वाली स्त्री मे होड लगा कर नृत्य होता है। नृत्य मे परास्त होने पर पुरुष का स्त्री पर अधिकार हो जाता है। इसी प्रकार यदि वह हुडक वजाने मे परास्त हुआ तो उस पर नर्तकी स्त्री का अधिकार हो जाता है। मेरी कहारिन के पिता ने हुडक वजा कर एक स्त्री जीती थी।

आसाम की आदिवासी जातियो के नृत्य का मनीपुरी नृत्य से काफी साम्य है। मनीपुरी स्वय लोक जीवन से विकसित नृत्य प्रणाली है। जातीय नृत्यो मे इन जातियो का नृत्य भाव-प्रदर्शन मे सब से अधिक शक्तिशाली है। कोल, भील जातियो मे भी (जो उडीसा और मध्यभारत मे है) नृत्य का अविकसित रूप मिलता है। दक्षिण की आदिम जातियो के नृत्य भी काफी रोचक होते है। उत्तर और दक्षिण के लोक गीतो की ध्वनियो और नृत्य के मूल तत्वो मे साम्य है। इसलिए यह कहना कठिन है कि इन कलाओ मे किसका किस पर प्रभाव पडा। दक्षिण प्रान्त के कुछ भागो मे भारत नाटचम् और कत्थक तथा कुछ मे भारत नाटचम् और कथकलि का मिला जुला रूप मिलता है। बम्बई तथा उसके उत्तरी प्रान्तो सौराष्ट्र, और राजपूताना तक की जातियो मे भारत नाटचम् और कथकलि का मिश्रित रूप मिलता है। पजाब प्रान्त के लोक नृत्यो पर अन्य शैलियो की अपेक्षा कथकलि का विशेष प्रभाव पडा है।

यदि इन नृत्यो की सूक्ष्म विवेचना की जाय तो प्राय सभी जातियो के नृत्यो के एक ही तत्व मिलेगे। विषय की दृष्टि से भी लोक नृत्य आनन्द-प्रदर्शन और देवी-आराधना तक ही सीमित मिलते है। यही कारण है कि लोक नृत्यो के भावो मे बहुत अधिक साधारणीकरण हो गया है। फलस्वरूप उसके समझने मे किसी बौद्धिक यन्त्र की आवश्यकता नही पड़ती। लोक नृत्यकार ताल से बेताल हो अपने भावो मे लय हो जाते है। वाद्यकार भी अपने आप मे लय हो अपने गुणो का प्रदर्शन करते है। फिर भी इनमे उत्पन्न आनन्द लोक जीवन को भाव-विभोर कर देता है। दर्शक मण्डली अपने आनन्द मे लय हो वाह वाह कर झूम उठती है। इस प्रकार एक अनादि काल से लोक-नृत्य ने लोक-जीवन के हृदय को सुरक्षित रक्खा है।

देवी की आराधना के लिए होने वाले लोक नृत्यो मे रति मुद्राओ का बाहुल्य रहता है। कारण वे अपनी बौद्धिक साधना नही वरन् हृदय के भावो को व्यक्त करते है। शास्त्रीय नृत्य और लोक नृत्य को अलग करने मे साधना और वासना का प्रमुख स्थान है। शास्त्रीय नृत्य मे शास्त्रीय नियमो की अवहेलना साधना को वासना रूप मे प्रदर्शित करती है, जब कि लोक नृत्य मे वासना भी साधना बन जाती है। लोक नृत्य को वासना का साधना मे परिवर्तित करना, उसकी जीवन-गति और निश्छल हृदय का द्योतक है। लोक नृत्य प्रसिद्धि-प्राप्त करने अथवा धनोपार्जन का नही वरन् जीवन के आनन्द को सुरक्षित रखने का एकमात्र साधन है। इसमे लोक-जीवन की निष्काम प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

शास्त्रीय नृत्यकारो ने पहले लोक नृत्य को केवल उछल कूद की सजा दे कर इसकी अवहेलना की थी। किन्तु आज के विश्वविख्यात नृत्यकार उदय शकर ने इन लोक गीतो को सकलित कर उनका महत्व सिद्ध कर दिया है। उदय शकर के नृत्य-सकलन से एक बात और स्पष्ट हो गयी है कि ससार के प्रत्येक भूभाग के लोक-नृत्य एक ही प्रणाली के है। हम जिन्हे अन्य देश का नृत्य समझ कर, उन्हे अपने मनोरजन का साधन तथा उपहास का पात्र बनाते थे, वे हमारे भारत की विभिन्न जातियो मे उसी रूप मे पाये जाते है। इसके प्रमाण मे उदयशकर ने अपने चित्र कल्पना मे ('कला केन्द्र के वसन्तोत्सव के समय') इन नृत्यो को सकलित किया है।

यद्यपि नृत्यकारो के बहुमत से भारतीय लोक नृत्यो पर कथकलि का प्रभाव सब से अधिक बताया जाता है, किन्तु मेरी समझ से उन पर किसी भी शास्त्रीय प्रणाली का प्रभाव नही पड़ा। क्योकि शास्त्रीय नृत्य की अपेक्षा लोक नृत्य अधिक प्राचीन है और उसी मे शास्त्रीय नृत्य का विकास हुआ है। यही कारण है कि ससार के प्रत्येक भूभाग के नृत्यो मे एक साम्य मिलता है, जिसका कारण मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तिया है। लोक जीवन की इन दोनो (वाद्य और नृत्य) कलाओ मे रस प्रधान है। यह रस भले ही शास्त्रीय परिभाषा के अनुरूप न हो, किन्तु जीवन-रस की व्याख्या ही रस रूप मे की जा सकती है।

वाद्य की भाति नृत्य भी जीवन मे व्यापक रूप से वर्तमान है। बालक जब प्रसन्न होता है, नाचने लगता है। इतना ही नही और बालकोम भी 'चाट माट' (एक ही दिशा मे अनवरत

घूमना) घूमने को कहता है। पण्डित आरती उतारने में छण्टी की नाल पर आरती का थाल या धूपदानी ले कर नाच उठता है। यद्यपि उसमें गति नहीं किन्तु भाव प्रदर्शन अवश्य होता है। दीवाली में अहीर नाचता है। धार्मिक प्रवृत्तियों के लोक रामलीला करते है। बरात विदा होने के बाद वर-घर में स्त्रियां नित्य रात को वाद्य नृत्य समारोह करती है। नृत्य करने में असमर्थ मनुष्य का भी मन प्रसन्नता का समाचार सुन नाच उठता है।

लोक जीवन की प्रत्येक दिशा नृत्य से व्याप्त है। प्रात काल सूर्य नृत्य करता निकलता है। हवा के बवंडर भी यदा-कदा नाच उठते है, घर के बाहर और छतो पर मयूर नृत्य करता है। लड़के लट्टू नचाते है, बन्दर और सांप तथा भालू का नृत्य देखते है। निर्जीव पदार्थों तक में नृत्य देख लोक जीवन में कठपुतलिया नाचती है। ये सभी प्रकार के नृत्य लोक नृत्यों के अन्तर्गत आते है। उन्हे कोई भी शास्त्रीय प्रणाली अपने आप मे बांध सकने मे असमर्थ है। कठपुतलियो का नृत्य तनिक से संकेत से मुद्रा परिवर्तित कर देती है। सांप बीच में ही फुसकार उठता है। भालू और बन्दर डण्डे के भय से मनुष्य के भावो का प्रदर्शन करते है। किन्तु डण्डे के गिरते ही उनकी मुद्रायें बिगडने लगती हैं और केवल पैरो की गति में घुंघरू ही बजते रहते है। इन नृत्यो को शास्त्रीय पद्धति के लोग अपनी परिभाषाओं मे बांध सकने मे असमर्थ है। कारण उनका नृत्य भी बौद्धिक साधना है, जिसकी पहुँच मनुष्य की आँखो से केवल बुद्धि तक ही सीमित है। इसके विपरीत लोक नृत्य जीवन की आत्मानुभूति है और उसकी पहुँच मनुष्य की आत्मा तक है।

यह लोक नृत्य जीवन-गति से सीधे सम्बन्धित है। लोक नृत्य किसी आदर्श अथवा परानुभूति को व्यक्त न कर जीवन के उल्लास को ही व्यक्त करते है। यही कारण है कि वे जीवन गति के आदर्श प्रतीक है। इन्ही लोक नृत्यो ने आत्म-समर्पण कर शास्त्रीय नृत्य को जीवन दे हमारी कला को सुरक्षित रखा है तथा जीवन को सांस्कृतिक बना दिया है।

विश्व का प्रथम कलाकार

श्री हरिचरणलाल

मिट्टी के खिलौने और पात्र ही आज हमारी प्राचीन सभ्यता और इतिहास के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मिट्टी की कला और उसके कलाकार के प्रत्यक्ष लोकदर्शन का परिचय इस लेख मे है। —सपादक

भारत का प्राचीनतम इतिहास देखने से पता चलता है, कि हमारे देश के कुम्भकारो का हमारे सामाजिक तथा सस्कृतिक विकास मे हाथ था। विश्व क उस प्रारम्भिक युग मे, जब मनुष्य फल मूल-कद शस्य का सग्रह मात्र करता था, अथवा उसके पश्चात जब वह कृषि द्वारा अनाज उपजाने लगा था, उस समय उसे सग्रह करने के लिए बर्तन की आवश्यकता हुई। उस समय करीब-करीब सभी जातिया अपने हाथ मे बर्तन बनाती थीं जैसा कि अभी तक बहुत सी पिछडी जातिया अपने हाथो से बर्तन बनाती है। पहिले कच्चे ही बर्तन बनते होगे, फिर अग्नि के उपयोग के साथ लोगो ने पक्के बर्तन बनाने की कला सीखी होगी। उस विषय मे मनुष्य को मिट्टी के सम्बन्ध मे प्रयोग करने पडे होगे, क्योकि प्रत्येक मिट्टी बर्तन बनाने के लिए समान रूप से उपयोगी नही होती। बर्तन बनाने मे कुम्हार के चाक का उपयोग बाद की चीज है। चाइल्ड के अनुसार बर्तन बनाने की कला ही मनुष्य का प्रथम धधा है, जिसमे पहिये या चक्के का उपयोग किया गया और इसके फलस्वरूप इस धधे मे क्राति हो गई।

आज से हजारो वर्ष पूर्व उस महान अधकार मे ढके हुए पूर्व-ऐतिहासिक युग मे कुम्हार ने मिट्टी की परीक्षा कर और उसे पानी मे सान कर अपनी चाक पर रक्खा। कुम्भकार के तपते हुए हाथो को स्पर्श कर मिट्टी ने एक जागरूक चेतना का अनुभव किया और वह उसके हाथो से छूट कर बिखर जाने का प्रयास करने लगी परन्तु कुम्हार के हाथो से वह न छूट सकी—उसने उसे अपनी अगुलियो के बीच चाक पर बन्दी ही बना कर रक्खा। मिट्टी को आकार मिला और ससार को चक्रनिर्मित अगणित पात्र व्यवहार के लिए मिले।

कुम्हार अपनी सफलता पर नाच उठा। वह बाह्य सृष्टि को आत्मसात् करके उसे अपनी मानस-सृष्टि मे परिवर्तित करने लगा। बाहरी जगत के रग, रूप, आकृतियो को उसने ध्यानपूर्वक अध्ययन किया और अपने मानस-जगत् मे उनकी रचना करने लगा। उसकी अगुलियो मे जादू जाग उठा और वे कलापूर्ण हो उठी। मिट्टी के लोदो को कुत्ता, बन्दर, बकरी, गाय इत्यादि का रूप मिल गया। बच्चे प्रसन्नता से नाच उठे उनके मनोरजन के लिए खिलौने मिल गये।

कुम्हार ने इस पर भी विश्राम नही किया। उसे मनुष्य और समाज की आवश्यकताओं को निरीक्षण करने का अभ्यास सा हो गया। इस बार उसने मिट्टी से ईंट और खपरैल बनाया जिससे उसने मनुष्य के लिए मकान और महल बना कर खड़ा कर दिया। जाड़ा, गर्मी और बरसात से सुरक्षित कर उसने मनुष्य के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास-पथ को सुगम बना दिया। यह कुम्हार के मस्तिष्क की ही उपज थी, जिससे समाज को मकान, महल, मदिर, मूर्त्तियाँ इत्यादि मिली। अपने अविरल प्रयत्न तथा प्रयोग द्वारा कुम्हार ने अनेक रगो का आविष्कार किया जिनके उपयोग से उसने मकान, महल, मदिर और मूर्त्तियो को रंगकर सौन्दर्य्यमय बना दिया।

मानस-कल्पनाओ और भावनाओं का यह ससार मनुष्य की 'प्रतीति', 'प्रत्यय' और 'प्रतिज्ञा' का ही ससार है। दूर से धुधला-सा, सदेहास्पद-सा अनुभव 'प्रतीति' कहलाता है। वही जब भासमान सत्य का रूप धारण कर आकार प्राप्त करने लगता है तो 'प्रत्यय' हो जाता है परन्तु जब मनुष्य अपनी खोज, प्रयोग और अभ्यास द्वारा उस अनुभव को सत्य मान कर उसे मूर्त रूप देता है तब वही उसकी 'प्रतिज्ञा' बन जाती है। मानस सृष्टि का यह मूर्त प्रतीक ही कला है। कुम्हार अपनी इन तीन अवस्थाओ को पार कर एक सफल कलाकार बन गया। उस समय के समाज मे जिस ओर भी दृष्टि जाती थी कुम्हार की कला ही कला दिखलाई पड़ती थी। उसके बनाये हुए मकान और महल से गाँव बस रहे थे। उसी के बनाये हुए मदिरो मे ग्राम्य-देवता मूर्ति के रूप मे शोभा पा रहे थे। लोगो के घरो के अदर अनाज पात्र, जल पात्र, दीपक, कलश, हाँडी इत्यादि अनेक उपयोगी बर्तन व्यवहार मे लाये जा रहे थे। उस युग के मनुष्यो की आवश्यकताएँ सीमित थी जिनकी पूर्ति अधिकाश मे कुम्हार द्वारा ही होती थी। कुम्हार समाज म पूज्य हो गया और कुम्हारशाला तीर्थ बन गया। वेदो मे कुम्हार की कला का यशोगान गाया गया है। यजुर्वेद मे चरु, कुम्भ, गोल, कलश इत्यादि यज्ञोपयोगी बर्तनो के नाम दिये गये है। जिस प्रकार सृष्टि की रचना करने से ईश्वर का नाम प्रजापति है, ससार का कल्याण करने के हेतु सूर्य्य और इन्द्र को प्रजापति कहते है उसी प्रकार मिट्टी से अनेक प्रकार की जन-उपयोगी रचना करने के कारण विद्वानो ने कुम्हार को प्रजापति के नाम से विभूषित किया। मृत्तिका-पात्रो द्वारा ससार का उपकार कुम्भकार से ही होता है। वेदो ने भी कुम्भकार के सत्कार के लिए आज्ञा दी है—

(१) नम कुलालेभ्य कर्मारेभ्यश्च वो नमोनम

(२) ओ चतुर कुम्भाश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।

वेदो की इन्ही आज्ञाओ के अनुसार हिन्दूमात्र के प्रत्येक शुभ-अशुभ अवसर पर कुम्भकार का सत्कार करने की प्रथा रक्खी गयी है। रामायण मे विविध शिल्पियो के नाम इस प्रकार मिलते है—

सूत्रकर्म विशारद, खनक, कर्मांतिक, सुधाकर, वशकार, मणिकार, वर्द्धकि यत्रक, सूपकार,

वृक्षाकार, दन्तकार, कुम्भकार, स्वर्णकार, कवलकार, वधक, रोचक, ततुवाय, स्नापक, कैवर्तक, गर्भोगजीवी, शस्त्रोपजीवी।

कुम्हार का जीवन और उसकी कला सदा समाज के लिए लाभदायक रही है। युगो के परिवर्तनो के बीच उसकी कला सदा सतर्क रही है, और परपरा के अनुसार उसने सामाजिक और सास्कृतिक सत्यो को किसी न किसी रूप मे देश के सामने सदैव प्रस्तुत किया है। उसकी कला एक चिर-सत्य के रूप मे सदा व्यापक रही है। मिट्टी के वर्तन या खिलौने आग मे पक जाने से यद्यपि पक्के हो जाते हैं परन्तु टूट जाने पर उनका कोई मूल्य नही रह जाता और वे फेक दिये जाते है। वर्तन का प्रत्येक टुकडा एक कला का द्योतक होता है और कालान्तर मे अर्थात् युग-परिवर्तन होने पर ये टूटे-फूटे मिट्टी के वर्तन मनुष्य-लिखित पुस्तक-सा मूल्य रखते है। कूडे पर पडा हुआ वर्तन का टुकडा किसी समय किसी कलाकार के हस्त तथा मस्तिष्क की उपज था जो मनुष्य के आवश्यक उपयोग के लिए वनाया गया था। उस समय उसका मूल्य था, उससे समाज का भला होता था और उसका व्यवसाय होता था। अब वह टुकडा अपने समय का इतिहास प्रतिविम्वित कर सकता है और अधकार मे डूबे समय का रहस्य उद्घाटन करने मे सहायता दे सकता है। प्राचीन समय मे भारत की कुम्हारी कला मे एक अनुपम तथा सच्ची जाग्रति हुई थी। उस समय यह कला विकसित हो कर एक महान् सौन्दर्य के स्थान पर पहुच गई थी। देश के विभिन्न स्थानो पर प्राचीन ऐतिहासिक टीलो की खुदाई होने पर तथा गुफाओ मे जो मिट्टी के वर्तन निकले है वे देश के अनेक अजायवघरो मे सुरक्षित रक्खे है। अनन्तपुर, कडापा, कुरनूल, टिनीवली, सलेम, विलारी, मैसूर, हदरावाद, वडौदा, रायगिरि, हडप्पा, मोहनजोदडो, नल, विहटा, कोशाम्वी, आदि स्थानो मे अगणित मिट्टी के पुराने वर्तन मिले है जिन पर काले, भूरे, लाल रग की पालिश की हुई है। कई खानो वाले बडे-बडे मटके भी निकले है। ऐसे रगीन वर्तन के टुकडे है जो अडे के छिलके की तरह पतले है। वहुत से वर्तनो पर नक्काशी का भी काम किया हुआ है। ऐसे वर्तन भी निकले है जिनके सिरे पर पुष्प, वदर, भैसे, कुत्ते, चीते, साप और दूसरे जानवरो की मूर्तिया वनी है। विहटा मे पाये गये वर्तन इतने सुन्दर वने और रगे है कि उनसे यह पता चलता है कि कुम्हारी-कला और चित्रण-कला का पृथक्-पृथक् अध्ययन किया जाता था। रायगिरि की गुफा मे जो शिकार के दृश्य है अथवा वह दृश्य जो जानवरो और मनुष्यो के है उनमे सजीवता मालूम पडती है। इस गुफा मे जो चित्रकारी है उसमे और पूर्व ऐतिहासिक काल के मिट्टी के वर्तनो पर जो चित्रकारी है दोनो मे समानता मालूम पडती है।

हम देखते है कि इतिहास के प्राचीनतम पृष्ठ कुम्हार से भीख लेते है। कुछ काल के लिए कुम्हारी कला ही मानव सभ्यता की मापदड है। देश के ऐतिहासिक मदिर, गुफाये, हडप्पा एव मोहनजोदडो के भग्नावशेष अब भी कुम्हार की कीर्ति गा रहे है। कुम्हार ने मृत्तिका स्पर्श ... ... हुई, देवता को भी रूप मिला। चक्र चालित किया अगणित दीप कलश आदि मृत्तिका-पात्रो की सृष्टि हुई। ... की भी ... कुम्हार की देन है। कुम्हार ऐसा सिद्ध-हस्त शिल्पी

था। कुम्हार ने तूलिका उठाई रंग भरा, कल्पना साकार हुई, देवालयों की सजीव भक्ति सचरित हुई। उसने कूची फेरी राजभवन बोल उठे, रंग-महल जाग उठे, मानव-प्रमोद पर पुट चढ़ा। नाट्यपट खड़े हुए, नाट्य कला आगे बढ़ी। कुम्हार ऐसा चतुर चितेरा था। गौरव की गाथा नीचे देखिए—

(१) मोहनजोदड़ो—यहाँ पर खुदाई होने पर मिट्टी के बर्तनों के ऐसे टुकड़े निकले हैं जो रंगीन हैं और ऐसे पतले हैं जैसे अंडे का छिल्का।

(२) कोयमबटूर—नीलगिरि पर्वत की तलैटी में स्थित एक समाधि के खोदने पर ऐसे मिट्टी के मटके निकले हैं जिनकी ऊचाई चार फुट और चौड़ाई अढ़ाई फुट है। इस पर काले रंग की चमकीली पालिश है।

(३) कुरनूल (मद्रास)—यहाँ पर चाक पर गढ़े हुए अनेक बर्तन प्राप्त हुए हैं जो खूब अच्छी तरह पकाये गये हैं। पानी और अनाज रखने के बर्तन हैं। इनके रंग लाल हैं और ग्लेज किये हुए हैं, नक्काशी का काम भी है—कहीं-कहीं लकीर खींच कर और कहीं-कहीं उभार कर।

(४) नीलगिरि पर्वत—यहाँ पर जो मिट्टी के बर्तन निकले हैं उनमें लम्बे लम्बे सुराहीनुमा गोल पीपे हैं जिनमें कई खाने बने हुए हैं। इनके सिरे पर अनेक मूर्तियाँ बनी हैं जिनमें पुरुष, स्त्री, बंदर, भैंसे, कुत्ते, चीते, सांप और दूसरे जानवर हैं। इन गोल पीपों पर खूब अच्छी नक्काशी और चित्रकारी की गयी है।

(५) बिहटा—यहाँ पर जो मिट्टी के बर्तन निकले हैं वे इतने सुन्दर बने और रंगे हैं कि उनसे यह पता चल जाता है कि कुम्हारी कला और चित्रण-कला का पूरा-पूरा अध्ययन किया जाता था।

(६) नल (पंजाब)—यहाँ पर जो मिट्टी के रंगीन बर्तन निकले हैं वह अंत में उस समय के माने जायगे जब चाक का आविष्कार नहीं हुआ था।

(७) रायगिरि गुफा—इस गुफा के अंदर जो शिकार का दृश्य है और दीवारों पर जो चित्रकारी है उनमें और पूर्व-ऐतिहासिक काल के मिट्टी के बर्तनों पर जो चित्रकारी है दोनों में समानता मालूम पड़ती है।

(८) कोशाम्बी—यहाँ पर जो मिट्टी की मूर्तियां निकली हैं उनमें एक पुरुष के पेट की अंतड़ियाँ तक दिखलाई गई हैं। अनेक मिट्टी के ऐसे टुकड़े हैं जिन पर चीनी मिट्टी की तरह पालिश किया हुआ है।

(९) मान मंदिर—(वेधशाला) काशी जो सन् १७३७ ई० की बनी है उसका नक्शा समर्थ जगन्नाथ ने बनाया था और उसका निर्माण जयपुर राज्य के सर्दार महोन नामक एक कुम्हार ने किया था।

कुम्हार भारतीय समाज के प्रत्येक अग का चित्रण मिट्टी-द्वारा सस्ते से सस्ते दामो मे ऐसे चातुर्य्य से करता हे, कि उसकी बनाई हुई चीजे प्रत्येक घर मे पहुँच जाती हे। राजा से लेकर रक तक के घरो मे कुम्हार की कृतियाँ उपयोग मे लाई जाती हैं। कुम्हार का जीवन जन-साधारण ने ऐसा मिल-जुल गया है कि वह देश की सभ्यता तथा उसके क्रमशील विकास से अलग नही किया जा सकता। उसका यह परम्परा का स्वभाव-सा हो गया है कि प्रतिदिन बदलते हुए समाज की माग तथा उसकी आवश्यकताओ को पूर्ण करे। वह एक वैज्ञानिक की भाँति सदैव अनुसधान मे लगा रहता है और समाज के हित तथा उसके मनोरजन के हेतु नव-निर्माण करता रहता है।

लोक-नृत्य

श्री प्रेम कपूर 'कंचन'

श्री कंचन जी चलचित्र कला और साहित्य पर अपनी विशेष रुचि रखते हैं। आपने अपने इस लेख मे लोक-नृत्यो का सुन्दर परिचय दिया है।
—संपादक

लोक-नृत्य का आरम्भ कब और कैसे हुआ, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। किन्तु यह सर्वविदित है, कि कलाये जितनी नियम और शास्त्रो मे नहीं जीती उतनी परम्पराओ मे जीती है। इनका मूल-स्रोत है प्रकृति और कुछ अलौकिक शक्तियाँ—शक्तियाँ जो मानव जीवन मे स्वत जन्म लेती और पनपती है। इनका घर है गाव, जिनमे हमारे पुरखो ने जीवन बिताया और फूले-फले, उन्होने अपने जीवन-क्रम को क्रमबद्ध रखने के लिए देवता की कल्पना की। उनकी आराधना के साधक नृत्य बने। आज भी दक्षिण भारत के मन्दिरो मे देवी देवताओ के लिए विशेष नृत्य का आयोजन इसी बात की पुष्टि करता है, लेकिन समय के प्रभाव ने जीवन बदला, उसकी दिशा बदली, हमारे रहने के तौर-तरीके बदले। गाँव की जिन्दगी मे बहने वाले जीवन-उमगो के सोते सूखने लगे, अकाल, और भूख ने देवता को दरिद्रनारायण बना दिया।

सर्वप्रथम भारत के लोक-नृत्य एक परिस्थिति विशेष मे पनपे, उनका सौंदर्य निखरा और वह जनता की चीज बन गये। पर ऐसा हमेशा नही रहा। अपनी सार्वजनिक अवस्था मे पहुँच कर वह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, फिर समय के प्रभाव से कुठित होने लगा, उसमे आ गया वादो क़ा चक्कर। सामन्त युग मे पहुँच कर वह एक परिवार का हो गया। इस परिवार मे उसका वैयक्तिक रूप निखर आया। इसी तरह सम्पूर्ण भारत मे कला-परिवार मे सकलित होकर राजघरानो की छत्रछाया मे पलने लगी।

अवध के आसपास कत्थक और मिरासियो के परिवार बन गये। मणिपुर के मणिपुरी नृत्य, आसाम के आसामी नृत्य, दक्षिण भारत मे कथाकली इत्यादि नृत्यकारो के विभिन्न परिवार बन गये। इन परिवारो का कार्य था देव-पूजन के अवसर पर नृत्य कला का प्रदर्शन। देवताओ को प्रसन्न करने के लिए ही ऐसा किया जाता था। नृत्य देव पूजन का अग बन जाने के कारण अधिकाधिक यही चेष्टा की जाती थी कि उसमे कोई त्रुटि न रहे। बाह्य सुन्दरता के साथ ही साथ आतरिक भाव को अधिकाधिक सफलता से उपस्थित करने की चेष्टा की जाती थी।

आजकल नृत्य की चार पद्धतियां प्रचलित हैं—कथाकली, भारत नाट्यम्, कत्थक और मणिपुरी। लोक-नृत्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय नृत्य कथाकली है। कथाकली का अर्थ है कहानी का खेल। इस नृत्य में सम्पूर्ण एक कहानी बिना बोले ही नाटक के रूप में उपस्थित की जाती है। आरम्भ में परदे के पीछे एक प्रार्थना होती है, फिर नायकों के चरित्र का वर्णन होता है, जिसे पुरपाड कहते हैं, फिर चमड़े से मढ़े गये वाद्यों की होड होती है, इसे मोलयायम कहते हैं। इस तरह आधी रात के लगभग मूल नृत्य आरम्भ होता है। कभी कभी कथायें कई कई रात तक चलती है।

इस नृत्य की सब से आवश्यक बात है, मुद्रा के प्रदर्शन के लिए बनाव-शृंगार (मेकअप) का तथा वेश-भूषा का प्रदर्शन। जैसा पात्र का चरित्र होगा और जैसी मुद्राओं को उसे उपस्थित करना होगा, जैसे भाव देने होंगे, उनके अनुकूल उसकी वेषभूषा होगी। इसमें नृत्य, ताल पर आश्रित है, नृत्य भाव पर आश्रित है और नाट्य रसों पर आश्रित है। केवल अपने ढंग का यही एक ऐसा माध्यम है जिसने नाट्य शास्त्र के दोनों अंगों पर बराबर महत्त्व दिया है।

इस मुद्रा को आँखों द्वारा प्रदर्शित करने के लिए, शरीर को लचीला बना कर आवश्यकतानुसार घुमाने के लिए कई वर्षों की कठोर साधना सी करनी पड़ती है, तब कहीं सम्पूर्ण नृत्य का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

कठोर मुद्रा के प्रदर्शन के उपरान्त 'भारत नाट्यम्' कुछ अंशों में कथाकली से मिलता जुलता है। यह देवदासियों की कला है। इस कला में देवदासियों का बहुत कुछ हाथ था। देव-दासियां पैदा नहीं होती थीं, बनाई जाती थीं। छोटी बालिकाओं की शादी पत्थर की मूर्तियों से कर दी जाती थी और उन्हें मंदिरों में छोड़ दिया जाता था। वहां वह नटुतन से नृत्य कला सीखती थीं। पूजा के समय वहां उस नृत्य का प्रदर्शन होता था। इस तरह देवदासियों के बीच ही यह कला पनपी और उनके जीवन-यापन का साधन हो जाने के कारण उन्हीं के साथ इस नृत्य में विकास और पतन का अवसर आया।

इस नृत्य में केवल नारियां ही भाग लेती हैं, पुरुषों का भाग लेना अशुभ सा माना जाता है। शृंगार प्रधान है पर मुंह पर कथाकली की तरह नकाब नहीं लगाई जाती। भाव, अभिनय द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। यह लास्य वर्ग का एक उच्च सांस्कृतिक नृत्य है।

जिस भांति दक्षिण भारत की दो प्रधान शैलियां हैं, उसी तरह उत्तर भारत की अपनी प्रधान शैलियां हैं। उनमें कत्थक मुख्य है। इसका जन्म मुगल वातावरण के साथ ही साथ हुआ था यों मानिए कि मुगल बादशाहों को ऐसे नृत्य की आवश्यकता थी जो उनका मनोरंजन करे, जो ही विलासिता का कहलाए, जिसे वे आसानी से समझ सकें। यह एकांगी नृत्य है, जिसमें पदा-घात की विविध कल्पना ही देखने को मिलती है। नर्तक या नर्तकी कोई विशेष मुद्रा ले कर खड़े हो जाते हैं। इसके बाद सारंगी पर बजते हुए वाद्य पर तबले वाला अपना जौहर दिखाता

है, जैसे ही सम आता है नर्तक अपने गर्दन मे भाव प्रगट करता है और भौंवे कलाइया लय पकडने लगती है। ताल पर चलते हुए सलामी होती है फिर नृत्य के तोडे, परन, बोल चलने लगते है।



उत्तर भारत की एक नृत्य-मुद्रा

लयकारी पर मुख्य जोर होने के कारण विभिन्न लयो का प्रदर्शन होता है। धीमी लय पर आप नृत्य का सौदर्य पा सकते है, उनमे नर्त्तक की तैयारी की माप की जाती है, इस तरह नृत्य मे आप को सवाई, ड्योढी, पौन-दूनी, दुगनी तिगुनी लय देखने को मिलेगी। लय के साथ गते भी नाची जाती है। जैसे मुरली या होली की गत, लेकिन इन सब मे अग सचालन की उन्ही क्रियाओ को बार बार दोहराया जाता है। कत्थक नृत्यो मे ठुमरी गा कर उसके भाव बताने का प्रयास अच्छा है, लेकिन अधिकाश मे कृष्ण लीला का ही वर्णन होता है।

कत्थक की वेशभूषा आज भी वही मुगल दरबारी है, जो अधिक भोंडी हो गई है। वही रंगीन अचकन चूडीदार पैजामा, दुपलिया टोपी और वासकट। सब मिला जुलाकर, इस तरह से पुरुषों और नारियों के लिए कोई विभिन्न वेशभूषा का समावेश भी नहीं हुआ। दोनों एक ही तरह का कपडा पहिनते हैं। कभी कभी दो युवतियां, युवक और युवती का भी नृत्य करते देखी गयी हैं। इसमें कोई बन्धन नहीं, लेकिन इसमें आवश्यकता-वश पहिनावों में और नृत्य के भाव प्रदर्शन में सुधार हुए हैं।

जिस तरह कत्थक में कृष्ण-राधा के भाव ठुमरियों में दिये जाते हैं, उससे कहीं उच्च कृष्ण-पूजा के भाव बंगाल में वैष्णवों ने प्रसारित किये। मणिपुरी-नृत्य में इसी लीला का अभिनय होता है। कृष्ण का अभिनय एक लडका करता है, बाकी सारा अभिनय युवतियां करती हैं। उनके सिर में ऊपर उठे हुए जूडे पर तिकोनी सी टोपी होती है और उस पर महीन जाली की हलकी चादर जिसे विशेष मुद्रा में आने के पहले युवतियां अपने मुंह पर डाले रहती हैं। उनके शरीर पर तंग लाल ब्लाउज होता है और हरे रंग का घाघरा। घाघरों और ब्लाउजों में चमकते शीशे टँके रहते हैं जिन्हें अवले कहते हैं। रवीन्द्र ने शांति निकेतन में इस नृत्य को स्थान दिया और उनकी 'नटीर पूजा' या 'शाप मोचन' का जनता में बडा आदर है।

इन चारों विभिन्न पद्धतियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते जा रहे हैं, लेकिन गांवों में इनका मूल रूप बिखरा पडा है। जो वास्तविक लोककला है। लोक कला का विदेशों ने किस तरह उपयोग किया यह ध्यान देने की बात है। वहाँ के गांव आज भी नगरों के पूरे पूरे सम्पर्क में हैं। हर नगरनिवासी छुट्टियों में गांव जाता है, वहां वह शहर का हो कर नहीं रहता। अपने देश में दो सभ्यताओं के बीच एक गहरी खाई है। हमारी आंखों ने उन झोपडियों को नहीं देखा जिसमें केवल मिट्टी की मोटी-मोटी दीवारें हैं, जिस पर फूस के ठाट तक नहीं ऊपर नीला आसमान रात को छाया करता है, दिन में तपती धरती होती है, पानी में दीवारें कट कट कर बहा करती हैं और पेडों के नीचे बरसात कटती है। मेहनत में चटक जाने वाली हड्डियों का भगवान् पर अटूट विश्वास है, जो उन्हें अपने दुःखों, कष्टों को सहने की शक्ति देता है। उनकी खुश्क जिंदगी में होली, दीवाली, शिवरात्रि, रामलीला, जन्माष्टमी, दशहरा, उत्सव या पर्व आते हैं जो इन ग्रामों के हृदय से हर्ष आनन्द संगीत नृत्य की मधुर झंकार के साथ फूट निकलते हैं। ये उत्सवों धार्मिक त्योहारों या शादी, ब्याहों, जन्म, फसल, अनाज तक ही सीमित नहीं रहते, कटाई, जोताई, बोआई, निराई के गीतों में वे सारी बातें गाई जाती हैं।

इनके गीत कितने सीधे, कितने सादे और कैसे मालूम होते हैं, इनके नृत्यों में आडम्बर नहीं, प्रकृति का पहिनावा है। संथाल व नागा, भील, कोल इन अधिवासियों तक के पास अपनी अपनी थाती है, धरोहर है जो पिता से पुत्र को, पुत्र से पोते को युग युग तक मिलती चली आयी है।

जीवन जीवित रूप में जीवन का दर्शन चाहता है, यही मिलता है ग्राम्य-कला में, लोक-कला में। कोचीन के मांगलिक नृत्य धुत्लोल, कुरथी पट्टम, मोहनी मट्टम, नाईकोटिक इत्यादि

विशुद्ध लोकिक मनोरजन के नृत्य है जो कथाकली मे मिलते जुलते है। इनमे मस्त कर देने वाले गीतो की धुने है, मदहोश कर देने वाले भावो की थिरकन है। लेकिन उनको देखना आसान नही, कोसो पैदल मारे मारे फिरिए, दूर देश मे घर को छोड कर निकलिए, रात रात जागिए तब आप देख सकेगे सपेरा नृत्य जिसको आप अपने कैमरे मे कठिनाई से पकड सकेगे। एडवर साहब ने उन सपेरा नृत्यो का कुछ स्केच खीचा था। काल नाग, जो कि सृष्टि के आदि से ही पूजनीय है, उनकी अराधना मे नर्त्तक को व्रत रखना होता है। पूजा के बाद काल नाग के मनोनुकूल वाद्य पर नृत्य चलता है। भारत मे इस तरह का सपेरा नृत्य किसी न किसी रूप मे विद्यमान है।

प्रकृति पूजन मे पहला स्थान नाग का आता है दूसरा स्थान बरता का। पानी के बिना, कल्पना कीजिए, जब किसान गाता है—"काला मेघा पानी दे, हरिया फूटी बैल पियासा, काला मेघा पानी दे।" बचपन के दिनो मे चिलचिलाती दोपहरी के बीच अपने ही शहर मे पत्थरो की गलियो पर लोटते हुए किसानो को मैने देखा। पानी नही आया, असाड निकल गया। अब ? किसान की टोलिया गाती हुई चल पडी शहरो मे। हर घर वाले बालटियो से पानी डाल रहे है जैसे पैसे दे रहे है, वह नाच कर जमीन पर लोट रहे है। उनका विश्वास है इस तरह लोटने से पानी का देवता खुश हो जायगा। उनसे खेतो को पानी मिलेगा।

अपने ही प्रान्त मे नही, सारे भारत मे पानी के देवता इद्र की आराधना करने, रूठे हुए देवता को मनाने के लिए भिन्न भिन्न रीत-रिवाज है। जितने तरह के रिवाज है उतने ही भिन्न नृत्य। भील और मेवार मे नाच गा कर भैस की बलि दी जाती है इस नाचने गाने मे लडकिया भाग लेती है। जहा पहला पानी पडता है भील परिवार उसके दर्शन को जाता है। वहाँ से नाचता-कूदता अपने खेतो की ओर लौटता है। कहा जाता है कि वे ऐसा इसलिए करते है कि वे इन्द्र को लुभा कर अपने खेतो पर पानी बरसाने के लिए ले आवे। दक्षिण मे इन्द्र की स्तुति मे ओर भी रोचक नृत्य होते है। नृत्य का प्रधान होता है पुजारी, वह व्रत रखता है, फिर पूजा होती है। बाद मे नृत्य शुरू होता है। लोग चारो तरफ घूम-घूम कर नाचना आरम्भ करते है। नगाडे की चोट बढती जाती है और बढते जाते है लोगो के नाचते गाते स्वर। बलि के लिए एक केला काटा जाता है, कही कही नारियल भी। बलि के उपरात प्रधान नर्तक अपनी मुद्राओ का प्रदर्शन करता है। इसी तरह बगाल मे वर्षा के लिए मूर्ति नृत्य, बिहार के बारता गीत, युक्त प्रान्त मे वर्षा गीत, और पजाब के बरता नृत्यो की अपनी अपनी अलग महिमा है।

वर्षा नृत्य की तरह बाद मे आती है नाज की कटाई। अपनी पकी फसल को देख कर किसान कितना खुश होता है। उसका घर अन्न से भर जायगा। चमा नचला नाच, होली के खुशी के नाच और ऐसे ऐसे नाच है जो मानव को शरीर से ऊपर ले जा कर एक स्थल पर एकात्म करने की चेष्टा करते है। जहा सैकडो अनादि मिल कर एक आदि की स्थापना होती है। भूल जाते है भील, गोड, होडा, सथाल अपनी नन्ही छोटी बुद्धिजीवी परिधि को ओर स्वाद लेते है उस अनन्त सुख का। 'गौरी' के नृत्य को यदि किसी ने एक बार भी देखा है तो याद आ जायगा

भील अदिवासी जो झागा पहिन कर उपस्थित हुआ है, उसके साथ की टुकड़ी गा रही है "भदल" और भाला! मशाल किस तरह झुंड के झुंड सामूहिक रूप से नृत्य करते हैं जिनमें पुरुषों के साथ नाचती हैं तरुणियाँ। गोंड लोगों का 'कर्म' नृत्य, जिसमें प्रेम और प्रकृति का आभास मिलता है, काफी मनोरम होता है। नाग नृत्यों में तलवार और भालों का प्रयोग देख कर आप स्तम्भित हो जायगे। लेकिन इन अस्त्रों के साथ चलने वाले नृत्य आपको उनके रण प्रिय होने का परिचय देते हैं। यह अधिकतर झूम कर नाचते हैं। इनके सिरों पर जानवरों की सींग और पक्षियों के परों का झूमड़ होता है। भेरिया जाति में इस तरह से वेश भूषा बना कर नाचने का बड़ा ही मनोरम प्रयोग है। विवाह के अवसर पर इनका नाच मद्यपान के साथ शुरू होता है और वे सामूहिक लोकनृत्य करते हैं। इन नृत्यों के बीच गाथायें हंसी-ठठोली की या किसी वीर की गा गा कर सुनाई जाती हैं। गाथा का एक पद समाप्त होने पर पैरों से पदचापें दी जाती हैं।

इस तरह से समूचे भारत का उत्सवों, विवाहों या मुसीबतों के समय का अपने नृत्य हैं और अपने गीत जो उत्साह हर्ष या कठिन परिस्थितियों में उनके सहायक होते हैं।

पर्वतीय इलाका में, जैसे लद्दाख और सिप्ती में चेहरे लगा कर नाचने की प्रथा है। यह चेहरे विभिन्न आकृतियों (पशुओं) के होते हैं। पोशाक के लिए लम्बे चोगे पहिने जाते हैं। इन चोगों का भड़कीला रंग होता है। उनके वाद्य बड़े बड़े नगाड़े होते हैं जिनके भयानक स्वरों में रम कर यह लोग नाचते हैं।

घाटियों में रहने वाले पहाड़ी लोगों का जीवन बड़े ही परिश्रम से बीतता है। उनके लोक-नृत्यों में पुरुष और स्त्रियां सामूहिक रूप में डंडों के नाच नाचते हैं। यह एक लड़की या, जोकि विशेष रूप से नाच के ही लिए होती है, लेकर यह लोग बारी बारी से घूमते हैं और डंडी खेलते हैं। इनके पहिनावे ऊनी होते हैं। जिन्हें चोला कहते हैं। इनकी लम्बाई आदमी से अधिक होती है। नाच के समय ये विशेष तरह के चांदी के गहने पहिनते हैं। पेड़ों के नीचे लोग टुकड़ी-टुकड़ी इकट्ठा हो कर अपना सामूहिक उत्सव मनाते हैं। नृत्य के साथ गीत की प्रधानता होती है, गीतों में भेड़, ऊन और पहाड़ों के बारे में बातें होती हैं।

[illegible] नृत्यों के इन विभिन्न अंगों पर ध्यान घुमाते घुमाते याद आती है नाचती गाती वह [illegible] जिन्हें आपने भी अपने मुहल्लों में नाचते देखा होगा। एक खाट को लम्बी लम्बी [illegible] और दोनों बाजुओं पर खड़ी खाटों को लगा कर छोटा सा मंच बनाया जाता है। [illegible] आदमी पर निर्भर रहता है, पीछे से कोई युवती ढोल ले कर गाती है। नहीं तो [illegible] स्वयं निभाता है। निर्देशक है सूत्रधार है। अपनी अंगुलियों से अनेक [illegible] [illegible] में उनकी पुतलियों के जादू को दिखाने वाले को आपने निकट से नहीं [illegible] है। प्रश्न उठता है क्या [illegible] इस लेख के साथ इस प्रश्न का [illegible] कहा [illegible] जाता है कि [illegible] इस युग में मर रहा है,

नए और भड़कील क्षणिक रजनो ने हमारे मन को इतना घेर लिया है, कि हम अपने आप म दूर भाग रहे हैं, तभी तो ढाई घण्टे तक निर्जीव पुतलियों को एक कला कार नचाता बोलता और गाता है वही अपने देश में जा कर वर्ष के अधिकाश महीने मिट्टी ढोता है, मजदूरी करता है फटे हाल फिरता है।

यह बात केवल इसी कठपुतली के नाच तक ही सीमित नहीं है। शिवताडव, काली ताडव, देव और महिषासुर जो हमारे विभिन्न जनपदो की वस्तुए थी वे जनपदो के बिखरने बिखरने बिखर गईं। आज भी आसाम का व्याघ्र नृत्य, सरायकोला का सरायकोला नृत्य, आध्रका कुछपुरी, गुजरात का करका कोलहम इत्यादि नृत्य की विभिन्न पद्धतिया धीरे धीरे उस नदी के स्रोत की तरह सूखती जा रही हैं जो मैदान छोड कर रेगिस्तान में चली गई हैं। लेकिन जहा कही भी जाटो के समूहों मे अब भी कुछ अंग में जीवन है वहा आपको किसी न किसी रात कहरवा देखने को मिल जायगा क्योकि इन नृत्यों की जान इनकी सीधी-सादी कल्पना तथा मुद्राओ की विपुलता है। इन लोकवासियो के नृत्यों मे और लय गति, उनकी सीधी सादी वेशभूषा और सजावट को विशुद्ध प्राकृतिक और सरल रूप मे देख सकेंगे। उनकी कला मे उनकी सच्ची लगन और अनुराग का पुट मिलेगा।

फिर भी यदि हमें अपने देश की लोक कला, लोक नृत्य को बचाना है, उससे आने वाले जन को जीवन और जागरण देना है तो हमें चेष्टा करनी होगी सत्ता के साधारणीकरण की। आज का भारत एक प्रात का नही एक शहर या गाव का नही, हमारी लोक कला उन सारी विभिन्नता को दूर करने मे हमारे साथ कुछ हिस्सा बटा सकती है। कला का साधारणीकरण इस बात को लेकर होना चाहिए क्योकि जनता के पास जीवन की आवश्यकताओ के लिए ही समुचित धन नही है अत कला एक ग्रुप की एक पथ की धरोहर बनकर रह जाती है। जो जहाँ है वहीं का है वही जिए या वही मरे। कोई यदि दक्षिण को उत्तर के साथ जोडना चाहता है तो प्रश्न होता है उस लम्बी दूरी के लिए पैसा कहाँ है और जहा पैसे का प्रश्न उठता है वही लम्बे लम्बे टिकटो का प्रश्न आ जाता है। शहर के मोह को छोड कर हम गाव नही जा सकते। फिर यह लोक कला का प्रश्न हल कैसे हो? अत साधारणीकरण आवश्यक है। तभी लोक नाट्य, लोक नृत्यो या लोक गीतो का उपयोग हमारे लिए सार्वजनिक हो सकेगा और हम विदेशो के सम्मुख यह उपस्थित कर सकेंगे कि हमारा देश सापो और जादू मत्रको या हाथियो का देश कभी नहीं रहा है, अजन्ता इलोरा या एलीफेंटा की गुफाओ मे बने रगमच हमारे उन्नत नृत्य नाट्यो के ज्वलत उदाहरण हैं। इस सक्रमण काल मे लोक-परम्परा को बचाने के लिए अवश्य ही हमे प्रयत्नशील होना चाहिए क्योकि जीवन मे इनका मूल्य अधिक है।

मणिपुरी नृत्य

श्री प्रजेश बनर्जी

साहित्य, सगीत और कला की त्रिपथगा मे अनवरत स्नान करना ही कलाकार प्रजेश के जीवन का लक्ष्य है। भारतीय नृत्यकला के आचार्य उदयशकर के दाहिने हाथ श्री प्रजेश जी लेखक, पत्रकार और कलाकार इन तीन रूपो से ख्यात है। कला, सगीत और प्रकृति के प्रतीक मणिपुर मे स्वय जाकर लेखक ने मणिपुरी नृत्य के सबध मे जो परिचय प्राप्त किया है उसीका एक निदर्शन इस लेख मे है। —सपादक

मणिपुरी नृत्य अधिकाधिक जीवन्त है तथा प्राय प्रत्येक धार्मिक या सामाजिक पर्व पर आयोजित किये जाते है। वर्ष की कोई भी चन्द्रिका-स्नात रजनी वहा की ग्रामीण तरुणाई को नृत्य के लिए खीच लाती है जिसकी सख्या रात [illegible] बढती जाती है।

नृत्य का वातावरण मुक्त मानन्द की पुलक का वातावरण होता है जिसमे एक ऐसी यौवन-सुलभ [illegible] होती है जो दृश्यो को अत्यधिक आकर्षक और रमणीय बना देती है और [illegible] बडे आलोचक तथा [illegible] दर्शको को भी आकृष्ट कर लेती है।

नृत्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मणिपुर मे एक पौराणिक गाथा प्रचलित है जिसके अनुसार महान् [illegible] और [illegible] के शरीर की [illegible] चेष्टाओ और गतियो मे नृत्य ने जन्म लिया। [illegible] (सृष्टि) के समय [illegible] की देवी [illegible] की देह ने शील और सौन्दर्य [illegible] महान् गुरु की सगिनी थी। महान् गुरुदेव तथा [illegible] ने नृत्य की सृष्टि को [illegible] प्रदान की [illegible] ने अन्य देवी-देवताओ ने ग्रहण कर लिया तथा महान् गुरुदेव [illegible] के समक्ष [illegible] करने के लिए नृत्य किया।

[illegible] मणिपुरी नृत्यो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यही धारणा है यद्यपि बाद के समय [illegible] राजाओ से सम्बन्धित हो गये। इनका विषय भी प्राय वही [illegible] हरोबा, [illegible] (घनन्द ध्वनि के साथ), इसगी [illegible] चोलम (मृदग के सहारे नृत्य), [illegible] (होली तथा ढोल [illegible]) [illegible] नृत्य। [illegible] (चादनी रात मे [illegible])।

[illegible] हम [illegible] है कि यहा के निवासियो की

नए और भड़कील क्षणिक रजनो ने हमारे मन को इतना घेर लिया है, कि हम अपने आप म दूर भाग रहे हे, तभी तो ढाई घण्टे तक निर्जीव पुतलियो को एक कला कार नचाना बोलता और गाता हे वही अपने देश मे जा कर वर्ष के अधिकाश महीने मिट्टी ढोना है, मजदूरी करता है फटे हाल फिरता हे।

यह बात केवल इसी कठपुतली के नाच तक ही सीमित नही है। शिवताडव, काली ताडव, देव ओर महिषासुर जो हमार विभिन्न जनपदो की वस्तुए थी वे जनपदो के बिखरने बिखरने बिखर गई। आज भी आसाम का व्याघ नृत्य, सरायकोला का 'सरायकोला नृत्य, आध्रका कुछपुरी, गुजरात का करका कोलहम इत्यादि नृत्य की विभिन्न पद्धतिया धीरे धीरे उस नदी के स्रोत की तरह सूखती जा रही है जो मैदान छोड कर रेगिस्तान मे चली गई है। लेकिन जहा कही भी जाटो के समूहो मे अब भी कुछ अग मे जीवन है वहा आपको किसी न किसी रात कहरवा देखने को मिल जायगा क्योकि इन नृत्यो की जान इनकी सीधी-सादी कल्पना तथा मुद्राओ की विपुलता है। इन लोकवासियो के नृत्यो मे और लय गति, उनकी सीधी सादी वेशभूषा और सजावट को विशुद्ध प्राकृतिक और सरल रूप मे देख सकेगे। उनकी कला मे उनकी सच्ची लगन और अनुराग का पुट मिलेगा।

फिर भी यदि हमे अपने देश की लोक कला, लोक नृत्य को बचाना है, उससे आने वाले जन को जीवन और जागरण देना है तो हमे चेष्टा करनी होगी सत्ता के साधारणीकरण की। आज का भारत एक प्रात का नही एक शहर या गाव का नही, हमारी लोक कला उन सारी विभिन्नता को दूर करने मे हमारे साथ कुछ हिस्सा बटा सकती है। कला का साधारणीकरण इस बात को लेकर होना चाहिए क्योकि जनता के पास जीवन की आवश्यकताओ के लिए ही समुचित धन नही है अत कला एक ग्रुप की एक पथ की धरोहर बनकर रह जाती है। जो जहाँ है वहीं का है वहीं जिए या वहीं मरे। कोई यदि दक्षिण को उत्तर के साथ जोडना चाहता है तो प्रश्न होता है उस लम्बी दूरी के लिए पैसा कहाँ है और जहा पैसे का प्रश्न उठता है वही लम्बे लम्बे टिकटो का प्रश्न आ जाता है। शहर के मोह को छोड कर हम गाव नही जा सकते। फिर यह लोक कला का प्रश्न हल कैसे हो? अत साधारणीकरण आवश्यक है। तभी लोक नाट्य, लोक नृत्यो या लोक गीतो का उपयोग हमारे लिए सार्वजनिक हो सकेगा और हम विदेशो के सम्मुख यह उपस्थित कर सकेगे कि हमारा देश सापो ओर जादू मत्रको या हाथियो का देश कभी नही रहा है, अजन्ता इलोरा या एलीफेटा की गुफाओ मे बने रगमच हमारे उन्नत नृत्य नाट्यो के ज्वलत उदाहरण है। इस सक्रमण काल मे लोक-परम्परा को बचाने के लिए अवश्य ही हमे प्रयत्नशील होना चाहिए क्योकि जीवन मे इनका मूल्य अधिक है।

मणिपुरी नृत्य

श्री प्रजेश वनर्जी

साहित्य, सगीत और कला की त्रिपथगा मे अनवरत स्नान करना ही कलाकार प्रजेश के जीवन का लक्ष्य है। भारतीय नृत्यकला के आचार्य उदयशकर के दाहिने हाथ श्री प्रजेश जी लेखक, पत्रकार और कलाकार इन तीन रूपो से ख्यात है। कला, सगीत और प्रकृति के प्रतीक मणिपुर मे स्वय जाकर लेखक ने मणिपुरी नृत्य के सबध मे जो परिचय प्राप्त किया है उसीका एक निदर्शन इस लेख मे है। —सपादक

मणिपुरी नृत्य अधिकाधिक जीवन्त है तथा प्राय प्रत्येक धार्मिक वा सामाजिक पर्व पर आयोजित किये जाते है। वर्ष की कोई भा चन्द्रिका-स्नात रजनी वहाँ की ग्रामीण तरुणाई को नृत्य के लिए खीच लाती है जिसकी सख्या शनै शनै वढती जाती है।

नृत्य का वातावरण मुक्त मानस की पुलक का वातावरण होता है जिसमे एक ऐसी योवन-सुलभ शक्ति होती है जो दृश्यो को अत्यधिक आकर्षक और रमणीय बना देती है और जो वडे से वडे आलोचक तथा सुसस्कृत दर्शक को भी आकृष्ट कर लेती है।

नृत्य की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे मणिपुर मे एक पौराणिक गाथा प्रचलित है जिसके अनुसार महान् गुरु और अमर स्रष्टा सिदवा के शरीर की ताल-लय-पूर्ण चेष्टाओ और गतियो से नृत्य ने जन्म लिया। लंसम्वा (सृष्टि) के समय मातृत्व की देवी लेमेरन की देह से शील और सौन्दर्य फूट पड़ा था जो महान् गुरु की भगिनी थी। महान् गुरुदेव तथा लेमेरन ने नृत्य की सृष्टि को पूर्णता प्रदान की जिसे कालान्तर मे अन्य देवी-देवताओ ने ग्रहण कर लिया तथा महान् गुरुदेव की पूजा के समय उन्हे प्रसन्न करने के लिए नृत्य किया।

सम्पूर्ण मणिपुरी नृत्यो की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे यही धारणा है यद्यपि वाद के समय मे वे मुख्य-मुख्य धार्मिक पौराणिक गाथाओ से सम्वन्धित हो गये। इनका विषय भी प्राय वही कथाए रहा करती है जैसे 'लाइ हरोवा', रास-लीला, खवक (करतल ध्वनि के साथ), इशरी चोलम (गीतो के साथ नृत्य), पुग चोलम (मृदग के सहारे नृत्य), ओग्री हैंगल (होली तथा डोल यात्रा के समय वालक-वालिकाओ का सयुक्त नृत्य), कुक्केकर या थावलसाग्वी (चादनी रात मे कूद-कूद कर नृत्य)।

मणिपुर की पौराणिक कथाओ के अनुसार हम समझते है कि यहाँ के निवासियो की

स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नृत्य की ओर है ओर ये लोग इस महती कला को बहुत पवित्र मानते हैं। रास लीला के बाद यहा का सब से अधिक लोक-प्रिय नृत्य 'लाइ हरोबा' है; इसका अर्थ है 'देवताओ का आमोद-प्रमोद'। इसका एक अर्थ 'देवताओ का आशीर्वाद' भी होता है। हिन्दू धर्म मे दीक्षित होने के पूर्व यहाँ के निवासी ब्रह्मवादी थे आर जैसे बर्मा मे पुराना धर्म नये धर्म के साथ चलता रहता है, यहा भी प्रत्येक परिवार मे इमुगलाइ (गृह देवता) हुआ करते है, जिन्हे हिन्दू मन्दिरो मे स्थापित कर दिया गया है, यहाँ के निवासी चाहे इन्हे नये नाम से पूजे या पुराने नाम से। यहा की पहाडिया तथा घाटिया लाइफाम्स या देव-स्थान के रूप मे मान्य हे जहा स्थानीय देवो का निवास माना जाता है और जो इनके परम पूज्य भी है। लाइ हरोबा नृत्य प्रधानतया प्राचीन धार्मिक नृत्यो के पुनरुत्थान-स्वरूप है तथा एक वार्षिकोत्सव के रूप म प्रत्येक ग्राम-द्वारा उपस्थित किये जाते है जिनमे प्रत्येक ग्राम अपने-अपने देवता की परितुष्टि करता हे।

ये उत्सव एक नृत्य से आरम्भ किये जाते है जिनमे देवताओ को फूल-फल बालिकाओ-द्वारा अर्पित किया जाता है। इन बालिकाओ का नेतृत्व पुराने धर्म की पुरोहितिने, जो 'मैबिस' कही जाती है, करती है। इसकी समाप्ति के पश्चात् युवक-गण मनोरजनार्थ नृत्य करने के लिए युवतियो को चुन लिया करते है।

लाइ हरोबा तथा रास-लीला दोनो मे नृत्य-सम्बन्धी उपयुक्त अग-सचालन की क्रियाये, मुख पर प्रकट होने वाली भाव-भगिमाए, हाथ की विविध चेष्टाए तथा मणिपुर-निवासियो की कल्पना के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति की कथाए चित्रित ओर अभिनीत होती है। लाइहरोबा रचना-विधान (Technique) के बारह विभाग है।

औग्रीहैगल भी लाइहरोबा का ही एक भेद है। जैसे डोल-यात्रा के समय कुकेकक तथा थाबल साग्बी नृत्य अधिक पसन्द किये जाते है वैसे ही ओग्रीहैगळ भी एक लोकप्रिय नृत्य है। किन्तु, कुछ अन्ध विश्वासो तथा अज्ञानपूर्ण तर्कों के आधार पर वर्जित होने के कारण इस नृत्य के अनेक महत्त्वपूर्ण अश नर्तकों-द्वारा छोड दिये जाते है।

मणिपुर-निवासियों-द्वारा वैष्णव धर्म ग्रहण किये जाने के पूर्व लाइहरोबा नृत्य को ही प्राधान्य मिला था। एक पुरुष या एक स्त्री, या दोनो साथ ही, या समह के समह पुरुष-स्त्री साथ-साथ, या पुरुष-वर्ग ओर स्त्री-वर्ग पृथक्-पृथक् चाहे जैसे लाइहरोबा नृत्य सम्पन्न कर सकते है।

कभी-कभी दो व्यक्तियो द्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले लाइहरोबा नृत्य मे पुरुष नर्तक अपने उच्चतम स्वर से गाता है ओर इस गीत के सम पर दोनो नृत्य करते रहते है।

लाइहरोबा के आर्केस्ट्रा मे एक बडा ढोल, बाँस की बासुरिया, बडे-बडे घण्टे-घडियाल, छोटे-छोटे मजीर तथा 'पेना' हुआ करते है।

मणिपुर की कला तथा विचारो के अनुसार ही वहा का आहार्य अथवा वेश-भूषा आर सज्जा का विधान होता है। नृत्य के वस्त्राभूषणादि की रचना वहा के पुराण-सम्मत तथा अनिवार्य

रीति-रिवाजो के ही अनुरूप और अनुकूल होती है। गहरे हरे रग की पृष्ठभूमि पर उभरती हुई, चमचमाते सुनहरे रग की धारियो से युक्त तथा पूर्ण रूपेग सुसज्जित निचले किनारे वाली साडी का एक भाग कमर पर वाध दिया जाता है। हरी साटन की वनी हुई आधी वॉह की चोली होती है और लाइहरोवा मे तो सिर को वडे कलापूर्ण ढग मे सजा दिया जाता है—सिर



मणिपुरी नृत्य की एक मुद्रा

पर मुलायम रोवें-जैसे मखमल को चारो ओर से कस कर सुनहले फीते से वॉध दिया जाता है। लम्वे लहरीले केश शरीर के उतार-चढाव तथा हिलने-डुलने के साथ लहरात है और नर्तकियो की सौम्यता एव सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करते है। नर्तकिया भडकीले-चमकीले आभूपण, हार, कगन-वाजू तथा अगूठियाँ धारण करती है, किन्तु पायजेव नही पहने जाते।

नर्तको के लिए रगीन सिल्क की धोती होती है और शरीर के ऊपरी भाग को अनावृत्त ही रहने देते है, किन्तु, हार, वाजूवन्द तथा अगूठियो से भली भॉति सजा लेते है। इनके लिए सिर की सजावट तथा पायजेव नही होते।

हाथो के मन्द-मन्द कम्पन और गति तथा भूमि पर मन्द-मन्द पदाघात से नृत्य का आरम्भ होता है और थोडे-थोडे समय का व्यवधान देकर गति और ताल के जो सम पडते हैं, उन्ही की सगति में हाथ ओर पैर दोनो की नृत्य-गत क्रियाएँ सचालित होती है। शनै शनै नृत्य का वातावरण अपने चरम विकास पर पहुँचता है और देवताओ तथा दर्शको को नमस्कार करने के पश्चात् समाप्त होता है। इस नृत्य में नमस्कार की रीति यह है कि नर्तक और नर्तकियाँ अपनी हथेलियाँ भूमि पर रखती और फिर उन पर सिर रख कर प्रणाम की मुद्रा मे नत हो जाती है।

लाइहरोवा नृत्य को खम्वा और थोइवी—एक निर्धन किन्तु महान् युवक तथा राजकुमारी की प्रेम-कथाओ को लेकर चलने मे प्रचार का क्षेत्र मिला। प्राय हर प्रदेश मे इन कथाओ पर लोग परम्परा से विश्वास करते आ रहे है। प्रवीण नर्तक और नर्तकी ही इसे आरम्भ करते है और कथाओ के विपय को नृत्य के द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

वैष्णव धर्म के प्रवर्तन के पश्चात् मणिपुर के नृत्यों के रचना-विधान विचार-भाव अथवा विषय-वस्तु मे क्रमिक परिवर्तन आने लगा। लाइहरोबा के अवयव-सघटन की शैलियां बनने लगी और बहुत कुछ मिश्रण किया गया। गति और ताल-सम्बन्धी अनेक नियम और व्यवस्थाओ का व्यवहार किया जाने लगा। राधा और कृष्ण की कथाओ को अधिक प्रमुखता मिली और दूसरे उपाख्यान प्राय छोड ही दिये गये। 'खोल' को स्थान मिला और अपने ढंग का यह एक ही वाद्य सिद्ध हुआ। 'बोल' बारीकियो का प्रादुर्भाव हुआ। जब वैष्णव मत का प्रचार हुआ तब मणिपुर के शास्त्रीय नृत्यो के रूप मे रासलीला, (जिसकी शाखाए थी—नर्तक, वसन्त तथा नृत्य), गोष्ठ-लीला (जिसमे गाय चराने वाले के रूप मे गोपियो के साथ लीला करते थे) और लाइहरोबा प्रतिष्ठित हुए। अब भी लाइहरोबा राधा-कृष्ण कथा-विषयक नृत्यो के साथ-साथ मणिपुर के बाहर सुपरिचित है, जिन्हे बाहर के लोग मणिपुरी नृत्य से अभिहित करते है और जो एकमात्र 'खोल' बजने पर उपस्थित किये जाते है।

सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे, मणिपुरी नृत्यो को राधा-कृष्ण के वैष्णव-स्वरूप का आधार लेकर अपनी शक्ति के सदुपयोग का उत्तमोत्तम क्षेत्र मिला। आगिक, वाचिक तथा आहार्य तीनो प्रकार के नृत्यो को कला-शक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँचने का माध्यम रास-लीला के रूप मे मिला जिससे सम्बन्धित कल्पनाओ और उद्भावनाओ ने नृत्य-कला की अभिव्यजना एव चित्रण की क्षमताओ का उद्घाटन किया।

मणिपुर के प्रत्येक ग्राम मे कृष्ण-राधा, कृष्ण-बलराम तथा कृष्ण-चैतन्य का मन्दिर होता है जिससे सम्बन्धित एक बडी रगशाला भी होती है जिसमे राधा-कृष्ण-सम्बन्धी उपाख्यानो को लेकर नृत्य प्रस्तुत किये जाते है। नृत्य की रगभूमि को 'रास-मण्डल' कहते है, जो नृत्य के समय वृत्ताकार होता है और राधा-कृष्ण उसके केन्द्र मे नृत्य करते है। नृत्य मे लगभग छ घण्टे लगते है और यह प्रायः रात को दस या ग्यारह बजे आरम्भ हुआ करता है।

अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे, महाराजा जयसिंह जो बाद मे अपनी लोकप्रियता के कारण भाग्य-चन्द्र नाम से विख्यात हो गये थे (१७५९-१७९८) के द्वारा मणिपुरी नृत्यो की अतीव प्रशसा और स्वागत हुआ। उनके शासन-काल मे, उनके द्वारा बनवाये गये एक मन्दिर मे श्री गोविन्द जी का अभिषेक किया गया। इस महान् अवसर पर महारास-लीला का अभिनय किया गया। राजकुमारी सीजा लैरोइबी जो बीरबहूटी अथवा बिम्ब मजरी नाम से भी ख्यात थी, ने राधिका का अभिनय किया और रामेश्वरी नाम से सम्मानित तथा प्रसिद्ध हुई। मणिपुर के इतिहास मे, यह पहली रास-लीला थी, जिसमे राजकुमारी ने राधिका के रूप मे नृत्य किया।

'जैगोइ' नामक मणिपुरी नृत्य में पाच बड़े और महत्वपूर्ण भाग होते है—प्रथम भाग को 'वृन्दावन पारग' कहते है, जिसमें वृन्दावन का वर्णन होता है। इसमे स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते है। द्वितीय भाग को 'भागीपारग' कहते है जिसमे नारी शरीर की विविध चेष्टाएं और

भगिमाएँ प्रदर्शित की जाती है और तृतीय भाग को भी यही सज्ञा प्रदान की जाती है जिसमें पुरुष-शरीर के अभिनय प्रस्तुत किये जाते हैं। चतुर्थ भाग, 'खुरमपारग' मे नर्तकी द्वारा प्रणाम तथा पचम भाग मे नर्तक-द्वारा प्रणाम की क्रियाए सम्पादित और प्रदर्शित की जाती है।

मणिपुरी नृत्यो के 'आर्केस्ट्रा' मे मृदग या 'खोल, मजीर तथा बाँसुरी होती है। कभी-कभी नृत्य के समय चार से ले कर छ तक गायिकाएँ सामूहिक गीत गाती है। 'खोल' वजाने वालो के समूह को "धुमोन" कहते है और इनकी सख्या यथावसर पन्द्रह से ले कर चालीस तक पहुँचती है।

नर्तको, नर्तकियों, गायको तथा सामूहिक गान गाने वाली वालिकाओ के वस्त्राभरण अत्यन्त सुन्दर तथा रग-विरगे होते है। नर्तकियाँ मखमल की चोलियाँ, जिनकी छोटी वाँहो पर दो इच चौडे कसीदे कढे रहते है, तथा टखनो तक झूलने वाला मूल्यवान घाघरा पहनती है जो कई गज कपडे को मोड कर वनाया जाता है तथा जिसमे चुन-चुन कर पर्याप्त वक्रता, घुमाव और झुकाव तथा घुँघरालापन लाया जाता है। इस लँहगे की सिल्क का रग हरा या गहरा लाल होता है और किनारो पर गोट लगी रहती है, साथ ही इस आकर्षक वस्त्र पर रगीन दर्पण के से लघु गोलाकार, अण्डाकार तथा वर्गाकार टुकडे यत्र-तत्र विखरे-विखरे सिल दिये जाते है।

लहँगे की चक्करदार ओर एक पर एक जमी पर्तो के ऊपर कमर के कोमल पतलेपन को स्पष्ट दीखने देने के लिए सफेद कपडे की चौडी पट्टी कस कर बॉध दी जाती है। पतली-पतली चाँदी की सी धारी वाले फीते से सयुक्त उत्तमोत्तम जालीदार रेशम लहँगे के ऊपर कमर पर रख कर वाँध दिया जाता है। यह सम्पूर्ण सज्जा जैसे सौन्दर्य बिखेरने लगती है, खासतौर से तब जब कि चारो ओर से चमचमाता हुआ लहँगा नृत्य की गति और ताल पर हिल-डुल कर और फहरा कर जैसे चिनगारियाँ विखेर रहा हो।

नर्तकियो के सिर पर पहनने के लिए मखमल की एक छोटी सूच्याकार टोपी होती है जिसके किनारो पर मोतियो की पतली पट्टी जडी होती है और चोटी से मोतियो की झालर लटकती रहती है।

स्वय कृष्ण के रूप मे नृत्य करने वाला नर्तक पीली धोती पहनता है जिसे कमर पर लम्बे झब्बूदार रेशम के गमछे से वाँध देते है। शरीर के ऊपरी भाग पर कोई वस्त्र नही होता, लेकिन, वह हारो, वाजूवन्दो तथा कडो से सुसज्जित होता है। सिर के ऊपर बहुमल्य रत्नो से जटित मोर मुकुट होता है जो कृष्ण भगवान का प्रतीक है।

मालव जनपद की आंकिक-लोकाभिव्यक्ति

श्री श्याम परमार एम० ए०, एल० टी०

मालवा के प्रतिष्ठित लेखक श्री श्यामजी मालवी सस्कृति और साहित्य पर साधिकार स्थान रखते है। मालव जनपद मे अकित की जाने वाली कतिपय लोक-कलाओ का आपने इस लेख मे सुन्दर परिचय दिया है।

—सपादक

कला मानव के आरम्भिक युग से सम्बन्धित है। मनुष्य ने जब प्रथम बार अपनी वस्तुओ को सँवारा, प्रस्तर खडो पर आकृतियाँ निर्मित की, शारीरिक अगो पर विभिन्न रगो का लेपन किया अथवा अपने अस्त्र-शस्त्रो पर वेल-बूटे बनाये एव सीधी रेखाओ मे सौन्दर्य उत्पन्न करने के हेतु तनिक गोलाई प्रदान करने के उपक्रम आरम्भ किये, तभी से मानव मे कला के अकुर विकसित होने लगे। वस्तुओ को सुन्दर बनाने की इस प्रवृत्ति मे मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा क्रमश अपना काम करती रही।

मानव की इस आदिम कला को आधुनिक युग म नृतत्वविद्, पुरातत्वान्वेषी, समाज-शास्त्री, कलाविज्ञ एव मनोविश्लेषक एक विशेष दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन की सामग्री बनाये हुए है, जो न केवल कलात्मक अभिव्यक्ति तक ही सीमित है, अपितु आदिम मानव के मानसिक और सामाजिक विकास की द्योतक भी है। वह युग था जब मनुष्य सगठन का व्यक्ति नही बना था। वह अपने आप मे इकाई बनकर गिरि-वन-कन्दराओ मे अपने भक्ष्य की खोज मे घूमता-फिरता, आक्रमण करता तथा भीषण जन्तुओ से अपनी रक्षा कर जीवन व्यतीत करता था। कही-कही उसके झुड भी दीख पडते थे। अत उस काल की कला कला की श्रेणी मे मान्य होकर भी लोक कला के रूप मे स्वीकृत नही है, जो इस लेख का विषय है।

[१]

लोक-कला सगठित समाज की द्योतक है। आदिम मानव की कला प्रागैतिहासिक कला की श्रेणी में स्थान पाती है। उसमे सामूहिक प्रयत्नो का अभाव है। लोक-कला मे यद्यपि स्थानीय एव जातीय विशेषताए लक्षित होती है, पर सामान्य रूप मे उसमे सगठित जन-समाज की स्वीकृति एव लगाव होता है। वही उसका अन्तर्निहित व्यक्तित्व है, जो उसे कला के अनेक प्रकारो से भिन्न व्यक्त करता है। हरबर्ट रीड ने इस प्रकार की कला के लिए 'पीजेन्ट आर्ट' शब्द का प्रयोग किया है। उसके शब्दो मे "दी आर्ट आफ सिम्पल, अनसोफिस्टिकेटेड प्यूपल, जनरली नान एग्

पीजेन्ट आर्ट   इट इज दी आर्ट देट स्प्रिग्ज फ्राम ए सोफिस्टिकेटेड लव ऑफ सिम्पलीसीटी एण्ड सिम्पल लाइफ।"[१] ओर इसीलिए लेनिन ने कहा है कि कला जन की सम्पत्ति है, उसकी जडे समाज के अन्दर तक पहुँचनी चाहिएँ। वह जन के लिए वोधगम्य ओर प्रेय होनी चाहिए। इस कसोटी पर लोक कला अथवा 'पीजेन्ट आर्ट' खरी उतरती है।

लोक कला का विपय सीमित नही है। सक्षेप मे इसकेअन्तर्गत वे सभी सौन्दर्य प्रसाधनात्मक एव व्यवहृत लोकाभिव्यक्ति के स्वरूप आते हं जिन्हे स्थूल रूप से चार प्रकारो मे विभक्त किया जा सकता है —

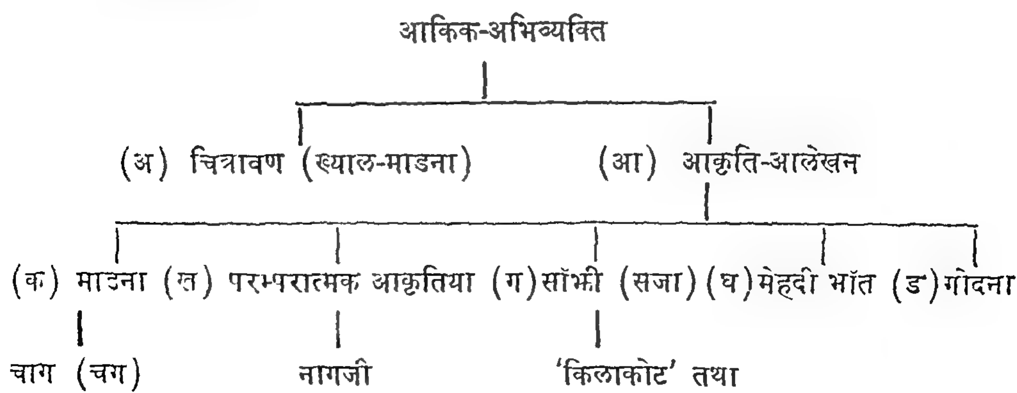
१ आकिक, २ वाचिक्, ३ निर्मित ओर ४ अभिनेय।

आकिक अभिव्यक्ति के अन्तर्गत भित्ति-चित्र, माडने, रागोली, अल्पना, एपन, चोक, मेहदी की भॉत, गोदना, वस्त्र-छपाई एव पर्व-उत्सवो पर लेखित की जाने वाली विविध आकृतियॉ, वाचिक् के अन्तर्गत लोकसगीत एव समस्त परम्पराश्रुत तथा नवसृजित लोक साहित्य, निर्मित के अन्तर्गत खिलौने, काष्ठ-शिल्प, गृह-सज्जा, अलकार, आदि तथा अभिनेय के अन्तर्गत लोक नाटच एव लोकनृत्य विशेपत स्थान पाते हैं।

सुविधा की दृप्टि से यहॉ हम मालव जनपद की लोक कला के सभी प्रकारो मे से केवल आकिक अभिव्यक्ति के कुछ भेदो पर विचार करेगे।

[२]

मालव-लोक कला के अन्तर्गत आकिक-अभिव्यक्ति को दो भागो मे विभाजित करना अनिवार्य है। प्रथम भाग के अन्तर्गत चित्रावण और दूसरे के अन्तर्गत वे सभी आकृतियॉ होगी जो परम्परा से घरो मे रीतिरिवाजो से सुसम्बद्ध हो कर अकित या आलेखित की जाती है, तथा जिनके पीछे समृद्धि, शकुन एव मागल्य की कामना निहित है। स्पप्ट करने के लिए निम्नाकित सारिणी अधिक विस्तार मे विपय के उपभेदो को व्यक्त करती है।



१—हरवर्ट रीड; दी मीनिंग ऑफ आर्ट (पेलीकन बुक्स), पृष्ठ ६४।

चौक	मायमाता	श्राद्ध-पक्ष की
चौपड,	सरवण (श्रवण)	आकृतियाँ
घुघरा	भेरूजी	
फूल बेल,		
डेली (देहली)	पगल्या (पदचिह्न)	
आदि	आदि	

उक्त सभी भेद अवसर, माध्यम और ध्येय की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक होकर भी एक दूसरे से भिन्न है।

(अ) चित्रावण

मालवा में चित्रावण[1] की परम्परा वर्षों पुरानी है। इसने कालान्तर में चित्रकला की एक विशिष्ट शैली को विकसित करने में योग दिया जिसे मालव-शैली कहे तो अनुपयुक्त न होगा। 'प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम' (बम्बई) में सुरक्षित 'विरही परदेशी' 'वर्षा विरहणी' 'मुग्धा' (१६८० ई० के लगभग), आदि चित्रों की शैली वास्तव में वर्तमान चित्रावण के रंग सज्जा रेखाविन्यास, सादगी और खुलेपन के पूरे आभास को व्यक्त करती है।

मालवा में चित्रावण बनाने का कर्म पेशेवर 'चितेरों' (चित्रकारों) द्वारा किया जाता है जिन्हे विवाहादि मांगलिक अवसरों पर इस कार्य के लिए आमंत्रित किया जाता है। वर्षों से बँधे-बँधाये विषयों पर कलम (कूची) मांजने के पश्चात् अब उनके चित्रकर्म में कलातत्त्व की अभिव्यक्ति क्रमशः एक शिल्प के रूप में परिणित हो गई है, यहां तक कि किसी निश्चित आकृति को आँख मींचकर बनाने का अभ्यास कई चितेरों को है।

चित्रावण की अधिकांश मानव एवं जड़ आकृतियां परम्परागत विषयों से सम्बन्धित है। मुख्यतः विवाह-सम्बन्धी विषयों और अवतारों के चित्रण का बड़ा रिवाज है। वैवाहिक विषयों में वर-वधू की हाथी पर सवारी, बरात-आगमन, बई-ब्याण, 'चवरी', 'देरानी-जेठानी, बड़ी पीसते ब्याईजी, आदि तथा धार्मिक विषयों में ऋद्धि-सिद्धि, गणेशजी, लक्ष्मी और कलश आवश्यक वस्तुएँ हैं। शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण या राम-लक्ष्मण-सीता भी माल्वी चितेरों के प्रिय विषय है। उज्जैन जिले के निकटवर्ती क्षेत्रों में शिव-पार्वती भंग छानते हुए, कृष्ण गोपियों के मध्य त्रिभंगी मुद्रा में तथा राम-लक्ष्मण-सीता वन-गमन करते हुए अंकित किये जाते हैं। द्वार के दोनों ओर प्यादे और अश्वारोही भी बहुधा बनाये जाते हैं।

चित्रावण में लाल और नील रंगों का प्रयोग अधिकांश रूप में किया जाता है। अलंकार, वेषभूषा, केश-सज्जा आदि का ध्यान भी स्थानीय विशेषताओं से युक्त है। नासिका में नथ, 'चीण

---

१ इन्हें 'ख्याल मांडना' भी कहते हैं।

दार' घाघरे पर लाल लुगडा और कचुकी के ढग की 'कसने' (वध) वाली-चोली' को स्त्री क लिए समान रूप से सभी अलकरण के आवश्यक अग मानते है। पुरुष के तन पर स्वेत 'वडी' और माथे पर मालवी 'चीरा' (पिगडी) अकित किये जाते है। हाथी ओर अश्व सशक्त और अभिनेय मुद्रा मे वनाये जाते है। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति के लिए हाथ की मुद्राओ को ध्यान से 'माडा' जाता है जो कठिन कर्म है। इस वात को लक्ष्य करते हुए स्थानीय चितेरो द्वारा प्राय निम्न पक्तियाँ कही जाती हे —

हाथ, हाथी ओर घोडो
ओर सब थोड़ो थोडो

तात्पर्य है कि हाथ, हाथी और घोडा वनाना कठिन है ओर शेप के लिए मामूली प्रयास करने से ही काम 'सर' जाता है।

चित्रावण को कई दिनो तक अकित रखने के हेतु कच्चे रगो को गोद के पानी मे घोल कर साधारण कूची से लगाते है। इन चित्रो मे 'लाइट शेड' का आयोजन नही होता। साधारणतया आकृति के प्रमाणानुसार उतने स्थान पर प्रथम मामूली रग से पृष्ठभूमि वना ली जाती है। तत्पश्चात् वस्त्र, आभूपण, एव अगो को व्यक्त करने के लिए गहरे रगो का प्रयोग किया जाता है और अत मे मोटी नीली रेखाओ-द्वारा आकृति को उभार दिया जाता हे।

चित्रावण का आधार घर की वे समस्त दीवारे होती है जिन पर चित्राकृतिया अकित होने पर दूसरो का ध्यान आकर्षित कर सके। आजकल ग्रामो मे जहा भी मानव-आकृतिया वनाई जाती है उनमे कठिन स्थिति (वैठक) अकित नही की जाती। स्वय चितेरे सरलतम प्रयोगो के वधन तोडने के आदी नही होते। वे तो केवल अकित आकृतियो द्वारा अपने विचारो को सरलतापूर्वक व्यक्त मात्र कर देते है जिनमे रगो की छटा उनकी सौन्दर्यवृत्ति की द्योतक होकर प्रकट होती है। सर ई० वी० टेलर के शब्दो—"देअर प्रापर परपज इज नाट टू प्रोडूस एक्जेक्ट इमिटेशनस् वट ह्वाट दी आर्टिस्ट स्ट्राइव्ज टू व्रिग आउट इज दी आइडिया देट स्ट्राइक्स दी वी होल्डर"[१] द्वारा चित्रावण के प्रति उक्त दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो जाता है (रगीन प्लेटो के अभाव मे यहा चित्राकृतिया प्रस्तुत नही की जा सकी है)

(आ) आकृति आलेखन—

(क) 'माडना'

'माडना' उन समस्त आकृतियो को कहते है जिन्हे धरती पर 'पाडू' (खडिया) और गेरू से वनाया जाता है। मालवी मे 'माडना' शब्द सज्ञा और क्रिया दोनो रूपो मे व्यवहृत होता है। 'माडना' क्रिया का अर्थ है अकित करना (टू ड्रा) और सज्ञा के रूप मे आकृतियो म तात्प

१—एन्थ्रोपलाजी, खड २, पृष्ठ ५५ (दी थिन्करस् लायब्रेरी)।

है। इस प्रकार 'माडना माडना' का अर्थ है—आकृतिया बनाना। 'माडना' प्राय प्रत्येक त्योहार के अवसर पर घर लीपने-पोतने के पश्चात् बनाये जाते हैं। विशेष रूप मे दीपावली और दशहरा इनके लिए मुख्य अवसर हैं। समस्त 'माडना' (आकृतिया) मागलिक समझे जाते हैं। इनमे मानव आकृतिया नही बनाई जाती, केवल सौन्दर्य वृद्धि के लिए त्रिकोणात्मक, चाकोर, पचकोण, षट्कोण, अष्ट कोण आकृतियाँ अथवा 'भाँत' (डिजाइन) बनाई जाती है। इनके अतिरिक्त 'चोपड भाँत', 'फूल भाँत', 'बेल भाँत', आदि माडना के प्रकारो मे प्राकृतिक वस्तुए प्रतीकवत् ग्रहण की गई है। दीपावली पर 'देखत फली', 'सात्या (स्वस्तिक) की जोड', 'सुआलची', 'दरकुन्या', (जिसमे मृत्तिका दीप ज्योतित किये जाते है) तथा द्वार के पास 'मादी डेली', 'गाँठ्या की डेली', कक्ष के कोनो मे 'फूल', 'खाडा', मध्य मे 'चोक अथवा 'चाग' (चग) जिसमे 'झलगा' आदि बना कर घर-द्वार सजाये जाते हैं।

'माडना' चित्रित करने के पूर्व घर-आगन गाय के गोबर से लीपे जाते हैं। तत्पश्चात् 'पाडू' घोल कर केशगुच्छ अथवा कपडे की चिन्दी को अगुलियो मे दाब कर 'पाडू' मे पाडुर रेखाए बनाई जाती है। पहले चौक अथा 'चाग' की बाह्य रेखाए बनाई जाती है। फिर उसमे बडे परिश्रम से अनेक आडी-टेडी रेखाए बिन्दियो, त्रिकोणो और 'झलगो' सहित भरी जाती है। बीच-बीच मे मोटी गेरुआ रेखाओ से रग—वैचित्र्य भी उपस्थित किया जाता है। राजस्थानी-मालवी की एक 'पारसी' (पहेली) मे चौक अथवा 'माडना' को पचासो फलो से चित्रित बिना टाँको की गुदडी कहा है।[1]

'माडना' अकन का कार्य स्त्रियो का आवश्यक कर्म है जिसकी शिक्षा उन्हे बचपन मे मिलती है। इनमे समानान्तर रेखाओ का प्राधान्य और वक्र रेखाओ की न्यूनता ने आधुनिक चित्रकला मे 'ज्यामितिक शैली' को विकसित किया है। इसमे अत्युक्ति नही कि माडना' मे यह शैली विशेष रूप से प्रभावित है।

(ख) परम्परात्मक आकृतियाँ—

परम्परात्मक आकृतियाँ धार्मिक-उत्सवो स सम्बन्धित होती है। ऐसी आकृतिया रूढिगत रेखाओ मे निर्मित की जाती है जिनमे किसी भी प्रकार का कौशल अथवा सौन्दर्य-प्रसाधनात्मक प्रयत्नो का अभाव होता है। इन आकृतियो मे (मालवा मे), भेरूजी, मायमाता नागजी, सरवण, 'पगल्या', आदि की आकृतियाँ मुख्य है। प्राय समस्त आकृतियो के विषय निश्चित होते है। मानव-प्रतीक साकेतिक रेखाओ मे—ज्यामितिक शैली मे बनाया जाता है। दो त्रिकोण

१—बिन टाँका' की गोदडी'
फुलड्या' पडी पचास
(१ सिलाई, २ गुदडी, ३ फूल-पत्तियाँ)

एक दूसरे के सिरो को सीधे स्पर्श करते हुए बनाने से घट बन जाता है। उसमे हाथ, पैर, मुँह आदि अक्षरो पर मात्राए लगाने की भाँति अकित किये जाते है। इस प्रकार का साकेतिक-अकन अभिव्यक्ति की आदिम-प्रवृत्तियो से सम्बन्धित है। प्राय देखा गया है कि मानव की क्लिष्ट बैठके अथवा पशु-पक्षियो की उलझी हुई स्थितियो को बनाने की प्रवृत्ति लोक कला मे नही मिलती। लोक-कला मे वस्तु के प्रत्येक अग को मोटी और स्पष्ट रेखाओ मे दिखाया जाता है। आँख, कान, नाक भी स्पष्ट, हाथ-पाँव की पाँच-पाँच अगुलियाँ भी स्पष्ट। परम्परात्मक आकृतियो मे अनुपात का ध्यान नही रखा जाता। वैसे अवलोकन मात्र से इनमे कोई सौन्दर्य प्रतीत नही होता। हा, आकृति अवसर और प्रसग के प्रतीक की तरह अपने महत्व को अवश्य सिद्ध करती है।

विवाह के अवसर पर वर-वधू दोनो के घरो मे 'मायमाता' और 'भेरू' बनाये जाते है। मायमाता का स्वरूप जातियो के अनुसार बदल जाता है। कही-कही १३ कुकुम की बिन्दियो को एक सरल रेखा मे अकित कर त्रिकोण की आकृति मे क्रमश १ बिन्दी तक ले जाते है। इसी के नीचे घृत के रेले उतार कर ऊपर सिन्दूर लगा कर 'भेरू' की साकेतिक आकृति बनायी जाती है। मायमाता का स्वरूप बिन्दियो वाली आकृति से स्पष्ट नही होता। उज्जयिनी के क्षेत्र मे कुछ जातिया उसे मानवीय स्वरूप देने का प्रयत्न करती है।

'पगल्या' का पदचिह्न से तात्पर्य है। प्रथम बालक जन्म के अवसर पर लडकी के पीहर अथवा ससुराल पक्ष के लोग कागज पर लाल स्याही 'पगल्या' अकित कर एक दूसरे की ओर पठाते है। 'पगल्या' मे लोककला की प्रतीकात्मक-अकन प्रणाली का स्वरूप स्पष्ट दीखता है। जिन घरो मे स्त्रियाँ कुशल होती है, वहाँ वे कागज पर अनेक रगो का प्रयोग कर, 'पगल्या' बनाती है। 'पगल्या' मे साधारणतया घुघरा, खिलौना, स्वस्तिक, पगल्या (पद-चिह्न), पलना, आदि अकित किये जाते है। 'पगल्या' का स्वागत करते हुए गीत भी गाये जाते है।

मालवी कृषको के 'ओवरो' (कच्चे घरो) की बाह्य दीवारो पर हल और हलवाहे की आकृतियाँ अवश्य मिलेगी। हल और हलवाहे उनके साधन है। इन्ही के द्वारा वे धरती से सोना उगाते है। अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे काम आने वाले इन साधनो को वे हर दीवाली-दशहरे को पूजते है और श्रद्धावश उन्हे लाल रग से घरो के बाहर प्रतीकवत अकित कर सुख पाते है।

रूढिगत इन आकृतियो के विधान की चर्चा कुछ प्राचीन ग्रन्थो मे मिलती है। यथा नागपूजा के विधान मे नागाकृति अकित करने का उल्लेख हमे निम्न पक्तियो मे प्राप्त होता है —

'श्रावणे मासि पञ्चम्या शुक्ल पक्ष नराधिप।
द्वारस्योभयतो लेख्या गोमयेन विषोल्वणा ॥'

(भविष्य पुराण)

'नागाश्चैव तु कर्तव्याः खड्ग खेटक धारिणः।
अतः सर्वाकृतिस्तेवा नाभेरूर्ध्वं तु मानुषी।'

(मत्स्य पुराण)

(ग) साँझी (संजा)—

मालवा मे 'साँझी'[1] आश्विन मास के पितृ पक्ष मे बनाई जाती है। कुँवारी कन्याएं इस आयोजन-द्वारा धार्मिक महत्व की पूर्ति के साथ अपने कुतूहल को भी तृप्त करती है। 'साँझी' के प्रथम दिन दीवार के छोटे से भाग को गोबर से चौकोर लीप कर उस पर गोबर की ही पाँच बिन्दिया (पाँच पाँचा) तथा चाँद-सूरज बना कर उन पर फूल की पखुडियाँ चिपका दी जाती है। इससे साँझी की आकृति मे रगो का सामजस्य पैदा हो जाता है। साँझी का क्रम १६ दिन तक चलता है। दूसरे दिन दूज होने से निर्मित बिन्दियाँ बिगाडकर उसी पृष्ठभूमि को पुन लीपकर 'बीज' (दूज का चन्द्रमा) तथा 'पुनम पाटलो' (चौरस पाट) की आकृतियाँ अकित कर दी जाती है। इसी प्रकार प्रतिदिन नई 'साँभी' बना, दिवस के अनुसार अन्य आकृतियाँ क्रम से अकित की जाती है। इन आकृतियो मे क्रमश 'छाबडी' '(छबडी), 'बिजारो' (तिरछे चतुष्कोण की आकृति), 'गोर-बेसन्या' (गोबर के आभूषण), घेवर 'कुँवारा-कुवारी' (श्राद्धपक्ष का पाँचवा दिन कुँवार पचमी होता है। उस दिन मृत कुँवारो का श्राद्ध-दिवस होने के कारण साँझी मे उन्हे अवश्य अकित किया जाता है), 'चोपड' (अक-निर्माण दिवस, जिस दिन भाग्य मे अक लिखे जाते है—छठा दिन), 'सान्या' (स्वस्तिक), सप्तऋषि (आकाश-मडल मे सात तारो के प्रतीक स्वरूप सातवे दिन गोबर की सात बिन्दिया बनाई जाती है), आठ पखुडी का फूल तथा नगारे की जोड (अष्ठ तीर्थ पूजन दिवस), 'डोकरा-डोकरी' (श्राद्धपक्ष का नवाँ दिन—वृद्ध तिथि), पखा (दसवाँ दिन), केले का पेड (रुद्र पूजा-दिवस), 'घुघरा', ऋद्धि-सिद्धि, खोडया वामण' [चौदह भवन-निर्माण दिवस जिसके प्रतीक स्वरूप आदमी, गाडी, घट्टी, 'जाडी जसोदा' (मोटी स्त्री से तात्पर्य है), वन्दनवार, जलेबी की जोड, छडी, आदि विभिन्न वस्तुए 'किलाकोट' (जैसा कि उस दिन 'साँभी' का नामकरण किया जाता है) मे अकित की जाती है।] तेरहवे दिन 'खोडया वामण' इसलिए बनाते है कि वह कन्याओ की आराध्य 'सजा बाई' को लिवा ले जाने आता है। पन्द्रहवे दिन, जो श्राद्ध पक्ष का अन्तिम दिन होता है, 'किलाकोट' की खीर-पूरी से पूजा की जाती है। बरात की सम्पूर्ण विशेषताएँ प्राय' किलाकोट[2] मे चित्रित की जाती है, क्योंकि कुवारी कन्याओ के लिए 'सजा' की बरात आती है और उसका विवाह होता है। 'सजा' उनका आदर्श होती है। १६ वाँ दिन 'सजा' की विदाई का दिन होता है। इसके पश्चात् सजा' पूरे

१—'साँझी' को 'सजा', साँजी, और 'सजाबई' भी कहते है।

२—'किलाकोट' को 'कलाकोट' भी कहा जाता है। 'कोट' का प्रयोग इसलिए होता है कि उस आकृति के आसपास गोबर की रेखाओ का परकोटा बनाया जाता है।

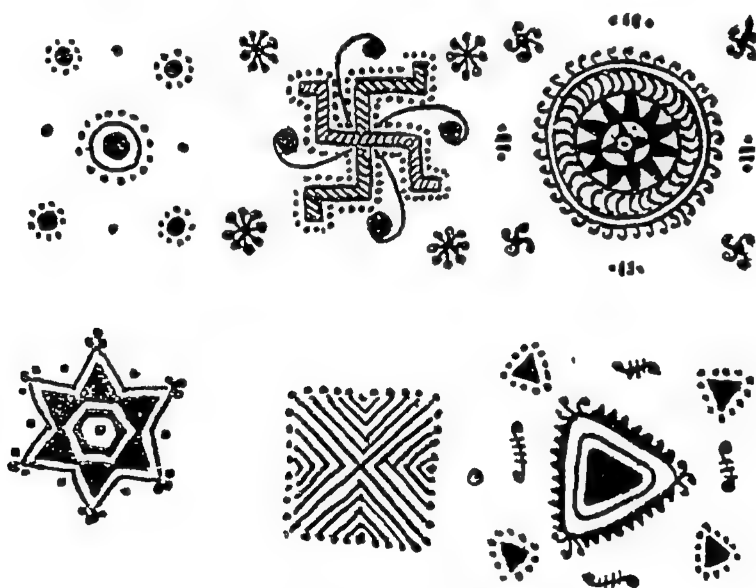
वर्ष के लिए विदा हो जाती है। यह एक विश्वास है जो 'साँझी' के पृष्ठ मे निरन्तर बना रहता है।

'साँझी' का माध्यम गोबर और गुल्तेवडी, गुलवास, गुलाब आदि फूलो की पखुड़ियाँ हैं। साँझी की आकृतियो के अध्ययन से यह बात भली प्रकार से ज्ञात होती है कि, कुवारी कन्याएँ नित्यप्रति उपयोग मे आने वाली अथवा सम्बन्धित वस्तुओ का अकन करने का प्रयास स्वाभाविक रूप से करती है। एक बात जो विशेष रूप से हर आकृति मे पाई जाती है—वह है चाँद-सूरज। चाँद से तो कन्याओ का विशेष लगाव देखा गया। उन्होंने उसे गीतो का भी विषय बनाया है।

'साँझी' की आकृतियो का निश्चित माप नही है। कही कोई 'सजा' १'×१' मे होती है तो कही ४'×४' मे बनाई जाती है। इतना ही नही कि वह चौकोर हो, बल्कि वह रिक्टेंगल और अठ पहल मे भी बनाई जाती है*।

(घ) मेहदी भाँत—

नारी के सौंदर्य-प्रसाधनो मे मेहदी अथवा महावर का सौभाग्य एव मागल्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। मेहदी घोलकर 'सीक' के द्वारा स्त्रियाँ अपने कर-पगो पर आकृतियाँ



मेहदी की भाँत

बनाती है। स्थान की सकुचितता के कारण उन्हे इस कर्म मे बड़ी बारीकी से काम लेना होता है। भाँति-भाँति की त्रिकोणात्मक, चौकोणात्मक, पच-कोणात्मक आकृतियाँ रेखाओ और बिन्दियो के सहारे आकर्षक शैली मे बनाई जाती है। मालवा मे इन आकृतियो के कुछ नाम है—चोपड

---

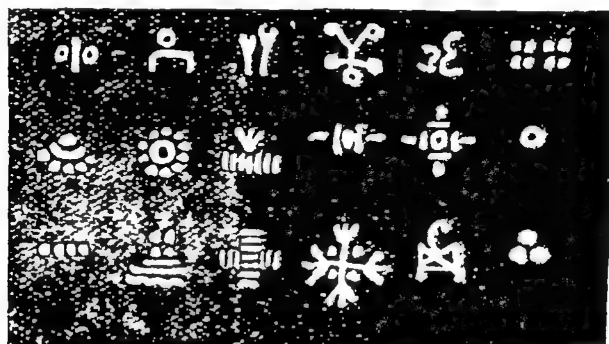
*विस्तृत जानकारी के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'मालवी लोक गीत'।

भाँत, मोर भाँत, पखा-भाँत, लेरिया भाँत, पान भाँत, फूल जोड़ मात्या जोड, मिगोडा भाँत पतासा भाँत, घेवर, खजूर, छल्ला, आदि।

उक्त आकृतियों के अतिरिक्त ओर भी आकृतियाँ हैं जिन पर स्थानाभाव के कारण विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना यहाँ सम्भव नहीं।

(ङ) गोदना—

गोदना की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। अग को सुन्दर बनाने की भावना ही गोदना मे निहित है। एक समय बिना गुदा अग स्त्रियो के लिए लज्जा का विषय था। निम्न जातियो मे आज भी यह प्रथा चित्राकन की प्रवृत्ति की भाँति विद्यमान है। पोलीनेशिया मे तो यह प्रथा



गोदना

एक कला के रूप मे अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची है। इसके ठीक विपरीत आस्ट्रेलिया और अफ्रिका के मूल निवासियो मे यह अपने मूल स्वरूप मे अभी तक है। अरब की स्त्रियों मे यह एक फैशन की तरह है। अफ्रिका मे जिसके शरीर पर जितने अधिक चिह्न पाये जाते है, वह उतना ही अधिक युद्धप्रिय और साहसी माना जाता है। कही-कही जाति अथवा दल के परिचय के लिए भी गोदना चिह्नो का उपयोग होता है।

भारतवर्ष की ग्राम्य-सभ्यता म 'गोदना', विशेपकर स्त्रियो के लिए, अभी भी आकर्षण का विषय है। गोदना भी अन्य आकिक-अभिव्यक्तियो की भाँति सौभाग्य का सूचक है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व (१९५०) इन पक्तियो के लेखक को प्रतिभा-निकेतन (उज्जैन) के पर्यवेक्षक दल के एक सदस्य के नाते ग्रामो मे जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। उज्जैन क्षेत्र के गाँवो मे 'अक'-पर्यवेक्षण का कार्य करते हुए जिन 'गोदना' चिह्नो को सकलित कर तथ्य निकाले है उनके अनुसार १८ प्रतिशत ग्रामीण स्त्रियाँ ऐसी है जिनके अगो पर गोदना अकित है। प्रत्येक क्षेत्र मे विशेप प्रकार के चिह्न प्रचलित है। गाँवो के निश्चित समूहो के मध्य निश्चित आकृतियाँ ही देखने मे आती है।

वास्तव मे गोदने के चिह्नो को वस्तुओ के प्रतीक रूप मे चित्रित किया जाता रहा है। एक वृद्धा से इस विषय मे पूछा गया तो उत्तर देते हुए उसने बताया—"नाना, दुनिया मे सब कई घरयो रई जाय कँई साथे नी जाय। इण तो हे जो अपणा तन का साथे जाय।"[१] बुढ़िया की बात से ऐसा प्रतीत होता है, मानो भारतीय ग्रामो की प्रत्येक चेष्टा के पीछे दर्शन है।

गोदने के लिए आजकल मशीनो का प्रयोग आरम्भ हो गया है। पर गाँवो मे अभी भी तोरिये के पत्तो का रस या धतूरे का दूध तथा काजल अग पर लगा कर सुई द्वारा निरन्तर गोदने से उस स्थान पर चिह्न बन जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के पत्तो का रस भी काम मे लाया जाता है।

अग पर वही वस्तुएँ प्राय अकित की जाती है, जिनका जीवन से सीधा सम्पर्क है।

[३]

लोक कला की कुछ विशेषताएँ ऐसी है जो समान रूप से सभी देशो मे पाई जाती है। मुख्य विशेषताओ मे लोक कला का व्यावहारिक स्वरूप अथवा उसका शिल्पीपन और द्वितीय उसका परम्परात्मक रूप है।

लोक-कला की अपनी स्वाभाविक गति है। उसकी यह गति धीरे-धीरे एक शैली का रूप धारण करती जाती है, पर समय का एक रेला आकर उसकी एक शैली को दूसरे रूप मे बदल देता है। इसलिए उसकी गति सीमित नही है। यह वही सम्भव है जहाँ उसका सपर्क रूढिवादी सामन्ती युगीन कला से हो जाता है। वहा वह अपना स्वाभाविक रूप खो कर नये उपकरणो मे सज्जित होती है और ऐसी बदल जाती है कि सहसा हमे भ्रम होने लगता है कि यह कौन है?

लोक-कला की अपनी शैली है। जहा जीवन की अभिव्यक्ति के लिए शब्द, रग और अन्य उपकरण नही वहाँ लोक-कला अपने हाथ बढाकर अभाव को दूर कर देती है। उसका सबध जमीन के कण-कण मे है। इसलिए आज जब कुछ सुन्दर कलाकृतियो मे हम कोई लोक-कला की छिपी हुई परम्परा देखते है तो कलाकारो को सराहने लगते है। यामिनीराय, या शैल मुखर्जी की रेखाओ मे मुटाई और रगो के गाढेपन के माध्यम से अपनाई गई जो शैली हम देखते है वह लोक-कला की अपनी खास शैली है। यद्यपि उसमे किसी प्रान्त विशेष का निखार नही है—सब कुछ समन्वित है।

१—बेटा, दुनिया में सब कुछ धरा रह जाता है, कुछ साथ नही जाता। यही तो है जो तन के साथ जाते है।

मालवा के लोक-नृत्य एवं नृत्यगीत

श्री अनूप जी

श्री अनूप जी कला के पारखी और सुरुचिपूर्ण साहित्य के निर्माता है। आपने यहाँ मालवी लोकनृत्यो को नृत्य गीतो के साथ सुन्दर ढग से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। ——सपादक

लोक कलाओ मे सब से रसवती कला है—नृत्यकला । इसीलिए हर प्रात मे अन्य कलाओ की अपेक्षा नृत्य कला अधिक विकसित हुई है। मालवा मे यह कला इतनी विकसित हुई है कि माँच की स्टेज पर "जरा ढोलक चाल फडक के" से लेकर प्रात के हर प्रकार के छोटे-मोटे उत्सव, पर्व, त्यौहार पर नृत्य ने अपना स्थान बना लिया है। मालवे मे नृत्य की प्रेरणा सन और बबूल के बीजो से मिली है। मालवे की लडकिया सन के बीजो की पायल और बबूल के बीजो के बिछुए बना कर "बिछया बोले छाम-छाम" कहती हुई थिरक उठती है।

मालवा की इस लोक कला के अध्ययन के लिए हमे मालवा के लोक-जीवन की पृष्ठ-भूमि पर ध्यान देना होगा। मालवा एक धनधान्य-पूरित प्रदेश है। कबीर ने कहा है "मालव धरणी गहन गभीर, डग डग रोटी, पग पग नीर।" मालवा की काली उर्वर भूमि सोना उगलती है, और इसीलिए मालवा के भूमिपुत्र को जीविकोपार्जन के हेतु कडा परिश्रम नही करना पडता, और वह खाने-कमाने की ओर से बेफिक्र रहता है। यहा का जन-जीवन उत्साह, उमग और उल्लासमय रहा है।

मालवा की नृत्यकला पर गुजराती और राजस्थानी नृत्यकला की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। गुजरात और राजस्थान मालवा की सीमा से जुडे हुए है और फिर राजस्थान की दुर्भिक्षग्रस्त जातिया मालवा के ग्रामो मे घूमती-फिरती नाच-गाकर खाती-कमाती रही है। इसके अतिरिक्त कठपुतली के नाच के प्रदर्शन का भी प्रभाव पडा है। गुजरात का गर्बा नृत्य आज भी आश्विन मास मे नवरात्रि के दिनो मे होता है। इसलिए हम कह सकते है कि राजस्थानी, गुजराती और मालवी लोक-कला का परस्पर विनिमय हुआ है। कला का यह विनिमय सदा से होता आया है। एक प्रात का दूसरे का, दूसरे से तीसरे-चाथे से। कला एक प्रातीय अथवा एकदेशीय न होकर सदा विश्वव्यापी वस्तु के रूप मे जीवित रहती है।"

हा, तो मालवे का प्रसिद्ध लोक-नृत्य है "मटकी का नाच", वैसे मालवा में कई प्रकार के नृत्य होते हैं, जिनमे आडी नाच, दो स्त्रियो का नाच, गर्वा नृत्य, होली के नृत्य, माच के नृत्य, "घूमर" आदि प्रमुख हैं।

मटकी का नाच––मटकी के नाच को मालवा मे 'खडो नाच' भी कहते हैं। इस नृत्य मे स्त्री को कमर से नीचे तक नही झुकना पडता, केवल अगो को मोड कर ही नाचना होता है। इसमे पद सचालन धीरे-धीरे, परन्तु कठिन और गतिमय होता है।

दो स्त्रियो का नाच ('नृत्यद्वय')––इसमे दो स्त्रिया एक साथ एक ही भूमिका मे समान रूप से नाचती है। 'नृत्यद्वय' के नृत्य गीतो के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि दोनो स्त्री पात्रो के स्थान पर पहिले एक स्त्री एक पुरुष पात्र नृत्य करते होगे।

आडो नाच––इसमे स्त्री को कमर से नीचे तक झुक कर ही नाचना पडता है। और मटकी के नाच की तरह इसकी भी गति धीमी होती है।

"घूमर"––यह पुरुषो का नृत्य है। होली अथवा फसल पकने पर यह नृत्य किया जाता है। इसमे पुरुष और स्त्री (स्त्री पात्र पुरुष ही बनते हैं) घेरा बना कर नाचते है। होली के पर्व पर पुरुष एक हाथ म छतरी और दूसरे मे दुपट्टा लेकर भी नाचते हैं। होली के एक नृत्य मे पुरुष स्त्री का वेप बना कर नाचते है, दर्शक चारो तरफ घेरा बना कर खडे हो जाते है। नाच बद हो जाने पर एक दर्शक घेरे मे आकर "छल्ला" (मालवी दोहे) कहता है और फिर "छल्ला बोल्यो रे", के साथ नाच शुरू हो जाता है।

माच के नाच––ग्राम्य नाट्य के कथा-प्रवाह के प्रदर्शन के साथ-साथ नाच भी होते है। अधिकाश माच शृगार-प्रधान है। उनमे कई जगह अश्लीलता भी आ गई है, परतु कला की दृष्टि मे ये वेजोड है।

गर्वा नृत्य––"आश्विन मास की नवरात्रि की प्रथम रात्रि को दो मटकिया, जिनमे एक बडी और दूसरी छोटी होती है, एक पर एक रख दी जाती है। ऊपर की मटकी पर दो कसौरे रख कर चार ज्योति प्रज्वलित कर दी जाती है। इस तरह 'गर्वा' की स्थापना करके स्त्रिया तालिया बजा-बजा कर गाती है और गर्वा के आसपास परिक्रमा करती है। गर्वा नृत्य नवरात्रि समाप्त होने तक प्रतिदिन किया जाता है, और प्रतिरात 'गर्वा' के कम से कम पाच नृत्य-गीत अवश्य गाये जाते है।

मालवा मे भील वस्तिया भी है, अत भील-भिलालो के नृत्यो की एक झलक यहा दे देना अप्रासगिक न होगा। भीलो के नृत्य उनके जीवन की तरह सरल होते है। भीलो के अधिकाश नृत्यो मे स्त्री-पुरुष दोनो समान रूप मे भाग लेते है। वहा स्त्री-पुरुषो के सामीप्य मे कोई ग्लानि नही दिखाई देती। स्त्री-पुरुषो के सामीप्य की यह सस्कृति इस देश की आदि निवासी जातियो मे आज तक स्थिर है। 'ग्रामो मे सर्वत्र स्त्री और पुरुषो की स्वाभाविक आत्मीयता की भूमि पर लोक-कला का विकास हुआ है।" भीलो (पुरुषो) के नृत्यो मे पद-सचालन

साधारण परतु गतिमय होता है। पैरो मे घूघर बाध कर, हाथो मे अस्त्र-शस्त्र ले कर पुरुष वृत्ताकार मे नाचते है । इनके नाच के साथ "मादल" बजाई जाती है, जिसका आकार ढोल-जैसा होता है। इसके अतिरिक्त कासे की थाली और "टूवडी" नामक वाद्य भी दो लडकियो से बजाया जाता है। नृत्य मे "मादल" की गति के साथ-साथ पद सचालन की भी गति बढती जाती है। नृत्य का जब समा बंध जाता है तो पुरुष हुंकारते हुए नृत्य करते है और बीच बीच मे पशु-पक्षियो की तरह चिल्लाते है। "आटचा-पाटचा" मे भील डडे बजा-बजा कर गाते हुए नृत्य करते है।

भीलनियो के नृत्य—स्त्रिया पैरो मे बगैर घघरू बाधे ही नाचती है। इनके नृत्य पुरुषो के नृत्यो से कुछ कष्टसाध्य और कोमल होते है, जिनमे मोहिली, नेवताली, पाली, पचमुण्डचा पाली, औंदी चित्ती पाली, जोडी आदि प्रमुख है।

मोहिली—इसमे स्त्रिया वृत्ताकार रूप मे मदगति मे नृत्य करती है। चार कदम दाहिनी ओर बढने के पश्चात् पाचवा कदम पीछे की ओर डालकर दाहिना पैर बाए पैर के पास लेजाकर आगे बढ जाती है। और यही क्रम आगे चलता रहता है, परन्तु यह सब इस तरह होता है कि नाचने वाली सभी स्त्रियो के पैर एक साथ गिरते है।

नेवताली—यह मोहिली की तरह होता है, परन्तु उसकी अपेक्षा यह कुछ तीव्र गति से बदन झुकाते हुए किया जाता है। स्त्रिया बीच-बीच मे एक दूसरे के हाथ भी पकड लेती है।

पाली—स्त्रिया दो कतारो मे आमने-सामने खडी हो जाती है। कुछ कदम आगे बढाती हुई दाहिनी तरफ पीछे हटती हुई नाचती है और इस प्रकार वृत्ताकार हो जाती है।

पचमुण्डचा पाली—मोहिली की तरह इसमे भी स्त्रिया वृत्ताकार रूप मे ही नृत्य करती है। ताली बजाती हुई वे दाहिनी ओर मुडती जाती है।

औंदी चित्ती पाली—पचमुण्डचा पाली की तरह इसमे दाहिनी ओर न मुडकर स्त्रिया पीछे की ओर एकदम घूम जाती है और वहा कुछ देर पद सचालन करने के बाद बाए पैर पर सीधे घूमकर आगे बढती जाती है।

जोडी—दो लडकिया एक दूसरे के कधो पर हाथ रखकर समान रूप से एक साथ पैरो को उछालती हुई फुदकती है।

इन नृत्यो के साथ गाये जाने वाले नृत्यगीत छोटे होते है और स्त्रिया गीत की एक-एक पक्ति कई बार दोहराती है।

उराव मे जिस तरह नृत्य का सचालन मृदग पर होता है उसी तरह मालवे का नृत्य-वाद्य है ढोल। युवक कीमटी से ढोल की ताल पर थाप दिये जाता है और मालव रमणी लचक और ललक के साथ थिरकने लगती है। मालवे मे ढोल की अपनी महत्ता है, इसकी गति और लय भी अलग ही है और प्रत्येक नृत्य की अलग लय। मालवा मे नेपाल की तरह 'गाडी घर' या नृत्यशालाए नही है। फिर भी गाव की हर स्त्री नाचना गाना जानती है और ढोल की ताल

पर अपने अगो को मोड सकती है। वैसे लचक और ललक की बात दूसरी है, किसी मे कम और किसी मे ज्यादा। मालवी स्त्रिया नाचते समय घूघट काढ लेती है।

नृत्य-गीत

'कला और जन-जीवन का निकटतम सम्बन्ध धरती के गीतो की विशेष पहिचान है।' नृत्य-गीत इसी श्रेणी मे आते है, क्योकि इनमे कला और जन-जीवन का समन्वय हुआ है, इसलिए ये गीत 'समूची सस्कृति और जीवन-प्रवाह के प्रतीक है जिनमे धरती की सोधी सुगन्ध आती है।' मालवी नृत्य-गीतो मे मालवा के लोक-जीवन का सजीव चित्रण किया गया है।

गहनो मे गोरी खूबसूरत नजर आती है। वह लचक और ललक के साथ नाच रही है। पति को डर है कि कही उसे नजर न लग जाये, इसलिए वह नाचने मे उसे रोक रहा है। इस गीत मे मालवी जनता का नजर लग जाने के अधविश्वास का बडे सुन्दर ढग से वर्णन किया गया है।

पति——तू नाचे मती गोरी, नजर लगी जायगा,
नजर लगी जायगा ने तुरत मरी जायगा। तू नाचे०॥
पत्नी——भम्मर पेनू तो म्हने लहरियो लई जायगो,
झाला पेनू तो म्हने लहरियो लई जायगो।
पति——सालू ओढेगी तो रेल हँकी जायगी,
ने जोडीरा वालम के एकलो करी जायगी। गोरी०॥

गोरी तू नाचेगी तो नजर लग जायगी,
अगर नजर लग गई तो, तू जल्दी ही मर जायगी,
पत्नी——मै शीर्षफूल पहनूंगी तो मुझे लहरिया ले जायगा
और यदि मै झाला पहनती हू तो भी लहरिया ले जायगा।
पति——सालू ओढेगी तो रेल हॅक जायगी,
और जोडीदार वालम को अकेला कर जायगी।

यह गीत "नृत्य द्वय" का है। इसकी तुलना नैपाल के जुवारी गीतो से की जा सकती है, जिसे हम 'टुएट" कहते है। रेल हॅक जाने की बात मे लोक-मानस का कवित्व फूट पडा है, कि सालू (सुआ-पखी-रग का ओढना) को हरी भडी समझ कर रेल चल देगी। नृत्य द्वय का एक दूसरा गीत देखिए ——

मन की तो म्हारी हिया थी लिपटी जा,
थारे तो बेईमानी म्हारे तो कोई नी,

बिदिया मुलाओ राज, झुमका मुलाओ राज।
मन को तो म्हारी हिया थी लिपटी जा,
थारे तो बेईमानी म्हारे तो कोई नी।
भम्मर मुलाओ राज, तिलडी रतन जडाओ,
मेरी प्रिय गोरी हृदय से लिपट जा,
तेरे दिल मे बेईमानी है, मेरे दिल में नहीं है,

(और यदि तेरे दिल मे बेईमानी नही है तो)

मुझे बिदी और झुमके मगा दो,
मुझे शीर्प फूल मगादो, और बिदी रत्न से जडा दो।
झुमके और बिदी मे प्रेम तोला जा रहा है।

एक नृत्य गीत मे वहू अपने परदेश गये हुए पति मे आत्म-निवेदन कर रही है कि निर्दयी सास के अत्याचारो का कभी अत नही होता और दोषी सदा मै ही ठहराई जाती है —

पिया छोडो परदेस,
सासुजीरा बोल्या मर जावागा।
म्हारा मा कई कसूर, दर्जन नी सुई थी टाकी लीजो,
म्हारा मा कई कसूर, सोनीडा राकाटा तुल जावागा ।

पिया परदेस छोडकर चले आओ,
(नही तो) सास के बोल से ही मै मर जाऊगी।
यदि मेरे मे कुछ दोप हो तो, दर्जन की सुई से टाक कर देख लेना।
यदि मेरे मे कुछ दोप हो, तो सुनार के काटे पर तोल कर देख लेना।

इस गीत मे सास के अत्याचारो से दुखी स्त्री की आत्मा पुकार रही है। पारिवारिक जीवन का समस्त सुख-दु ख लोक-गीत की चीज बना है। किसान नारी का यह दु खगीत प्रत्यक्ष जीवन के ताने-बाने से बुना है। नारी का यह गीत आर्थिक जीवन के दु ख का गान है।

"बनिया! थारा राज में नथुली गेने मेली, ने झूमको वेच्यो कलाली में
हसली अने मेली थारा राज में, ने बाजू बेच्यो कलाली में,
ने ऐसो बावरो बालम के जोरू लिखी दी कागद में।"

साहूकार! तेरे राज मे नथ रहन रखी, और झुमका कलाली मे (शराब पी-पीकर) बेच दिया।

हँसली तेरे राज मे रहन रखी और आर बाजू कलाली मे बेच दिया। बालम ऐसा पागल

ह कि अपनी स्त्री को भी कागज मे लिख दी (अर्थात् उसका भी दांव लगा दिया)।

फसल खूब पकने पर नृत्य और गीत यौवनमय हो जाते ह। लहलहाते खेतो को देखकर मालव रमणी थिरक उठती हे और फिर लोक-मानस का सरगम भी साथ देने लगता हे --

"हा, जो! भम्मर पेन पीअर जावागा,
मती म्हारो म्हने लगी जायगा।
हा, जो! झूमना पेर पीअर जावागा। मती०
हा, जो! हस पेन पीअर जावागा। मती०
हा, जो! वाजू पेन पीअर जावागा। मती०
हा, जो! गजरो पेन पीअर जावागा।" मती०

भम्मर (शीर्षफूल) झूमका, हँसली, वाजूवद, और गजरा पहिन कर मैं पीहर जाऊगी।

मुझे मत मारो नही तो लग जायगी।

गीत मे स्त्री ने वडी खूबी से मालवी आभूषणो के नाम गिना दिये है। एक नृत्य-गीत मे पुरुषो के वहु-विवाह के प्रति कितना सुन्दर व्यग है --

"पाटन को नाचनो नीखो लगे,
करो हो लोग, दो दो लुगायां,
एक पीसे पीसनो, एक फूलका बनावे,
एक सेज विछाये, तो एक सौर उडावे,
पाटन को नाचनो नीखो लगे।"

पाटदार लँहगे का नाचना सुन्दर लगता है।
पुरुषो! दो-दो पत्निया रखो,
एक पीसे और दूसरी रोटी पकावे
एक सेज विछायेगी तो दूसरी रजाई उढावे
पाटदार लँहगे का नाचना सुन्दर लगता है।

गीत मे स्त्रियो की मानसिक वेदना की झाकी मिलती है। एक गीत मे पति-पत्नी के अटूट प्रेम का वर्णन किया गया है।

मालवा के इन लोक गीतो मे आकी गई लोक-जीवन की तस्वीर वहुत सुन्दर है।

कुमाऊँ की महिलाओं की कलात्मक-प्रवृत्ति

श्रीमती तारा पाण्डेय

हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवियत्री श्री तारा पाण्डेय ने कुमाऊ प्रदेश की कलात्मक प्रवृत्ति का परिचय भित्ति-चित्रों और गीतों-द्वारा इस लेख मे दिया है।

——सपादक

सामाजिक रीतियो की विभिन्नता प्रत्येक कलाकार को आकृष्ट किया करती है। कुमाऊ की महिलाओ की भी प्रत्येक बात का ढग बडा कलापूर्ण है। उनमे से——ऐपन लगाना, पुतले बनाना, कपडे रगना, भित्ति चित्र, तथा सगीत इत्यादि महत्वपूर्ण है।

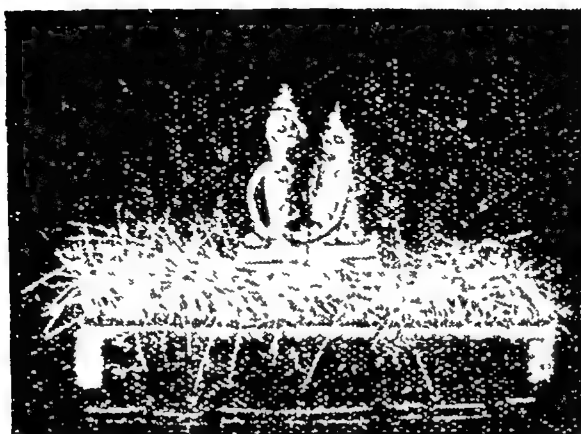
ऐपन लगाने से पूर्व, स्थान को साफ करके उसे लाल मिट्टी अथवा गेरू से लीप लेते है, फिर भिगोये हुए चावलो को पीसकर घोल लेते है, तब उस लीपे हुए स्थान पर उस घोल से अनेक प्रकार की फूल-पत्तियाँ, बेल-बूटे बनाकर तथा चोक पूर कर बहुत आकर्षक बनाते है। सूख जाने पर यह सब बहुत ही सुन्दर दिखाई देता है। पहले जब कच्ची मिट्टी के ही घर होते थे तब उन्हे सजाने का यह ढग कितना कलात्मक है, इसका अनुमान इन सब को प्रत्यक्ष देखकर सहज ही लगाया जा सकता है।

कोई भी शुभ-कार्य ऐपन के बिना पूर्ण नही हो पाता। कला को अक्षुण्ण रखने का, उसे चिर-स्थायी बनाने का यह भाव ही आनन्द-दायक है।

सावन की सक्रान्ति के दिन दो टोकरियो मे या अन्य किसी डिब्बो मे अनाज बो कर पहले से रखा जाता है, सात या नौ दिन मे अनाज उग जाता है तब गणेश जी की, सिद्धि की, शिव-पार्वती की तथा स्वामी कार्तिकेय की मिट्टी की मूर्तियाँ बना कर साथ ही पूजा करते है। अन्न की पूजा हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है, भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है अत आवश्यक है कि प्रत्येक घर मे अन्न की पूजा हो। यह पूजा हमको स्मरण दिलाती है कि कृषि ही हमारा प्रधान धर्म है। घर-घर मे यह त्योहार मनाया जाता है इस हेतु आवश्यक है कि सब अपने-अपने लिए स्वय ही मिट्टी की मूर्तियाँ बनाये। महिलाएँ स्वय ही मिट्टी कूट कर उससे मूर्तियाँ बनाती है, उन्हे रगती है, वस्त्र पहनाती है, और पूजन करती है। कला का निर्माण और कला का पूजन! कितने सुन्दर भाव है, कैसी मधुर कल्पना है! इस विषय का एक चित्र शिव-पार्वती का दिया जा रहा है।

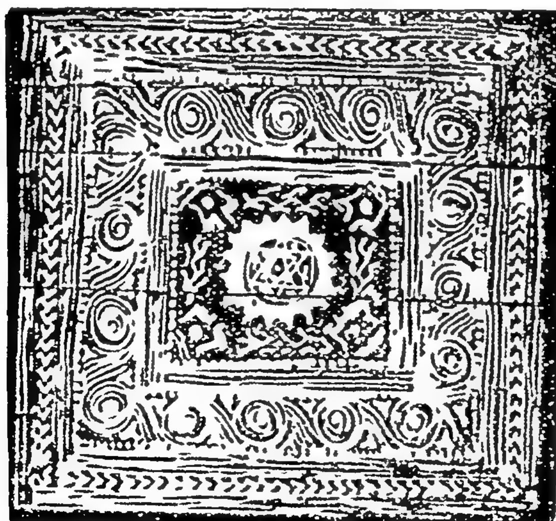
फूलो के रग बना कर महिलाएँ शुभ कार्य मे अपनी ओढनी रग लेती है। आज कल तो विदेशी रगो का अधिक चलन हो जाने से इन्ही को उपयोग मे लाया जाता है किन्तु पहले ऐसा नही था। स्वावलम्बिनी महिलाएँ स्वय ही रग बनाती थी, रगती थी। पीले रग मे ओढनी

रग कर तव गुलावी रग से उसमे वूटिया वनाती है। इनकी सुन्दरता अपने ढग की निराली है। मारवाडी चुन्नियो के समान सुन्दर न होने पर भी निरालेपन मे ये किसी से कम नही।



शिव-पार्वती

कुमाऊँ की महिलाओ ने चित्रकला को भी सुन्दरता से अपनाया है। चित्रकला को धार्मिकता का रूप देकर प्रत्येक के लिए आवश्यक तथा सुगम वना दिया है। श्री कृष्ण जन्माष्टमी,



ऐपन

ऋषि-पचमी, हरतालिका आदि की कथाएँ चित्रो द्वारा समझाई जाती है। पुराने समय मे ये सम्पूर्ण चित्र दीवालो मे वनाये जाते थ, फिर कागज मे वनने लगे, अव तो वाजार मे छपे हुए भी

मिलते है। त्योहारों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर भी—विवाह-यज्ञोपवीत पर दीवालों में या कागज में भी अनेक प्रकार के रंगीन चित्र बनाये जाते है, आकर्षक बेल-बूटे बना कर दीवालों को सजाया जाता है, रंगो की विभिन्नता, चित्रो की आकर्षक शैली देखते ही बनती है। युग-युग से प्रचलित इस कला को देखकर मन मुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

जब आधुनिक शिक्षा का इतना प्रभाव नहीं था और न इतने साधन ही सुलभ थे तब चित्रकला की शिक्षा का यह ढंग बहुत ही सुन्दर था। चित्रों द्वारा कहानियाँ समझा कर शिक्षा देने का प्रयत्न भी बुद्धिमत्तापूर्ण ही था। चित्रो-द्वारा जितनी सुगमता से बाते समझाई जा सकती है उतनी साधारणतया सिखाने से नही। अपनी पुरानी गाथाओ को स्मरण रखने के लिए यह बहुत आवश्यक था कि चित्र बनाकर उन्हे अधिक सरलता से हृदयगम किया जाय।

कुमाऊँ की महिलाओ का संगीत-प्रेम भी सराहनीय है, कर्म के, जन्म के, यज्ञोपवीत के, विवाह आदि के गीत पृथक्-पृथक् है, इन गीतो के बिना ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी शुभ कार्य पूर्ण नहीं होगा। आज की सभ्यता के इस युग मे इन सब बातो का, कार्यों का कोई मत्य नहीं रह गया है, इनकी चर्चा भी अप्रिय हो गई है, सभव है एक दिन यह सब सर्वथा लुप्त हो जावे, किन्तु न जाने कितने वर्षो से यह सब प्रथाएँ, आचार-विचार और व्यवहार चलते आये है, अब भी कम या अधिक मात्रा मे प्रचलित है और आगे भी न जाने कब तक इनका अस्तित्व रहेगा।

शुभ कार्य का आरभ होने पर पुत्रियों के बुलाने के गीत :—

सूवा रे सूवा वणखडी सूवा, कौ सुवा नगरी न्यूतो ए।
हरियो तेरो गात, रातो तेरो ठून, रतडली तेरी आँखि को सूवा नगरी न्यूतो ए।
सावित्री देही नौ छौ, विदेश गौ छौ, दी का पुरुष कणि पडित नो छा वी घर बीनार न्यूतो ए।

'सुग्गा रे सुग्गा, वनखड मे रहने वाला सुग्गा, सारे नगर को निमत्रण कह दे। हरा तेरा शरीर है, लाल तेरी चोच है और रत्ती जैसी आँखे है, कह दे सुग्गा, नगर मे निमत्रण कह दे।

उसका नाम सावित्री है, विदेश मे उसका गाम है और उसके पति का नाम पडित है, उस घर मे उस स्त्री का निमत्रण कह दे। (इसी प्रकार अपनी पुत्रियो के, उनके गाव के, उनके पतियो के नाम लिये जाते है)।

कन्या के विवाह मे विदा होने समय के गीत —

फुलुवा वीनत मन गहिल गंभीर
ववज्यू की फुलवाडी।
ससुर को होलो मेरो वाग-वगीचा
ववज्यू की फुलवाडी।
जै वाडी मे ववज्यू फुलुव। वीनन छयू
वी वाडी में ववज्यू कुसुम्ब वोया।
भैया की पगडी रँगाया।
भाभी की चुनडि रँगाया।
जै छाजा मे ववज्यू गुडिया खेलन छयू
वी छाजा मे ववज्यू नतिया खेलाया।
हम परदेसिनि लोग रे।
अलि ले छोडी, गली लें छोडी,
छोडो सहेली को सग रे।
हम परदेसिनि लोग रे।

ससुराल को विदा होने से पहले लडकी गम्भीर मन होकर पिता की फुलवारी मे फूल चुन रही है और कहती है—

'मेरे श्वसुर का तो वाग-वगीचा होगा, पिता की फुलवारी है, जिस फुलवारी मे मैं फूल चुनती थी उसमे अब कुसुम्ब वोना और उससे भाई की पगडी और भाभी की चुनरी रगना। जिस छज्जे मे मैं गुडिया खिलाती थी उसमे बैठ कर अब नाती खिलाना। मै (अब) परदेसिनी हूँ।

अली भी छोडी, गली भी छोडी। सहेली का साथ भी छोडा। मै (अब) परदेसिनी हूँ।

हिमालय के इस भूखण्ड मे सगीत और कला के प्राचीन भारतीय रूप आज भी मुखरित और अकित हो रहे है।

गढ़वाल के लोकनृत्य

श्री वीरेन्द्रमोहन रतूड़ी

श्री रतूडी जी गढवाली लोकजीवन से सम्पर्क रखने वाले सूत्रो के शोधक है। आपने इस लेख मे कतिपय गढवाली लोकनृत्यो का रोचक परिचय दिया है। —सपादक

नृत्यकला का विकास

मनुष्य जब अपने गहनतम मनोभावो को शब्दो मे व्यक्त करता है, तो उसे काव्य कहते है और जब शारीरिक चेष्टाओ द्वारा व्यक्त करता है, तो वह नृत्य कहलाता है। ऐसा कहा जा सकता है, कि नृत्य काव्य का शारीरिक रूप है। कभी शब्दो मे और कभी शारीरिक चेष्टाओ द्वारा मानव युग-युग से अपनी करुण, वीर तथा रौद्र भावनाओ को व्यक्त करता आया है। इन शारीरिक चेष्टाओ का परिष्कृत रूप ही नृत्य है।

नृत्य राग का मूर्तरूप है। मनोभावो का व्यक्तीकरण है। इसीलिए प्रागैतिहासिक-कालीन उन जातियो के लोग भी जो बर्बर तथा हिंसक माने जाते थे, और जिनके पास अपने मनोभावो को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द नही थे, लिपि नही थी, वे केवल 'हा-हो' के ही कोमल, कठोर, लघु, दीर्घ उच्चारण तथा शारीरिक चेष्टाओ से ही अपने मनोभावो को प्रकट करते थे। आदिम काल मे जब वे निवस्त्र, नि शब्द थे, जगली जानवरो को मारकर उन्हे आग मे भून कर खाते थे, तब भी वे मास के बडे बडे टुकडो को हाथ मे लिये, हा-हा हो-हो करते हुए आग के चारो ओर उछलने-कूदने लगते थे। यह उनकी प्रसन्नता का लक्षण था और यही नृत्य का उद्गम-स्थल भी।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो नृत्य-कला भी उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मानव-जाति। काव्य का सृजन तब प्रारम्भ हुआ होगा जब उसके उपयुक्त भाषा का गठन हो गया होगा। इसतरह नृत्य काव्य से भी प्राचीन है। अत काव्य के प्रारम्भ काल मे ही नृत्य का काफी विकास हो गया होगा, यह अनुमान लगाया जा सकता है। सस्कृत मे काव्य को भी नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत रखना इस अनुमान की पुष्टि करता है।

कहा जाता है कि नृत्य कला की उत्पत्ति स्वय ब्रह्मा ने की है। उन्होने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नृत्य-कला का निरूपण किया

(सगीत-रत्नाकर ७।९-१० तथा नाट्य शास्त्र १।१७-१९)। यह कला ब्रह्मा ने भरतमुनि को दी और भरतमुनि ने गधर्वो तथा अप्सराओ की सहायता से शिवजी के समक्ष इस कला का प्रदर्शन किया। तब शिवजी की आज्ञानुसार उनके शिष्य ताण्डु ने भरतमुनि को ताण्डव-नृत्य सिखाया और उधर पार्वती जी ने लास्य नृत्य वाणासुर की पुत्री उषा को। इस प्रकार नृत्य-कला का विकास हुआ।

वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु यह सत्य हे कि नाट्य-कला वहुत प्राचीन एव मानव जाति की एक स्वाभाविक कला है ओर प्राचीन काल से ही इस कला का आदर होता आया है।

समय के साथ-साथ इसका विकास हुआ, कुछ शास्त्रियो ने भाषा तथा सगीत की तरह इसे बाधना चाहा और एक सीमा तक यह बधी भी। परन्तु कला किसी की अनुगामिनी नही है। वह तो एक मुक्त निर्झरिणी है, जो गतिरोधो को नही देखती। जहा नृत्यकला का एक रूप शास्त्रीय होकर कुछ ही व्यक्तियो की धरोहर हो गई वहा इसका दूसरा स्वाभाविक रूप अपनी उन्मुक्त अवस्था मे लोक-जीवन मे विकसित होने लगा। आज भी शास्त्रीय नृत्यो को देखकर जहा हम उनके अग-सचालन तथा भाव-प्रदर्शन पर ही मुग्ध होते हे तथा प्रशसा करते है, वहा लोक-नृत्यो को देखकर हमारा मन न केवल एक शाश्वत धार्मिकता से ही भर जाता है बल्कि हम इतने उल्लसित हो जाते हैं कि वार-वार उठकर उनके साथ नाचने को जी चाहता है।

लोक-नृत्यो मे शास्त्रीय नृत्यो की भाति मनोभावो के व्यक्तीकरण की सूक्ष्मता नही है और न अधिक प्राणायामी चेष्टाएँ ही। परन्तु उनमे सरल तथा साधारण जीवन की जो झलक है वही हमारे जीवन की सबसे निकट की वस्तु है और उसी मे हम आत्मीयता पाते हैं।

भारत धर्म-प्राण देश है। यहा प्रत्येक कला को धार्मिक दृष्टि से देखा जाता है। अत हमारे लोक-नृत्य अधिकाशत धार्मिक ही है। जो सामाजिक हे, उनकी भावभूमि भी धार्मिक ही है। इसीलिए इन लोक नृत्यो मे पाश्चात्य प्रणाली के नृत्यो की भाति कामोत्तेजना नही है।

गढ़वाल के नृत्य

लोक-नृत्यो मे शास्त्रीय पद्धतिया नही हैं। हॉ, केवल कुछ स्वाभाविक रूप से आगई है। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है, कि ये नृत्य भारतीय-नाट्यशास्त्र से भिन्न है। हो सकता है, कि किसी काल मे इनका सीधा सम्बन्ध नाट्यशास्त्र से रहा हो, परन्तु लोक-नृत्यकार ने नाट्य-शास्त्र का अध्ययन न कर केवल दर्शन से ही अपने स्वाभाविक रूप से उसका विकास किया है। आज भी नाट्यशास्त्र के कुछ लक्षण हमे छिट-पुट रूप मे मिलते है। उदाहरण स्वरूप नाट्यशास्त्रा-नुसार चार वृत्तियो मे से आलाटी-वृत्ति का प्रत्यक्ष लक्षण हमे गढवाल के पाण्डव तथा नरसिंह नृत्य मे मिलता है। 'सराद' नृत्य मे भी ताल तथा सम के भाव दिखाई देते हैं।

गढवाल के लोकनृत्यो को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है, (१) धार्मिक नृत्य, (२) सामाजिक नृत्य तथा (३) पेशेवरो के नृत्य।

उक्त तीनो प्रकार के नृत्यो मे हमे ताण्डव तथा लास्य दोनो ही रूप मिलते है। सामाजिक तथा पेशेवरो के नृत्यो मे से कुछ को छोडकर सभी नृत्य प्राय स्त्रियो के है, अत लास्य कोटि के है, परन्तु धार्मिक नृत्यो मे इनका भेद करना कठिन है। धार्मिक स्त्रियो के कुछ धार्मिक नृत्य ऐसे भी है, जिनमे उद्धता पाई जाती है ओर जो ताण्डव नृत्य का गुण है, तथा पुरुषो के कुछ नृत्यो मे कैशिकी-वृत्ति मिलती है जो लास्य का गुण है।

इन सभी लोक-नृत्यो मे सगीत अनिवार्य रूप मे रहता है। लोक समाज मे बिना गीतो के नृत्य की कल्पना तक नही की जा सकती। इन गीतो का विषय नृत्य के अनुसार खेत-खलिहान से लेकर निर्गुण-भजन तक कुछ भी हो सकता है।

जहा तक वृन्द-वादन का प्रश्न है, गढवाल के लोक-नृत्यो मे प्राय पॉच वाद्य नृत्य के विषयानुसार प्रयुक्त होते है। धार्मिक नृत्यो मे ढोल-रौंटी अथवा डौंर-थाल ओर पेशेवरो के नृत्यो म सारगी का प्रयोग होता है। आधुनिक काल मे ने हारमोनियम का भी प्रयोग करने लगे है। अधिकाश सामाजिक नृत्यो मे किसी भी वाद्य का प्रयोग नही होता।

'ढोल' साधारण ढोलक से काफी बडा होता है ओर इसका शब्द गभीर तथा गूजनेवाला होता है । 'रौंटी' की बनावट नगाडे की तरह होती है परन्तु इसका आकार नगाडे से काफी छोटा होता है। यह दो लकडियो की सहायता से बजाया जाता है । इसका शब्द कोमल परन्तु दूर तक सुनाई देने वाला होता है । ढोल तथा रौंटी-तबले की जोडी की तरह एक दूसरे के पूरक होते है । 'डौंर' डमरू का ही बडा रूप है। 'थाली' फूल (कास्य) की होती है। इसे लकडी से बजाते है । डौंर तथा थाली एक दूसरे के पूरक है ।

धार्मिक नृत्य

धार्मिक नृत्यो के अन्तर्गत वे सभी नृत्य आजाते है जो देवी-देवताओ को प्रसन्न करने अथवा भूत-पिशाचो को शान्त करने के लिए होते है। अत हम धार्मिक नृत्यो को दो भागो मे विभाजित कर सकते है—(क) देवी-देवताओ के और (ख) भूत पिशाचो के नृत्य ।

गढवाल मे यह भावना प्रचलित है कि कुछ स्त्री अथवा पुरुषो पर देवी-देवताओ तथा भूत-पिशाचो का आरोप हो जाता है, उन्ही को प्रसन्न तथा शान्त करने के लिए वह स्त्री अथवा पुरुष विशेष नचाया जाता है । नचाने के इस कार्य मे पटु व्यक्ति को 'जगरी' कहते है । अत इन धार्मिक नृत्यो को 'जागर' नृत्य भी कहते है। जिस स्थान अथवा घर मे यह नृत्य होता है, वहा 'धडयलो' धरना कहते है ।

नृत्य होने से पूर्व वह स्थान अच्छी तरह से लीप दिया जाता है । साधारण पूजा की सामग्री हवन, अक्षत, तिल, जौ, घी आदि—धर दिये जाते है। जागरी अपने एक सहायक के साथ एक किनारे पर बैठ जाता है । दर्शक भी एक किनारे बैठ जाते है । नर्तक (स्त्री अथवा पुरुष) नहाधोकर, धुले कपडे पहन बीच मे अग्नि के सामने बैठ जाता है, तब जागरी

ढोल अथवा डौंर वजाते हुए उसका मगलाचरण करता है । सहायक रौंटी थाल वजाते हुए उसका साथ देता है। मगलाचरण के पश्चात् जागरी देवता विशेष की कथा मे गीत के रूप मे गाता है। इस अवसर पर नर्तक के शरीर मे कपकपी छुटने लगती है। कहा जाता है, कि उस समय देवता विशेष उस नर्तक मे प्रवेश करने लगता है। रात का समय, रौंटी अथवा थाली की छनछनाती हुई मधुर परन्तु तीक्ष्ण ध्वनि, 'जगरी' के गायन का ढग ओर कथाविशेष का प्रसग तथा नर्तक के माथे पर पसीने की वूदे ओर कपकपी—उस समय एक अजीव सा वातावरण छा जाता है। अपने दिल की कठोरता पर विश्वास करने वाले भी उस समय एक वारगी काप उठते है ।

इसके पश्चात् उस देवता से सम्वन्धित अनेक गीति-कथाएँ चलती रहती है और नर्तक उसी प्रकार की मुद्राएँ वनाता हुआ नाचता रहता है । यह क्रम घटो तक चलता है ।

देवी-देवताओं के नृत्यः—देवी-देवताओ के नृत्य प्राय पाण्डव नागर्जा, (नागराजा) नरसिह, निरकार, भैरो तथा चन्डी, काली, अछरी आदि से सम्वन्धित है ।

पाण्डव नृत्य प्राय खुले मैदान मे होता है। इसमे चार-पाच व्यक्ति सम्मिलित रूपसे भाग लेते है । स्त्रिया भाग नही लेती। वाद्यो मे ढोल-रौंटी का प्रयोग होता है । गीति-कथा कुन्ती तथा पाच पाण्डवो से सम्वन्धित होते हुए भी महाभारतीय कथा से भिन्न है । इसके पूर्वार्द्ध मे भीमादि की वीरता का वर्णन है परन्तु उत्तरार्द्ध मे पाण्डव-पुत्र 'गोविद' का 'काल की कुलिन्त्या' 'विमल्या' रानी के प्रेम पाश मे फसकर दुःख भोगने तथा माता के करुण विलाप की कथा है । इस प्रकार 'पाण्डव' नृत्य मे वीर तथा रौद्र रस की उत्कृष्टता के साथ साथ करुणरस की भी अभिव्यक्ति है । 'निरकार' तथा 'भैरो' नृत्य वीर, रौद्र तथा भयानक रस से पूर्ण है ।

'नागर्जा' (नागराज) नृत्य मे स्त्री पुरुष दोनो ही भाग लेते है । वाद्यो मे डौंर-थाली का प्रयोग होता है । यह नृत्य आगन तथा कमरे मे भी हो सकता है । नागर्जा कृष्ण का रूप माना जाता है अत इसमे कृष्ण-गुजरियो (गोपियो) की तथा नाग मथन की कथा प्रमुख रूप से चलती है । इसके अतिरिक्त गगू नामक व्यक्ति, जिसने नागर्जा की अवहेलना कर दुःख पाया और फिर अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर, सीम (टिहरी जिले मे एक तीर्थ स्थान) की यात्रा करके नागर्जा की पूजा की और सद्गति की प्राप्ति की—की कथा, 'सूरज कौल'—जो भाभी के ताने मे उत्तेजित हो भोटन्त (शायद भूटान) जाकर सुफलमाला नामक सुन्दरी को नाग-पाश से छुडा लाता है—की कथा, तथा वाल-कृष्णावती—जो राजघराने मे उत्पन्न होकर भी साधु के साथ विवाह दी गई और साधु ने जिसके सुनहरे रेशमी वाल काट दिये, भभूत लगाया, भगवा कपडे पहनाये और कानो मे छेद कर दिये-की करुण कथाएँ 'नागर्जा' नृत्य मे चलती है। (सूरज कौल तथा वालकृष्णावती की गीति कथाओ मे हमे गोरखनाथ तथा गोरखपंथी साधुओ का उल्लेख मिलता है)। इस नृत्य मे रौद्रता कम, करुणा अधिक है। इसी-प्रकार नरसिंह' नृत्य भी है जिसमे स्त्री पुरुष दोनो ही भाग लेते है । 'नरसिंह' नृत्य दो प्रकार

के है—'डौट्या' तथा 'दूदी'। 'डोड्या मे रोद्रता तथा 'द्दी' मे करुण स्थल अधिक है। उक्त 'नरसिंह' नृत्य का प्रहलाद नरसिंह की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

'देवी' नृत्य चण्डी काली आदि रोद्ररूपी देवियो से सम्बन्धित है। स्त्रिया नगी तलवार लिये, सर के बालो को खोल कर नृत्य करती है। हा, यह आश्चर्य की ही बात है कि कुछ पुरुष भी देवी नृत्य करते है। इसमे ढोल-रौटी का प्रयोग होता है और प्राय खुले मैदान मे होता है।

'अछरी' नृत्य सबसे सौम्य तथा आकर्षक नृत्य है। 'अछरी' अप्सरा का अपभ्रंश है। इसमे केवल स्त्रिया ही भाग लेती है, इसमे भी स्त्रिया रगीन अथवा सफेद मखमली घॉघरा पहन कर बिल्कुल अप्सरा की तरह आकर्षक अगविन्यास करती हुई धीमी गति से नृत्य करती है। इसमे अधिकतर कृष्ण-गोपी तथा कृष्ण-राधा सम्बन्धित गीति-कथाएँ चलती है।

भूत-पिशाचों के नृत्य—इन नृत्यो की भाव-भूमि भी धार्मिक ही है। जिस प्रकार समय-समय पर देवताओ को प्रसन्न करना आवश्यक है, उसी प्रकार शिवजी के भक्तो को भी शान्त करना आवश्यक है, अत इन नृत्यो का सचालन भी ठीक देवताओ के नृत्यो की तरह होता है।

यदि किसी व्यक्ति पर किसी मृत व्यक्ति की आत्मा प्रवेश कर जाय तो उससे छुटकारा पाने के लिए ये नृत्य होते है। इनमे 'व्यूराल' तथा 'सैद' प्रमुख है। इन नृत्यो मे नर्तक बता देता है, कि (नर्तक मे जो आत्मा प्रविष्ट कर गई है) वह कौन है, कहा से आया है और उसके शमन के क्या उपाय है। फिर उसी प्रकार के उपाय किये जाते है। येअसुर आत्माएँ स्त्री-पुरुष दोनो पर ही लग सकती है तथा इनके नृत्य कराने वाले कुछ विशेष 'जागरी' होतेहै। इसमे डौर-थाली का प्रयोग होता है तथा गीति-कथाएँ भूतो अथवा सय्यदो से सम्बन्धित होती है।

सामाजिक नृत्य

सामाजिक नृत्य भी दो प्रकार के है—(क) मेले-ठेलो के नृत्य तथा (ख) ऋतु विशेष के नृत्य।

(क) मेले-ठेलों के नृत्य—गढवाल के दक्षिण भाग मे 'गेद का मेला' एक महत्वपूर्ण मेला है। दूर दूर से गाव के नारी-पुरुष, बाल, वृद्ध इस मेले मे आते है। पट्टियो के आधार पर दो पालिया बनाई जातीहै। मैदान के बीच मे चमडे की एक बडी गेद, जिसपर लोहे की साकले लगी रहती है, रख दी जाती है। दोनो ही पाली के लोग इसे हाथ से कसकर पकडकर अपनी अपनी पाली की ओर ले जाने का प्रयत्न करते है। इस प्रतियोगिता मे युवक तथा अधेड हजारो की सख्या मे भाग लेते है। जो पाली गेद को अपनी पट्टी की ओर ले जाने मे सफल होती है वह विजयी घोषित हो जाती है और फिर सालभर तक अर्थात् दूसरी मकर-सक्रान्ति तक उस पट्टी का सम्मान होता है। इस प्रतियोगिता मे भाग लेने वाले पहले अपने अपने झडे के नीचे झुड बना कर नृत्य करते है, इस नृत्य को हम वीर रस की प्रस्तावना कह सकते है। इसमे ढोल-राटी के

कई जोडे वजाये जाते है। गीत आवश्यक नही है। डाडामण्डी, थलनदी तथा यमकेश्वर 'गेद के मेले' प्रसिद्ध है।

(ख) ऋतु विशेष के नृत्य--इन सामाजिक नृत्यो मे हमे सबसे अधिक भावपूर्ण तथा परिष्कृत रूप 'चौफुलो' नृत्य मे मिलता है। ये नृत्य वसत-पचमी से लेकर विपुवत सक्रान्ति तक प्रत्येक दिन गाव के पचायती-आगन मे होते है। प्राचीन काल मे इसमे स्त्री-पुरुप दोनो ही भाग लेते थे परन्तु अव यह स्त्रियो और विशेपकर कुमारियो की सम्पत्तिमात्र रह गई है।

'चौफुलो' नृत्य मे वाद्य का प्रयोग नही होता है। परन्तु कुमारियो के पैरो मे पहिने हुए विछुये तथा झेवरी[1] ताल और लय के साथ मधुर झकार कर वाद्य का अभाव ही पूरा नही करते वरन् नृत्य का सौदर्य और भी वढा देते है।

चौफुलो नृत्य सामूहिक नृत्य है। इसमे कई लडकिया सम्मिलित रूप से भाग लेती है। गाव की वडी-बूढी आगन के एक ओर वैठकर गीत गाती है ओर कुमारिया उनके साथ साथ गाकर एक लय तथा ताल के साथ नृत्य करती है। यह नृत्य अनेक प्रकार से किया जाता है।

लडकिया दो पक्तिया वनाकर आमने-सामने खडी हो जाती है। गीत के साथ वे आगे वढती है और सामने की लडकियो के हाथ पर ताल देकर फिर वापस आ जाती है। दूसरे प्रकार के नृत्य मे सभी एक वृत्ताकार मण्डल मे नाचती हुई चलती है। गीत के सम आते ही वे कुछ मुडकर एक हाथ आगे और एक पीछे कर देती है। अगला हाथ अगली लडकी के पिछले हाथ से तथा पिछला पीछे की लडकी के अगले हाथ से ताल देता है। इस नृत्य मे वडी सजीवता तथा उत्फुल्लता की झलक मिलती है। गीत के साथ साथ झेवरी का पार्श्व सगीत और सम पर तालियो की ध्वनि एक अपूर्व स्निग्ध वातावरण उपस्थित कर देती है।

और सवसे मधुर नृत्य उनका 'मोर का नाच' होता है। लडकिया वृत्ताकार मण्डल मे एक दूसरे का हाथ पकडकर नृत्य करती हुई गाती है---राजा की डीडाली मोर नाचलो (राजा के आगन मे मोर नाचेगा)--और वीच मे तीन लडकिया हाथ उठाकर मोर के पखो सा भाव वनाकर अपने ही स्थान पर घूमती है। दूर से देखने से इन नृत्यो मे कृष्ण-गोपियो तथा कृष्ण-राधा की रास-लीला का सा आभास होता है।

उक्त नृत्यो मे गाये जाने वाले गीत---धार्मिक, हास्य, करुण, वीर---सभी प्रकार के होते है। उनका विपय भी साधारण रूमानी विपय से लेकर परब्रह्मपरमेश्वर तक होता है। इन गीतो को 'थड्या' गीत कहते है। चौफुलो नृत्य और थड्या गीतो का सवसे उत्कृष्ट रूप हमे जानसार-भावर मे मिलता है।

१---झेंवरी---गढवाल का एक विशेष चादी का गहना होता है, जो पैर पर पहना जाता है। यह अन्दर से खोखला होता है, जिसमें अन्य धातु के कुछ दाने भर दियें जाते हैं। पैर के जमीन पर पडते ही वे दाने वजकर एक मधुर शब्द उत्पन्न करते है।

इसके अतिरिक्त होली के भी नृत्य होते हैं, जो अब कम होते जा रहे हैं। इन नृत्यों का सुन्दर तथा मनोहारी रूप गढवाल के पड़ोसी जिले नैनीताल तथा अल्मोड़ा में दिखायी देता है।

पेशेवरों के नृत्य

गढवाल मे--मिरासी, हुड़क्या, ढक्की तथा बादी—इन चार जातियों की आजीविका ही गायन, वादन तथा नर्त्तन से चलती है, परन्तु अब अधिक प्रोत्साहन न मिलने के कारण इन्होंने दूसरे कार्य भी करने प्रारम्भ कर दिये हैं। ये चारों जातियाँ निम्न वर्ण की मानी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त विवाह आदि उत्सवों पर वाद्य-वादन करने वाली जाति 'औजी' भी विवाह के अवसर पर अपने दाताओं को प्रसन्न करने तथा परम्परागत धार्मिक भावना को निभाने के लिए 'सराव' नामक एक छोटा सा नृत्य करती है। इस नृत्य का निर्देश 'ढोल-सागर' में है, जो केवल मौखिक-रूप में ही इन औजियों में प्रचलित है। गले में ढोल लटकाये हुए एक निश्चित नियमानुसार पद-विन्यास करते हुए तथा 'ढोल-सागर' की ही कुछ पंक्तियों का उच्चारण करते हुए वे 'सराव' नृत्य करते हैं। इस नृत्य में एक सीमा तक शास्त्रीयता पायी जाती है।

काठियावाड़ और गुजरात के गरबे

श्री कुसुमपाल

गरबा लोकजीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओ को नृत्य और गीतो के माध्यम से व्यक्त करने के लिए लोकजीवन का सहज साधन है। सौराष्ट्र प्रदेश के लोकजीवन का मर्मस्पर्शी अन्तर्दर्शन जिन गरबो द्वारा हुआ करता है, उन्ही मे से कुछ का विवरण इस लेख मे दिया गया है।
—सपादक

काठियावाड और गुजरात मे गरबो का प्रचार बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। वह आज भी उतना ही लोकप्रिय है। जन-जीवन का वह एक ऐसा पहलू है जिसके बिना ग्राम्य जीवन का चित्र ही अधूरा रह जाता है।

गरबा एक प्रकार का सामूहिक नृत्य है, जो गाँवो और शहरो मे गोधूली की वेला मे प्राय देखने को मिलता है। इसमे केवल स्त्रियाँ ही नृत्य करती है कभी-कभी स्त्री-पुरुष-बालिकाएँ मिल कर भी। यह लोकनृत्य है। इन गरबो को जब गावो मे जाकर गाते सुना जाय तभी उसके वास्तविक रूप और सौदर्य को हम जान सकते है। इन गरबो की ध्वनि, लय और ताल मे वही उल्लास, वही उमग, वही माधुर्य है, जो उत्तर प्रदेश तथा बुन्देलखण्ड मे आल्हा-उदल, विरहा मे तथा राजस्थान और हिमवन्त मे पॉडवगीत ओर जागरो मे पाया जाता है।

गरबे अनेक प्रकार से गाये और नाचे जाते है। जिनकी विविध रीतियाँ है। इनके राग भी विविध प्रकार के होते है, किन्तु ये सब लोक-गीत है। इसीलिए इनमे शास्त्रीय छाया नही होती। य तो सर्वसाधारण जनता के लोक-गीत है। उनके प्रिय लोकनृत्य है। ये गरबे उसी जनता के हृदयगत भावो के दर्शनीय चित्र है। इनमे गुर्जरवासियो का उत्साह भरा होता है। उनकी सुख-दु ख की स्मृतियाँ और दु ख के आँसू भी उन्ही मे भरे पडे है। इनके रागो मे एक अजीब आकर्षण भरा होता है। यदि ये अन्य ढग से गाये जायँ तो वह बात उनमे रहती ही नही। गरबे तालिया दे दे कर गाये जाते है। एक ताली से, तीन ताली से, डॉडीरो (लकुटो) से, माथे पर जलते दीपको युक्त घडे धर कर तथा अन्य रीतियो से भी ये गाये जाते है। कभी-कभी तो फूलो की लडियो की लडियाँ बँधी होती है। नृत्य करने वाले घूमते ही घूमते इनको गूँथते हुए नाचते है।

इन गरबो मे लोक-जीवन के प्रत्येक अग के चित्र बंधे है। इनके विषय अनेक है। राज्य सबधी, सामाजिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, प्राकृतिक तथा धार्मिक और पौराणिक। गरबो की रचनाएँ सुन्दर होती है, उनमे एक से एक हृदयस्पर्शी कल्पनाएँ और भावनाएँ मिलती है। ये गरबे जन-समूह की सच्ची अनुभूति की भावनाएँ है। ग्राम्य जीवन के प्रतिदिन के सघर्ष के अनोखे उद्‌गार है। गरबो को देख कर ही उनका महत्व जाना जा सकता है। वे अमूल्य है।

आज भी गरबे गुजरात और काठियावाड के प्रत्येक समाज की सुन्दर विभूति है। उत्तर प्रदेश की कुछ सुन्दर चीजे जैसे कजरी, झूले के गीत, आल्हा-ऊदल, अन्य ऐसी चलती हुई चीजे गाँवो मे ही पायी जाती है। उनकी सीमा प्राय. गाँवो तक ही है। आजकल का सभ्य समाज उनसे परिचित ही नही है, किन्तु इसके विपरीत गुजरात और काठियावाड मे ये गरबे गाँवो और शहरो मे समान रीति से प्रचलित है। बबई और अहमदाबाद जैसे शहरो मे किसी कालेज या स्कूल मे कोई भी ऐसा उत्सव नही होता जिसमे गरबे न हो। गरबे गुजरात और सौराष्ट्र की आत्मा है। सौराष्ट्र और गुजरात की रगभूमियाँ गरबो की प्राण है। आज भी प्रतिदिन, सध्या को गुजरात और काठियावाड के ज्योत्स्नामय आँगन और मैदान गरबो से मुखरित होते रहते है। वहाँ की सब जातियो मे—चाहे वह कोली हो, कणबी (कुनबी) हो, सुनार हो, लुहार हो, पटेल हो, गरासिए (राजपूत क्षत्री) हो, बनिए हो, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो—गरबो के वही गीत चलते है। किसान जैसी (शारीरिक परिश्रम करने वाली—) जातियाँ सध्या को इन गरबो मे झूम-झूम कर उनकी मस्ती मे अपने परिश्रम को भुला देती है। गरबे उनके जीवन मे नवीन प्राणो का सचार करते है। उनकी रग-रग मे नवीन स्फूर्ति भरते है।

काठियावाड मे अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। वहाँ राजा और प्रजा के बीच इतना अतर भी नही था। राजा प्रजा का पोषक और पालनकर्त्ता था। वह उसके सुख दु ख को जानता था। इन राज्यो मे राजगद्दी के लिए—(अन्य प्रकार से उत्पन्न) ईर्ष्या आदि भावो के कारण भी अनेक प्रकार के षडयन्त्र चलते रहते थे। वे राज्य अपनी निजी स्वतन्त्रता और सत्ता रखते थे। जीवन की इन वास्तविकताओ को बतलाने वाले गरबो की कमी नही है। उदाहरण स्वरूप कुँवरि बा का गरबा देखिए—

भावनगर राज्य की कुँवरि का विवाह जामनगर राज्य के कुवर के साथ हो रहा है, विवाह और दहेज देने की तैयारियाँ हो रही है। जामनगर से टीका आया है। श्रीफल भी आ गये है। इधर भावनगर की कुँवरि बा के हाथ देखने को ज्योतिषी आये है। विवाह की रीति सपन्न करने को पडित लोग भी आ चुके है। सुनारो ने सुन्दर से सुन्दर आभूषण बनाये है। उनमे जडने के लिए सूरत से हीरे-मोती मँगवाए गये है। कुवरि बा के लिए सुनार, पालकी और पलके (पलग) बना रहे है। ठठेरो ने नाव, पीतल और चाँदी के झूले, जजीरे तथा दीविये (दिवटे) बनाये है। कपडे वाले विविध प्रकार के कीमती से कीमती कपडे लाये है। जरी, रेशम और मोतियो से टकी ओढनियाँ, लहगे और चोलिया बनी

है। कुसुवी लोग कुँवरि वा की चुनरी को रँगने आये हैं। हालार (नगर) से पालकी आयी है। दहेज देने का समस्त सामान एकत्र हो चुका है। चाचा आकर कुँवरि वा से कहते हैं कि बेटा, तुम्हारे आठो (दहेज) मे कोई कमी तो नही है। कुँवरि वा के अपने भाई नही हे, इसलिए उनकी पूर्त्ति उनके चचेरे भाई रूपसिह और देवीसिह करते है, धूमधाम से वरात को विदाई दी जाती है। ससुराल मे वरात के आगमन की प्रतीक्षा हो रही है। सास-ससुर, नद, सोते सभी अपने अपने झरोखो से वाट देख रहे हैं---कुँवरि वा कव आती है। वरात आ पहुँचती है। परम्परा-नुसार स्वागत होता है, किन्तु सौतें—इस रूप की राशि---कुँवरि वा को कहाँ देख सकती थी। वस उन्होने प्रथा के अनुसार कुँवरि वा को चुनरी उढाई। चुनरी ओढते ही—

'साले शोक्यूँ नी आपेल चुँदडी
ओढाढी ने धोली पाड़ी चीस रे।'

कुँवरि वा के मुँह से चीख निकलती हे। उसमे काला साँप छिपा कर रक्खा गया था, वह उसे काट लेता है—

अगर चदन ना पोटन्या लाकड़ाँ
तुलसी नो नव राख्यो काँई पार रे,
सोनला वर्ण नी वा नीचे बले
रूपला बरणे उड़े दे काँई धूस रे,
हाथी झूरे छे वा ना चौक मां
घोडा झूरे घोडा नी छोड हार रे।
साचा मोती नी वानी मोजडी
जई विखाणी जामनगर दरवार रे।

अगर चन्दन ओर तुलसी से कुँवरि वा की अतिम त्रिया होती है। सुनहरी चिता जलती है, रुपहरे धुएँ उड निकलते हैं।

सामाजिक गरवो के विषय, 'जननी', 'भाभी', 'ननद', 'देवर', 'महियर', 'सास', मौसाल आदि रहते है। वैज्ञानिक आविष्कारो वाली कृत्रिम दुनिया से दूर ग्राम्य-जीवन के सामाजिक स्वाभाविक जीवन के उल्लेख इनमे है। एक ग्राम्यवाला विवाह के पश्चात् ससुराल जाती है। इसके वाद उसके जीवन के कितने ही दिन वीत जाते हे, वह अपने मायके नही जा पाती। उसे अपने मा-वाप की, भाई-भाभी की याद सताती है। इतने मे ही आस-पास के खेतो मे वह देखती है कि वेले फूट निकली है ओर उसके कानो मे घुँघरु का शोर मचाते हुए, घोडो के आने की आवाज सुनाई देती है—

"घुघरीए घमघमता घोडला आव्या"

अब वह अपने महियर जायेगी। उसकी आँखों के सामने उसके महियर की छवि नाच उठती है। उसके अंतर की आशा पूरी होती है। कहाँ तो वह सोचने लगी थी, कि उसे सब भूल गये हैं—

मैं जाण्यु जे भूली मुझ ने मात जो
बापू ने अतर थी छूटी बेटडी,
भाभलडी ना उर लो भाली भाव जो
बन्धव डे उर नो वीसारी ऐनी बहेन ड़ी।

सास अपनी बहू को महियर जाने की आज्ञा देती है। वह, सास के पैर छू कर विदाई लेती है। महियर जाने की खुशी मे वह अपने को भूल जाती है। कहती है मुझे अपने महियर के मार्ग भी शीतल और सुखप्रद मालूम होते हैं। उन रास्तो पर कैसी छाया है। उसे ख्याल आता है, उन पुराने वृक्षो का जिन पर जब वह छोटी थी तब झूलती थी। दादा का दरबार याद आता। माँ का प्रेम—

"मीठो बरसे सावलडी नो मेह जो
न्हाऊँ ऐना झरमर झरना नीर माँ"

वह कहती है, माँ के प्रेम की वर्षा मधुर-मधुर बरसती है। अब उस स्नेह के झरमर नीर मे मैं स्नान करूँगी। रथ पर वह बैठ जाती है और घोडे दौडते हुए, तीव्र गति से मायके की ओर चल देते है। महियर आ जाता है, वह घर भी आ जाता है और माँ से उसकी भेंट होती है। वह ग्राम्य-वधू अपनी माँ से चिपट जाती है। माँ के प्रति उसकी भावनाएं उमड पडती है—

'मीठा मधु ने मीठा मेहुला रे तोल
ए थी मीठो तो मोरी मात रे।
जननी नी जोड सखी नहीं जडे रे लोल।

माँ की आँखे, और उसके स्वर भी प्रेम-अमृत की धार हैं—

'अमी नी भरेल एनी आँखडी रे लोल
व्हालना भरेला ऐना वैण रे।'

मीठे मीठे मधु और मीठे मेहुलो से भी मीठी मेरी माँ है। ससार मे उसकी जोडी नही मिल सकती। अमृत भरी हुई उसकी आँखे है, उसकी बोली प्रेम मे भरी हुई है।

माँ का हृदय गद्गद् हो गया है। आज उसकी बेटी आई है। अपनी बेटी के बिना उसे घर सूना मालूम होता था। दूर भेजी हुई बेटी के लिए माँ जब कुछ न कर सकती थी तो मौन आशीष ही भेजा करती थी। लडकी इसे जानती है और कहती है—'मूंगी आशीष उरे मोकलती रे लोल' और यही नही उसकी माँ तो उसके लिए और बहुत कुछ है—

'धरणी गाती ए हशे धूजती रे लोल
अचला अचूक एक माय रे लोल-जननी०
गगा ना नीर तो वधे घटे रे लोल
सरखो ए प्रेम मो प्रवाह रे लोल-जननी'०

धरती माता भी कभी भूकम्पो के आ जाने से हिल उठती है, किन्तु मेरी माँ तो अटल है। गगा का नीर कभी वढ जाता है, कभी घट जाता है, किन्तु मेरी माँ के स्नेह का प्रवाह एक समान रहता है। ग्राम्य वाला अपनी माँ के पीछे पागल है। ससुराल जा कर उसे अपनी माँ के प्रेम का अभाव रहा, वह अपनी माँ का मूल्य आँक ही नही सकती है। माँ तो माँ है। किसी के साथ उसकी उपमा नही दी जा सकती। और भी वह ग्राम्यवाला कहती है--

'वरसे घडीक व्योम वादली रे लोल,
माडी नो मेघ वारे मास रे-जननी
चलती चाँदनी दीसे चाँदनी रे लोल
ऐलो नही आथमें उजास रे--' जननी

आकाश में वादल कुछ देर को वरस पडते है किन्तु मेरी माँ की स्नेह-वर्षा वारह महीने रहती है। शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा की ज्योत्स्ना फैल जाती है किन्तु कृष्ण पक्ष मे अँधेरी रात ही रहती है। मेरी माँ की चाँदनी सदैव ही वनी रहती हैं। वह उदय हो कर भी कभी अस्त नही होती।

अव अपने मायके मे--उस छोटे से गाँव मे--चारो ओर उसके आने की खवर फैल जाती है। उसकी वचपन की सखियाँ आकर उसे घेर लेती है। उससे ससुराल के विपय मे और उसके पति के विपय मे अनेक प्रश्न पूछती है--"कहो ने सोहागण, सासरी केवी रे।"

और

"केवां सासु, नणद जेठाणी रे?
केवी पडोसण ने पितराणी रे?
लोक नवा-नवा धरती अजाणी रे

सखियाँ अव उससे 'और भी सव' पूछती है। वह कुछ झेंप जाती है, कुछ शर्माती है। किन्तु सखियाँ उसे छोडती नही। सखियो से उसे सव कुछ वताना ही पडता है। वे सव तो जिज्ञासु हो कर सुन रही है। ग्राम्य वाला अपनी सुहागरात का वर्णन करती है। वह उसे 'रूपाणी रात' (रुपहरी रात) कहती है। वह कहती है--

'रस नी ए रेल सखि! साँभरे रूपाणी रात,
घेरा सी आँखडी उजागरे रुपाणी रात!

सखी ओना गीत भरी गाजती रूपाणी रात,
देवो ना दुदभि बगाडती ए रूपाणी रात।'

हे सखि, मुझे अपनी रुपहली रात याद आ रही है। मेरी आंखे उस रात जागरण के कारण ढुलक रही थी। सखियो के गीतो मे वह रात ऐसी गुंजरित थी मानो देवगण दुदुभि बजा रहे है। वह मेरी सुहागरात थी।

इस प्रकार अपनी सखियो से अपने महियर मे आ कर, वह सुहागिन ग्राम्यबाला सब कुछ बताती है। कितना वास्तविक हृदयस्पर्शी वर्णन है। सखियो मे कभी कुछ नही छिपाया जा सकता उसे बताना ही पडता है। कैसी मैत्री, कैसा मान, कैसे प्रश्न और कैसे सुन्दर उत्तर है। सखियो के सामने मन खोल कर वह कैसा अच्छा चित्र खीचती है।

इसी प्रकार 'देवर' पर भी अनेक गरबे है। हिन्दू-समाज मे देवर और भाभी का अनोखा रिश्ता है। भाभी अपने छोटे देवर को खूब बनाती है। देवर भी उसे छोडता नही। बल्कि और ज्यादा ही चिढाता है। देवर भाभी पर होली मे रग डालता है, और भाभी देवर पर। भाभी कहती है, "होली खेलने को और कोई नही मिला, तभी तो मुझे पकडा गया, अच्छा देवर घबराओ नही तुम्हारे लिए छोटी-सी दुलहिन लाऊँगी।' 'ऐने नान्ही शी लाडडी लावश।' देवर उसे बहुत प्यारा है। वह अपनी सखी से कहती है 'देरीदो सखी मन मीठडो।'

फिर उस ग्राम्यबाला को अपनी ननद का रूठना अच्छी तरह से मालूम है। कही ऐसा न हो कि बच्चो को विशेष रीति से न बुला भेजने से भी वह रूठ कर न आये। वह चतुर गृहणी अपनी ननद के स्वभाव से पूर्ण परिचित है। वह तुरन्त ही इन शब्दो मे बच्चो को भी निमन्त्रित कर देती है——

'मारा वाला-भोला शा भाणेजडा
घरी अकेरे ऐने लाव जो सग,
ऐने मीठडां लाड़ लडाव वा
उर ऊँडो रे काई उछले उमग।'

इसी प्रकार भ्रातृ-द्वितीया और वात्सल्य, शृगार और झूले, नदी और नाव पायणी और पनघट पर भी गरबे है।

पनघट, गरबे का एक ऐसा विषय है जिस पर न जाने कितनी भावनाओ को लेकर गरबे है। कई प्रकार के गरबे केवल पनघट पर ही मिलेगे। आज भी पनघट पर जा कर पानी भरने की प्रथा चलती है, विशेषकर काठियावाड मे जहां पानी की तगी है। गांवो मे सास की बडी धाक बहुओ पर रहती है। पनघट पर कुछ क्षणो के लिए उसे आजादी मिल जाती है और दो घडी वह विश्राम करती है। ससुराल मे तो रात-दिन उससे सास काम करवाती रहती है, बहू को अपने आंसू भी बहाने का समय नही मिलता, इसीलिए वह ग्राम्य-वधू पनघट को मायके के

प्र समझती है। वह कहती है—'वे घड़ी नी महियर भाण्य पनघट पूरे रे।' ससुराल में उसके र की ओढनी खिसक ही नही सकती। घूँघट-पट को वह खोल ही नही पाती। पनघट पर हवा उसकी ओढनी उड़ जाती है। उसे थोड़ा चैन मिलता है। पनघट जाना तभी तो उसको अच्छा लगता है। वह कहती है, 'सखी, पनघट ना परियाण भजु ने मीठा रे।' ग्राम्य वाला पनघट जाती वहाँ जाकर उसे आकाश बादलो मे आच्छादित दिखाई देता है। उसे तुरन्त ही अपने मायके याद आ जाती है। वह कहती है—

'ओ बादल थी ढँकाय महियर मारा रे'
ज्या अतर ने अकलाट बसता व्हाला रे।

न्ही बादलो से मेरे मायके वाला गाँव भी घिरा हुआ होगा, जहा मेरे प्रिय जन रहते है।' एक बाद एक इसी प्रकार नारी जीवन की क्रमानुसार भूमिकाएँ गरबो मे मिलेगी।

इसी प्रकार ऐतिहासिक गरबे भी है, जिनमे कल्पना और भावना के साथ ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन है। काठियावाड मे भावनगर राज्य मे माधव वाव का पानी सूख गया था। किसी ने उसे शाप दिया था। उस शाप देने वाले ने यह भी कहा था, कि यदि इस नगर के राजा अपने मझले पुत्र और पुत्र-वधू का बलिदान जलदेवता को देगे तो माधव वाव मे पानी फिर आ सकता है। ज्योतिषी भी राजा से यही कहते हैं। राजा तब विवश हो कर अपने मझले पुत्र अभयसिह को बुलाता है। प्रजा के हित के लिए उसे अपने ही पुत्र का खून देना आवश्यक हो जाता है। जल देवता कोई साधारण बलिदान भी स्वीकार करेगे। वह तो पुत्र और पुत्र-वधू की ही बलि लेगे। बुलवाने पर अभयसिह, जो कि उस समय घुड़साल मे घोडो को खिला रहा था, आता है और पिता से बुलवाने का कारण पूछता है। राजा की आज्ञा और पिता की आज्ञा को पुत्र हँसते-हँसते स्वीकार करता है। अपनी रानी से वह पुछवाता है, कि उसकी इच्छा क्या है? राजा का दिल रो उठता है। उसका हृदय इस आघात से टुकडे-टुकडे हो जाता है। राजकुमार की वाघेले वंश की पत्नी भी ससुर की आज्ञा शिरोधार्य करती है। वह संदेशा मायके भिजवाती है और सुहाग की चुनरी और मौड (मुकुट) मँगवाती है। अपनी देवरानी से सिर के बालो को गुंथवाती है—वेणी मे फूल सजवाती है। ननद से लग्न-ग्रंथि बँधवाती है। जिठानी से माँग मे सिंदूर-रेखा भरवाती है। ससुर से ढोल और शहनाइयाँ बजवाने की प्रार्थना करती है। अपने बालक को झूले मे से उठा कर गोद मे लेकर दूध पिला कर चूमती है और फिर उसे झूले मे डाल कर सुला देती है। उस समय उसके नेत्र आँसुओ मे भर जाते है। इतने मे ही प्रजा महल को घेर लेती है। झाँझ और पखावज ढोलक और शहनाइयाँ आदि बाजे बजने लगते है। वृद्ध राजा व्याकुल और पीडित हो कर कहता है, कि हे पुत्र अभयसिह तुम जा रहे हो, अब घोडो को कौन खिलाएगा। अपनी पुत्र-वधू से वह रो कर कहता है 'हे मेरी वाघेल वंशी वधू! मेरे घरको पावन करने वाली लक्ष्मी तुम भी इस वृद्ध और पगले श्वसुर के कहने मे जा रही हो। मुझे बताती

जाओ कि अपने पुत्र मानसिह को किसे सोपे जा रही हो ?' वह राजपूत वीर क्षत्राणी अपने श्वसुर के पैर छू कर कहती है 'हे मेरे ससुर जी ! आप चिन्तित न होइये ! मेरे मान्य समुर आप तो है ही ! फिर मेरी देवरानी उसे दूध पिला देगी, ननद खिलायगी, जिठानी बडा करेगी। वात्सल्य प्रेम की धारा को रोक लीजिए, कर्त्तव्य के मार्ग को कही वह रोक न दे।' यह कह कर दोनो चलते है। वृद्ध राजा आशीर्वाद देते हुए रो पडता है। बाप हो कर अपने बच्चो का बलिदान दे रहा है, क्या यह उसके लिए कम दु ख की बात थी ? राजकुमार ओर युवरानी, माधव बाव के पास जा पहुँचते है। जनता की भीड लगी हुई है। यहाँ पर लोहे की साँकलो मे बाँध कर उनको बाव मे उतारा जाता है। ससुर, जेठ, देवर, ननद से वह बारी-बारी से कहती है 'माधव बाव के नीर दिखाई देने लगे है।' ससुर कहते है 'मै क्या देखूँ ? मेरा कलेजा टुकडे-टुकडे हो रहा है।' ननद कहती है 'मै क्या देखूँ ? मेरी राखडी बाधने वाला नीर पाताल को जा रहा है।' इतनी बाते हो जाने पर लोहे की जजीर ढीली कर दी जाती है। वे दोनो बाव मे उतरने लगते है।

इसी प्रकार सिद्धराज का ऐतिहासिक गरबा है। इन ऐतिहासिक, धार्मिक और पोराणिक गरबो मे साहित्य, समाज, धर्म, पुराण ओर इतिहास मनोहर ढग से सुरक्षित है। काठियावाड का लोक-साहित्य ऐसे लोक-गीतो और गरबो से समृद्ध है। सौराष्ट्र की शुष्क-स्निग्ध भूमि उसके पशु-पक्षी, उसके मानव, उसका शौर्य प्रेम ये सब एक समय विख्यात ओर समृद्ध थे। सोराष्ट्र तक स्वर्ण देश था, वहाँ की सस्कृति जीवन-सम्पन्न थी। वहाँ के गीत हिमवत से लेकर उदधि पर्यंत पहुँचे थे।

आज भी गुजरात और सौराष्ट्र अपना स्थान बनाये हुए है। उनके लोक-जीवन और साहित्य ने कृष्ण-जैसे महायोगी, गाधी जैसे बापू को जन्म दे कर उस भूमि को धन्य बनाया है।

लोकायन

लोकायन और लोक-साहित्य

श्री भोलानाथ तिवारी

लोकायन और लोक साहित्य क्या है ? हिन्दी मे प्रकाशित लोक साहित्य म कितनी वास्तविकता है, इन्ही प्रमुख प्रश्नो का हल और उनकी समीक्षा करते हुए भापाविज्ञानवेत्ता श्री भोलानाथ तिवारी ने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है।

—सपादक

लोक माहित्य के अध्ययन की ओर सव से पहले यूरोप का ध्यान गया। वहाँ वहुत पहले से पुरातत्व और नृविज्ञान के अध्ययन के लिए लोक साहित्य का अध्ययन किया जाता रहा है। इस प्रमग मे सर्वप्रथम नाम जान औब्रे का लिया जा सकता है जिन्होंने आज से प्राय तीन शताब्दी पूर्व १६८१ ई० मे 'रोमेन्स अव् जेटिलिज्म एण्ड जुडाइज्म' पुस्तक लिखी थी। प्राय सौ वर्ष वाद जान ब्रेट ने ब्रिटिश द्वीप समूह की पाप्यूलर एण्टीक्विटीज पर एक पुस्तक लिख कर इस अध्ययन को और आगे वढाया। आगे चल कर भाषाविज्ञान और माइथालोजी (धर्म गाथा) के लिए भी लोक साहित्य का अध्ययन होने लगा तथा इस दृष्टि से जर्मनी के ग्रिम वधुओं ने पर्याप्त कार्य किया और दो पुस्तके भी प्रकाशित की।

उस समय तक इस क्षेत्र के अध्ययन का नाम 'पाप्यूलर एण्टीक्विटीज' था। आज से सौ वर्षो से कुछ ही अधिक हुए होंगे जव १८४६ ई० मे थाम्स महोदय ने इसे नया नाम 'फोकलोर' दिया। 'फोक' शव्द ऐंग्लो सैक्सन शव्द 'Folc' का विकसित रूप है। जर्मन मे यह 'Volk' हो गया है। डॉ० वार्कर ने 'फोक' शव्द को समझाते हुए लिखा है कि 'फोक' से किसी सभ्यता से दूर रहने वाली पूरी जाति का वोध होता है या यदि इसका विस्तृत अर्थ किया जाय तो सुसस्कृत राष्ट्र के भी सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते है। पर 'फोकलोर' के सदर्भ मे फोक का अर्थ 'असस्कृत लोग' है। दूसरा शव्द लोर ऐंग्लो सैक्सन 'lar' से निकला है और इसका अर्थ होता है वह जो सीखा जाय। इस प्रकार 'फोकलोर' का शाब्दिक अर्थ 'असस्कृत लोगो का ज्ञान' है।

'फोकलोर' के हिंदी पर्याय के लिए पहले 'फोक' शव्द लीजिए। इसके लिए हमारे समक्ष तीन शव्द है—लोक, जन और ग्राम। 'लोक' तो 'फोक' के स्थान पर काफी प्रचलित है पर प० रामनरेश त्रिपाठी का यदि एक ओर फोक के लिए 'ग्राम' शव्द पर अधिक आग्रह है[1]

१—जनपद, खड १, अक १ में त्रिपाठी जी का लेख।

तो दूसरी ओर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० मोतीचद ने कहीं-कहीं[२] 'फोक' के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग किया है।

पहले 'ग्राम' शब्द लीजिए। यह शब्द 'लोक' की विशाल भावना को सीमित बना देता है। यदि पतला आवरण उठा कर देखे तो नगर मे भी इसका राज्य है और इस प्रकार ग्राम और पुर का इसमे भेद नही। दूसरा शब्द 'जन' 'जन्' धातु से बना है,जिसका अर्थ 'उत्पन्न होना' होता है। इस प्रकार इसमे सभी उत्पन्न होने वाले सम्मिलित है। साथ ही वेदो मे सामान्य जनता के अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त भी हुआ है। इसी कारण जनता के प्रिय राज्य को उस युग मे 'जान राज्य' कहते थे। ब्राह्मण ग्रथो, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश के साहित्य मे भी 'जन' शब्द प्राय इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर जनप्रवाद, जनपद तथा जनाश्रय (धर्मशाला) आदि शब्द भी प्रचलित रहे है। पर उसके बाद हिंदी मे इसका एक विशिष्ट अर्थ भक्त हो जाता है। कबीर के प्रेमी 'जन कबीर' से अपरिचित नही है। तुलसी भी लिखते है—

जन जानि करब सनेह बलि कहि दीन बचन सुनावही।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे बहुत से अन्य शब्दो की भाति पाणिनीय विद्वानो और पश्चिम के भाषाविज्ञान-विशारदो मे झगडा है। एक वर्ग इसका सबध 'लोकृ दर्शने' से मानता है तो दूसरा रुक् या रोक् (= चमकना) से। खैर मूल अर्थ चाहे जो भी हो प्रयोगत इसका प्रथम अर्थ 'स्थान' मिलता है और इस दृष्टि से ऋग्वेद मे यह प्रयुक्त हुआ है। जैसे 'स्थान दो' के लिए 'देहि लोकम्'। बाद मे तीन लोक, १४ लोक आदि अर्थ मिलते है। इसी के साथ वेद या शास्त्र से इतर के लिए भी 'लोक' शब्द व्यवहृत मिलता है। उसी समय से 'लोके वेदेच' के रूप मे 'लोक' भी एक स्वतत्र अथारिटी के रूप मे है। गीता मे—

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'

मे भी वेद से इतर लोक नियम या लोकशास्त्र की सत्ता स्वीकार की गई है। प्राकृत एव अपभ्रश के लोअप्पवाय (लोकप्रवाद) तथा लोगजत्ता (लोक यात्रा) शब्द भी उसी अर्थ की ओर सकेत करते है। हिंदी मे भी यही अर्थ आगे बढता आया है—

१. नँदनंदन के नेह मेह जिन लोक लीक लोपी।
—सूर

२. सो जानब सत्सग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ।

या

२—वही पृ० ६६ तथा प्रतीक, ६ वसत, 'प्राचीन भारतीय साहित्य में जन का स्थान' शीर्षक लेख।

लोक कि वेद बड़ेरो।

—तुलसी

इस प्रकार 'ग्राम' शब्द सीमित है, 'जन' अपेक्षया 'फोक' के निकट है पर 'लोक' मे 'लोके वेदेच' से ले कर 'लोक कि वेद वडेरो' तक शुद्ध 'फोक' की भावना है ओर शास्त्रेतर ज्ञान के अर्थ मे ही उसका प्रयोग चला आ रहा है अत वही 'फोक' का समीचीन 'पर्याय' है।

'फोक' के लिए 'लोक' शब्द स्वीकार कर लेने पर 'लोर' के लिए शब्द की समस्या सामने आती है। पर इस पर विचार करने के पूर्व 'फोकलोर' के क्षेत्र या उसकी परिभाषा पर विचार करना आवश्यक है। इस सवध मे विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से विचार किये है। निष्कर्ष-स्वरूप लोगो के विचार दो वर्गो मे रक्खे जा सकते है। एक वर्ग के अनुसार 'लोक' की कला, उसका विश्वास, परपरा तथा उससे सवधित व्रतादि विधान 'फोकलोर' मे आते है, पर दूसरे वर्ग के अनुसार पहले वर्ग के अतिरिक्त लोक की उपयोगी कलाएँ (हल, मकान, वशी आदि वनाना) भी फोकलोर के अतर्गत आती है। मै प्रथम वर्ग के पक्ष मे हूँ। सोफिया वर्न के इन शब्दो मे काफी सत्यता है कि 'सक्षेप मे लोक की मानसिक सम्पन्नता के अतर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र मे है। यह किसान के हल की आकृति नही जो फोकलोरिस्ट को अपनी ओर आकर्षित करती है, किंतु वे अनुष्ठान जो किसान हल को भूमि जोतने के समय करता है। जाल अथवा वशी की वनावट नही वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है। पुल अथवा घर का निर्माण नही वरन् वह वलिदान जो उसके वनाते समय किया जाता है।'

इस दृष्टि मे फोकलोर को १ कला, २ विश्वास, ३ अनुष्ठान इन तीन क्षेत्रो मे बॉटा जा सकता है। कला के क्षेत्र मे साहित्य (लोकगीत, लोकगाथा (वैलेड), लोककथा, लोक नाटय, लोकोक्ति, मुहावरे, सूक्ति तथा पहेली आदि), चित्रकला, मूर्त्तिकला, सगीत कला अभिनय कला तथा नृत्यकला आदि है। विश्वास के क्षेत्र मे विभिन्न जीवो, धर्मगाथाओ के चरित्रो (माइथालोजी के राम, कृष्ण, इद्र आदि), भूत-चुडैलो आदि से सवधित विश्वास (या अध-विश्वास) आते है। अनुष्ठान मे वे कार्य आते है जो इन विश्वासो के कारण विभिन्न अवसरो पर वुरो को दवाने तथा अच्छो के प्रसन्न करने के लिए किये जाते है।

यहॉ 'फोकलोर' और 'फोक लिटरेचर' का अतर स्पष्ट है। 'फोक लिटरेचर' 'फोकलोर' का एक अश है जिसका सवध केवल लोक के गीत, गाथा, कथा, नाटक, उक्ति तथा पहेली आदि से है।

फोकलोर के क्षेत्र को देख लेने और निर्णय कर लेने के वाद उसके लिए एक नाम की समस्या हमारे सामने आती है।

इस ओर निर्देश करने वाले प्रथम विद्वान डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल है। आपने वल्लभ सम्प्रदाय मे प्रचलित निजी वार्ता, घरूवार्ता, ८४ वैष्णवन की वार्ता तथा २५२ वैष्णवन की वार्ता

आदि के आधार पर 'फोकलोर' के लिए 'लोक वार्ता' शब्द खोजा है।[1] इस शब्द को स्वीकार करने मे दो आपत्तिया है। एक तो यह कि यह शब्द पर्याप्त व्यापक नही प्रतीत होता। 'लोक-वार्ता' मे अधिक से अधिक 'लोक कथा' का भाव वहन करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त 'लोक वार्ता' शब्द प्राचीन सस्कृत साहित्य मे एक अन्य अर्थ मे प्रयुक्त हुआ मिलता भी है। सस्कृत कोषो मे इसका अर्थ अफवाह या किवदती दिया गया है।[2] प्रसिद्ध सस्कृतकोशकार आप्टे ने लोकवार्ता का अर्थ Popular report या public rumour दिया है। ऐसी दशा मे कोई अन्य उचित शब्द खोज लेना शायद अधिक अच्छा होगा।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सदर्भ मे लोक सस्कृति[3] शब्द का उल्लेख किया है। पर आगे उन्होने स्वय साधारण जनता मे प्रचलित शब्दमय साहित्य को 'लोक साहित्य', और 'फोक-लोर' के बचे शेष विषयो (लोक कला, लोक विश्वास लोक अनुष्ठान तथा लोकशिल्प आदि) को लोक-सस्कृति नाम से पुकारे जाने या पुकारने का सकेत दिया है। इसका आशय यह है कि उन्ही के विचार से लोक-सस्कृति शब्द 'फोकलोर' के लिए पूरा नही पडता। यो लोक सस्कृति शब्द पर्याप्त व्यापक तो है पर इसे 'फोकलोर' का पर्याय मान लेने पर 'फोकलोर' और 'फोक कल्चर' मे घोलमेल होने का अदेशा है अत यह भी अग्राह्य है।

डॉ० सत्येंद्र ने शायद अनजाने ही इसके उपयुक्त लोकाभिव्यक्ति और लोकतत्त्व दो शब्द दिये है।[4] इसमे लोकाभिव्यक्ति तो केवल लोककला और लोक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त कहा जा सकता है और दूसरी ओर 'लोक तत्त्व' शब्द 'फोक एलिमेंट' के पर्याय के रूप मे (उदाहरणत 'भारतीय सस्कृति मे लोक तत्त्व') अधिक युक्तिसगत है और प्रयोग मे भी आता है अत 'लोकाभिव्यक्ति' और 'लोकतत्त्व' ये दोनो शब्द भी 'फोकलोर' के पर्याय नही बन सकते।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'फोकलोर' को स्पष्ट करते हुए उसके लिए भारतीय प्रतिशब्द 'लोकायन' अपनाने का सुझाव दिया है। वे कहते है, "पितृ परम्परागत जीवन-यात्रा की पद्धति जिन सामाजिक अनुष्ठानो, विश्वास-विचारो तथा वाङ्मय (कविता, काव्य, पहेली, कहावत आदि) से अपने लौकिक प्रकाश को प्राप्त करती है उन्हे अग्रेजी मे 'फोकलोर' कहते है। इस शब्द का भारतीय प्रति शब्द हमने 'लोकयान' यो बना लिया है "[5]

'यान' का प्रचलित अर्थ वाहन या सवारी होता है पर उसका एक अर्थ 'जाना' या 'चलना' भी है। सभवत इसी अर्थ के आधार पर डॉ० चटर्जी ने 'फोकलोर' के लिए 'लोकयान'

१—व्रज लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येंद्र, पृ० १

२—संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ—द्वारका प्रसाद शर्मा

३—जनपद, खंड १, अंक १, पृष्ठ ६६

४—आलोचना ४, पृष्ठ ३१

५—राजस्थानी कहावतॉ, भाग पहलो, २००६, कलकत्ता, की भूमिका पृष्ठ ११

प्रतिशब्द बनाया है। सचमुच लोक का जीवन 'फोकलोर' के साथ, उसके सहारे और उस पर चलता है। इन दृष्टियो से 'लोकयान' मे विना किसी प्रकार की खीचातानी के 'फोकलोर' के अतर्गत आने वाली सभी वाते आ जाती हैं।

मेरे मस्तिष्क मे, फोकलोर पर विचार करते समय लोकशास्त्र, लोकविज्ञान, लोक-ज्ञान, (य तीनो शब्द 'फोकलोर' के शाब्दिक अर्थ के अधिक निकट है) लोक परपरा, लोक प्रतिभा लोक प्रवाह, लोक पथ, लोक विधान तथा लोक सग्रह आदि कई शब्द आये पर किसी मे भी अपेक्षित भाव नही मिला। मेरे एक मित्र श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने इसी विषय पर वातचीत के सिलसिले मे 'लोकायन' शब्द का 'फोकलोर' के प्रतिशब्द होने का सुझाव दिया था। इसमे 'अयन' का अर्थ 'यान' की ही भॉति गति, चाल या जाना आदि है। यह शब्द भी लोकयान की ही भॉति 'फोकलोर' के पर्याय होने की लगभग पूरी क्षमता रखता है। मुझे व्यक्तिगत रूप से 'लोकयान' की अपेक्षा 'लोकायन' शब्द अधिक नामोचित लगता है, इसीलिए इस लेख मे मैंने उसी को अपनाया है। यो इस विषय पर किसी विद्वान की ही वात अतिम हो सकती है। यह तो मेरा सुझाव मात्र है।

यहॉ तक हम लोग लोकायन और लोक साहित्य के रूप, क्षेत्र और नाम आदि पर विचार करते रहे। इधर लोक साहित्य के क्षेत्र को लेकर दो नये प्रश्न हिंदी-ससार के सामने आये है अत विषय से सबध होने के कारण उन्हे भी यहॉ देखा जा सकता है।

कुछ आलोचको ने हिन्दी के मध्ययुगीन सतो के पूरे के पूरे साहित्य को लोक साहित्य के अतर्गत रखने का मत प्रकट किया है। जहॉ तक मै जानता हूँ यह वात सब से पहले श्री बैजनाथ और विश्वनाथ—लेखकद्वय द्वारा सवत् २००६ मे प्रकाशित उनकी पुस्तक 'निर्गुण धारा'[१] मे कही गई है। लेखकद्वय लिखते है, "हमारे मत से हिंदी मे निर्गुण धारा की सज्ञा से अभिहित सपूर्ण साहित्य लोक गीत के वर्ग का है।" आगे चल कर लेखको ने भाषा, शैली तथा कही-कही भाव आदि के सहारे निर्गुण साहित्य और लोक साहित्य मे समीपता और एकता दिखाने का प्रयास किया है।

निर्गुण साहित्य के ख्यातनामा विद्वान् डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी से भी हाल मे यही स्वर सुनाई पडा है। आप एक अपने नवीन लेख मे लिखते है "सच पूछा जाय तो कुछ थोडे से अपवादो को छोड कर मध्ययुग के सपूर्ण देशी भाषा के साहित्य को लोक-साहित्य के अतर्गत घसीट कर लाया जा सकता है।"

अपवादो से द्विवेदी जी का आशय शायद सुदरदास जैसे कुछ उन निर्गुनिये सतो से है जो विद्वान् और काव्य कला-मर्मज्ञ थे। अगर उनकी वात छोड दी जाय तो भी कबीर आदि के साहित्य को लोक साहित्य के अतर्गत लाना कहा तक ठीक है, विचारणीय है। इस प्रश्न पर बहुत

१—निर्गुण धारा—बैजनाथ, विश्वनाथ, २००६, गया

सक्षेप मे कुछ कहना तो न्यायसगत न होगा पर यहाँ कोई और चारा भी नही है। मेरा अपना विश्वास यह है, कि लोक साहित्य के समीप और उससे बहुत अगो मे प्रभावित होते हुए भी यह निर्गुण साहित्य लोक साहित्य नही है। लोक साहित्य की सब से बडी विशेषता यह है, कि वह व्यक्ति से अनुप्राणित न रह कर लोक स अनुप्राणित रहता है अत उसमे लोक या समष्टि का ही व्यक्तित्त्व प्रतिफलित रहता है, व्यक्ति का नही। पर, इसके विपरीत निर्गुण साहित्य की कविताओं मे उनके रचयिताओ का व्यक्तित्त्व स्पष्ट है। यहाँ तक कि उसके आधार पर विद्वानो ने उन व्यक्तियो की विचारधारा को विश्लेपित करने का सफल प्रयास भी किया है।[1] इसके अतिरिक्त शुद्ध लोक साहित्य मे (लोकोक्तियो के अतिरिक्त) उपदेशात्मकता का सर्वथा अभाव रहता है। वह विरह, शृगार, करुणा और वीरता आदि से ही ओत-प्रोत रहता है, पर निर्गुण साहित्य मे उपदेशात्मकता कूट कूट कर भरी है। इतना ही नही तीस प्रतिशत निकाल कर यदि सत्तर प्रतिशत निर्गुण साहित्य को उपदेशात्मक साहित्य कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरी सब से बडी चीज यह है कि निर्गुण साहित्य पूरा का पूरा साम्प्रदायिक आग्रह से पूर्ण है। उसे लोक साहित्य की स्वच्छदता नसीब कहाँ ? साम्प्रदायिक आग्रह होने से ही उसमे खडनात्मक और प्रचारात्मक प्रवृत्ति भी आ गई है पर लोक साहित्य इस प्रकार के वादो से दूर है। उसे "वैस्नव की छपरी' और 'साकत के गाँव' को ले कर कुछ भी नही कहना है। विष्णु भी उसके पूज्य है और शक्ति या काली भी। निर्गुण ब्रह्म भी उसके ईश्वर है और अवतारी राम और कृष्ण भी। इस प्रकार लोक साहित्य की उदात्त और स्वच्छद उदारता उसे स्पष्टत अन्य सभी साहित्यो से अलग और शायद ऊपर भी कर देती है।

लोक साहित्य के क्षेत्र या उसकी सीमा-रेखा के विषय मे दूसरा प्रश्न यह है कि क्या हाल की लोक भाषा या लोक बोली मे लिखी गई पुस्तके या रचनाएँ लोक साहित्य के अतर्गत आएँगी। यह प्रश्न जितना ही स्वाभाविक है उतना ही आवश्यक भी। उदाहरणार्थ भोजपुरी मे राहुल साकृत्यायन या रामविचार पाडेय, एम० ए० आदि की रचनाए लीजिए। इनकी रचनाएँ ठेठ भोजपुरी मे है, इसमे कोई भी सदेह नही। पर यदि केवल लोक भाषा मे लिखी जाने से कोई रचना लोक साहित्य के अतर्गत आ सकती है तो पूरा निर्गुण साहित्य (जिसकी भाषा सधुक्कडी या विभिन्न लोक भाषाओ की खिचडी है), पूरा कृष्ण साहित्य (जो ब्रज की बोली मे है), पूरा राम साहित्य और सूफी साहित्य (जो अवधी मे है) लोक साहित्य के अतर्गत आ जायगा। इतना ही क्यो स्वय खडी बोली भी तो मूलत मेरठ के आस पास की एक बोली है। चारण काल का वीर और सत साहित्य तो राजस्थानी तथा मैथिली आदि मे लिखा ही गया है। इसका आशय यह कि पूरा हिंदी साहित्य लोक साहित्य ही है। पर क्या यह किसी को स्वीकार होगा ? मेरे विचार से लोक साहित्य होने के लिए किसी साहित्य मे लोक भाषा म लिखा जाने के

१—Nirgun School of Hindi Poetry—Dr. Barthwal

अतिरिक्त और भी कई बातो का होना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि वह साहित्यिकता (अर्थात् कवि समय, तथा अलकरणाधिक्य, आदि) से जकडा न हो, यद्यपि इस दृष्टि से कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खीचनी सभव नही है। दूसरी बात यह है कि उसमे उपदेश या प्रचार की भावना का अश न हो। तीसरे वह किसी साम्प्रदायिकता से बंधा न हो। चौथे उसकी आत्मा मूलत लोकात्मा हो, किसी व्यक्ति या कवि की आत्मा नही। कुछ लोगो ने लोक साहित्य की बहुत बडी पहचान यह मानी है कि उसके रचयिता का पता न हो।[1] पर यह सिद्धात मान्य नही। यद्यपि अधिक लोक साहित्य निश्चय ही ऐसा है जिसके रचयिता का हमे पता नही पर साथ ही ऐसे लोक साहित्य की भी कमी नही जिनके रचयिता को हम जानते है। उदाहरण के लिए ब्रज लोक साहित्य के स्वागो के रचयिता नत्थामल, ख्यालो तथा गीतो के रचयिता मदारी और मनोहीराम, भोजपुरी लोक नाट्य तथा तत्सबधी गीतो के रचयिता भिखारी ठाकुर, खेती और सामाजिक-पारिवारिक कहावतो के रचयिता घाघ एव ज्योतिष आदि से सबधित कहावतो के रचयिता भड्डरी आदि लिये जा सकते है।

इधर लोकसाहित्य के सबध मे दो बडे महत्त्वपूर्ण शोध कार्य हुए है। एक तो है डा० सत्येद्र का 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' और दूसरा कृष्णदेव उपाध्याय का 'भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन'। डा० सत्येद्र ने अपनी थीसिस के दूसरे अध्याय मे ब्रज के नये लोक साहित्य का भी परिचय दिया है। पर वह नया लोक साहित्य भी पर्याप्त पुराना है और उसके लेखक निश्चय ही लोकलेखक कहे जायँगे। पर दूसरी ओर डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक[2] के दूसरे अध्याय मे भोजपुरी के प्राचीन लोक गीतो की ही परपरा मे भिखारी ठाकुर आदि के साथ रामविचार पाडेय आदि पर भी विचार किया है। इसी प्रकार भोजपुरी गद्य मे प्राचीन लोक कहानियो, भिखारी ठाकुर का विदेसिया नाटक, तथा श्री राहुल साकृत्यायन के नइकी दुनिया, मेहरारुनके दुरदसा, जपनिया राछछ, जरमनवा के हार निश्चय तथा ढूनमुन नेता आदि पर विचार किया गया है। राहुल जी को कुछ और लोगो ने भी लोक साहित्यकार माना है। निर्गुणधारा नाम की पुस्तक मे लेखको ने लिखा है— "विश्व की रूपरेखा' और 'दर्शन-दिग्दर्शन' का विद्वान लेखक सामान्यतम स्तर पर आकर लोक गीतो की रचना भले ही कर ले, पर भिखरिया'[2] जैसा निरक्षर व्यक्ति अपनी सपूर्ण प्रतिभा का उपयोग कर के भी शिष्ट शब्द का सर्जन कर सकेगा, यह मानने की बात नही।"[3]

प्रश्न यह है कि क्या श्री राहुल जी या श्री रामविचार पाडेय की रचनाएँ लोक काव्य के अतर्गत आएगी जैसा कि लोग मानते है। शायद नही। निर्गुण धारा के लेखकद्वय का विश्वास है

१—अनुशीलन

२—पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

३—निर्गुणधारा—बैजनाथ, विश्वनाथ, २००६. पटना

कि राहुल जी लोककाव्य की रचना कर सकते है पर 'भिखरिया'[1] शिष्ट काव्य की रचना नही कर सकता। पर मेरा विश्वास तो यह है कि जिस प्रकार 'भिखरिया' शिष्ट काव्य की रचना नही कर सकता उसी प्रकार श्री राहुल जी लोक काव्य की रचना नही कर सकते। लोक भाषा मे रचना करना और लोक काव्य रचना दोनो एक नही है। लोक काव्य रचने के लिए जिस मस्तिष्क, व्यक्तित्व और परिस्थिति की आवश्यकता है किसी आज के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति मे शायद मिल ही नही सकती। यही बात श्री रामविचार पाडेय के बारे मे भी है। उनकी पुस्तक[2] पर जाइए। उसमे भोजपुरी व्याकरण और भोजपुरी शब्दो पर आधारित लोक भाषा अवश्य मिलेगी पर काव्य की आत्मा कदापि लोक की नही है। इसमे श्री पाडेय जी या राहुल जी का दोष नही। ये लोग अपने सस्कार और व्यक्तित्व को अलग रख कर तो लिख नही सकते। उनका व्यक्तित्व कभी लोक व्यक्तित्व हो नही सकता। इसके अतिरिक्त जहा तक राहुल जी की उपर्युक्त रचनाओ का प्रश्न है वे अधिकतर जर्मनी, जापान और काग्रेस के विरुद्ध कम्युनिस्टो के प्रचार मात्र है। उनकी एक पुस्तक 'ढुनमुन नेता' मे हरपाल कहता है "जोना दिने रूस मे ललका झडा उतर जाई ओहि दिने दुनिया भर के किसान मजदूर के गले तात लगि जाई।"

इसे लोक साहित्य कहा जाय या कम्युनिस्टो का प्रोपैगेंडा ! इसी प्रकार लोक भाषा मे सरकार की स्तुति भी पाई जाती है और वह भी लोक-साहित्य कहलाने की अधिकारिणी नही कही जा सकती।

इस पूर्व पीठिका के बाद मेरा यही कहना है कि इधर इस प्रकार की नई चीजो को केवल लोक भाषा मे लिखा देख कर लोक साहित्य कहना अनुचित होगा। आश्चर्य है, कि थीसिसो मे भी इन्हे लोक साहित्य मे स्थान दिया जा रहा है।

१—प्रसिद्ध भोजपुरी लोक नाटय 'विदेसिया' का रचयिता।

२—निनिया बिछिया।

नया वर्ष—एक भावचित्र

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री वर्मा जी ने रेखाचित्र के माध्यम से संस्कृति और परिस्थितियो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपने इस लेख मे बहुत सुन्दर ढग से किया है। —संपादक

नीद नही आ रही थी। निद्रा का आवाहन करते करते आधी रात के लगभग करवटो ने बाजी लगाई।

टन टन टन टन टन टन !

पड़ोस मे गिर्जाघर था। कानो का मैल हिलाने वाली टनटन गिरजाघर के घंटे से हुई। बच्चे जाग पड़े।

एक, जो कुछ अधिक कुशाग्रबुद्धि था, आंख मलते हुए, बोला, 'आग लग गई है, कही आग लग गई है!'

मैंने हंसते हुए समाधान किया, 'आग नही लगी है, गिरजाघर का घंटा बज रहा है।'

'क्यो?'

'क्योकि ठीक बारह बजे है। आज इकतीस तारीख की समाप्ति के साथ यह वर्ष जा रहा है और नया वर्ष आ रहा है। सबको चेताने के लिए गिरजे के घंटाघर का घंटा बज रहा है, आग-वाग कही नही लगी है।'

बालक शान्त हो गया। थोड़ी देर मे सो गया क्योकि चेतावनी देनेवाला घंटा भी थोड़ी देर टनटना कर चुप हो गया। मुझे नीद नही आई। मैने सोचा पुराने वर्ष की राख मे से नये वर्ष का जन्म हुआ है।

पुराना वर्ष चला गया! नया आ गया!! पर घंटा न बजता या नीद आगई होती तो इसके जाने और उसके आने की बात ध्यान मे आती ही क्यो?

पर क्या सचमुच एक वर्ष जाता है और दूसरा द्वार खटखटाकर प्रवेश करता है? वर्तमान जगत् के एक बड़े भाग ने ३१ दिसम्बर की रात के बारह बजे का शून्य क्षण एक के जाने और दूसरे के आने का माना है। [illegible] वर्तमान जगत् मे दर्जनो सम्वत् है, जिनके आने जाने के महीने और समय भिन्न भिन्न है। कोई उस समय को सम्वत्सर कहता है, कोई नौरोज, कोई कुछ, और कोई कुछ। [illegible] विस्तृत समुद्र की प्रबल लहरो की थपेड़ो मे चलने वाले जलयानो के लिए

कही कही प्रकाशस्तम्भ है, परन्तु पुराने (?) वर्ष के रोते चीखते, रूठते, हंसते या अँगडाई लेते चले जाने और नये की केवल आशा के बीच मे, कौनसा चेताने वाला स्तम्भ या प्रतीक है ? क्या वह टन टन ? वह तो किसी के आने भर की चेतावनी देना है जो दिखलाई नही पडता।

एक क्षण दूसरे के भीतर चुपचाप समाता चला जाता है। एक घटा दूसरे मे, और, उसी प्रकार एक दिन, एक महीना और एक वर्ष दूसरे मे विलीन होता रहता है। केवल ऋतुएँ प्रत्यक्ष तौर पर पुरानी के जाने और नई के आने का सकेत करती है। फिर, उनके जाने आने से क्या ? क्या तो ले जाती है, और क्या दे जाती है ? क्या मानव पर इनके जाने आने का कोई प्रभाव नही पडता ? क्या वह जैसा था वैसा ही है ? तो क्यो पुराने के जाने और नये के आने की चुपचाप पद-चापो या किसी ध्वनि के सुनाई पडते ही भीतर के घावो पर मरहम सी लग जाती है ? पुराने ने कुछ पुराने घाव भरे थे, कुछ विनोद दिया था और साथ ही कुछ नये घाव भी। नया, यदि वह सचमुच नया है, तो नया भी यही सब करेगा।

तो अब जोड बाकी का प्रश्न सामने आगया। शारीरिक व्याधियो और हर्षो की जोड बाकी कदाचित् लगाई जा सके—मुझ सरीखे अनेक ऐसे है जो इतना भी गणित नही जानते कि इसका लेखा जोखा कर सके—परन्तु अभी उस गणित की खोज शेष है जो मानसिक पीडाओ और मानसिक आनन्द का सही लेखा जोखा कर सके। वे पीडाएं गड-गडाकर प्राणो को चपेटती सोखती रहती है तो वे आनन्द उन सबको भुलाकर किसी ऐसे हवाई घोडेपर बिठला देते है जो किसी भी दिशा या सीमा को नही चीन्हता पहिचानता। ऐसा हवाई घोडा जिसके भीतर न भाफ है, न बिजली और न एटम शक्ति। तो उसके भीतर क्या है ? और वह क्या है ? क्योकि वह है अवश्य। यदि है तो क्या उसमे स्थायित्व के कोई तत्व है ?

गिरजाघर की टन टन, मन्दिरो की शखध्वनि, मुल्लाओ की अजान इत्यादि क्यो किसी की नीद उचटा देती है, क्यो किसी के मन के भीतर एक जगमग सी जगा देती है ?

प्रत्येक मानव के हर्ष-विषाद की वार्षिक जोड-बाकी मे कम से कम एक छोटासा अण, जिसकी आकृति या नापतौल का निर्धार असाधारण गणितज्ञो का ही काम है, उस जगमग का अश है। किसी के साथ चुपचाप कोई उपकार किया, निर्ममता के साथ कभी किसी सत् को कह या कर बैठे, किसी की बढती को देखकर अपने मनको कुछ आनन्द मिला, मारे बेमौके क्रोध के फूटते ही तुरन्त उसके कारण की खोज मे अनुलग्न हो गये, अहकार के सिर उठाते ही तुरन्त अपनी मूर्खता पर मन ही मन हंस पडे, शारीरिक या मानसिक पीडा के सिर आजाने पर परमात्मा से प्रार्थना की कि 'पीडा तो आने को थी ही, अब उसके सहने की शक्ति भी तो दो', —ये ही सब तो छोड जाते है मन के अन्तस्तल के किसी कोने म उस जगमग को जो गिरजा की टनटन, मन्दिर की शखध्वनि, मुल्ला की अजा इत्यादि को सुनकर जाग पडती है। किसी किसी को वह जागृति नित्य मिलती रहती है—बडभागी है ऐसे वे। तो, किसी को वर्ष भरमे या दो चार छ वर्ष के अन्तर पर।

इस जगमग के समुच्चय को क्या कहे ? संस्कृति ? यह तो बड़ा व्यापक शब्द है। तिथि-त्योहार, उत्सव, समारोह, मेले-ठेले, नाचगान,——यहाँ तक कि रोना पीटना भी,——सब उस 'संस्कृति' की परिधि मे ! और उस जगमग के कुछ वे गोचर रूप भी ! !

जैसे एक क्षण दूसरे मे चुपचाप घुलता मिलता रहता है,——केवल इतिहास की मूर्खता उस विलयन का काल-विभाजन करती है पन्द्रह सहस्र वर्ष पहले की मानव संस्कृति, दस, पाच, तीन, दो सहस्र इत्यादि वर्षों पहले की मानव संस्कृति ! परन्तु मनुष्य करे तो क्या करे ? आखे जैसे दिनरात के भेद और अन्तर को पहिचानती है वैसे ही कल्पना भी अपनी गुनत लगाने के लिए कुछ स्तम्भो ओर प्रतीको की ढूढ खोज मे लगी रहती है जो दृष्टि की भिन्नताओ का सामञ्जस्य अदृश्य के अन्तरो के साथ करने मे लग जाती है। इसीलिए विचारा इतिहास सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग इत्यादि के अन्तर बनाता है, प्रलय और विलय के कथानक रचता है। परन्तु उस इतिहास को कजूस भी एक बधाई तो देगे ही——देनी पड़ेगी . प्रलय की भी घोर आधी तूफान, अगाध तरगो ओर निस्सीम झकझोरो पर एक कमल रहता है, सुहावना, सशक्त, चमत्कारपूर्ण, इतिहास उसे न जानते हुए भी उन सबके ऊपर त्रिठलाकर, गिरजाघर की टन टन, मन्दिर की शखध्वनि, मुल्ला की अजान इत्यादि के द्वारा उसकी आराधना करता है ओर हम नये वर्ष के स्वागत के बहाने—क्या करते है, वह हम क्या जाने ?

बोलना उनसे सीखिये, जो पढ़े-लिखे नहीं हैं !

श्री कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर

साधारण से साधारण और छोटी-सी-छोटी बात को गहराई से सोचने-समझने और उसपर अमल करने के अभ्यस्त हैं, विकास (सहारनपुर) के सम्पादक श्री कन्हैयालाल मिश्र, जिनके रेखाचित्र मन की गहराई को नापने मे सफल हुआ करते हैं। ऐसे ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन रेखा-चित्रो मे आपने प्रस्तुत किये हैं। —सपादक

मदमाती मसूरी के तिलक पुस्तकालय से किनक्रेग की उतरती घुमावदार पगडण्डी। उसपर उतरा जा रहा हूँ मैं और मेरे पास-पास यह जा रहा है, चना जोर गरम का बक्सा गले मे डाले १६-१७ साल का एक लडका। आदमी आ-जा रहे हैं, पर यह आवाज नहीं लगाता, लटके नहीं गाता और चना जोर गरम की बिक्री का तो सारा दार-मदार ही लटको पर है।

तभी उसे मिला उसका एक साथी—नीचे से ऊपर जाता। उसे भी उसका मौन अखरा—"अबे, आवाज लगा, चुप क्यो है, गले मे हाफ तो नहीं निकल आया।"

तमककर लडके ने कहा—"हाफ निकलै तेरी जोरू के गले मे, जो हमसे मिकवाती फिरै। अबे चमचू! हमारे हाफ निकलै, तो खाये क्या—तुझे तो तेरी बहू ने गोद ले रक्खा है, तुझे रोटियो का क्या फिकर?"

साथी ने पत्ता काटा—"अबे चिमगादड के, तो जलता क्यो है? मेरी बहू तो तुझे भी गोद लेकर लड्डू बाँट देगी, पर यह तो बता कि गुम क्यो है? लगा आवाज, बान्ध लटके, जो बरसै पैसा ही पैसा!"

लडके ने कहा—"अबे, तू तो है चौखट की चप्पल कि जहा देखा, रपट पडा और हम हैं दूकानदार दुनिया की रमज पहचानते हैं। जहाँ पैसा बरसने का डाल होता है, वहा चना जोर गरम वाले की आवाज झींगरी हो जाती है।"

और तब मजाक की मड से गम्भीरता के धरातल पर आते हुए उसने कहा—"यहा एक कौडी का भी चना नहीं बिक सकता। बात यह है कि जो लोग किनक्रेग पर उतर रहे हैं, उन्हे तो लगी रहती है हावड-ताबड कि पता नहीं मोटर मे जगह मिलेगी या नहीं, कुली कहा गया बीवी-बच्चे कहा हैं? और जो लोग नीचे से ऊपर जा रहे हैं, उनका आधा जी तो फसा रहता है चढाई की थकान मे और आधा होटल के फिकर मे। फिर बताओ, इस सडक पर चना कौन खाये—ये तो यार मौज, के ममाले हैं!"

वात आई-गई हुई, पर सोचना स्वभाव होगया है, मै सोचता रहा। पहली वात, जो मन मे आई, वह थी उस अपढ लडके मे मनोवृत्तियो के विश्लेपण की सूक्ष्म ओर गहरी क्षमता। यह क्षमता उस जीवनशक्ति का एक प्रदर्शन है, जो सदियो की दासता और संघर्ष मे भी मरी नही है, दूसरी वात मन मे आई यह कि इन अपढ वालको के पास इतनी सरस, सजीव ओर स्वस्थ भाषा है कि हमारे महामहोपाध्याय इनसे अभी वरसो वोलना सीखे!

+ + +

एक गॉव के मुखिया का घर---हम ३-४ मेहमान उनकी वैठक मे भोजन की थालियो पर, जिनमे उनका एक लडका भी। यह लडका खाने मे प्रगतिशील। मुखिया जी वोले--पण्डित जी, यह पहले जन्म मे जानवर था, इसलिए आदमी की जून पाकर भी इसका ढग नही वदला। खैर, थूनता, मसकता तो यह नही, पर खाने को खाता नही, निगलता है।

"इन सब मे क्या भेद है, मेहरबानी करके यह वताइए मुखिया जी!" लडके को उनकी झाड से वचने के लिए मैने वात वदली, तो मुखिया जी वोले---"पण्डित जी, आदमी खाता है, जानवर निगलता है, भूत थूनता है और राक्षस मसकता है।"

और तव उन्होने वताया कि खाना खाया जाता है धीरे धीरे चवाकर, निगला जाता है पपोल्कर जल्दी जल्दी गलेमे उतार कर, थूना जाता है ढेरो भोजन विना ठीक तरह चवाये पेट मे भर कर और मसका जाता है वहुत तेजी से हाथ चला कर चारो ओर खिण्डाते हुए और हाथ मुह को सानते हुए।

मुखिया जी ने यह वताया ही नही मुँह ओर हाथ की आकृति को मुद्राओ मे वदलकर चारो भावो का प्रदर्शन भी किया।

शब्दो की इस सूक्ष्म भेद-रेखा से कितने शिक्षित परिचित है?

+ + +

हमारे प्रेस मे एक वालक इकमैन है---रिजवान। कोई वारह वर्ष का अशिक्षित वालक। उस दिन मेरे सिर मे तेल मलते-मलते वाते करने लगा। अपने पिता की चर्चा मे वोला---"मेरे अव्वा पतली वेत से मारते मारते वधिया खीच देते थे।"

जो लोग वैल को वधिया करने की प्रक्रिया से परिचित है, वे ही इस अभिव्यक्ति का रस ले सकते है।

यही वालक एक दिन वोला---"जव आपने प्रेस खोला, तव तो मेरे पत्ते भी नही जमे थे!" जीवन वृक्ष की कितनी मधुर और मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है।

+ + +

श्री शिवराम शर्मा देहात मे जनमे, पले और पनप रहे है। मै उन्हे 'देहाती' प्रतिभा का

मौडल' कहा करता हूँ। आप वैद्य है, अभिनेता हे, वक्ता है, लेखक हैं। उन्होने एक अध्यापक का स्कैच लिया। उसमे एक जगह कहा है—"अजी, वह मास्टर तो गजब का पुतला था। गाव भर के वालको को उसने मोह लिया था—सब उसी के राग गाते थे, पर वह विनव्याहा था। थोडे दिन बाद गॉव मे खोट करने लगा।"

मै जाने कितनी वार सोच चुका हूँ कि क्या कोई कथाकार दुराचार की इससे सुन्दर, सकेतात्मक और पूर्ण अभिव्यक्ति दे सका है ?

\+ \+ \+

एक देहात मे मै भाषण देने गया। जिनके घर ठहरा, उनका छोटा लड़का मुझसे हिल गया। रात मे वह मेरी बुक्कल मे वैठा था कि वे बाहर से आये और बोले—"गोपाल, पण्डित जी के साथ तेरी दोस्ती तो पहले ही दिन गदरा गयी भाई !"

वाह, क्या पूर्णोपमा है, क्या लहजा है!

\+ \+ \+

हमारे देश के पास, जनसाधारण के पास भाषा का ऐसा भण्डार है, कि हम उसकी उपेक्षा करके दर्शन और विज्ञान के ग्रन्थ भले ही लिख ले, बातचीत नही कर सकते। आम आदमी की बातचीत मे मस्तिष्क का मायाजाल नही, हृदय की सरल सरसता होती है।

चुटकुलो, कहानियो, दृष्टान्तो, शब्दो और अभिव्यक्तियो का ऐसा सग्रह उसके पास है, जो बहुमूल्य है। इस दिशा मे वहुत गहरे-सतर्क प्रयत्नो की आवश्यकता है। ये प्रयत्न हमारी भाषा को समृद्ध और शक्तिशाली करने वाले होगे, यह मेरा अखण्ड विश्वास है।

आप घण्टाभर किसी कुम्हार, चमार, धोबी, मल्लाह, किसान, तागेवाले या भड़भूजे के पास बैठिए, आपको ५–४ चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्तियाँ या भावपूर्ण नये शब्द मिलेगे। ये हमारी भाषा के ही है मोती है, लाल है। मै इनका चयन करने के लिए नई पीढी के साहित्यकारो का आह्वान करता हूँ।

बहुपति-प्रथा

श्रीधर्मदेव शास्त्री

कालसी (हिमालय) मे अशोक आश्रम के अधिष्ठाता, गाधीवाद के उपासक श्री धर्मदेव जी ने अपने इस लेख मे बहुपति विवाह का ऐतिहासिक और सामाजिक विवेचन करते हुए हिमालय के एक अचल मे अब भी विद्यमान इस प्रथा का रोचक उल्लेख किया है। —सपादक

विवाह से पूर्व का समाज—स्त्री ओर पुरुष का एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह आकर्षण मनुष्य मे ही नही पशु पक्षियो ओर वनस्पति जगत् मे भी पाया जाता है। पशुओ और पक्षियो मे परस्पर मिलन अथवा मैथुन निश्चित ऋतु मे होता है। कभी मनुष्यो मे भी जब प्राकृतिक जीवन था तब परस्पर मिलन ऋतु पर ही होता था। उन दिनो मैथुन अथवा स्त्री पुरुष के मिलने की क्रिया सामाजिक क्रिया नही थी। यह व्यक्तिगत मनोवेगो को सतृप्त करने की तात्कालिक और अस्थायी क्रिया मात्र थी। उन दिनो सतान के पालन पोषण का भार केवल स्त्री पर ही था वह भी तब तक जब तक कि लडका अथवा लडकी अपने पाव पर खडे न हो जावे, इसके बाद वह सर्वथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे।

इस प्रकार उन दिनो सामाजिक जीवन की जो प्रारभिक दशा थी उसमे प्रधानता नारी की ही थी, क्योकि जो भी थोडी बहुत स्थिरता थी, वह नारी मे ही थी। वह भी बालक के पालन पोषण के स्वाभाविक उत्तरदायित्व के कारण। उस युग मे मानव को प्रकृति के साथ घोर सघर्ष करना पडता था, इसके अतिरिक्त कुछ गिरोहो मे भी लडना होता था। इस लडाई मे वही गिरोह अथवा गण विजयी होते थे, जिनके पास अधिक जनसख्या होती थी। इसलिए उस समयके सामाजिक जीवन मे स्त्री को भूमि की अपेक्षा भी अधिक महत्व मिल गया था। तब का मानव खेती पर निर्भर नही था, जगल के कद मूल फल और शिकार पर ही जीवन यापन करता था। जनसख्या को उत्पन्न करने के लिये अनेक स्त्रियो की आवश्यकता थी, इसके लिए भी उन दिनो एक गिरोह दूसरे गिरोह पर हमला करता था। तब स्त्रियो को उठा लाने का भी रिवाज था। इस प्रकार स्त्री की प्रतिष्ठा होने पर भी वह एक सम्पत्ति के रूप मे ही प्रतिष्ठित थी। उनका स्वतन्त्र विकास तब सम्भव नही था। स्त्री को गण अथवा गिरोह के मुखिया का आदेश पालन करना पडता था। वह [illegible] शिशु पालन और मानव के स्वाभाविक मनोवेगो को सन्तुष्ट करने के अलावा [illegible] सम्पत्ति का सरक्षण भी करती थी, क्योकि धीरे धीरे सोना, चादी और

दूसरे दुर्लभ पदार्थों को सगृहीत करने का भी रिवाज बढ़ने लगा था ऐसी सपत्ति को सुरक्षित रखने के लिये उन दिनों बैंक नही थे। नारी ही ऐसे पदार्थों को सुरक्षित रखने का कार्य करती थी। धीरे धीरे ऐसी वस्तुओं का सीधेसाधे रूप मे शोभा के लिये हाथों मे, गले मे और पाव मे लगाने का भी रिवाज हुआ। यह गहने भी प्राय वृक्षो की पत्तियो या टहनियो आदि के आकार पर सरलता से बनाये जाते थे।

आज की पुरानी जातियो मे मोटे और सीधे ऐसे ही गहने लगाने का रिवाज पाया जाता है। इस प्रकार नारी ने धीरे धीरे स्वय सम्पत्ति के साथ ही सम्पत्ति सुरक्षित रखने का भी कार्य सम्पादन किया। बाद मे जब स्त्री मे आत्मगौरव की भावना विकसित हुई तब उसने ऐसे गण मे रहना चाहा जहा अधिक गहने मिल सके। इस प्रकार समाज का झुकाव धातुओं के सग्रह और तलाश की ओर हुआ। नारी और नर का मिलन अबतक अस्थायी और पशुओं के समान सामाजिक बन्धनविमुक्त था। इसके लिये समाज ने कोई बधन नही बनाया था। तब तक काम अतनु नही था अर्थात् छिपकर एकान्त मे मिलन की प्रथा का जन्म नही हुआ था। इसलिए वस्त्र लगाने का आग्रह कम था। इसका अर्थ यह नही कि उन दिनो मानव अविकसित दशा मे ही था। दर्शन और विज्ञान मे उन्नति करने पर भी विवाह नाम की सस्था का तबतक विकास नही हुआ था। सयम के सामाजिक बधन न रहने पर भी मनुष्य तब अधिक प्राकृतिक दशा मे था और इसलिये आज के मानव समाज की अपेक्षा तब व्यभिचार और वासनामय स्थिति बहुत कम थी।

विवाहप्रथा के जनक श्वेतकेतु—स्त्री और पुरुष के लिये विवाह के रूप मे बधन की प्रथा श्वेतकेतु ने प्रारभ की थी। महाभारत आदि पर्व अध्याय १२३ मे लिखा है कि एक बार श्वेतकेतु अपनी माता के पास बैठा था। उस समय एक ब्राह्मण उसकी मा के पास आकर बोला 'तुम मेरे साथ चलो' वह श्वेतकेतु की मा को बलात्कर ले जाने लगा। इस पर श्वेतकेतु क्रोधित हो गया। तब उद्दालक ने श्वेतकेतु को समझाया 'अर्थात् पुत्र क्रोध न करो, यह पुराना धर्म है। सब वर्णो की स्त्रिया स्वच्छन्द है, उन पर कोई बधन नही गाय, बैल की तरह "। इस पर श्वेतकेतु ने नियम बनाया, कि अब मे स्त्री स्वतत्र नही रहेगी वह विवाह के द्वारा ही पुरुष से मैथुन करा सकेगी।

वास्तव मे विवाह की प्रथा शाश्वत सत्य नही है। यह समाज के विकास के साथ विकसित हुई है। मानव निर्मित प्रथा है। महाभारत के अनुसार श्वेतकेतु ही विवाह प्रथा के जनक है। श्वेतकेतु की कथा जो महाभारत मे वर्णित है, उससे मालूम होता है, श्वेतकेतु का पिता उद्दालक भी उस समय मौजूद था। जब श्वेतकेतु की मा को ब्राह्मण ले जाना चाहता था इससे यह मालूम होता है, श्वेतकेतु के समय मे भी विवाह की प्रथा किसी रूपमे थी श्वेतकेतु ने उस प्रथा को परिष्कृत किया। सम्भवत एक स्त्री का एक ही पुरुष के साथ विवाह करने की प्रथा के जनक श्वेतकेतु रहे होगे।

गण पत्नी—महाभारत को देखने से और मानव समाज के विकास का इतिहास पढ़ने से मालूम होता है, कि प्रारभ मे नारी गण की पत्नी होती थी। गण अथवा गोष्ठ का मुखिया

ही विधिपूर्वक उस गण की सब स्त्रियों का पति अथवा मालिक होता था, जब कि व्यवहार में वह सब स्त्रियां उस गण के सब युवा पुरुषों की वासना को ऋतु अनुकूल तृप्त करती थीं।

गणिका अथवा गण पत्नी शब्द आज वेश्या के अर्थ में व्यवहृत होता है। वस्तुत इस शब्द का अर्थ ऐसा नहीं है। उन दिनों पृथक पृथक कुटुम्ब प्रथा का विकास नहीं हुआ था। सभी स्त्रियां गण की स्त्रियां और सभी बालक गण के बालक माने जाते थे। तब बालक अपनी माता को ही पहचानते थे। पिता को पहचानने की तब आवश्यकता नहीं थी। बोलने के लिये गण के मुखिया का ही नाम सभी स्त्री पुरुष और बालक लेते थे।

उन दिनों जीवन बहुत संघर्षमय था। आज के समान कामुकता और वासनामयता का जीवन नहीं था और फिर स्त्री पुरुष का मिलन ऋतु के अनुसार होता था। वासनापूर्ति अनावृत्त थी इसमें स्त्री की इच्छा प्रधान थी। तब जन संख्या की उपयोगिता थी इसलिये गण पत्नी होने पर भी स्त्री पर अनावश्यक भार नहीं था। अधिक स्त्रियों की आवश्यकता होने पर गण का प्रधान अधिक औरतों को दूसरे गणों से भगा लाने का प्रयत्न करता था। गण के सभी पुरुषों और स्त्रियों को सन्तुष्ट करने की व्यवस्था गण के मुखिया को करनी पड़ती थी।

स्त्री और पुरुष का मिलन लगभग प्राकृतिक दशा में था। उस समय नैतिकता अथवा रक्त शुद्धि के लिये आज के नियम प्रचलित नहीं हुए थे। अपनी जनसंख्या की वृद्धि के लिये कहीं से भी स्त्रियों को लाने की तब छूट थी।

उपगण अथव समाज का आर्थिक विभाग—प्रारम्भ में गण अविभक्त इकाई के रूप में थे। मुखिया अथवा सरपंच सब से यथावसर आवश्यक कार्य लेता था। इस प्रकार सब सभी काम करते थे। अनुभव से मानव ने समझा कि इस व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहिए। गण के अन्तर्गत कुछ व्यक्तियों को एक नियत कार्य के लिये मनोनीत किया गया। प्रारंभ में निम्न कार्यों के लिये उपगण अथवा विभाग किये गये —

१—शिकार करने और सम्पत्ति के अर्जन के लिये।

२—आक्रमण करने और आक्रमण से गण की रक्षा के लिये।

३—व्यवस्था अथवा उचित वितरण का प्रबन्ध करने के लिये।

जहां तक शरीर का श्रम से सम्बन्ध है, वह सभी को करना पड़ता था इसके बिना उन दिनों जीवित रहना असंभव था। तब उदरपूर्ति का प्रधान साधन शिकार ही था। धीरे धीरे शिकार के द्वारा उदरपूर्ति कठिन से कठिनतर होने लगी और मानव ने भी धीरे धीरे खेती को जीविका के रूप में अपनाना शुरू किया। खेती के आविष्कार और विकास ने मानवी प्राथमिकावस्था को आमूल बदल दिया।

खेती, पशुपालन करने तथा और पशुओं से उपयोगी और अनुपयोगी यह दो भेद करने पर संभव हुआ। इससे परिग्रह अथवा संग्रह की बुद्धि जागृत हुई और इसके साथ ही घर बनाने

५२

की आवश्यकता अनुभव होने लगी। घर के साथ ही घर को सम्भालने वाली गृहिणी की घर मे प्रतिष्ठा हुई। यहा से स्त्री गणिका से गृहिणी वनी।

कुटुम्ब का जन्म--प्रारम्भ मे कुटुम्ब का जन्म सम्भवत उपगण मे से ही हुआ होगा। प्रारम्भिक उपगणोके मुखियाही सभवत गोत्रके प्रवर्तक रहे होगे। इस प्रकार कुटुम्ब सस्था का जन्म होने पर भी कुछ समय तक अपने उपगण के स्त्री पुरुषो मे स्वेच्छापूर्वक मैथुन अथवा प्रजनन की प्रथा प्रचलित रही होगी। ऊपर श्वेतकेतु को उसके पिता उद्दालक ने जो उत्तर दिया है, उसमे कहा गया है कि "अपने वर्ण मे स्त्री के साथ विहार का धर्म पुराना है।" प्रारम्भ म कुटुम्ब का जन्म केवल आर्थिक आधार पर हुआ था। धीरे धीरे कुटुम्ब का स्वरूप निश्चित हुआ। इसके तीन अग माने गये। माता, पिता और सतान। जिस प्रकार सतान की सख्या निश्चित नही इसी प्रकार माता और पिता की भी सख्या निश्चित नही थी। आगे चलकर इसमे भी परिष्कार हुआ। कुटुम्ब का प्रमुख पुरुष अथवा पिता वना इसलिए एक ही पिता की सताने कुटुम्ब का रूप मानी गयी। अवतक स्त्री की प्रधानता थी। स्त्री नही वदलती थी। पुरुष वदलते थे। परन्तु उक्त स्वरूप के वाद स्त्री कुटुम्ब मे लायी जाने लगी। पुरुष अपरिवर्तनीय वन गया। परिणामस्वरूप स्त्री सम्पति की रक्षिका न वनकर स्वय धीरे धीरे सम्पति वनने लगी।

वहुपतिप्रथा--इस समय एक ही पिता की सतानो, सम्मिलित पत्नी रहने का रिवाज प्रचलित हुआ। सव भाइयो की एक ही पत्नी होने का यह रिवाज ही वहुपति प्रथा के नाम से प्रसिद्ध है।

कभी यह प्रथा आमतौर पर मानव समाज मे प्रचलित थी। पाडवो के समय इस प्रथा के प्रचलित होने की वात महाभारत मे स्पष्टरूप से मिलती है। प्रत्येक भारतीय को यह ज्ञात है, कि द्रौपदी के पाच पति थे। स्वयवर मे मत्स्यवेध के वाद द्रौपदी ने अर्जुन के ही गले मे जयमाला डाली थी परन्तु अग्नि की साक्षी मे जो द्रौपदी का विवाह सस्कार सम्पन्न हुआ वह युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाचो के साथ क्रमश हुआ। महाभारत आदिपर्व अध्याय १९८ मे लिखा है --

"सर्वेषां धर्मत कृष्ण महिषी नो भविष्यति
आनुपूर्व्येण सर्वेषा गृहणातु ज्वलने करान्।"

अर्थात् "द्रौपदी धर्मपूर्वक पाचो पाडवो की पत्नी हुई। अग्नि की साक्षी मे क्रम से उसने पाचो के हाथ पकडे अर्थात् पाचो के साथ क्रम मे पाणिगहण सस्कार सम्पन्न हुआ।"

द्रौपदी पाच पाडवो की पत्नी वनी, इसका यह अर्थ नही कि पाच से अधिक पतियो की पत्नी नही हो सकती। महाभारत मे लिखा है --

"श्रूयतेहि पुराणेषु जटिलानाम गोतमी
ऋषीन्ध्यासितवती सप्त धर्मभृतावरान्

तथैव मुनिजा वाक्षी तपोभिर्भावितात्मना
सगता च दश भ्रातृनेकनाम्नः प्रचेतसः।"
महाभारत आदि पर्व अध्याय १९९

अर्थात् "पुराणो मे सुना गया है, कि गौतम पुत्री जटिला नाम की स्त्री ने महान धार्मिक सात ऋषियो से विवाह किया था। इसी प्रकार वाक्षी नाम की एक मुनि कन्या ने एक ही प्रचेतम नामधारी दस भाइयो से विवाह किया था।"

विवाह के नियम उपनियम--परिग्रह अथवा सग्रह की प्रवृत्ति के बाद मानव ने कुटुम्ब का निर्माण किया। घर का निर्माण किया। इसके बाद ही समाज मे आर्थिक विषमता का जन्म हुआ और मानव को दास बनाकर शोषण की बुनियाद भी डाली। चोरी, डाके और लूटमार की भी आदते मानव समाज मे इसके बाद ही जन्मी। जिसके निवारण के लिये राज सस्था की आवश्यकता अनुभव की गयी। और विवाह व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक बधन बन गया। इसके लिये समय समय पर अनेक नियम बनने लगे।

ऊपर जिस बहुपति प्रथा का निर्देश किया गया है, वह महाभारत मे लिखी हुई मिलती है। आज भी हिमालय के किन्नर देश और जौनसार बावर मे प्रचलित है। यह प्रथा आदिवासियो मे ही प्रचलित हो ऐसी बात नही सभी वर्णो मे एक समान चालू है। उक्त प्रदेशो मे बहुपति प्रथा को उपयोगी और अच्छा माना जाता है।

वर्तमान समाज मे एक स्त्री के साथ एक पुरुष का विवाह होने की प्रथा सदियो से प्रचलित है, इसलिए बहुपतित्व की बात अनोखी और अटपटी प्रतीत होती है परन्तु जिन प्रदेशो मे यह प्रथा प्रचलित है, वहा के लोगो को इसमे अनोखापन अथवा हीनता का कुछ भी भान नही है। पातिव्रत्य की भावना भी उन प्रदेशो मे किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। महाभारत मे लिखा है, एक बार सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा मै अपने एक भी पति को सतुष्ट नही कर सकती। तुम्हारे पाच पति है, और पाचो सतुष्ट है। तुम्हारे पास कौन सी कला है। उत्तर मे द्रौपदी ने कहा--"मै पाचो पतियो का एक समान आदर करती हूँ। अपने पतियो से पहले भोजन नही करती। बाहर से आने पर उनसे सदा मीठी बाते ही करती हूँ। मेरे पति जो कार्य करते है, उनमे मै भी बराबर रस लेती हू। मन वचन कर्म से मै पतियो का अनुगमन करती हू। इसलिये मेरे पति मुझ से सतुष्ट है।"

बहुपतित्व के चार रूप--हिमालय मे भी बहुपतित्व की प्रथा धीरे धीरे कम हो रही है, आजकल इसके चार रूप चार स्थानो मे चलते है।

(१) **बावर मे**--यह प्रथा अपने शुद्धरूप मे है। यहा सब भाइयो की एक ही पत्नी होती है। वह [illegible] मे सब भाइयो के साथ रात्रि को सहवास करती है। इसमे बडे अथवा छोटे भाई का कोई अतर नही रहता। जो भाई बाहर गया है उसके लिये बारी का विशेष नियम नही रहता।

उपस्थित भाइयो मे से वारी वारी मे मत अपनी पत्नी के पास सोते है। वारी का क्रम वडे भाई से शुरु होता ह।

(२) जौनसार और जौनपुर मे——वावर के समान जौनसार मे भी वडे भाई के साथ ही विवाह होता है। उमी की ही नियमानुसार पत्नी मानी जाती है। परन्तु वडे भाई के रहते हुए दूसरे भाई अपनी पत्नी के साथ रात्रि को नही सो सकते। वह दिन मे, खेत अथवा जगल मे इकट्ठे होते है। वडा भाई भी आख वचाकर अपने छोटे भाइयो को अवसर देता है। व्यवहार मे सव भाइयो की एक समान पत्नी होने पर भी उस पर वडे भाई का विशेष अधिकार माना जाता है। एक से अधिक पत्निया होने पर वडा भाई जिसे चाहे अपने पास रख सकता है। वाकी भाई वडे भाई की इच्छा का विरोध नही करते। चाहे कुछ भी हो स्त्री को सभी पतियो को सतुष्ट करना होता है। वह किसी विशेष पति मे अधिक स्नेह नही दिखा सकती। ऐसा करने पर स्त्री को घर से निकाल दिया जाता है, क्योकि इस प्रकार घर मे फूट पडने की आशका रहती है।

(३) सिरमौर मे——भी वहुपति प्रथा है परन्तु अधिक भाइयो मे नही होती। यदि चार भाई है तो पहले दो की एक स्त्री होगी और वाद के दोनो की दूसरी होगी। यदि तीन भाई है तो पहले दो की एक और तीसरे की एक पत्नी होगी। यह वात जौनपुर के भी कुछ गामो मे है।

सिरमौर और जौनपुर के लोग जौनसार वावर के लोगो को उनके उपर्युक्त रिवाज के कारण वुरा वताते है। इनका कहना है, कि वडे भाई के नाम पर ही सव औरते लाना ठीक नही क्योकि वहुधा अपने छोटे भाइयो के लिये छोटी औरते लाना पडता है परन्तु वह आती है वडे के ही नाम पर जो कि उस औरत के वाप के वरावर होता है।

(४) खाँई मे वहुपति प्रथा——केवल गरीवो मे ही है। सव भाइयो के लिये पृथक औरत लाने मे जो खर्चा होता है, उसे सहन न करने के कारण गरीवो मे यह वात चलती है। खाई मे माता पिता अपनी लडकी को वेचते है, इसलिए औरत लाना यहा वहुत खर्चीला वना है। इस कारण जो गरीव पृथक पृथक शादी नही कर सकते। वह सम्मिलित शादी कर लेते है।

खाई का वह भाग जो वावर और जौनसार से लगा हुआ है मे वहुपति प्रथा जौनसार वावर की तरह है। कोई भी अतर नही। हा इतना है कि खाई मे विवाह जवानी मे होते है जवकि जौनसार वावर मे वाल-विवाह प्रचलित है।

उक्त चार भेदो मे से पहले तीन भेद जिन स्थानो मे प्रचलित है वहा व्राह्मणो और राजपूतो मे भी यह प्रथा चलती है।

आर्थिक और सास्कृतिक कारण——वहुपति प्रथा के पक्ष मे निम्न युक्तिया दी जाती है।

१——एक समान औरत के कारण भाइयो मे मनमुटाव नही होता। पृथक् पृथक् औरत होने से भाइयो मे जायदाद का वटवारा होगा। पहाड मे वहुत कम जायदाद है। गरीवी वहुत है इसलिये वहुपति प्रथा यहा की आर्थिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल है।

२—बहुपति प्रथा के कारण विधवा की समस्या नही होती। क्योकि इस प्रकार कोई स्त्री विधवा नही हो सकती। एक पति के मरने पर भी दूसरा और तीसरा पति मौजूद ही रहता है। बिना पति के कोई भी स्त्री नही रहती। यदि किसी कारणवश विशेष परिस्थिति मे कोई स्त्री पतिविहीन हो जाय तो निसतान होने की दशा मे वह दूसरे घर मे चली जाती है। सतानवती होने की दशा मे अथवा अन्य किसी कारण से यदि औरत उसी घर मे रहना चाहती है तो पचायत उसके घर किसी सजातीय व्यक्ति को पति के रूप मे बैठा देती है, जिससे वह नाबालिग बालको की परवरिश करे और स्त्री भी पतिविहीन न हो। तात्पर्य यह कि बहुपति प्रथा के कारण विधवा की कोई भी यहा समस्या नही है।

३—सब भाइयो की एक समान पत्नी होने के कारण एक भी पुत्र होने पर सब भाई अपने आपको पुत्रवाला अथवा पिता मानकर सतुष्ट रहते है। नीचे देश की तरह सतान न होने पर नई औरत लाने की इच्छा नही करते।

४—बहुपति प्रथा के कारण आबादी नही बढ़ती। यदि पहाड मे जनसख्या बढने लगे तो यहा निर्वाह होना कठिन हो जाय, क्योकि यहा खेती योग्य भूमि बहुत कम है और खेती यहा का एकमात्र धधा है।

जनसख्या न बढने का कारण यह है, कि एक स्त्री पर अधिक भार पडने से उसकी गर्भधारण की शक्ति क्षीण हो जाती है, इस कारण प्राय स्त्रियाँ एक ही पुत्र उत्पन्न करके बध्या हो जाती है और कुछ के एक भी सतान नही होती, प्रमाण स्वरूप जौनसार बावर मे पिछले चार दशको मे चार जन गणनाए हुई है परन्तु जनसख्या नही के समान बढी है।

५—पहाड मे जीवन अधिक सघर्षमय है, अकेला व्यक्ति चाहे कितना भी सबल क्यो न हो यहा जीवित नही रह सकता, यहा घर ऊची चोटियो पर होते है तथा खेती घर से काफी दूर नीचे बनाये गये खेतो मे होती है, यातायात के साधन नही है, गरीबी अधिक है, पहाड की भूमि पथरीली है, उसमे हर फसल मे यदि खाद न डाली जाय तो खाने को अनाज नही हो सकता, खाद डालने से लेकर अनाज लाने तक के कार्य सब अपने आप करना होता है, सब कुछ अपनी पीठ पर लादना होता है, बहुत कठिन जीवन है, यह कठिन जीवन अकेले व्यक्ति के बलबूते का नही है। इसके लिये यह आवश्यक है, कि सब भाई एक साथ रहे, जिससे समय पर खेती की जा सके और समय पर काट कर उठाई जा सके, पृथक् पृथक् शादी होने पर यह सम्मिलित जीवन नष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त पहाड मे खेती के अतिरिक्त पशुपालन भी आवश्यक है। सर्दी अधिक होने से ऊनी कपडो का खर्चा अधिक है, ऊन के लिये गाम के परिवार को कुछ भेड पालना अनिवार्य है। माघ आदि त्योहारो मे खाने के लिये तथा खाद के लिये बकरी पालना भी आवश्यक समझा जाता है। खाद और दूध के लिये तथा बैल पैदा करने के लिए गाय भी पालनी चाहिये। घी यहा का सहायक धधा है इसके लिये प्राय परिवार भैसे भी पालते है, घी बेचकर नमक तेल, और अन्य फुटकर खर्चा पूरा किया जाता है छाछ से दाल

और शाक का काम निकल जाता है । इतना किये बिना पहाड़ मे अच्छी तरह जीवन व्यतीत करना कठिन है । अब देखिये यह करने के लिये पृथक् पृथक् आदमी आवश्यक है । भेड बकरी चुगाने के लिये पृथक् व्यक्ति चाहिए क्योंकि भेड बकरियो गोओ के साथ नहीं चुग सकती। दोनो की गति मे तथा सम्भालने मे अतर है, इसी प्रकार भैंस के लिये पृथक् और गोओ बैलो के लिये पृथक् आदमी चाहिये, वर्षा हो अथवा गर्मी या सर्दी पशुओ के लिये कभी छुट्टी नही। पशुपालन के बिना पहाड मे एक दिन भी जीवन नही चल सकता।

पशुपालन के अलावा खेती करनेवाले किसान का बाहर भीतर मे सोदा लाने, लेजाने तथा कभी कभी अदालत आदि का भी काम पडता है । इतने कार्यों को करने के लिये घर मे अनेक भाइयो का एक साथ रहना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है । एक ओरत के खूटे के साथ सब भाई बधे रहते है । जो कुछ भी कमाते है वह घर पर ही लाते है । घर के साथ उनका मोह रहता है, इस प्रकार बहुपति प्रथा यहा के कौटुम्बिक जीवन की रीढ की हड्डी है, इसके बिना यहा की सामाजिक व्यवस्था के नष्ट होने का भय बताया जाता है।

६—जौनसार बावर के निवासी अपने आपको पाडवो का वश बताते है । कहा जाता है, पाडवो का जन्म इधर ही हुआ था । इसके बाद अज्ञातवास मे भी पाडव इधर ही रहे थे । स्वर्गारोहण की भी दिशा तमसा नदी के किनारे इधर से रही है । लाखामडल, महाभारत का प्रसिद्ध लाक्षागृह बताया जाता है । जहा से पाडव गुफा मे से भागकर बच निकले थे। चुरानी के पास वाले विराट स्थान को राजा विराट् का दुर्ग बताया जाता है । जहा पाडव अज्ञातवास मे रहे थे, कालसी के पास पाच भाइयो का कुवा नाम प्रसिद्ध, वह स्थान कहा जाता है जहा अज्ञातवास मे जाते समय अर्जुन ने गाडीव धनुष छिपाकर रखा था। कहा जाता है जोनसार बावर मे ही देवबन के पास मे अर्जुन ने धनुष मारा था जो गागरो के पास आकर लगा था, उक्त दोनो स्थानो पर स्मारक रूप पत्थर और गुफाए बताई जाती है। लाखामडल के पास यमुना पार लाखोत्र वह स्थान बताया जाता है, जहा अर्जुन ने तीर मार कर माता कुन्ती के लिये गगा का स्रोत निकाल दिया था और जहा भीमसेन ने गेडा मारा था । गोराघाटी वह स्थान कहा जाता है जहा के समीप सिडी ग्राम मे हिडिम्बा राक्षसी रहती थी जो मनुष्यो को खाती थी और जिसे भीमसेन ने गोराघाटी स्थान मे मारा था, आज भी गोराघाटी मे गुजरनेवाला प्रत्येक यात्री एक एक पत्थर चोराहे की जगह पर अवश्य डालता है । राक्षसी को दफनाने की स्मृति मे ही यह पत्थर डाला जाता है ।

जोनसार बावर के प्रत्येक ग्राम मे भडाण नामक नृत्य के लिये स्थान रहता है, जहा पाडव नृत्य होता है, नाचनेवाले ग्रामीणो मे से किसी मे भीम, किसी मे अर्जुन और किसी मे अन्य पाडवो का तथा माता कुन्ती और द्रौपदी रानी का अवतीर्ण होना माना जाता है, जो फिर उन पाडवो और कुन्ती तथा द्रौपदी के रूप मे नृत्य करते है । यह नृत्य बहुधा वीररसपूर्ण और कायरो के लिये भयावह प्रतीत होता है ।

इस नृत्य मे स्त्रिया द्रौपदी तथा कुती का और कुछ पुरुष पाडवो का अभिनय करते हैं। जौनसार बावर मे पाडवो की कथा और नाम सभी जानते है। सक्षेप से यह प्रदेश पाडव कालीन संस्कृति मे विशेष सम्बन्धित है, इसलिये यहा के लोग अपने आप को पाडवो के निकट मानते है और पाडवो की प्रथा बहुपति प्रथा को अच्छा मानते है, क्योकि यह प्रथा यहा सर्वत्र मे एक समान प्रचलित है इसलिये यहा इसको कोई बुरा नही मानता। इसके विपरीत प्राय यहाँ के निवासी अपनी लडकी उस घर मे देते है, जहा अनेक भाई हो। समझा यह जाता है कि जिस घर मे अधिक भाई होगे वह घर सौभाग्यशाली है। उस घर मे जाने से लडकी का सौभाग्य अखडित रहेगा। वह कभी विधवा नही होगी प्राय लडकिया भी यह जानती है, कि उनकी सुरक्षा के लिये एक से अधिक पतियो का होना शुभ है। जिसके एक ही पति हो वह स्त्री औरो मे अपने आपको स्वभावत छोटी अनुभव करती है। परिस्थितियो और व्यावहारिक उलझनो ने यहा के निवासियो को बहुपति प्रथा के साथ तन्मयता अनुभव करने पर विवश कर दिया है। यहा के निवासी पाडवो को आदर्श मानव मानते है। उनके सम्मुख राम सीता का आदर्श पातिव्रत्य और एक पत्नीव्रत नही रखा गया।

द्विगर्त प्रदेश का कलात्मक जीवन

श्री रमानाथ शास्त्री

ए० एस० कालेज श्रीनगर (कश्मीर) के प्राध्यापक श्री रमानाथ शास्त्री शारदापीठ (कश्मीर) के उन साधको मे है, जिनकी परम्परा मे कश्मीर का मनीषी समाज अनुप्राणित है । आपने डुग्गर (द्विगर्त) भू-भाग के निवासी डोगरा जाति के कलात्मक जीवन की ऐतिहासिक व्याख्या इस लेख मे की है । ——सपादक

रियासत जम्मू व काश्मीर मे बसी हुई अनेक छोटीबडी जातियो मे, सख्या और ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से डोगरे और काश्मीरी दोनो विशिष्ट स्थान रखते है।

डोगरा जाति की वासभूमि का नाम डुग्गर है। डुग्गर सस्कृत के 'द्विगर्त' शब्द का विकृत स्वरूप है। महाभारत मे वर्तमान पूर्वी पञ्जाब के उत्तरी प्रदेश और हिमाचल प्रदेश के अधिकतर भू-भाग का नाम 'त्रिगर्त' था। वर्तमान कागडा प्रान्त उस त्रिगर्त का केन्द्र समझा जाता है। द्विगर्त——यह नाम भी त्रिगर्त के अनुकरण पर पडा होगा——यह निश्चित-सा है। त्रिगर्त नाम का आधार यदि रावी, व्यास और सतलज तीन नदियो को माने तो सम्भव है चन्द्रभागा (चिनाव) और रावी को आधार मान कर द्विगर्त नाम रखा गया होगा। त्रिगर्त नाम तो परिस्थितियो की करवट मे दब कर विस्मृति की गोद मे जा छुपा और द्विगर्त नाम का ही आधिपत्य बढता हुआ त्रिगर्त के मूल निवासियो को भी पा गया। आज जम्मू प्रान्त, हिमाचल प्रदेश तथा पूर्वी पञ्जाब के जिला कागडा, होशियारपुर और गुरदासपुर के अधिकतर निवासी डोगरा जाति की ही सतति है। डोगरा जाति को आज डोगरा–पहाडी जाति का कहना अधिक उचित और स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योकि डुग्गर प्रदेश के उत्तरी और उत्तर-दक्षिणी पहाडी इलाको मे बसे हुए डोगरा जाति के वशज आज पहाडी नाम से पुकारे जाते है। इस तरह से रियासत जम्मू काश्मीर के जम्मू प्रान्त मे पूञ्छ से लेकर शिमला की पहाडियो तक भौगोलिक दृष्टि से अखण्ड भू-भाग पर डोगरा पहाडी जाति का ही प्रसार है, जिनकी सख्या ८०–५० लाख के लगभग है।

डोगरा-पहाडी जाति के सामाजिक, ऐतिहासिक और सास्कृतिक जीवन की एक दृढ तथा अविच्छिन्न परम्परा है। भाषा, वेष-भूषा, रुचि-व्यवहार और रीति-नीति के सम्मिलित सम्बन्धो की एकता से प्रेरित और सञ्चालित इस जाति ने भारत की इन महत्वपूर्ण उत्तरी सीमाओ

मे अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सफलताओ से भारत के सामूहिक गौरव को सदैव उज्ज्वल किया है। डोगरा वीरता का समानार्थक समझा जाता है। भारतीय वीरता के इतिहास मे डोगरो का बलिदान, साहस और उनकी सफलताएं एक गौरवपूर्ण स्थान रखती हैं। कांगड़ा के कटोच शासक संसारचन्द ने वैभवपूर्ण मुगलकाल मे भी अपने प्रदेश मे स्वतन्त्रता के दीपो को बुझने नही दिया। इधर स्व० महाराजा गुलाब सिंह ने जनरल जोरावर सिंह जैसे असाधारण ख्याति वाले सेनानियों के सहयोग से वर्तमान रियासत जम्मू व काश्मीर की स्थापना की और उसकी सीमा को उत्तर मे "संसार की छत" (पामीर) तक बढ़ाया जहाँ रूस, चीन, अफगानिस्तान आदि देशो की सीमाएं परस्पर आलिङ्गन करती है। भारतीय सीमाओ को इन कठिन प्रदेशो तक प्रसारित करने के लिए बड़ी संख्या मे वीरो ने अपने जीवन अर्पण किए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्राट हर्षवर्धन के यशस्वी युग मे भी भारतीय सीमाएं इन प्रदेशो तक नहीं पहुंच सकी थीं। भारत की धरती को मासूमों के लहू की होली से रंगने वाली और इस धरती से अपरिमित सम्पत्ति लूट कर वापिस लौटती हुई अमीर तैमूर की मदमत्त सेना को डुग्गर की इसी वीर भूमि मे धरती के वीर सपूतो ने चुनौती दी थी और अपनी खड्ग की तेज धार को काट से भली-भांति अवगत किया था। जिन डोगरा वीरो ने आज से शताब्दी पूर्व इस राज्य के निर्माण के लिए वीर-मृत्यु का स्वागत किया था, उन्ही की सन्तान परीक्षा की घड़ी आने पर आज भी कर्तव्य से विमुख नहीं हुई। रियासत पर सहसा होने वाले पाकिस्तानी आक्रमण के तूफान के आगे छाती तान कर खड़े होने वाले मुट्ठी भर डोगरा सैनिकों ने अपने नेता स्वर्गीय ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह जी (महावीरचक्र) के साथ अपूर्व शौर्य दिखाकर अपने प्राणो के मूल्य पर तब तक शत्रु को रोक रखा जब तक भारतीय सेनाएं हमारी रक्षा के लिए न आ पहुंची। झंगड़—पुंछ, आदि महत्वपूर्ण मोर्चों पर डोगरा सैनिको ने जो असाधारण शौर्य और दृढ़ता दिखाई, इतिहास मे उसका स्मरण सदैव श्रद्धा से किया जाएगा।

केवल वीरता ही डोगरो का सच्चा परिचय नहीं है। ओजस्वी वीरता की अपूर्व परम्परा से समृद्ध इस जाति ने कला के क्षेत्र मे जो अद्वितीय साधना की है, उसने भी भारत की कीर्ति और गौरव बढ़ाने मे विशेष योग दिया है। चित्रकला के क्षेत्र मे डोगरो की साधना और देन भारतीय [illegible] इतिहास मे सुवर्ण अक्षरो मे लिखी जाने योग्य है। सत्रहवीं, अठारवीं और उन्नीसवीं [illegible] मे पहाड़ी चित्रकारों ने अपूर्व उन्नति की और अनेक अमर चित्रो की रचना की। [illegible] की परम्परा रही जिसने व्यक्ति को सदैव गौण और उद्देश्य को सर्वथा [illegible] जिसके परिणाम स्वरूप व्यास, वाल्मीकि और कालिदास तथा [illegible] कलाकारों ने अपने विषय मे मौन साधकर केवल अपनी कला-साधना [illegible] इन कलाकारो ने भी श्रद्धापूर्ण पालन किया है। उसी [illegible] तथा विदेशों के सभी प्रसिद्ध संग्रहालयों तथा कला-[illegible] आदर सम्मान प्राप्त किये हुए है लेकिन उन चित्रो

के साधक चित्रकारों के व्यक्तिगत जीवन की झलक पाने का कोई साधन हमें सुलभ नहीं है। पहाड़ी चित्रकला भारतीय चित्रकला में स्वतन्त्र गौरवपूर्ण स्थान रखती है। पुंछ की पहाड़ियों से लेकर गढ़वाल की पर्वतमालाओं तक उस कला के अनेक केन्द्र थे, जिनमें पुंछ, जम्मू, बसोहली, गुलेर (कांगड़ा), और गढ़वाल के केन्द्रों में उस कला के अनेक साधकों ने अपनी अपूर्व साधना और कलारुचि के कमाल दिखाये हैं। मुगल चित्रकला और राजस्थानी चित्रकला की परम्पराओं से प्रभावित होकर भी डोगरा कलाकारों ने, अपने चित्रों में बिल्कुल स्वतन्त्र और नवीन शैली को विकसित किया। ससार के मनीषी कला पारखियों ने इस कला की भूरि-भूरि प्रशसा की है।

राय कृष्णदास इस कला के विषय मे लिखते हैं, कि अजन्ता के चित्रों के बाद कला के पूर्ण विकास की झलक हमें पहाड़ी कलम के चित्रों में मिलती है। डा० ओ० सी० गांगुली ने इन चित्रों के विषय में कहा था कि "पहाड़ी तथा राजस्थानी चित्रकला की विशिष्टता मुख्यतया उनकी रेखाओं के कौशल में है।"

जम्मू के भित्ति-चित्रों के विषय में अपने उद्‌गार प्रगट करते हुए उन्होंने कहा--"ये चित्र आकार में बड़े नहीं हैं परन्तु इनमें कल्पना निस्सन्देह विशाल है तथा इनके वस्तु विषय और चित्रण-कौशल में महाकाव्योचित विशिष्टता है। कांगड़ा के चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला के इतिहास में सबसे श्रेष्ठ अध्याय जोड़ा है।"

पर्सी ब्रौन (Percy Brown) लिखते है-' केवल श्रद्धापूर्ण साधना ही ऐसी कला को जन्म दे सकती है।"

लॉयनल हीथ (Lional Heath) अपनी पुस्तक (Indian Art in the British Empire Exhibition) में लिखते है.—

जम्मू के चित्रकारों पर मुगल चित्रकारों का प्रभाव निश्चित है (लेकिन) मुगल चित्रकारों ने अपने चित्रों के लिए जो विषय चुने उनमें उनकी दरबारी प्रकृति का परिचय मिलता है लेकिन इसके विपरीत जम्मू के चित्रकारों की विषय-निर्वाचन-रुचि से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि चित्रकार देहाती जीवन के चितेरे हैं।"

पहाड़ी चित्रकला, इस प्रकार भारतीय कला को डोगरों की असाधारण महत्व रखने वाली देन है। इस कला में डोगरों के जीवन के सरल विश्वास, उनके प्राणों की पवित्र श्रद्धा और कलात्मकता के ही प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। डोगरों की वीर सतानों ने भारत को दुबारा वे सीमाएँ दीं जो केवल कनिष्क और सम्राट अशोक के काल में मिली थीं और उन्होंने अपनी जगत्प्रसिद्ध चित्रकला के रूप में भारतीय संस्कृति और कला को उज्ज्वलतर किया है।

डोगरों की सरल तथा कलात्मक संस्कृति नृत्य और संगीत से असाधारण तौर पर झंकृत है। डोगरा जाति के जीवन में सामूहिक नृत्योत्सव तथा पहाड़ी राग की मधुर अलापें सरसता और सजीवता प्रदान करने वाले तत्त्व हैं। डोगरों की वास भूमि इसीलिए अपने जनगीतों (लोकगीतों)

और लोक नृत्यों की विभूति से मालामाल है। पहाड़ी संगीत भारतीय रागों में अपनी सरल मधुरता और भाव-प्रवणता के लिए प्रसिद्ध है। इस रमणीय प्रदेश में यात्रा करने वालों को प्राय इन पर्वत-मालाओं वनों और घाटियों को गुंजाने वाली मधुर रसपूर्ण अलापों का संगीत मुग्ध कर देता है। लोक गीतों की अविच्छिन्न परम्परा में इस जाति के सुख-दुख, विरह-मिलन, आशा-निराशा और अश्रु-हास्य की अपूर्व कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। सैकड़ों उत्सवों पर, दु ख-सुख के भावुक मनों में, चक्की की घुमर-घुमर गाती हुई ताल-लय के साथ, चरखे पर सूत के तार बढ़ाने वाले हाथ की गति के साथ, बच्चों को लोरी देते हुए, प्रतीक्षा की व्याकुल घड़ियों में, विरह की व्याकुलता में विभिन्न ऋतुओं के प्रेरक दृश्यों को देखकर डुग्गर की माताओं बहनों और वधुओं के जो करुण कोमल भावगीत बनकर बह निकलते हैं उनकी मधुरिमा गरिमा ने अनन्त काल से इस प्रदेश को संगीतमय किया है। पांचाल और शिवगिरि (शैवालिक) की सुन्दर पर्वत-श्रेणियों की रोमांचकारी ऊँचाइयों पर चढ़ कर घास काटती हुई, सुन्दर पर्वतीय उपत्यकाओं की शाद्वलपूर्ण धरती पर गाय-बकरियां चराती हुई खेतों में अपने पुरुषों का भार बटाती हुई, डुग्गर की भोली मिहनतकश ललनाओं की उन्मुक्त मधुर अलापें सम्मिलित नृत्योत्सवों में सम्मिलित स्त्री-पुरुषों की मधुर राग-ध्वनियां इन पहाड़ी दरिद्र इलाकों को संगीत की अपूर्व सम्पत्ति से सुरलोक के समान बना देती है।

(एक डोगरी लोकगीत की चमक देखिए —)

	हिन्दी भाव
तेरा लगदा मन्दा ओ गद्दिया।	ओ मेरे गद्दी, मुझे तेरे विरह की
तेरा लगदा मन्दा	जलन सता रही है।
निशानया, छिल्लड़, पिछे छोड़ी गेयान	नन्हा सा बकरी का बच्चा, अपना स्मृति
छ पत्तर नदयो मन्दा-ओ गद्दिया।	चिह्न बना कर तू छोड़ गया था, लेकिन
तेरा लगदा मन्दा	उसने भी घास खाना छोड़ दिया है।
खत पटवारी तिगी लिखी नेयो दिन्दा	मुझे पटवारी तुम्हारे लिए खत भी नहीं लिख देता,
ना ना करनिया छन्दा—ओ गद्दिया	मैं उसकी भी मिन्नतें करके हार गई हूँ।
तेरा लगदा मन्दा	मुझे तुम्हारे विरह की जलन सता रही है।
कोई [illegible] भेजा औं सुख-सान्दड़ा	मैं तुम्हारे पास अपना कुशल समाचार किसके
पंखरू भी कोई नैयो जन्दा-ओ गद्दिया	हाथ भेजूं। कोई पक्षी भी तो उस ओर
तेरा लगदा मन्दा	जाना नहीं दिखाई देता।
[illegible] जासान्	हे प्रियतम! एक बार आकर मुझसे मिल
[illegible] मन्दा-ओ गद्दिया	जाओ, जिससे मेरे ये विरह-प्राण
तेरा लगदा मन्दा	टूट जाएं।

[illegible] नृत्य-[illegible] के समान इस जाति के सांस्कृतिक जीवन में भी नृत्य-

उत्सवो का महत्वपूर्ण स्थान है। त्रिगर्त के निम्न मैदानी और कण्डी के प्रदेश मे 'भाँगडा' नृत्य बहुत लोकप्रिय है। चैत्र महीने के साथ भाँगडा नृत्य का मादक ढोल ग्रामो मे तरुण नर्तको के मन मे नाचने-गाने का कौतुहल जगाने लगता है। ग्रामो मे तरुण-मण्डलियाँ जिनमे शामिल होने वाले रसिक वृद्धो की सख्या भी कम नही होती, महीना भर भाँगडा नृत्य का अभ्यास करती है। खेतो मे गन्दम की बालियाँ झूमती है ओर इधर कृपको के मन, हाथ, पैर और आखे। नृत्य के साथ-साथ बीच-बीच मे गीतो का सुर-ताल भी चलता है। वैशाखी के पर्व दिन पर इस नृत्य का अन्तिम दिवस होता है। इस दिन ग्राम-ग्राम मे नृत्य मण्डलियाँ नृत्योपयोगी सुन्दर वेशभूषा मे सुसज्जित हो, घुघरू, ढोल, बासुरिए तथा चिमटा आदि वाद्य यन्त्रो मे ताल जगाती हुई मेला लगने के केन्द्रो की ओर चल पडती है। वह दृश्य देखते बनता है। ऊपर पहाडी प्रदेश मे सामूहिक नृत्यो को 'कुड' कहते हैं। 'कुड' प्राय जगल के खुले धरातल पर किसी देवता के स्थान पर होता है। रात के समय, सैकडो मशालो के कोमल प्रकाश मे धार्मिक वातावरण मे सरल स्त्री-पुरुषो का यह सम्मेलन अपूर्व दृश्य उपस्थित करता है। भाँगडा नृत्य से इसकी शैली बिल्कुल भिन्न होती है भाँगडा नृत्य ओज प्रधान होता है। उसमे जोश, मस्ती,और ग्रामीण अक्खडपन रहता है परन्तु कुड नृत्य कोमल, शान्त और अधिक कलात्मक होता है। नृत्य करने वाले नर्तको के हाथ पैर बडे सुन्दर कलात्मक सामजस्य के साथ उठते-चलते है। वे गाते नही केवल ढोल की गभीर ध्वनि और बीसियो बासुरियो की मादक कोमल स्वर-लहरी उस नृत्य की लय का निर्देश करती है। नाचने वाले एक पक्ति मे एक गोल चक्र बनाकर नाचते हैं और उपस्थित जन समाज उस गोल चक्र के अन्दर और बाहिर बैठकर अलग अलग सगीत मण्डलियो मे विभक्त हो जाता है। यह उत्सव प्राय मध्यरात्रि को शुरू होता है और पूर्व दिशा से ऊषा की झलक मिलते ही शान्त हो जाता है। सूर्य्य उदय होने तक वह स्थान सूना हो जाता है। जनता विदा हो जाती है। रह जाते है केवल देवता के पुजारी जो रात के चढावे धन, वस्त्र और चान्दी के छत्रो के बँटवारे से जल्दी निपट नही सकते।

हमे इस जाति के धार्मिक-विश्वासो मे कही-कही आर्य्य जाति की प्राचीन धार्मिक आस्था और प्रणाली के चिह्न भी सुरक्षित मिलते है। इस प्रदेश के पहाडी प्रदेशो मे रहने वालो के देवी-देवता-जो इन लोगो की प्राचीन परम्परागत श्रद्धा का युगो-युगो से उपयोग करते आ रहे हैं--बिल्कुल स्थानीय है। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु और दुर्गा जैसे देशव्यापी महिमा वाले देवताओ से भी ये लोग परिचित तो अवश्य है परन्तु इनके मन्दिर आपको इन पर्वतीय प्रदेशो मे प्राय कही नही मिलेगे। आप यहाँ जगह-जगह पत्थरो से निर्मित अथवा काष्ठ-निर्मित छोटे-छोटे देवालय ही देख पाएँगे, जहाँ ये लोग समय-समय पर गाते-नाचते पूजा-आराधना के लिए इकट्ठे होते हैं और बकरे-भेडो की बलि चढा कर उत्सव मनाते है। इन देवताओ की अलौकिक क्षमता पर इन्हे असीम श्रद्धा है। डुग्गर मे कुछ शक्ति पूजा के स्थान अति प्रसिद्ध है। निम्न पर्वत मालाओ के प्रदेश मे भी राम कृष्ण और शिव की उपासना के साथ-साथ शक्ति-पूजा की बडी आस्था है। जम्मू शहर से तीस मील उत्तर की ओर त्रिकुटा के शृगो के समीप पर्वत की एक रम्य गुहा मे

प्राकृतिक सुषमा से मण्डित श्री वैष्णो देवी का मनोरम स्थान प्रति वर्ष लगभग लाख-दो लाख यात्रियों को आकृष्ट करता है। तहसील बसोहली मे कस्बा बल्लावर के समीप शारका भगवती का प्राचीन मन्दिर (शारकालय जिसे स्थानीय भाषा मे "सुकराला" कहते है) भी अपने चारो ओर दूर-दूर तक बड़ी महिमा रखता है। पहाड़ो मे देव मन्दिरो के पुजारी प्राय ठक्कर जाति के लोग होते है, ब्राह्मण नही। ब्राह्मणो के एतद्विषयक एकाधिकार की स्थापना से पहले की यह परिपाटी युगो-युगो मे अक्षुण्ण रह कर आज तक भी इन प्रदेशो मे जीवित है। इनके धार्मिक विश्वासो मे प्राचीनता अवश्य है जटिलता नही। ये लोग सरल हृदय—निष्कपट, परिश्रमी और अतिथि परायण और सहज मे ही विश्वास और ममता के बन्धनो मे बँध जाने वाले। इन्ही लोगो ने इस प्रदेश की संस्कृति की इन कलात्मक परम्पराओ को आजतक जीवित रखा है। निर्धनता का अभिशाप सामन्ती शासन का शोषण और उपेक्षा, इन दो अभिशापो ने इस वीर और कलाप्रिय जाति के सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक विकास की सभी सम्भावनाओ को रोक रखा। नय युग की चेतना का प्रकाश अब इन महत्वपूर्ण उत्तरी सीमाओ के इन कलाप्रिय वीर रक्षको की धरती पर भी पहुचने लगा है। इनकी तन्द्रा टूट रही है। एक सास्कृतिक पुनर्जागरण की हलचल जन्म ले रही है। नये कवि, नये लेखक, नये कलाकार मातृभाषा (डोगरी) के माध्यम से नवीन प्रखर साहित्य की रचना करने लगे है। अब तक इस जाति ने उपेक्षा के अन्धकार मे रहकर जो कुछ खोया है आज उसका आहत सम्मान, उस गौरव को फिर पाने के लिए प्रयत्नशील होने लगा है।

रवीन्द्रनाथ और लोक-साहित्य

श्री मन्मथनाथ गुप्त

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर लोकसाहित्य और लोकसगीत का कितना प्रभाव रहा, लोकसाहित्य पर उनकी कितनी आस्था और धारणा रही, इसी का विवेचन सुप्रसिद्ध लेखक और ब्रिटिश शासनकाल के क्रान्तिकारी श्री मन्मथनाथ गुप्त ने इस लेख मे किया है। —सपादक

बगला साहित्य के बाहर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के साहित्य का सौरभ बहुत कुछ उसकी अन्तर्गतवस्तु या भाव के ऐश्वर्य के कारण फैला। स्वाभाविक रूप से रवीन्द्रनाथ की शैली और भाषा की पृष्ठभूमि मे कौन से तत्व क्रियाशील रहे, इनकी तरफ अनुवाद के जरिये से रवीन्द्र साहित्य का आस्वादन करनेवाले लोगो का ध्यान नही जाता।

कोई कहता है, रवीन्द्रनाथ ने उपनिषदो तथा हमारे प्राचीन साहित्य से लिया, कोई इसी प्रकार उन्हे पाश्चात्य साहित्य का ऋणी बतलाता है, तो कोई और कुछ बतलाता है, पर जिस उत्स से उन्होने सबसे अधिक लिया, और जिसके वे सबसे अधिक ऋणी है, उसके स्रोतमुख की तरफ बहुत कम लोगो का ध्यान जाता है। कम से कम जो लोग केवल अनुवाद के जरिये से उनके साहित्य को पढते है, वे उसके सम्बन्ध मे बिलकुल अज्ञ रह जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ के ग्रहणशील मन ने हजारो क्षेत्रो से लिया। उन्होने प्राच्य से लिया पाश्चात्य से लिया, प्राचीन से लिया, आधुनिक से लिया यह ठीक है, पर उन्होने इन उत्सो के अतिरिक्त बगाल के लोक साहित्य, लोककला और लोक सगीत से लिया। यद्यपि रवीन्द्रनाथ आधुनिक से आधुनिक थे, यहा तक कि जब तक वे जीते रहे, तब तक स्वच्छन्द लिखकर भी वे आधुनिको के पुरो भाग मे रहने की आम चेष्टा करते रहे, फिर भी उन्होने लोक साहित्य और लोकसगीत की दुग्धधारा को आकठ पान किया था।

यहा यह बता दिया जाय कि लोक साहित्य और लोकसगीत से उनका परिचय पुस्तको के जरिये से नही था, बल्कि यह परिचय सीधा और प्रत्यक्ष था। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो उन्होने लोकसाहित्य और लोक सगीत से उसी प्रकार से घनिष्टता प्राप्त की थी, जिस प्रकार बच्चा अपनी मा के दूध से परिचय प्राप्त करता है। इस परिचय के लिए बच्चे को जैसे किसी प्रकार के मिल्क पाऊडर की सहायता नही पडती, उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ने बगाल के लोकसाहित्य और लोकसगीत से परिचय प्राप्त किया था।

यद्यपि उनके परिवार में पाश्चात्य प्रभाव का सबसे अधिक प्रवेश हुआ था, फिर भी वे कभी ग्रामविमुख नहीं रहे। सुदीर्घ समय के लिए वे गावों में जाकर रहते और वहां उन्हें साधारण बाउल भाटियाल आदि में गावों के गान सुनने का मौका मिलता। इसमें वे बहुत रस लेते थे। यहां मैं रवीन्द्र संगीत पर विस्तार में कुछ न कहूंगा, केवल इतना ही बताना यथेष्ट है, कि रवीन्द्र संगीत बंगाल के लोक संगीत को लेकर ही अपना ताना बाना बुनता है। रवीन्द्रनाथ की भाषा पर भी बंगाल के लोक संगीत का अमिट प्रभाव है।

रवीन्द्रनाथ ने इस ऋण को कभी अस्वीकार नहीं किया। वे इस बात को समझते थे कि लोक साहित्य, लोककला और लोक संगीत में ऐसा अमूल्य रत्न भांडार भरा पड़ा है, जिसे किसी भी हालत में छोड़ा नहीं जा सकता। योग्य सन्तान पैतृक सम्पत्ति को छोड़ता नहीं है, पर उसी तरह अपने को सीमित न कर वह उसे और बढ़ाता है। यही रवीन्द्रनाथ ने किया। उन्होंने अपने संगीत की मिट्टी तो लोक संगीत के क्षेत्र में ली, पर उसे उसी रूप में न छोड़ कर रवीन्द्र संगीत के सौध का निर्माण किया।

रवीन्द्रनाथ की साधना का ही फल है, कि बंगाल में हिन्दुस्तानी संगीत और प्राचीन लोक संगीत के अतिरिक्त एक नए संगीत की सृष्टि हुई, जो रवीन्द्र संगीत के नाम से अब सारे भारत में कुछ न्यूनाधिक परिचित है। केवल यही नहीं बंगाल में फिल्म संगीत के अतिरिक्त एक आधुनिक संगीत बना है, जो संगीत से अपनी अनुप्रेरणा लेता है। रवीन्द्रनाथ ने भी लोक संगीत से अनुप्रेरणा ली, पर उन्होंने उस संगीत को परिष्कृत और सुसंगठित, स्वाभाविक रूप से सामिल [illegible] दिया। बंगाल के आधुनिक संगीत में भी उसी साधारण उत्स से अनुप्रेरणा आती है, पर यह अनुप्रेरणा [illegible] दरवाजे से और दूसरे रूप में आती है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ [illegible] पर [illegible] लोक संगीत के [illegible] तो नहीं कर लिया था, [illegible] आधुनिक संगीत के उसी धारा से [illegible] बराबर पनपते जाने की गुंजाइश [illegible], और [illegible] नहीं रहे, क्योंकि लोक संगीत कोई आबद्ध जलाशय नहीं है, [illegible] बराबर [illegible] और कुछ न कुछ बद [illegible] जा रहा है।

रवीन्द्रनाथ ने न केवल लोक साहित्य और लोक संगीत से अनुप्रेरणा ली, बल्कि [illegible] साहित्य के सम्बन्ध में कुछ खोज भी की, और लोक साहित्य का कुछ संग्रह भी [illegible]। [illegible] एक [illegible] पर की बात कोशिया पर ही विशद रूप से खोज [illegible] कुछ [illegible] हुआ। उससे यह ज्ञात हो जायगा कि लोक [illegible] प्रकार की उदात्त भावनाएं थी और वे उस कितने [illegible]।

[illegible] उल्लेख [illegible] यद्यपि उनके साहित्य [illegible] नहीं उठती, फिर भी उनके साहित्य [illegible] भाषा और संगीत

को उन्होंने अपनाया, वलिक जिसमे उन्होंने अनुप्रेरणा ली, वह जनता की अपनी चीज थी, और उससे जनता परिचित थी, उसकी अन्तर्गत वस्तु कुछ भी हो। (यह तो बाद की बात है) जनता उसे प्रथम दृष्टि मे ही अपनी चीज करके अभिनन्दित करने के लिये तैयार थी।

रवीन्द्रनाथ ने लोरियो का किस मनोवृत्ति से सग्रह किया, यह उन्ही के मुह से सुना जाय। वे लिखते है—

✓'बगला भाषा मे बच्चो को बहलाने के लिए स्त्रियो की जो कवितायें प्रचलित है, कुछ दिनो से मै उनके सग्रह मे लगा हुआ था। हमारी भाषा और समाज के इतिहास निर्णय की दृष्टि से इन कविताओ का विशेष मूल्य होगा, पर उनमे जो सहज और स्वाभाविक काव्य रस है, वही मेरे निकट अधिकतर आदरणीय है।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि लोक साहित्य के प्रति उनका आकर्षण एक कवि तथा काव्यमर्मज्ञ के नाते था। वे उसमे निहित इतिहास या अन्य विषयो मे उतनी दिलचस्पी नही रखते थे। उन्होंने इस प्रसग मे केवल लोरियो पर ही लिखा है, पर लोकसाहित्य, लोकसगीत तथा लोकसस्कृति के सारे रूपो को वे इसी दृष्टि से देखते थे।

उन्होंने यह भी स्वीकार किया है, कि बचपन से इन गावो आदि के साथ सम्पर्क रहने के कारण वे यह बताने मे असमर्थ है, कि उन्हे वे जितने मधुर लगते है, उतने मधुर वे वाकई है या वह माधुर्य बचपन की स्मृतियो के कारण है। वे लिखते है— लोरियो मे मुझे जो रस आता उसे बचपन की स्मृति से अलग करके देखना मेरे लिए असम्भव है। उन कविताओ की कितनी मधुरता अपने बचपन की स्मृति के कारण है, और कितनी साहित्य के चिरस्थायी आदर्शो के कारण है, इस बात को निर्णय करने की उपयुक्त विश्लेषण शक्ति मुझ मे नही है। प्रारम्भ मे ही इस बात को स्वीकार कर लेना अच्छा है। 'वृष्टि पडे टापुर टुपुर नदी एलो बान याने पानी बरसा टापुर टुपुर, नदी मे आई बाढ' यह कविता बचपन मे मेरे निकट मोहमत्र की तरह थी, और अभी तक मै उस मोह से मुक्त नही हो पाया। उस मुग्ध अवस्था को स्मरण करके तभी हम इस बात को कूत सकते है कि कविता की असली मधुरता तथा उपयोगिता क्या है। समझ मे नही आता कि क्यो इतने महाकाव्य और खड काव्य, तत्व विद्या और नीति जिन्हे मनुष्य प्रतिदिन पसीना मे तरबतर होकर सीखता है, वे व्यर्थ और विस्मृत हो जाते है, पर यह सब असगत, अर्थहीन, मनमाने श्लोक लोक स्मृति मे बराबर प्रवाहित होते रहते है।

वे और भी आगे लोक साहित्य पर लिखते है—'उन सब कविताओ मे एक निरन्ता है। न मालूम कब किस काल मे कौन सी कविता लिखी गई, किसने इन्हे लिखा ये प्रश्न किसी के मन मे उठते ही नही। इसी स्वाभाविक चिरत्व गुण के कारण ये आज रचित होने पर भी प्राचीन है, और एक हजार साल पहले लिखी जाने पर भी नवीन है।'

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने यह स्पष्ट कर दिया कि किस दृष्टिकोण से वे लोकसाहित्य को देखते थे, और उनके मतानुसार अनुप्रेरणा किस प्रकार ली जा सकती है। जो उद्धरण

दिये गये उनसे यह स्पष्ट हो गया कि किसी जाति के लोक साहित्य से उस जाति के लोगों का बड़ा घनिष्ट संपर्क होता है, जिसे नाड़ी का सम्पर्क कहा जा सकता है। स्वाभाविक रूप से किसी भी रचयिता के लिए लोक साहित्य का कथित चिरत्वगुण बहुत ही लोभनीय है। कौन लेखक, कवि, कलाकार यह नहीं चाहेगा कि उसकी रचना में चिरत्व का गुण आवे?

रवीन्द्रनाथ ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा कि बचपन की स्मृति को अलग करके [illegible] को समझना उनके लिए सम्भव नहीं है। यह बात व्यक्ति के लिए जैसे सही है, वैसे जाति के लिए भी सही है। लोक साहित्य, लोक संगीत और लोक कला को लोग मां के दूध के साथ पीते हैं, उनके सम्बन्ध में एक मधुर भावना अनायास ही उत्पन्न हो जाती है। लोक साहित्य में व्यवहृत शब्दावली, लोकसंगीत की धुन, लोक कला की रेखाएं और रंग सहज ही में मन को छू लेते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है, कि रवीन्द्रनाथ ऐसे परम विद्वान के लिए भी यह असम्भव था कि लोक साहित्य, लोक संगीत और लोककला के वास्तविक मूल्य को [illegible], एक साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है, इसलिए यह समझ में आता है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता, संगीत, चित्र और साधारण शैली को इन पर क्यों ढाला?

जहां तक संगीत का सम्बन्ध है, रवीन्द्रनाथ ने यह देखा कि शास्त्रीय संगीत से आकर्षण है पर [illegible] संगीत का आकर्षण उससे किसी प्रकार कम नहीं है, बल्कि बंगाल की जनता की आत्मा में इसका प्रवेश सीधा और तुरन्त होता है। इसी कारण उन्होंने उसे अपनाया, [illegible] फिर भी कुछ नया भी किया। हम यहां पर रवीन्द्र संगीत या रवीन्द्र [illegible] का विस्तृत [illegible] नहीं करने जा रहे हैं, पर लोक संगीत और लोक साहित्य के प्रति उनका [illegible] विदित है। जो लिखा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट है कि विश्व का सारा साहित्य [illegible] उनके सामने उन्मुक्त होने पर भी रवीन्द्र ने लोकसंस्कृति से [illegible] ग्रहण किया।

[illegible] लिखते हुए रवीन्द्रनाथ ने यह भी कहा है कि उसका जन्म [illegible] हुआ है। इसी का तात्पर्य समझाते हुए उन्होंने लिखा——

'[illegible] हुआ इस बात को कहने का एक विशेष अर्थ है। हमारे मन में [illegible] प्रतिध्वनि छिन्न विच्छिन्न होकर घूमती रहती है। वह विचित्र [illegible] पर पड़ जाती है। जैसे हवा में [illegible] तरह तरह के शब्द, टूटे पत्ते, पानी की फुहार, पृथ्वी की [illegible] घूमती रहती है, उसी प्रकार हमारे मन की [illegible] चेतना के बीच में कितने ही वर्ण, गंध, शब्द, [illegible] कितनी ही आशाओं के आभास, कितनी ही भाषाओं के छिन्न [illegible] विच्छिन्न पदार्थ अनजान में अनावश्यक

"जब हम सचेत होकर किसी एक विशेष दिशा में चिन्तन करते हैं, तब ये छायामयी मरीचिकाएं एक ही क्षण में हट जाती हैं, हमारी कल्पना और हमारी बुद्धि एक विशेष रूप ग्रहण कर के एकाग्र हो कर प्रवाहित होती हे। हमारा मन नामक पदार्थ इतना प्रभुत्वशाली हे, कि वह जब सजग हो कर बाहर आता है, तो उसके प्रभाव के कारण हमारे अन्तर्जगत और बहिर्जगत अधिकांश रूप में दब जाता है। वह जब देखने लग जाता है, तो अच्छी तरह सुनता नही है, ओर जब चिन्तन करता है तो न तो अच्छी तरह देखना, न अच्छी तरह सुनता है। इसी सामर्थ्य के कारण वह इस जगत् की असीम विचित्रता के बीच में ही अपनी प्रधानता को कायम रख कर चलता रहता है। पुराणो में यह पढने में आता है, कि कुछ महात्मा ऐसे हो गये हैं, जिन्हें इच्छा मृत्यु का वर मिला हुआ था। हमारे मन को उसी प्रकार इच्छान्धता और इच्छाबधिरता की शक्ति प्राप्त है, और इस शक्ति को वह काम में लाता है, इसी कारण जन्म से मृत्यु तक उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से होने वाली घटनाएं उसकी चेतना के बाहर से ही निकल जाती हैं। पर लोरियो मे हमारी परिवर्तनशील दुनिया की छाया मिलती है। तरल स्वच्छ सरोवर पर मेघक्रीडित नभोमडल की जिस प्रकार छाया पडती रहती है, उसी प्रकार इन लोरियो मे हमें देखने को मिलता है। इसीलिए मैंने कहा कि, यह अपने आप उत्पन्न होती है।"

एक दूसरे स्थान पर रवीन्द्रनाथ अपने वक्तव्य को यो पेश करते हैं—"हमारे अलकार शास्त्रों में नौ रसो का उल्लेख है, पर लोरियो मे जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसो के अन्तर्गत नही हे। अभी अभी जोती हुई जमीन से जो गध निकलती है, या शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह को उबाल देने वाली गध है, उसे फूल, चन्दन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगन्ध के साथ एक श्रेणी मे रखा नहीं जा सकता। सभी सुगन्धो के मुकाबले मे उसमे एक अपूर्व आदिमता है, उसी प्रकार लोरियो मे एक आदिम सुकुमारता है, जिसकी मधुरता को बाल्य रस नाम दिया जा सकता है। वह तीव्र नही है, गाढ नहीं है, वह बहुत ही स्निग्ध, सरस और युक्ति तथा सगीत से हीन है। इसी रस के द्वारा आकृष्ट हो कर मैं बगाल के लोक साहित्य को सग्रह करने मे लगा था। रुचि भेद के कारण सम्भव है, कि यह सब को न भाये, पर इनको स्थायी रूप मे सग्रह कर के रखना चाहिए, इस सम्बन्ध मे शायद दो राय नही हो सकती। यह हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है।"

इस प्रकार लोक साहित्य के सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ की कितनी उच्च धारणा थी, साथ ही वे उसमे कितने सजे हुए थे, वह उनके द्वारा किये हुए सग्रहकार्य से ज्ञात होता है।

लोक-जीवन में टोने और टोटके की मान्यता

श्री जनार्दन 'मुक्तिदूत'

टोने और टोटके लोकजीवन के प्रमुख अंग बने हुए हैं। इनकी मान्यता और उपयोगिता जीवन के हर क्षेत्र में स्वीकार की गयी है। श्री जनार्दन 'मुक्तिदूत' ने इस विषय पर व्यापक प्रकाश डालने की चेष्टा इस लेख में की है।
—संपादक

लोक संस्कृति का निकट से अध्ययन करने वालों का टोने और टोटके शब्दों से सहज ही परिचय हो जाना नितान्त अनिवार्य है, क्योंकि टोने और टोटकों की जड़ें लोक-जीवन में इतनी गहरी पैठी हुई हैं, कि उन्हें उससे अलग कर सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। साधारणतः टोटके जन्म से लेकर मरण तक किसी न किसी रूप में व्यक्ति की मंगल-कामना हेतु किए जाते हैं। इसी प्रकार टोने भी किसी को हानि पहुँचाने अथवा किसी कठिन कार्य की [illegible] के लिए काम में लाए जाते हैं। इन दोनों शब्दों की उत्पत्ति का एकदम ठीक-ठीक अनुमान लगाना जरा कठिन है, फिर भी मोटे तौर पर इन दोनों शब्दों का प्रचलन [illegible] और पुराणों की प्रतिष्ठा की कई शताब्दी पश्चात् तन्त्र युग में ही मिलता है। [illegible] दोनों ही प्रकार के तंत्र [illegible] नाम पर जो कुछ पुराण तथा परवर्ती ग्रन्थों में [illegible] के नाम पर अनेक लाभदायक तथा हानिकर प्रयोग [illegible] में [illegible] उनकी उपयोगिता के आधार पर [illegible] है कि टोने या टोटके कोई अलग शब्द नहीं है, [illegible] पर यह मत भी एकदम ठीक प्रतीत नहीं होता। अध्ययन करने [illegible] कल्याणकर अनिष्ट-निवारक रोग-निवारक या टोने के [illegible] इसके स्त्रियों में बहुत लोकप्रिय हैं और अब तो टोटके [illegible] शब्द हो है। इसके विपरीत टोना—अमंगलसूचक, रोग [illegible] सम्मोहन, वशीकरण, आदि के लिए किया जाता [illegible] कल्याणकामना नहीं होती, [illegible] किसी को हानि भी पहुँचती है। [illegible] का वध भी हो जाता है। इसीलिए टोने केवल [illegible] की विगमन में रह गए।

"जब हम सचेत होकर किसी एक विशेष दिशा में चिन्तन करते हैं, तब ये छायामयी मरीचिकाएं एक ही क्षण में हट जाती हैं, हमारी कल्पना और हमारी बुद्धि एक विशेष ध्येय ग्रहण कर के एकाग्र हो कर प्रवाहित होती है। हमारा मन नामक पदार्थ इतना प्रभुत्वशाली है, कि वह जब सजग हो कर बाहर आता है, तो उसके प्रभाव के कारण हमारे अन्तर्जगत और बहिर्जगत अधिकांश रूप में दब जाता है। वह जब देखने लग जाता है, तो अच्छी तरह सुनता नहीं है, और जब चिन्तन करता है तो न तो अच्छी तरह देखता, न अच्छी तरह सुनता है। इसी सामर्थ्य के कारण वह इस जगत् की असीम विचित्रता के बीच में ही अपनी प्रधानता को कायम रख कर चलता रहता है। पुराणों में यह पढ़ने में आता है, कि कुछ महात्मा ऐसे हो गये हैं, जिन्हें इच्छा मृत्यु का वर मिला हुआ था। हमारे मन को उसी प्रकार इच्छान्धता और इच्छाबधिरता की शक्ति प्राप्त है, और इस शक्ति को वह काम में लाता है, इसी कारण जन्म से मृत्यु तक उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से होने वाली घटनाएं उसकी चेतना के बाहर से ही निकल जाती हैं। पर लोरियों में हमारी परिवर्तनशील दुनिया की छाया मिलती है। तरल स्वच्छ सरोवर पर मेघकीटित नभोमंडल की जिस प्रकार छाया पड़ती रहती है, उसी प्रकार इन लोरियों में हमें देखने को मिलता है। इसीलिए मैंने कहा कि, यह अपने आप उत्पन्न होती है।"

एक दूसरे स्थान पर रवीन्द्रनाथ अपने वक्तव्य को यों पेश करते हैं— हमारे अलंकार शास्त्रों में नौ रसों का उल्लेख है, पर लोरियों में जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसों के अन्तर्गत नहीं है। अभी अभी जोती हुई जमीन से जो गंध निकलती है, या शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह को उबाल देने वाली गंध है, उसे फूल, चन्दन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगन्ध के साथ एक श्रेणी में रखा नहीं जा सकता। सभी सुगन्धों के मुकाबले में उसमें एक अपूर्व आदिमता है, उसी प्रकार लोरियों में एक आदिम सुकुमारता है, जिसकी मधुरता को बाल्य रस नाम दिया जा सकता है। वह तीव्र नहीं है, गाढ़ नहीं है, वह बहुत ही स्निग्ध, सरस और युक्ति तथा संगीत से हीन है। इसी रस के द्वारा आकृष्ट हो कर मैं बंगाल के लोक साहित्य को संग्रह करने में लगा था। रुचि भेद के कारण सम्भव है, कि यह सब को न भाये, पर इनको स्थायी रूप में संग्रह कर के रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में शायद दो राय नहीं हो सकती। यह हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है।"

इस प्रकार लोक साहित्य के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ की कितनी उच्च धारणा थी, साथ ही वे उसमें कितने सजे हुए थे, यह उनके द्वारा किये हुए संग्रहकार्य से ज्ञात होता है।

लोक-जीवन में टोने और टोटके की मान्यता

श्री जनार्दन मुक्तिदूत'

टोने और टोटके लोकजीवन के प्रमुख अग बने हुए है। इनकी मान्यता और उपयोगिता जीवन के हर क्षेत्र मे स्वीकार की गयी है। श्री जनार्दन 'मुक्तिदूत' ने इस विषय पर व्यापक प्रकाश डालने की चेष्टा इस लेख मे की है। —सपादक

लोक सस्कृति का निकट मे अध्ययन करने वालो का टोने और टोटके शब्दो मे सहज ही परिचय हो जाना नितान्त अनिवार्य है, क्योकि टोने और टोटको की जडे लोक-जीवन मे इतनी गहरी बैठी हुई है, कि उन्हे उससे अलग कर सकना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। मुख्यत टोटके जन्म से लेकर मरण तक किसी न किसी रूप मे व्यक्ति की मगल-कामना के हेतु किए जाते है। उसी प्रकार टोने भी किसी को हानि पहुँचाने अथवा किसी कठिन कार्य की इच्छित-सिद्धि के लिए काम मे लाये जाते है। इन दोनो शब्दो की उत्पत्ति का एकदम ठीक-ठीक अन्दाज लगाना जरा कठिन है, फिर भी मोटे तौर पर हमे दोनो शब्दो का प्रचलन वेदो के अप्रचार और पुराणो की प्रतिष्ठा की कई शताब्दी पश्चात् तन्त्र युग मे ही मिलता है। अथर्ववेद मे वर्णित मन्त्र शास्त्र-जिसमे मान्त्रिक तथा केवल वैधानिक दोनो ही प्रकार के तत्र है धीरे धीरे भूला जाने लगा और मन्त्रशास्त्र के नाम पर जो कुछ पुराण तथा परिवर्ती ग्रन्थो मे उपलब्ध था उसे ही एकमात्र शास्त्रीय मान कर मन्त्रशास्त्र के नाम पर अनेक लाभदायक तथा हानिप्रद प्रयोग चल पडे। कालान्तर मे इन्ही प्रयोगो का उनकी उपयोगिता के आधार पर टोना या टोटका नाम पडा. कुछ विद्वानो का मत है, कि टोने या टोटके कोई अलग शब्द नही है, बल्कि एक दूसरे के पर्याय है पर यह मत भी एकदम ठीक प्रतीत नही होता। अध्ययन करने पर पता चलता है, कि टोटके मुख्यत मगलसूचक अनिष्ट-निवारक, रोग-निवारक या टोने के बचाव के लिए किये जाते है, इसलिए टोटके स्त्रियो मे बहुत लोकप्रिय है और अब तो टोटके केवल स्त्री वर्ग द्वारा बोला जाने वाला शब्द ही है। इसके विपरीत टोना—अमगलसूचक, रोग उत्पादक, मारण, उच्चाटन, अनुचित आकर्षण, सम्मोहन, वशीकरण आदि के लिए किया जाता है, जिसमे यदि व्यक्ति विशेष की मनोकामना पूरी होती है तो किसी को हानि भी पहुँचती है। मार प्रयोग मे निश्चय ही किसी निरीह पशु या जीव का वध भी होता है। इसीलिए टोने केवल सयाने, सिद्ध, ओझा, अघोरी शैव्य, शाक्त तथा अन्य वाममार्गियो की विरासत मे रह गए।

इसीलिए जनसाधारण इन व्यक्तियों को भय अथवा घृणा की दृष्टि से देखते हैं। टोटके अथवा टोनो मे विश्वास किया जाय या न किया जाय यह दूसरी बात है पर यह सत्य है कि उनकी अमिट छाप हमारे लोक जीवन पर आज भी स्पष्ट मौजूद है। टोटको का प्रचलन केवल अशिक्षित गृहणियो मे ही विद्यमान हो सो भी ठीक नही। निम्न मध्यम वर्ग की अर्द्ध शिक्षित तथा सुशिक्षित गृहणियाँ भी टोटको का आश्रय लेती हैं। टोने द्वारा ओझा, सयाने, सिद्ध, औलिया-ओलिया,मौलवी आदि आज भी अपनी रोटी कमाते हैं। टोटके और टोनो मे एक मुख्य अन्तर यह भी है कि टोटके मे किसी शास्त्रीय पद्धति की जरूरत नही होती और न उसमे किसी मन्त्र की आवश्यकता है किन्तु टोने मे निश्चय ही पूरी-पूरी शास्त्रीय पद्धति काम मे लायी जाती है। मन्त्र उच्चार से लेकर अनुष्ठान और बलिदान तक सब कुछ। इससे यह सिद्ध होता है कि टोना शास्त्रीय अनुष्ठान है तथा टोटका एकदम लौकिक।[1] यदि ध्यान से अध्ययन किया जाय तो टोटको पर भी शास्त्रीय विधान की स्पष्ट छाप देखने को मिलेगी किन्तु ऐसे टोटके केवल रोग

१—हम भारतीय टोने टोटको का मूल जनक अथर्ववेद को मानते हैं। किन्तु शोध से पता चलता है कि आर्यों से पूर्व द्रविड़ जातियां भी कई प्रकार के टोटके किया करती थीं। शरीर तथा परिवार पर भूतो के कुप्रभाव को दूर करने के लिए द्रविड कई प्रकार के टोटके किया करते थे। दीवार पर तरह तरह के चित्र बनाना। शरीर पर चित्र बनाना आदि निवारणात्मक प्रयोग भी है। आस्ट्रेलिया के आदिवासी जो द्रविडो की सन्तान हैं यद्यपि एकदम असभ्य है—वे कपडे तक पहनना नही जानते, पर भूतो को भगाने के लिए शरीर पर जगली रसो की सहायता से अनेक प्रकार के चित्र बनाते है। बेबीलोन में टोटको का राजनीतिक महत्व था। एक राजनीतिज्ञ अपने को "तिल्ली विशेषज्ञ" कहता था। वह बलिपशु की तिल्ली निकाली जाने पर बता दिया करता था कि अमुक काम सपादित होगा या नही अथवा जिस कार्य के लिए बलिदान दिया गया है इसमें बाधाएं उपस्थित होने वाली है। इसलिए प्रत्येक बलिपशु बहुत छॉट कर चुना जाता था। अस्वस्थ पशु बलि के लिए अनुपयुक्त समझा जाता था क्योकि उससे देवता के अप्रसन्न होने का डर रहता था। प्राचीन यूनान में सूअर, भेड, मुर्गा आदि का बलिदान देवता के सामने दिया जाता था। यह अनुष्ठान पूरे राष्ट्र की रक्षा के हेतु किये जाते थे खासतोर से जब प्राचीन यूनानी विजय यात्रा पर निकलते थे तब असख्य पशुओ के बलिदान का आयोजन होता था। यह आयोजन देवता की शक्ति से शत्रु को निर्बल करने के हेतु हुआ करता था। अफ्रीका में अपेक्षाकृत कम सभ्य जातियो में अनेक प्रकार के टोटके और टोने प्रचलित हैं। वे बालक के पैदा होते ही उसके मुख पर चाकू से घात करके निशान बना देते हैं इससे देवता के लिए वह अनुपयुक्त हो जाता है और देवता स्वय उसकी बलि नही लेता। देवता को प्रसन्न करने के लिए वे कभी कभी मनुष्य की भी बलि दे देते है। भारत में कापालिक तथा अघोरी मनुष्य बलि को सिद्धि के लिए परम श्रेष्ठ समझते है।

निवारण आदि के लिए है और उनका वर्णन अथर्ववेद मे भी मिलता है। पर टोटको को इसलिए लौकिक की सज्ञा दी गई है, कि वे सरल है और मूल म लाभदायक अधिक है।

टोने और उनकी शास्त्रीय पद्धति

टोने का मूल जनक अथर्ववेद ह। अथर्ववेद मे वर्णित प्रत्येक मन्त्र मे प्रभाव के लिए तीन मुख्य बातें है (१) **काल**--प्रत्येक तान्त्रिक अनुष्ठान के लिए निश्चित समय। कभी आधी-रात, कभी गोधूली कभी ब्राह्म मुहूर्त, (२) **द्रव्य**--प्रत्येक अनुष्ठान के लिए यज्ञ की सामग्री, नैवेद्य पुष्प (पुष्पो का रग देवता की प्रकृति के अनुसार) बलि पशु आदि, (३) **शब्द**--यानी अनुष्ठान का मन्त्र जिसका शुद्ध उच्चारण अनिवार्य है। मन्त्र के विषय मे कहा गया है, कि उसके चार विभाग होते है--(१) **प्रणव**--देवता के आवाहन के लिए ओंकार का उच्चारण, (२) **बीज**--देवता का नाम, (३) **मन्त्र** तथा (४) पल्लव कहलाता है जो "स्वाहा" शब्द है और जिसे कह कर आहुति दी जाती है। "अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि" अथर्ववेद के पारिवारिक प्रकरण मे इस मन्त्र की विधि दी गई है। इसके द्वारा मारण, वशीकरण, उच्चाटन, सम्मोहन, ऋद्धि, सिद्धि, लाभ, रोग निवारण आदि कई प्रकार की मनोकामनाए पूर्ण की जा सकती है। जाप की सख्या समय के हेर फेर से एक ही मन्त्र मे अनेक कार्य साधे जाते है। यही मत्र दुर्गासप्तशती मे इस रूप मे सामने आता है---

ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे

इस मन्त्र मे भी 'अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि' के सारे गुण मौजूद है। अन्तर इतना ही है कि इस मन्त्र मे मृत्यु के स्वामी आशुतोष भगवान रुद्र (शकर) प्रसन्न होते है और मनोकामना पूर्ण करते है और "ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" से दुर्गा प्रसन्न होती है। न्यून या अधिक जाप तथा अनुष्ठान की पूर्ण विधि दुर्गासप्तशती मे वर्णित है। मन्त्र के शास्त्रीय विधान के अनुसार "ॐ" प्रणव है। ऐं ह्रीं-क्लीं-मन्त्र है। "चामुण्डायै" बीज है (देवी का नाम होगया) "विच्चे", पल्लव है। विच्चे कह कर आहुति दी जाती है। इसी आधार पर किसी मन्त्र की विशुद्धता परखी जा सकती है। पौराणिक मन्त्रो मे स्वाहा के बजाय इस प्रकार के लौकिक शब्द आते है परन्तु विधान मत्र ज्यो का त्यो है। कभी-कभी किसी विधि मे मन्त्रोच्चार की भी आवश्यकता नही होती जैसे कि अथर्ववेद मे रोग प्रकरण मे हृदय रोग या कामलादि (पीलिया) मे रोगी को पानी के साथ लाल बैल के बाल पिला देने का उल्लेख है। इस तरह के प्रयोग आमतौर पर टोटको के अन्तर्गत आते है किन्तु है ये शास्त्रीय। शास्त्रीय विधान के अनुसार टोटको मे केवल काल और द्रव्य की ही शर्त रह जाती है और कभी-कभी केवल द्रव्य की। इसलिए टोटके या टोने मे सबसे महत्वपूर्ण बात द्रव्य है।

अथर्ववेद मे मारण, सम्मोहन-आकर्षण

तृतीय काण्ड के २५वे सूक्त और ५ वे अनुवाक मे आकर्षण सम्मोहन के लिए एक मन्त्र दिया गया है। और उसके अनुष्ठान की विधि निम्नलिखित है—

बेर के काँटे तथा कूट वृक्ष की जड लावे। बेर के इक्कीस काँटे एक साथ घी मे भिगो कर ऊपर वर्णित सूक्त से एक साथ आहुति के समय हवन कुण्ड मे डाल दे। कूट वृक्ष की जड को मक्खन मे भिगो कर हवन की आग मे दूर से तपाये। यह प्रयोग दिन मे तीन बार सुबह, दोपहर और शाम को इक्कीस दिन तक करना चाहिए। प्रथम तीन दिन कर्ता को उलटी खाट पर सोना चाहिए। जिसका नाम लेकर यह जड तपाई जायगी वह आकर्षित हो जायगा। यदि जड अनुष्ठान मे जल जायेगी तो उस व्यक्ति का मरण हो जायगा। प्राय इस अनुष्ठान को किसी के नाम से नही किया जाता बल्कि इस तरह जड को सिद्ध कर लिया जाता है और उसके दिखाते ही कार्य बन जाता है।

मन्त्र की शक्ति तथा सर्प कीलने के मन्त्र की उत्पत्ति

मन्त्र-सिद्धि मे कभी कभी बडे अनर्थ हो जाते है। जरा-सा अशुद्ध मन्त्र जपा जाता है तो उसका कुप्रभाव तुरन्त ही जाप करने वाले पर विदित होने लगता है। कभी-कभी जाप करने वाले की मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए मन्त्रशास्त्र मे (अथर्ववेद मे) यह स्पष्ट निर्देश है कि किसी भी दशा मे किसी नौसिखिये को मन्त्रो की सिद्धि मे बिना गुरु की आज्ञा से नही पडना चाहिए। मन्त्र की शक्ति के विषय मे भागवत मे भी बहुत कुछ है। जनमेजय के नाग-यज्ञ के सदर्भ मे जनमेजय ने पडितो को आज्ञा दी कि वे तक्षक के नाम की आहुति दे कर उसे भी यज्ञ मे भस्म कर दें। पडितो ने ऐसा ही किया किन्तु तक्षक न आया। इस पर जनमेजय ने पडितो से शका की कि इसका कारण क्या है? पडितो ने बताया कि तक्षक इन्द्र की शरण चला गया है और उनके सिहासन से लिपटा हुआ है। इस पर क्रोधित हो जनमेजय ने अपने पितृ ऋण से उऋण होने के हेतु पडितो से कहा—यदि यह तक्षक मेरे पिता को न डसता तो वह अनेक वर्षों तक सुख पूर्वक जीवन का भोग करता। इसलिए हे विज्ञजनो! इस समय मैं पितृ ऋण के आगे इन्द्र का मान भी रखने को तैयार नही हू। आप इन्द्र सहित तक्षक को आहुति दे डालिये। पडितो ने 'सैन्द्राय तक्षकाय स्वाहा" कह कर आहुति डालना आरम्भ कर दिया। तुरन्त ही इन्द्रासन आहुति मे पडने के लिए उपस्थित हुआ। आस्तीक मुनि ने देवराज का होम होते देख जनमेजय से प्रार्थना की कि वह यह अनर्थ न करे बल्कि मैं तक्षक को अपनी आन से कील देता हूँ वह भविष्य मे कभी किसी को न काट सकेगा। जनमेजय मान गये और उन्होने इन्द्र तथा तक्षक को छोड दिया। तभी से सर्प कीलने तथा सर्प के विष उतारने के मन्त्रो मे 'आस्तीक मुनि की आन' वाक्य आता है।

नारायण कवच

दत्तात्रेय तन्त्र मे नारायण कवच का उल्लेख है। इसकी सिद्धि एव जाप से शरीर सर्व प्रकार के कुप्रभावो से बचा रहता है। भूत, प्रेत, पिशाच, वैताल आदि दुरात्माओं को सिद्ध करने वाले तान्त्रिक अपने बचाव के लिए नारायण कवच का जाप करते हैं। इसी कवच के प्रताप से इन्द्र वृत्रासुर नामक दैत्य के पेट मे ६ महीने जीवित रह सके थे। नारायण कवच का उल्लेख विष्णु पुराण मे भी मिलता है। आरम्भिक श्लोक इस प्रकार है। "ॐ नमो नारायणाय। ॐ विष्णवे नमः आदि।'

अग्निपुराण मे आदित्य हृदय द्वारा मारण

अग्नि पुराण मे शत्रु को मारने की विधि दी गई है। उड़द के आटे से शत्रु का प्रतीक एक पुत्तलिका बनाई जाती है जिसमे गूंदते समय गिरगट का रक्त डाल लेते है। रात को बारह बजे सूर्य के आवाहन मन्त्र का जाप कर के पुत्तलिका के सीने पर सीधे पाव का अंगूठा धरते ही शत्रु के हृदय की गति बन्द होने से वह मर जाता है।

श्रीमद्भगवत्गीता और रोग निवारण

श्रीमद्भगवत गीता के सोलहवे अध्याय का पाठ कर के फूकने से बैलो का भाडा नामक रोग दूर हो जाता है। उसी तरह से महाभारत मे वर्णित व्यूह भेदन के श्लोको का पाट कर के गर्भवती के सर पर हाथ फेरने मे प्रसव पीडा कम हो जाती है और प्रसव आसानी से हो जाता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे महल प्रवेश

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र मे शत्रु राजा के महल मे घुमने के लिए एक विधि दी गई है जो निम्नलिखित श्लोक मे वर्णित है—

"नकुल हृदय चोरक तुम्बी फलानि। कृष्ण सर्पाक्षीणीव। अधूम पञ्चिवा कृताजनम् नष्ट छाया रूपश्चरति।" अर्थात् नेवले का हृदय, तुम्बीफल (चोरक शब्द का अर्थ समझ मे नही आता) तथा काले साप की आँखो को मिला कर अधूम काजल बनाये (यानी जिसका धुँआ बाहर वायु मडल मे निकलने न पाये)। उस काजल को आँखो मे आँजने से आँजने वाले का रूप और छाया दोनो अदृश्य हो जायगी।

रस संहिता मे छाया पुरुष की सिद्धि

आयुर्वेदिक ग्रन्थ रस-संहिता मे छाया पुरुष की सिद्धि का उल्लेख है जो व्यक्ति उसे सिद्ध कर ले उसे अपने आने वाले रोग तथा कई मास पूर्व मृत्यु तक का पता लग जाता है। विधि इस प्रकार है—

सिद्धि करने वाले को चाहिए कि वह नित्य सूर्य की ओर पीठ दे कर खड़ा हो जाय और अपनी छाया को ध्यान से देखता रहे। कुछ देर बाद वह सूर्य की ओर घूम कर देखे तो उसे आकाश में अपनी बड़ी-सी छाया दिखाई देगी। उस छाया का जो अंग खंडित प्रतीत हो उसी में रोग का प्रवेश जानना चाहिए। यदि मृत्यु ६ मास में होगी तो उक्त छाया के विभिन्न अवयव कट-कट कर गिरते दिखाई देंगे।

तुलसी कृत रामायण में प्रेत सिद्धि तथा लंका प्रवेश का टोना

तुलसीदास जी द्वारा बबूल वृक्ष की जड़ में नित्य प्रति शौच का शेष जल डालने का उल्लेख है और उससे प्रसन्न हो कर तुलसीदास जी के सन्मुख प्रेत प्रगट हो गया। तुलसीदास जी तो वैरागी थे इसलिए उन्होंने प्रेत से राम दर्शन का वर मांगा। प्रेत रामदर्शन तो न करा सका। हां, उसने रास्ता बता दिया कि राम कथा सुनने चित्रकूट में नित्य प्रति हनुमान जी एक दुर्बल घृणित बूढ़े के रूप में आते हैं। यह तो तुलसीदास जी की बात हुई अन्यथा प्रेत जैसी निर्मुक्त आत्मा से भले कामों की आशा दुराशा ही है। कुछ लोग प्रेत सिद्धि के लिए यही विधि करते हैं। प्रेत के द्वारा कोई भी इच्छित वस्तु जैसे फल, मिठाई इत्यादि मंगवाई जा सकती है।[1] लंका में पहुंचने के बाद हनुमान जी को लंकिनी मिली। उसने हनुमान जी से कहा "प्रविशि नगर कीजै सब काजा। हृदय राख कौशलपुर राजा। गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।" हनुमान जी ने लंका को उसकी इच्छा से मार डाला। उससे बलिदान हो गया। राम नाम के स्मरण से देवता का नाम आ गया। तथा चौपाई के पिछले दो चरणों में विधि का बोध होता है। इस टोने के पूर्ण होने के बाद हनुमान जी चुपचाप लंका में घुस गये। यदि अशोक वाटिका में जाकर उपद्रव न करते तो शायद किसी को पता भी न चलता। उक्त संदर्भ में ही हनुमान जी ने रावण को मन्दोदरी के साथ सोते हुए भी देखा था। वह ब्रह्मचारी थे इसलिए उन्हें पातक लगा और उनके ब्रह्मचर्य का तेज कुछ देर को जब वह नागपाश में बन्दी हुए जाता रहा था। मेघनाद तान्त्रिकों द्वारा रामचन्द्र जी के विरुद्ध भयानक तन्त्र कर रहा था और इसलिए रामचन्द्र जी के लिए यह आवश्यक था कि वे तन्त्रों को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। रामायण में मेघनाद के तान्त्रिक यज्ञ का भंग होना भी वर्णित है।

बौद्ध वज्राचार्य तथा उनका चमत्कारिक दण्ड

बौद्ध ग्रन्थों में एक देवी को सिद्ध करने का अनुष्ठान वर्णित है जिसके द्वारा इच्छित मारण सम्भव है। "ॐ ह्रीं मणि पद्मे हुम" मन्त्रशास्त्र के हिसाब से सम्पूर्ण है। ॐ प्रणव है, ह्रीं मणि मन्त्र पद्म बीज (बौद्ध देवी का नाम) और हुम पल्लव है। इस मन्त्र से मारण आदि कार्य कि[illegible]

१—इस्लाम धर्मावलम्बी जिन या पलीत को भी वश में करते हैं।

जाते है। वज्राचार्य अपने पास एक सिद्ध किया हुआ दण्ड रखते थे जिसके स्पर्श मात्र से मृत्यु घटित हो जाती थी।

अदृश्य पात्र अथवा मूँठ का प्रयोग

यह अथर्ववेद मे दूसरे रूप मे वर्णित है। पात्र मे देवता के प्रसन्न करने की सामग्री रख दी जाती है और उस पात्र पर देवता का आवाहन किया जाता है। वलि के लिए जिसकी मृत्यु चाही जाती है उसका नाम उच्चार किया जाता है। पात्र अदृश्य हो जाता है और उस व्यक्ति के पास आ कर उसमे मनुष्य रूप मे आ कर नमस्कार करता है। मरने वाला देखता ही रह जाता है। इस विधान का निवारण भी है। आजकल वाम मार्गियो द्वारा "मूँठ" इसी अदृश्य पात्र का रूपान्तर है। मूठ चलाने वालो मे अधिक मूँठ को निवारण करने वाले श्रद्धा के पात्र समझे जाते है। वे रास्ते मे जाती हुई मूँठ को उतार लेते है। मूँठ जव जाती है तो उसमे से चील के पखो जैसा शब्द होता है। यही उसकी पहचान है। मूँठ को शान्त करने के लिए भी वलिदान देना ही पडता है।

डाकिने

मालवा (मध्यभारत) तथा वृहत्तर राजस्थान (जयपुर, जोधपुर, वीकानेर, कोटा वूदी) आदि प्रान्तो मे डाकिनो की कथाए घर-घर मे कही जाती है। शोध के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि डाकिनो का कार्य सीधा वाममार्गी सप्रदाय से सम्वन्धित है। जिस तरह पुरुषो के लिए अघोर पथ है जिसमे सिद्धिया यद्यपि मन्त्रो द्वारा प्राप्त की जाती है किन्तु द्रव्य आमतौर पर निषिद्ध पदार्थ होते है। मदिरा, मुर्दे की मज्जा, उसकी खोपडी मे भोजन तथा मदिरापान, मनुष्य वलि, रजस्वला स्त्री के साथ भोग तथा उसे पवित्र मान कर उसकी शेष वलि अघोर पथ मे अनिवार्य है। उसी तरह डाकिने भी अनुष्ठान करती है। पर मनुष्य वलि के लिए घूमती फिरती हुई मुख्यत पाच वर्ष की आयु वाले वालको के प्राण हरण टोने द्वारा कर लेती है। डाकिनो द्वारा टोना मारे गए वच्चो की मृत्यु पेट के दर्द से होती हुई कही जाती है और वच्चा टोना लेने वाली को वार-वार पुकारता है। कहा जाता है कि डाकिनी वच्चो का टोना लेने के वाद कही पडौस मे छिपी रहती है। जव वच्चे को मृतक जान कर गाड दिया जाता है तो वह उसे खोद डालती है। इसके वाद सेवडे सन्यासी[1] द्वारा जिस तरह मृतक स्त्रियो को पुन जीवन दान

१—सेवडे साधुओ को (जो वाममार्गी कहलाते है) सेवडी विद्या आती है। इस विद्या के अन्तर्गत शूद्र कृतकृत्या सिद्ध की जाती है। इसका स्वामी नैऋति राक्षस है। यह सेवडे लोग गृहस्थ नही होते। इसलिए जव भिक्षाटन को जाते है तो जिस भी स्त्री पर नजर पडती है उस पर टोना करके राक्षस द्वारा मार देते है। वाद को जव उस स्त्री की चिता जला दी जाती है तो सेवड़े (टोना

मिल जाता है उसी तरह से डाकिने मृत बालक को पुन जीवित कर लेती है। वह उसका सिगार कर खिलाती है। बाद को बच्चे को जीवित ही वृक्ष से बाध कर उसके तलुओं मे मन्त्र पढती हुई काजल पारती है। उस काजल को आँखो मे आँजने से उन्हे गडा धन दिखाई देने लगता है तथा उनके 'वीर' या मन्त्र के देवता उनसे प्रसन्न होते है।

ऐसी भी कथाएं प्रचलित है कि यदि जिस समय डाकिनी बच्चे के तलुए मे काजल पार रही हो उस समय जा कर छिप कर तलवार या गोली से उसका वध कर दिया जाय तो बच्चा पुन मिल सकता है। यदि उसे पता चल गया तो वह दीपक बुझा देगी और इस तरह बच्चे की जीवन ज्योति—जो काजल पारे जानेवाले दिये की ज्योति मे रहती है—बुझ जायगी। डाकिनो के बारे यह भी प्रचलित है कि वह अवसर दीपावली या होली की रात को सामूहिक अनुष्ठान करती है एव जगल मे स्थित देवी के मदिरो मे जा कर बलि देती है उससे उनके 'वीर'[1] प्रसन्न होते है। मनुष्य बलि के लिए जब बाहर से कोई नही मिलता तो वह अपने पुत्र या पति की बलि देने पर भी विवश हो जाती है।

डाकिने साधारण स्त्रिया ही होती थी। घर गृहस्थी मे रहती थी। उनमे डाकिनत्व केवल मन्त्र जाप के बाद आरम्भ होता था। इस विषय मे मतभेद है। जिन स्त्रियो को डाकिनी बनने का चाव होता वे किसी डाकिनो से सिद्ध की हुई जडी भी ले लेती थी जिसके मुह मे रखते ही डाकिनी के सारे गुण आ जाते थे।

डाकिनो की पहचान के विषय मे यह कहा जाता है कि उनकी आँखे अपेक्षाकृत लाल रहती है। कुछ लोग कहते है कि उनकी आँखो मे सामने वाले मनुष्य की तस्वीर कैमरे के लैन्स की तरह उलटी दिखाई देती है। डाकिनो की मृत्यु तब तक नही होती जब तक कि वह अपनी सिद्धि किसी दूसरे को न दे दे। सास डाकिन मरते समय बहू को सिद्धि दे जाती है। जिनके ऐसी कोई सम्बन्धी नही होती वह पढकर रुपया चौराहे पर फेक देती है। इस रुपये को पुरुष या स्त्री जो भी उठा ले डाकिन अथवा डाकी हो जाता है। डाकी जरा कम ही सुनाई देते है।

डाकिनो के लिए अनेक रोगो का निवारण स्पर्श मात्र से कर देना सभव है। खोई चीज बताना आदि उसकी सिद्धि का फल है।

लेने वाला) चिता के चारो कोने पर चार कीलें गाडता है और एक शिर स्थान पर। राक्षस के मन्त्र जाप से वह स्त्री सशरीर चिता से उठ खडी होती है और सेवडे की स्त्री बनकर रहने लगती है। उसके सिर में एक कील रहती है। यदि उस कील को उखाड लिया जाय तो स्त्री पुनः मृत आत्मा बनकर अदृश्य हो जाती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि सेवडे की स्त्रियाँ किसी दूसरे को सिर नही दिखलाती।

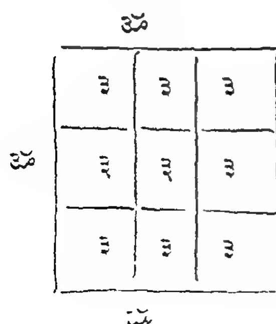
१—वीर देवता नही बल्कि इस्लाम धर्मावलम्बी मौलवियो द्वारा सिद्ध मुवक्किलो की तरह दुरात्मा है।

डाकिनी के टोने का निवारक टोटका

जिस बालक को डाकिनी ने टोना मारा हो। उस घर के लोगो को डाकिनी की खोज करनी चाहिए। मिलते ही उसे आव-भगत से भोजन करा के एक थाली में कुल्ला कराना चाहिए। वह इन्कार न कर सकेगी। उसके जूठे पानी की दो बूंद बच्चे को पिला देने से टोने का निवारण हो जाता है। कहते हैं, उससे बाते भूठो हो जाती है और वह देवता के कार्य की नही रहती। कुछ लोग डाकिनो के बाल काट लेने तथा उसकी धनी देने से भी निवारण हो जाता है। किसी जमाने मे जब शिक्षा का इतना प्रसार न था, लोग जरा-सा सन्देह होने पर डाकिनो को मार डाला करते थे। कभी-कभी निरपराध स्त्रियो की भी हत्या के काण्ड इस सन्देह मे हो जाया करते थे। कभी-कभी नयी आई वहू के आते ही यदि घर मे किसी की मृत्यु हो जाय तो बडी बूढी ताना मारती है, कि वह डाकिनी है आते ही फलाने को खा गई। कहावतो मे डाकिन या डायन शब्द आज भी प्रयुक्त होता है।

गणित तथा शाब्दिक तन्त्र

यन्त्र बीजक या तावीज एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द है। प्रत्येक यन्त्र मे (जन्तर मे) भी मन्त्र की तरह ही प्रभाव होता है और वह भी मन्त्र शास्त्र से ही निकला है तथा उसकी विधि शास्त्रीय है। विभिन्न कार्यो तथा रोगो के निवारणार्थ विभिन्न बीजक या यन्त्र बनाये जाते है। यन्त्र हानिकारक तथा लाभकारक दोनो ही प्रकार के होते है। देवता के गुणानुसार उसे चाँदी, ताँबे आदि के बने यन्त्रपात्र मे रखना पडता है। नीचे दिया तावीज तिजारी, इकतरा आदि पित्त द्वारा उत्पन्न रोगो के काम आता है। उसे रोगी के सीधे हाथ मे उस समय बाँधे जिस समय उसे ज्वर न हो। यन्त्र बनाने वाले के लिए यह अनिवार्य है कि वह नहा-धो कर यन्त्र को बनाये और बाँधते समय रोगी के स्वास्थ्य के लिए अपने इष्ट देव से प्रार्थना करे। सीधे हाथ मे बाँधने के लिए इसलिए शर्त है ताकि शौच करने मे यन्त्र अपवित्र न हो। जब रोग निवारण हो जाय तो यन्त्र को कुएँ या नदी मे सिरा देना चाहिए। या किसी देव स्थान पर रख देना चाहिए।



इस यन्त्र द्वारा त्रितत्वो की ...
की जाती है। जैसा कि ...
है। ॐ का तीन ...
है तथा ॐ ...

टोटके और उनकी लौकिक पद्धति

प्रत्येक टोटके के लिए यह आवश्यक है कि उसमें मन्त्र सिद्धि की तरह द्रव्य और काल के समावेश से निवारणात्मक प्रयोग किया जाता है। मन्त्र जाप की आवश्यकता नही है। नीचे कुछ अत्यन्त लोकप्रिय टोटके दिये गये हैं। उनकी एक सबसे पहली शर्त यही है कि करते समय कोई टोके नहीं वरना टोटका नष्ट हो जाता है।

शिशु सम्बन्धी

प्रसव से कुछ दिन पूर्व सोरगृह (सोवर) के बाहर की दीवार पर गोबर से चक्रव्यूह का आकार बना दिया जाता है। गर्भिणी की कमर मे काले डोरे मे लटका कर बहेड़ा या हड़ बाँध देते है। उसके सिरहाने शिशु के जन्म लेने से कुछ घंटे पूर्व खुला हुआ चाकू या तलवार रख दी जाती है। चाकू या तलवार रखने का क्रम बच्चे की एक वर्ष की आयु होने तक चलता रहता है। विश्वास यह है कि सिरहाने चाकू होने से बच्चे या उसकी माता को किसी प्रकार की भूत बाधा नही होती। बच्चे चौंकते या डरते नहीं।

नजर का निवारण

बच्चे को काजल लगाने के बाद उँगली से बचे हुए काजल से उसके माथे पर डिठोना (चाँदतारा) बना देते है तथा उसके हाथो या हथेलियो तथा पाँव के तलुओं पर काजल की रेखा बना देते है। गले मे बजरबट्टू डालते है। बजरबट्टू एक प्रकार की माला होती है जिसमे रुद्राक्ष, गूमची, छोटा सा चाँदी का चाँद, ताम्बे का सूर्य, नीले गुरिये तथा शेर का नाखून होता है। इसके अतिरिक्त हाथो मे काले डोरे या काले डोरे मे पिरोई हुई काली और सफेद पोते तथा कमर मे काली करधनी भी पहनाते है। यह सब कुप्रभाव और मुख्यत नजर लगने से बचाव के हेतु उपाय है। कभी-कभी इतने प्रबन्ध के बावजूद भी बच्चे को नजर लग ही जाती है। वह बार-बार रोता है। दूध पीना छोड देता है तब यह समझा जाता है कि उसे नजर जोर की लग गई है। ऐसे अवसरो पर सुशिक्षित गृहणी बच्चे को कुशल डाक्टर का परामर्श लेती है किन्तु निम्न मध्यम वर्ग मे अर्ध शिक्षित तथा अशिक्षित गृहणिया नजर उतारने का प्रबन्ध करती है। गोधूली के समय नजर की सामग्री **(गन्धक, आटे की भूसी, नमक, साबुत सात लाल मिर्चें, झाड़ू का तिनका)** हाथ मे लेकर बच्चे के ऊपर से सात बार उतार कर टोटका करने वाली चूल्हे की ओर पीठ देकर टाँगो के बीच से उक्त सामग्री को चूल्हे मे डाल देती है। मिर्चों की जितनी अधिक धाँस लगे उतनी ही अधिक नजर लगी मानी जाती है। यह कार्य करते समय कोई टोक न दे अन्यथा प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसी तरह कुछ बड़े बच्चो को माता एकदम दूध पी कर बाहर खेलने नहीं जाने देती बल्कि उसे चूल्हे की राख चटा देती है। बच्चे को स्नान

कराते समय माता जमीन की मिट्टी उठाकर बच्चे पर सात बार उतारकर माथे पर लगा देती है बाद को स्नान कराती है। यह भी नजर या कुप्रभाव के निवारण का टोटका है।

शिशु चिकित्सा मे टोटके

सूखा रोग मे रोगी बालक को रात के बारह बजे चमेली के नीचे (ऋतु अनुसार) ठण्डे या गर्म पानी से स्नान कराते है। या धोबी की भट्टी का एक लोटा पानी चुरा ले आकर उसे अन्य पानी मे मिला कर स्नान कराते है फिर इस पानी को चोराहे पर फेंक आया जाता है।

संक्रामक रोगों के टोटके

कभी- कभी जलोदर रोग, तपेदिक, कण्ठमाला आदि असाध्य रोगो मे मरीज के ऊपर से उतारा किया जाता है। एक मिट्टी के शकोरे या तश्तरी मे एक अण्डा, एक लड्डू, दो पैसे और सिन्दूर रख कर गोधूली मे या दिन को बारह बजे मरीज के ऊपर से सात बार उतार कर चोराहे पर रख आते है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इससे उसका रोग उन वस्तुओं मे चला गया। जो उनका उपयोग करता है उसे वही बीमारी लग जाती है। इस टोटके मे अण्डा बलि का प्रतीक है। लड्डू नैवेद्य, पैसा द्रव्य, सिन्दूर अर्चना तथा दोपहर या गोधूलि निश्चित काल का प्रतीक है।

पहलवानों के टोटके

प्रत्येक कसरत करने वाले के गले या हाथ मे काले डोरे दिखाई देते है। यह गुरु का गण्डा भी कहलाता है। उसका उद्देश्य भी नजर निवारण ही है। यदि अपने अखाडे मे कोई लडने आ रहा हो तो चमेली के पाँच फूल सात बार सीने व भुजाओ से लगा कर चारो कोनो पर और एक अखाडे के मध्य मे गाड देने से हार नही होती। यह टोटका करते कोई टोके या देखे नही।

जुआ, रेस, सट्टा, लाटरी जीतने के टोटके

दीपावली से एक रोज पूर्व काली चौदस या नर्क चौदस के दिन प्रत्येक घर के सामने गृहस्वामी यम दिया जलता है। जब तक यह दिया जलता है गृहस्वामी या कोई भी घर का आदमी उसके बुझ जाने तक पहरा देता रहता है। बुझ जाने के बाद इसे उठा लाया जाता है और दूसरे दिन लक्ष्मी पूजा मे सम्मिलित कर लिया जाता है। जुआरी इस दिये को चुराने की घात मे रहते है। उनका विश्वास है कि यह दिया जुआ, सट्टा, रेस-खेलने या लाटरी टिकिट खरीदते समय जेब मे रहे तो निश्चय ही जीत होती है।

वैवाहिक टोटके

जिन पुरुषो का ज्यादा उम्र तक ब्याह नही होता उनके लिए यह विधान है कि वह कुम्हार

की चाक फेरने की लकडी चुरा लावे। उसे बृहस्पति के दिन घर लीप पोत कर लहँगा-दुपट्टा इगुर, बैंदी, महावर लगा कर कोने मे खडा करे ओर उसकी गुड चावल मे पूजा करे। सात बार सात लकडी चुराने के वाद जितना ही कुम्हार कुपित हो कर अपशब्द कहेगा उतने ही शीघ्र इसका प्रभाव माना जाता है।

घरो मे देवउठान एकादशी के दिन कच तथा देवयानी की पूजा होती है। कच ओर देवयानी की मूर्त्ति ऐपन (हल्दी ओर चावल आटा पीस कर, घोलकर तैयार किया जाता है) मे वनाई जाती है और उसे पटले से ढक दिया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सूर्य भगवान् देवयानी के पिता है और उनका कन्या तथा उसके पति का मुख देखना वर्जित है। द्वादशी के सवेरे ही घर के कुमार लडको या कुमारी कन्याओ को पटले पर विठा दिया जाता है। विश्वास है कि एक वर्ष के अन्दर उनका अवश्य व्याह हो जाता है।

दिक्शूल के लिए "प्रस्थान"

पचाँग के अनुसार यदि किसी व्यक्ति को विशेष दिशा मे जाने के लिए दिक् शूल (या दिसासूल) हो तो इसके लिए प्रत्येक वार के लिए टोटका है। रवि को पान खाकर जाय, सोम को शीशा देख कर जाय। मगल को थोडी सो वायविडग खा कर जाय। वुध को जाना किसी भी दिशा के लिए वर्जित है। फिर भी न वने तो पेडा खा कर जाय। बृहस्पति को राई खा कर जाय। शुक्रवार को धनिया खा कर जाय और शनि को माथे पर हल्दी का टीका करा के जाय तो दिक्शूल नही होता।

यदि बुधवार को जाना ही पडे या अन्य किसी दिन जाना पडे जिस दिन दिशाशूल हो तो उससे एक दिन पूर्व एक रुमाल मे (एक वस्त्र में) थोडे से चावल, एक हल्दी की गाँठ तथा दो पैसे बाँध कर घर से वाहर किसी मदिर या देव स्थान मे रखा दे। हल्दी उस व्यक्ति की प्रतीक है। चावल उसके भोजन, दो पैसे राह का खर्च तथा रूमाल उसके कपडो का प्रतीक समझा जाता है। उसे एक दिन पूर्व कही देवस्थान पर रख आने का अर्थ है कि वह व्यक्ति एक रोज पूर्व ही यात्रा पर चल पडा है और मदिर मे विश्राम कर रहा है। कुग्रहो का प्रभाव इस तरह नष्ट हो जाता है। इस विधान को प्रस्थान या लौकिक भापा मे परस्थान कहते है। यह सर्व शिक्षित या अशिक्षित घरो मे ही नही पूर्ण शिक्षित लोगो मे भी प्रचलित है।

धनवान् होने के टोटके

पहली वार काली विल्ली वच्चे दे तो उसकी जेर (खेडी) किसी तरह प्राप्त कर ले। (प्राय विल्ली उसे स्वय खा लेती है।) उसे सुखा कर रुपये रखने की थैली, पिटारी या तिजारी मे रखे। प्रत्येक मगलवार को धूप देता रहे। इसी तरह दो पूछ की छिपकली को मार कर सोने या चाँदी के तावीज मे भर कर रुपये रखने के स्थान पर रखने से वहाँ सदा लक्ष्मी का वास रहता है।

राज या कारीगरों के टोटके

नक्काशी का काम करने वाले कारीगर या सगतराश धातु लकडी या पत्थर पर सुन्दर पच्चीकारी का कार्य करते है। उक्त वस्तु के पूरे बनने के पूर्व इस पर कोयले से उल्टे सीधे त्रिभुज इस प्रकार बना देते है कि एक तारा-सा बन जाता है। इसी तरह मेहराबे खडी करने के बाद उनमे कोयले की पोटली या काले डोरे मे पिरोया हुआ नीबू टांग देते है।

विभिन्न रोगो के टोटके

दाढ के दर्द को झाडने वाला यह कह कर "ले तेरा मेहमान संभाल" किसी वृक्ष मे एक कील गाड देता है। दर्द चला जाता है। कहावत है कि जब तक कील वृक्ष मे ठुकी रहेगी दर्द न उभरेगा। पीलिया रोग मे रोगी को सरसो के तेल मे (कटोरे मे भर कर) उसका प्रतिबिम्ब सात दिन दिखाते है। शरीर मे चिट्टे या दाग पडने पर रोगी को भगिन का (जब वह सफाई करने के वस्त्र पहने हो) आलिगन करने को कहा जाता है। भगिन की जितनी भी गाली मिले टोटका उतना ही सफल माना जाता है। मिरगी रोग मे जूते का तला सुघाने का विधान है। तिजारी मे मरीज से छिपा कर गुड मे लपेट कर मक्खी खिला देने का विधान है। इकतरे मे रोगी अपनी लम्बाई के बराबर का कच्चे सूत का धागा ले। जिस दिन बुखार आने की पाली हो, सवेरे ही उठे और पीपल के वृक्ष मे जाकर धागा बॉध आये बॉधते समय कहे---मेरा मेहमान आये तो तुम सॅभाल लेना। पीपल के स्थान पर मदार के वृक्ष से भेंट करते हुए (गले मिलने के ढग से) कहे---'मेरे मेहमान का आज तुम्हारे घर निमन्त्रण है।'

वर-वधू की रक्षा के लिए टोटके

विवाह की तैयारियो अर्थात् तेल चढने के दिन से वर वधू को हाथ मे कटार रखने का आदेश दिया जाता है। विश्वास यह है कि सुन्दर वर को परियाँ उडा ले जाती है और वधू पर भूत, प्रेत, जिन आदि दुरात्माओ का आवेस हो जाता है। इसीलिये कुछ जातियो मे वरवधू को फेरो मे पूर्व झाडू की सीको से मारने का रिवाज है। इससे यदि कोई प्रभाव है तो निकल जाता है। विवाह वाले घर पर लकडी की चिडिया इसीलिए रखी जाती है कि आने वाले कुप्रभावो को वह अपने ऊपर झेल ले। मडप के चारो खम्भो के सहारे पाँच छोटे-छोटे घट रखने तथा उनमे खीले आदि डालने का अर्थ भी यही है कि चारो दिशाओ से वरवधू पच तत्वो द्वारा सुरक्षित है। पच तत्व मे शरीर रचना होती है।

सपनो के प्रभाव निवारण के लिए

यदि रात को किसी भी समय कोई बुरा सपना देखा हो तो सबसे पहले शौच करते समय

उस सपने को मन मे दुहराले या गुरु, मित्र या पत्नी से कह दे। इससे सपने का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

हत्था जोड़ी तथा सेई का काँटा

मुख्यत अशिक्षित स्त्रियाँ पति की उपेक्षा को दैविक समझती है या फिर सास द्वारा पति को कुछ कर दिया मानती है। इसके लिये वह हत्था जोडी खरीदती है। हत्था जोडी के घर मे रहने से पति-पत्नी का दिल इसी तरह मिल जाता है जिस तरह की हत्था जोडी मे दोनो हाथ। यह हत्था जोडी गोहरे नामक जन्तु के पेट से निकलती है। एक छोटी-सी हड्डी पर दो मिले हाथ बने रहते है। इसे सिन्दूर मे रखा जाता है और होली, दिवाली तथा सूर्य, चन्द्र ग्रहण के पर्वों पर उसे धूप दी जाती है। आरम्भ मे पत्नी को हत्था जोडी को पति के पास जाते समय अपने पास रखना चाहिए। इससे पति एक दास की भाँति आज्ञा पालन करने लगता है। बाद मे उसको घर मे रहना ही पर्याप्त है।

इसी प्रकार यदि किसी के घर मे मजाक मे लड़ाई करानी हो तो गोधली के समय किसी तरह सेई का काँटा उसके घर मे रख आये। लड़ाई हो जायेगी और रखने वाला इस मजाक का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। कभी-कभी लोग वैर भाव से ऐसा करते है।

टोटके या टोने का आश्रय न लेने पर भी यद्यपि जीवन क्रम मे कोई अन्तर नही पडता किन्तु मनुष्य जन्म से ही आशावादी है और इसलिये वह अपनी तथा अपने प्रियजनो की उन्नति, सुरक्षा तथा स्वास्थ्य के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसी विचार से प्रेरित होकर वह मगल कामना के हेतु टोटको का आश्रय लेता है। और जिस वस्तु से किसी प्रकार की हानि न हो उन पर विश्वास करने या उनका प्रयोग करने मे बिगडता ही क्या है, इसीलिये टोटके गृहस्थ जीवन मे दैनिक कर्मो की तरह कार्यक्रम मे सम्मिलित हो गये है।

भीली महीने और मान्यताएँ

श्री नेमीचन्द जैन, एम० ए०

आदिवासी कही जानेवाली भील जाति की अपनी एक परम्परा है, जिसका मूल स्रोत लोक-सस्कृति है। उस परम्परा के अन्तर्गत भील लोग बारह महीनो पर अपनी कैसी मान्यता रखते है, और उस मान्यता के अन्तर्गत जो नाम—आख्या है, उस का क्या तात्पर्य है, इसी का विवेचन इन्दौर क्रिश्चियन कालेज के प्राध्यापक श्री नेमीचद जी ने इस लेख मे किया है।
—सपादक

सदियो के सैकडो सास्कृतिक अनुभव एक लोकोक्ति के निर्माण मे समर्थ होते है। और फिर लोकोक्ति बनने से क्या? जबतक जनाभिरुचि की कसौटी पर वह खरी नही उतरती, जनता उसे चलता-सिक्का नही कर देती, तबतक उसका अस्तित्व सशय-सकुल ही रहता है। लोक-साहित्य का इतिहास इस बात का मजबूत प्रमाण है, कि सहस्रो अनाम जनश्रुतिकारो और जानपद गृहणियो ने ही लोकोक्तियो का प्रणयन और प्रसारण किया है। आये दिनो हम जिन सैकडो लोकोक्तियो, सुभाषितो, मुहावरो ओर कहावतो को सुनते-सुनाते हैं, उनमे लोक-सस्कृति की जो जीवन्त, रसवन्त और आयुष्मन्, आत्मा है, वह और कहाँ? छोटे छोटे सूत्रो मे जीवन का सम्पूर्ण रस और वैभव सचित कर पाना इन्ही रस-सिक्त सकोरो का काम है।

ग्राम्य उक्तियाँ, मुहावरे और कहावते जनता के सास्कृतिक जीवन की सबोल व्याख्याए होती है। इन्हे देख-सुन कर हम न केवल जनपद के स्थूल सास्कृतिक सामाजिक, आर्थिक, कौटुम्बिक ओर वैयक्तिक जीवन की झाकी ही ले पाते है, वरन् इनमे हमे यदा-कदा जिन्दगी का वह जश्न और वैभव मिलता है, जो इतिहास के सन्-सवती रेगिस्तान मे ढूढे से नही मिलता। इनका आधार ग्रहण कर हम सम्बन्धित जीवन का पूर्ण ओर स्वस्थ परिचय भी प्राप्त कर सकते है।

आदिवासियो के व्यवहार मे आनेवाली लोकोक्तियो मे भी सदियो पुरानी सस्कृति के स्वस्थ स्पन्दन सुरक्षित है। पर आज हम अपने इस यत्र-सकुल जीवन मे उनके प्रति चैतन्य कहाँ है? यदि हम लोक-सस्कृति के इस वैभवशाली पक्ष की ओर तनिक भी चैतन्य होकर उसमे सचित मधु के आस्वादन का किंचित् प्रयास भी करे तो विदेशो से अयाचित वैभव की ऊपरी लक-दक को छोड निश्चय हम इस कान्ता-सम्मित-स्नेह से अपने जीवन को पूत-पुनीत कर सकते है इन भीली लोकोक्तियो मे हमे जहा एक ओर भाषा के निरन्तर विकास पा रहे स्वरूप का आभास

मिलता है, वही उनके द्वारा शताब्दियो मे मजती चली आरही रुढियो और मान्यताओ पर भी प्रकाश पड़ता है।

खेतिहर-आदिवासी का जीवन जिस खरे पसीने और खरे अनुभव पर बीतता है, उसे वे ही महसूस कर सकते है, जिन्होने बेहद ककरीली जमीन पर अपने बगबगे को ढाई हाथ का "कसोटा" पहने नगे वदन बेलो के साथ दौड़ते देखा है। इन्ही आदिवासी खेतीहरो के ऊष्मा के प्रखर ताप को देखा तो उसकी कुदरत को लोकोक्तियो मे घेर लिया, बरसात का लुभावना मोसम आया तो खेत, खलिहान-कबीले और जलचर के सामसी सबधो पर मुहावरे बना दिये और शरद् का आवागमन हुआ तो अपने अनुभव अनागत पीढियो के लिए सुरक्षित रह सके इस मशा से उन्हे भी उक्तियो का अमृत पिला दिया। जैसे भी हुआ इन दूरदर्शी खेतिहरो ने अपने बहुमूल्य तजुर्बो और ईजादो को पुश्त-दर-पुश्त के लिए अमिट विरासत के रूप मे रख छोडा।

इन्ही आदिवासी लोकोक्तियो के अध्ययन मे हमे भीली रीति-रिवाजो काल-क्रमो आदि, का भी अदाज मिलता है। आदिवासी भी हिन्दुओ की तरह वर्ष मे बारह महीने मानते है —सेत, वैहा, जेठ, आहाड, हावण, भाद्रवो, कुवार, कातक, आगण, पोह, माघ ओर फागण।

"सेत-सेतरे" (चैद वंचना करता है)

भीलो का नया साल "सेत माह" (भीली भाषा मे "च" और छ" वर्णो का अभाव है इनके स्थान मे "स" वर्ण का ही प्रयोग होता है) से आरम्भ होता है। जैसा कि ससार की प्रत्येक जाति और समुदाय साल का प्रारम्भ उत्सवो और समारोहो से शुरू करता है, भीलो का जीवन भी रसवन्ती उमगो, प्रेरणाओ और जश्नो की गोद मे सैर-सपाटे, सुरा-सगीत और जश्न-जिन्दगी के मधु झोको मे तरानो की मादक धुन के साथ आगे बढता है।

"सेत" की प्रतिपदा को भील "धुलेडी" का जश्न मनाते है। एक दूसरे पर जमकर धूल की बरसात होती है और फिर एक-एक कर सभी "जय गणे बाबा" के गगन-भेदी घोष के साथ "माँ-धरितो-मिट्टी" की छाती पर हल-बक्खर लेकर उससे सोना उपजाने मे जुट जाते है। इसी प्रतिपदा से द्वादशी तक "नायण" का पर्व चलता है, जिसमे भील-स्त्रियाँ अतिथियो को घेर कर गीतो की नशीली धुन के साथ बक्शीशो की माग करती है। उक्त बारह दिन भीलो की जिन्दगी मे विनोद और उमग के होते है। वे इन दिनो प्राणो की वीणा पर जिस अक्षय सगीत के सुर छेडते है, वे गगन-के-स्वर-कोष मे सदियो के लिये किसी बेश-कीमती निधि की भाँति बन्द कर लिये जाते है।

त्रयोदशी को "गडपाडवो" (गडभराय) की विधि सम्पन्न होती है। भील-समुदाय एक ऊँचे स्तम्भ के चारो ओर एकत्रित होकर किसी प्रमादी धुन मे मर्म-भेदी सगीत आलापते है। मृदग और भीली वाद्यो के नशीले स्वरो मे तब समीपस्थ वातावरण कितना मोहक और मत्र-मुग्ध होता है? इस अवसर के नृत्य लोकजीवन मे विभोरता के प्रतीक होते है।

शुक्लपक्ष की नवमी को "परोलिया (थादला) का मेला" लगता है और ठीक इसी तरह पूर्णिमा को काकेज (थादला) का मेला लगता है। इस मेले मे वाझ स्त्रियाँ "हमू माता" से सन्तति-लाभ की मनौतियाँ करती है। जैसा कि भीलो मे प्रचलित है कि "सेत-मेतरे" चैत्र छल करता है"—वे पूर्णिमा के दिन निद्रा और प्रमाद के भय से "खाटला (पलग)" पर नही बैठते।

भीलो के इस माह के प्रमुख मनोरजन "हाहो रमो" (खरगोश का शिकार) "हलेल" (बडे पैमाने पर मछली मारना), और "मेलो देखवो" (मेले देखने जाना) होते है।

सक्षेप मे भीलो का "सेत" जिन्दगी और जश्न के पालनो मे वीतता है। जोर की गरमी पडने के कारण भीलो मे "सेत वहा और जेठ" रत्तोकाल" कहे जाते है—इन्हे "रक्त-शोपक" माह कह कर पुकारा जाता है। भीलो के त्योहार अक्सर हिन्दुओ के त्योहारो से एक दिन उपरात मनाये जाते है।

वैहा (वैशाख)

वैशाख शुक्ल तृतीया को आदिवासी "आखर तीज" (अक्षय तृतीया) का पर्व मानते है। सम्पूर्ण वैशाख वे अपने खेतो मे कठोर परिश्रम करते है। यह कहावत कि "वैहा" के दिनो मे" न खाट पर बैठो, न सोओ (दने खाटले बैठो न हूवो)। इसी तरह वे इन दिनो अवकाश के क्षणो मे रस्सियाँ भी भाजते है। ("हाहेडा मागवो")। यह महीना खेतो की सफाई का भी होता है। भील-खेतिहर इन दिनौ अपने अपने खेतो का सारा कूडा-करकट जला डालते है। इस विधि को वे "पूजा वालवा" कहते है।

जेठ (ज्येष्ट)

पावस के कजरारे मेघ घिर आने के पूर्व ही "भील-खेतिहर" अपनी खेती सम्बन्धी व्यवस्थाएं पूरी कर लेता है। कहावत है, "जेठ सेताडे" —जेठ का महीना बकाया कामो की याद दिला देना है। चूकि मौसम के जानकार खेतिहार-भील जानते है, कि "जेठ आवा हेठ" (ज्येष्ठ मे वन्-घटाओ की उमस आरम्भ हो जाती है।)" इसलिए वे "खातर पूरॉ करे"—खाद तैयार करते है। "होल मागल, गड, झोहरू करे"-हल वक्खर और जूए की मरम्मत करते है, "मारया टूटया टापॉ हदारे"—टपरे की टूट-फूट को ठीक करता है और "वालीटो नॉ लाकडॉ लावे" ईधन सचित करता है। सक्षेप मे, वारिश के पूर्व का उसका यह महीना चौमासे की समस्याओ के समाधान मे वीतता है।

आहाड़ (आषाढ)

"जेठ" वीता, आहाड" आया। यह महीना "वावणी" मे वीतता है। खेतिहर भील के जी मे आता है, कि देखो भीगी घटाएं घुमड आयी है, वोनी कर डालो" और वह पडता पानी

की बावणी की विधि समझकर विभोर हो उठता है। बावणी और विश्राम में ही उसका यह महीना बीतता है।

"हावण में हेरा-हेरो"

हावण मे सेरो की धूम रहती है। झड़े लगती है, टूटती है। पानी बरसता है, थमता है। धवल पखवाड़े की दूज को "दिवाहो (दिवासा)" मनाया जाता है, जिसमे जुताई-बुवाई सर्वथा निषिद्ध रहती है। पूर्णिमा के दिन "राखी" का पर्व रहता है जो भीलो मे पूरे एक माह तक चलता है। इन दिनो आदि वासी परिवारो के मेहमानों की आमद-रफ्त तेजी पर रहती है। 'नान्दनी जातर" पर पकवानो की बहार रहती है।

सावन के सेरे भील-किसान के टापरे पर सोना दरस जाते है।

भाद्रवो (भाद्रपद)

भाद्रपद का महीना "भील-खेतिहर" के लिए भक्ति की उमग लेकर आता है। "भादवो" की सातोको दोहद मे "गोवलियु"—कृष्ण आपाणक भरता है। अष्टमी को "गोकल-आठम" (कन्हैया की जन्मगाठ) मनायी जाती है। कृष्ण पक्ष के बाद धवल-पक्ष की तृतीयाँ को 'दोहद" के व्यापारी "पस्समाना" का त्यौहार मनाते हैं। यद्यपि आदिवासियो का इस त्योहार से कोई विशेष सम्बन्ध नही होता फिर भी उनके दो बड़े त्योहार "होली" और "दशहरा" (गगा मैया) का जन्म दिन) इसी तिथि के आधार पर निश्चित होते है। वे ११ दिन तक परसमणा, १३ दिन तक हरादा (श्राद्ध), ९ दिन तक "नौर्ता" (ज्वारा") १०मी को 'दाहरो" (दशहरा), और २०मी (दशहरे के बीसवे दिन) को दिवाली मनाते है। भाद्रपद की पूर्णिमा को अनपुरा (धादला) मे "मालखमा (मालक्ष्मी) "नौ मेलो" लगता है जिसमे बाझ-स्त्रिया सन्तति की कामना करतीहै।

"हाथियो कुवार"

"कुवार अनिश्चित वर्षा के लिए विख्यात है। भीलो मे कहावत है कि "हाथियाने ह अडे ? जइ सुड फरे तई खरें"—हाथी को क्या रुकावट जिधर सुड फिरी वही बरसात। इन दिनो स्थानीय बरसात (बोछारो) की अधिकता रहती है।

कातक (कार्तिक)

दिवाली के अवसर पर भील वर्ग "मेर मेरिया' त्यौहार मनाता है। "स्नेह-सम्मेलन" की तरह पास-पडोस के आदिवासी एकत्रित होकर इस अवसर पर खूब जश्न करते है। पूर्णिमा के एक दिन पहले और दिवाली के एक पखवाड़े बाद "गाइला" (काली मघ्दे) का पर्व मनाया जाता है। जिसमे दिन को "गाता-पूजा"—समाधिस्थ वशजो के प्रस्तर-स्मारको की पूजा और रात

को "आंखे उगाडवियें" (रतजगा) किये जाते है। "तल हकान्त" तपस्या का दिन होता है। इस दिन भीली परिवारो मे "आलोने भोजन ओर कडी मिहनत" का स्वागत जोरो पर होता है।

आगण (अगहन)

कहावत है "आगण की वानली खूव फलती-फूलती है"—"आगण ना आगला, न पोहना पातला।" "पोह-पाह" की "वावली" दुवली फसल देती है। "उनाल (ग्रीष्म) की "वावली" भी इसी समय सम्पन्न की जाती है।

"पोह-पोहे"

भीलो की मान्यता है कि "पोह पौहे" फसलो का पोषण करता है (पोह-पोहे) शरद् कालीन फसले इस महीने तक पहुँच कर पकने लगती है।

माह (माघ)

"होली-आई" की गूज के साथ भील खेतीहर माघ मे "होली नो अडो ऊबो करे" (होलीन का डाड खडा कर देते है)। होली की तैयारियो का यह माह भी वडा रसवन्त होता है।

फागण (फाल्गुन)

आदिवासियो के वरस का यह महीना रस की भीनी फुहार मे वीतता है। "आमली-ग्यारस" अलवत्ता लडके-लडकियो की जान की आफत का दिन होता है। इस दिन वे व्रत-उद्यापन आदि करते है। इस महीने होली की तीन रस्मे बडे जश्न के साथ पूरी होती है —

"होली वालवीं" (होली जलाना)
"गल फरवूं" (डाड के निकट नृत्य करना, धुनगाना)
"आर सूल वाल वूं" (जलते चूल (सूल) के अगारो पर से निकलना)

इस तरह भीलो का पूरा वरस शहर के "यत्र-सकुल" वरस से कही अधिक रससिक्त और सरल होता है, वहाँ प्राणो की झझट कहाँ ?

कुमाऊँ का लोक-जीवन

श्री रमेश जोशी

कुमाऊँ प्रदेश के निवासी श्री रमेश जोशी ने वहा के साधारण लोक-जीवन के आचारो का परिचय इस लेख मे दिया है। —सपादक

प्रत्येक स्थान की अपनी विशेष सस्कृति होती है, जो वहा के निवासियो के लिए विशेष महत्व रखती है। आज हम देश मे कही की भी स्थानीय सस्कृति को उसके वास्तविक और शुद्ध रूप मे नही पाते। बगाली, गुजराती मराठी सभी स्थानो की सस्कृति की यदि वहा की प्राचीन सस्कृति से तुलना की जाय तो बड़ा भारी अन्तर मिलता है, किन्तु कुमाऊँ ही एक ऐसा प्रदेश है, जहा अभी तक सस्कृति अपने प्राचीन शुद्ध रूप को धारण किये हुये है। इसका मुख्य कारण अब तक कुमाऊँ मे यातायात के साधनो का आभाव रहा है। यातायात के साधनो द्वारा केवल वस्तु और निवासियो का ही नही, प्रत्युत सास्कृतिक आदान-प्रदान भी होता है। जहा यातायात के साधन है, वहा अन्य स्थानो से लोग आकर रहते है। अनेक आचार विचार रहन-सहन के ढग और अन्य रीति-रिवाजो का उस स्थान के रहने वालो पर प्रभाव पड़ता ही है। इस प्रकार जब वे लोग परस्पर मिलते-जुलते है, रहते खाते है, तो इस आदान प्रदान से एक नयी सस्कृति जन्म लेती है।

— कुमाऊँ की सस्कृति मे हमे भारत की प्राचीन सस्कृति की ओर यहा के निवासियो के विचारो मे प्राचीन आदर्शवाद की झलक मिलती है। ब्राह्मण ओर गाय का यहा अब भी वही स्थान है, जो हमे भारत की प्राचीन गाथाओ मे मिलता है। खेतीबारी ही लोगो का मुख्य पेशा है अधिकाश लोग इसी पर गुजर-बसर करते है। प्रत्येक घर मे गाय, बैल तथा भैस का होना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। पशुधन परिवार का एक बड़ा अग माना जाता है। इसका इतना अधिक महत्त्व है, कि दो परिचितो या मित्रो के मिलने पर कुशल सम्बन्धी अन्य प्रश्नो के साथ एक प्रश्न यह भी रहता है, कि 'छिनालि पाणी' जिसका मतलब घर मे दूध देने वाली गाय या भैस स है। महिलाएँ लहगा पहनती है, जो भारतवर्ष का प्राचीन पहनावा है। आभूषणो मे मुख्य आभूषण नथुनी होती है। शूद्रो को छोड़ कर यज्ञोपवीत सभी वर्ग के लोगो का होता है। वर्ण विभाग का बड़ा ही उत्कृष्ट और शुद्ध स्वरूप हमे यहा देखने को मिलता है। ब्राह्मण पूजा पाठ करते है, क्षत्रिय खेती करते है और सेना मे भर्त्ती होते है। वैश्य, जो यहा साह वश के नाम से प्रचलित है, व्यापार करते है। शूद्र लोग सेवा करते है। ब्राह्मणो के खेतो मे हल भी वे ही लोग चलाते है, क्योकि प्रथा-नसार ब्राह्मणो को हल जोतना वर्जित है।

हिमालय की तलहटी के कुमाऊँ प्रदेश की स्थानीय सस्कृति मे पूजा-पाठ का एक विशेष स्थान है। प्रत्येक सामाजिक रीति-रस्म के साथ प्रारम्भ मे धार्मिक कृत्य का विधान यहा है। इसी से यहा के निवासियो के धर्मपरायण होने का बोध होता है। कूर्माचल का व्यावहारिक धर्म तीन वडे विभागो मे विभक्त किया जा सकता है। बौद्ध धर्म, भूतप्रेत पूजा और सनातन धर्म। कुमाऊँ के उत्तरी भाग का तिब्बत के साथ अधिक सम्बन्ध रहा है और उत्तरी भाग मे अधिकाश मगोल ओर शक जाति के लोगो की आबादी है, इसलिए बोद्ध धर्म यहा बिगडे हुए रूप मे माना जाता है। हिमाचल प्राचीन काल मे ही देवी-देवताओ की भोग भूमि रहा है। शिव और पार्वती का तो यह खास स्थान रहा है। ओकली साहब ने अपना होली हिमालया नामक पुस्तक मे लिखा है कि शिव की पूजा की कल्पना हिमालय पर्वत मे ही प्रारम्भ हुई। शकराचार्य से पहले यहा बौद्ध धर्म रहा यह बात निर्विवाद सत्य है, क्योकि कत्यूरी राजा पहले बौद्ध थे, बाद मे शैव हो गये। बौद्ध काल मे निराकार परब्रह्म की पूजा होती थी जो निराकार प्रकृति से मिलती जुलती थी।

वैष्णव लोग पहाड मे नही आये और आये भी तो इने-गिने। अत माला कठी वाले दीक्षित वैष्णव यहा बहुत कम है। सभी लोग प्राय पचदेवोपासक स्मार्त है। शिव और शक्ति मदिरो की सख्या यहा ३५० से भी ज्यादा है। दस्यु या शूद्रो का धर्म पेड-पौधो तथा भूतप्रेतो की उपासना रहा है। इसका प्रभाव मुगलकाल मे या उससे भी पहले कुमाऊँ मे बसने वाले लोगो पर इतना अधिक पडा कि ऊँचे देवताओ की पूजा कम की जाती है। छोटे-मोटे कुल देवता, गृहदेवता और ग्राम देवताओ की ही अधिक मान्यता दी जाती है। जादू-टोना तथा तत्र शास्त्र के बिगडे हुए रूप को ही यहा प्रधानता प्राप्त है। लोग जड-पदार्थ, जादू-टोना, भूतप्रेत और 'जागर' पर अधिक विश्वास करते है।

भूतप्रेत पूजन के सिलसिले मे एक विचित्र रीति यहा प्रचलित है, जिसे सभी वर्णो के लोग समान श्रद्धा और उत्साह से मानते है। जिसे यहा की भाषा मे 'जागर' नाम से पुकारा जाता है। 'जागर' शब्द जागरण का अपभ्रश प्रतीत होता है परन्तु यह रिवाज कब से यहा प्रचलित हुआ यह विदित नही। जागर सात दिन या तीन दिन तक लगता है। जब किसी परिवार मे कोई बीमार पड जाता है या दैवी दुर्घटना मे पीडित होता है तो उसके स्वास्थ्यलाभ के लिए घर की बडी-बूढी औरत कुल देवता के सामने एक पोटली म कुछ चावल और यथा शक्य द्रव्य बाध कर, उसे पीडित व्यक्ति के माथे के चारो ओर तीन बार घुमाकर यह वायदा करती है, कि बीमार के अच्छे होने पर देवता को मनोती चढाई जायगी।

यथा समय बीमार के अच्छा होने पर साधारण रूप से देवता की पूजा होती है और यदि जागर की मनौती मानी गई हो तो वह व्यक्ति या उसके घर का बडा-बूढा जागर का आयोजन करता है। किसी देवस्थल पर या घर मे देवता की वेदी के पास ही जागर लगाने वाला जगरिया बैठता है। यह जगरिया कोई विशिष्ट व्यक्ति होता है जिसका, काम ही जागर लगाना है। जागर रात्रि को लगता है। देवस्थल मे अगर जागर लगे तो वहा एक स्थान पर आग जलाकर लोग

किन्हीं देवी-देवताओं की स्तुति या देव-दानव संग्राम का वर्णन प्रारम्भ करता है। देवी भागवत की तरह इसका भी वाचन प्रारम्भ होता है।

जगरिया गाता है, कि "भैव पट्टू राजाले पाच बाण छोड्या वीका चेला ससुवाले नं.। बाण छोड्या" आदि आदि जिसका भाव यही है, कि एक बार संग्राम में अमुक राजा ने इतने तीर बरसाये और उसके पुत्र ने अनगिनत तीर बरसा कर शत्रु को विह्वल कर दिया। गाने मे जब जोश आता है और जोर-जोर से कांसे की थाली बजने लगती है तो पास बैठे लोगों को भी जोश आ जाता है। कुछ लोगो के जिनके शरीर में देववाहिनी आती है कांपनी छूटने लगती है। देववाहिनी अपनी भूख शान्त करने के लिए जलते हुए दिये की लौ, जलते हुए कोयले इत्यादि खाती है और उसे बलि, मदिरा आदि की घूस देने वाले याचक की मांगे पूरी करने का वचन देती है।

पारायण के दिन बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता है। बकरे की बलि दी जाती है और यह माना जाता है, कि इस दिन किसी प्रकार पूजा मे विघ्न पड़ने से आकस्मिक देवी कोप का भाजन बनना पड़ेगा। इसी प्रकार जागर का दूसरा रूप बैसा भी है जो बाइस दिन तक चलता है।

यहां के सामाजिक त्योहारों में खतर हुआ, ओगलिया और घुघुतिया या घिपुत्ती के त्योहार उन त्योहारो के अलावा है, जो लगभग समस्त भारतवर्ष में मनाये और माने जाते है। कन्या संक्रान्ति को गावों मे बालक फूल के झंडे बनाते हैं और एक सार्वजनिक स्थान पर घास-पात, लकड़ी फूस जमा कर उसमे आग लगाई जाती है। लड़कों का दल फूल गूथे हुए झंडे लेकर 'मैलो खतर हुआ मैलो मैलो' गाता हुआ आग के इर्द गिर्द घूमता है और अन्त में वह झंडे भी आग मे डालकर जला दिये जाते हैं। यह त्योहार कमाऊं मे चंद राजाओं के काल मे प्रचलित हुआ जब कि किसी चंद राजा ने गढ़वाल विजय की थी और गढ़वाल का सेनापति खतड़ सिंह मारा गया था। इसीलिए लड़के आगे गाते हैं। मैलो की जीत खतड़ की हार, मैलो खतहुआ मैलो, मैलो।

स्थानीय त्योहारो मे दूसरा त्योहार सिंह संक्रान्ति या ओगलिया है। पहले चंद शासन काल मे शिल्पज्ञ कारीगरी की और दस्तकारी की चीजे राजा को भेंट कर यथायोग्य पुरस्कार पाते थे। उस समय यह 'ओगल' की प्रथा कहलाती थी। यह प्रथा अंग्रेजी शासन काल में बड़े दिन के अवसर पर अंग्रेजो को या बड़े अफसरो को डाली दिये जाने के समान थी। उरद की दाल के बड़े बनाकर इस रोज खाये जाते हैं। घिवाली के दिन सभी वर्ण के लोग अपने घरो मे मिष्टान्न आदि बनाते है। कई स्थानो पर मेले जुड़ते है। हुड़का बजाकर पहाड़ी गाने गाये जाते है। यह यहां की मूल निवासी जातियों का प्राचीन उत्सव है।

हुड़का बजाकर गाने का रिवाज कुमाऊ की सवर्ण जातियो को छोड़कर अन्य प्राय सभी जातियों में, विशेषकर कृषि कर्म करने वाली जातियो में पाया जाता है। ब्राह्मण वर्ग के सामाजिक रीति-रिवाज अन्य सभी वर्णो के रीति रिवाजो से भिन्न है।

वर्ष हो गये। सतो के ग्रथ, काव्य सग्रहादि मासिकपत्र, भजनीवाडे, शाहीरो के पोवाड, स्त्रियो के गीत, भूपाली-आरती की पुस्तिकाए आदि छोटे-बडे ग्रथ पहले ही प्रकाशित हो चुके है। इन्हे पहले कोई लोकगीत कहने को तैयार न था, पर जब अग्रेजी की प्राचीन लोक-कथाए एव लोक-गीत दृष्टिपथ मे आये, मराठी के प्राचीन लोकगीतो के सग्रह की ओर भी लोगो का ध्यान विशेष रूप से गया। तब से इस सबध मे मराठी मे जो पुस्तके प्रकाशित हुई है, उनमे साने गुरुजी की स्त्रीजीवन, सौ० मालतीबाई दाडेकर की लोक साहित्याचे लेणे, चोरघडे की साहित्याचे मूलधन, कमलाबाई देशपाडे की अपौरुषेय वाड्मय, गोरे की वर्‍हाडी लोकगीते, जोशी की लोकगीते व लोककथा आदि पुस्तके तथा कुमारी दुर्गाबाई भागवत, डाक्टर कुमारी सरोजिनी बाबर आदि लेखक-लेखिकाओ के लेख विशेष रूप से प्रसिद्ध है। मराठी के आधुनिक भावगीत अभी लोकगीत की कोटि मे नही आये है।

इस सबध मे और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर इस लेख का कलेवर और अधिक बढाना अभीष्ट न होने से, इतना ही अलम् है।

वर्ष हो गये। सतो के ग्रथ, काव्य मग्रहादि मासिकपत्र, भजनीवाडे, शाहीरो के पोवाड, स्त्रियो के गीत, भूपाली-आरती की पुस्तिकाए आदि छोटे-बडे ग्रथ पहले ही प्रकाशित हो चुके है। इन्हे पहले कोई लोकगीत कहने को तैयार न था, पर जब अग्रेजी की प्राचीन लोक-कथाए एव लोक-गीत दृष्टिपथ मे आये, मराठी के प्राचीन लोकगीतो के सग्रह की ओर भी लोगो का ध्यान विशेष रूप से गया। तब से इस सबध मे मराठी मे जो पुस्तके प्रकाशित हुई है, उनमे साने गुरुजी की स्त्रीजीवन, सौ० मालतीबाई दाडेकर की लोक साहित्याचे लेणे, चोरघडे की साहित्याचे मूलधन, कमलाबाई देशपाडे की अपौरुपेय वाड्मय, गोरे की वऱ्हाडी लोकगीते, जोशी की लोकगीते व लोककथा आदि पुस्तके तथा कुमारी दुर्गाबाई भागवत, डाक्टर कुमारी सरोजिनी बावर आदि लेखक-लेखिकाओ के लेख विशेप रूप से प्रसिद्ध है। मराठी के आधुनिक भावगीत अभी लोकगीत की कोटि मे नही आये है।

इस सबध मे और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर इस लेख का कलेवर और अधिक बढाना अभीष्ट न होने से, इतना ही अलम् है।

येउँ दिनरु मास गला मो गडि
चिन्तारे मोह देह पडिला झडि ॥१॥
येते वेले घडिरे हेलु जनम
पाखे रखिथिसि बहुत जन ॥२॥
बहुत जन याक मोते कहिले
हृदयरु चिन्ता छाड वोलि वोइले ॥३॥
तोते चॉहिले पेट पुरिला मोर
चउ दिन शूल मोर गला पाशोर ॥४॥

जिम दिन से माम बीता, उसी दिन से चिन्ता ने मेरी सारी देह तोड दी ॥१॥ जिम दिन तेरा जन्म हुआ था वहुत आदमी पास थे ॥२॥ अनेक आदमियो ने मुझसे कहा——तुम चिन्ता मन मे छोड दो ॥३॥ तुझे देखते ही मेरे उदर का दर्द चौथे दिन ही मिट गया था ॥४॥

विवाह पश्चात कन्या के ससुराल गमन का अव्यक्त आनन्द-मिश्रित रुदन कैसा होता है। कन्या माता-पिता, भाई-भोजाई से लिपटकर कहती है——

मूलगीत	अर्थ
थाली मारिदेले छउल पाणि वोउलो दरदेश वन्धु के यिव आणि वोउलो	पानी से भरी थाली को धक्का देने से जिस प्रकार पानी उछल जाता है उसी प्रकार दूर देश मुझे भेज दिया है।
दूरदेश वन्धु करिच हाते वोउलो	भला भाई कभी मुझे लाने के लिये जा सकेगा।
	हे माँ, तुमने दूर देश मे वन्धुत्व किया है, मानो——
से फुल फुटइ चइत राते वोउलो	चैत्र माम की रात्रि मे उम फूल को फुलाया है।
से फुल मउले खरा तेजकु वोउलो	वह फूल जिम प्रकार रवि के तेज मे कुँभला जाता है।
झिअ मउलइ वधा पदकु वोउलो	उसी प्रकार इस बात को याद कर कन्या ससुराल जायेगी।
कुआ खाअे धान पिटारे वसी वोउलो	कौवे छत पर वैठकर धान खाते है और वही मिलते है
कुआन मेलण आम्व तोटारे वोउलो झिअन मेलण वाप कोठारे वोउलो	कौवे अमराई मे भी वैठकर मिलते है कन्याओ का मिलन होना वाप के घर मे।

उत्कल के लोकगीत

श्री अनसूयाप्रसाद पाठक

राष्ट्रभापा पत्र (कटक) के सपादक श्री अनसूयाप्रसाद जी उत्तर प्रदेश के निवासी है और उत्कल मे हिन्दी प्रचार कार्य करते हुए अब वही के अधिवासी बन गये है। उत्कल के लोकगीतो द्वारा वहा के लोक जीवन की एक झाकी आपने इस लेख मे प्रस्तुत की है। —सपादक

ऐसा अनुमान होता है कि जब से लोक का सृजन हुआ है तभी से लोकगीतो का भी प्रचलन हुआ है। सामवेद सगीत का आदि वेद है। अनहत् शब्द प्रणव सगीत का आदि उत्पादक है। जिसका सुन्दर नाम है ओम् और उस तीन अक्षर का क्रमश अर्थ है 'अ' से आदि अनहद, अच्छा, 'उ' से उत्तम, उच्च, 'म' से मगल यही सगीत मे ढले। आगे चलकर सगीत देश, काल, पात्र के अनुसार दो भागो मे विभक्त हो गया—एक रोने मे दूसरा गाने मे। रोने के भी अनेक राग है, तरगे है। माता का पुत्र-वियोग के समय का रोना एक प्रकार है। कन्या का ससुराल-गमन के समय का रोना एक प्रकार है, और पति पत्नी के वियोग का रुदन एक प्रकार है। भगवत् भक्तो के रोने का ढग भी अपना है। अपने-अपने दुखी मन के भावो को व्यक्त करने के स्वर भिन्न भिन्न हुआ करते है। कहा जाता है कि सनत सनन्दन कुमारो के मुख से, गन्धर्वो के मुख से, विधि के मुख से आनन्द की उत्पत्ति हुई है। मन की खुशी को जनाने के तरीके एक नही है अनेक है। मन मे जब इतना आनन्द भर जाता है कि समाने को जगह नही होती तो वह उछलने लगता है और फिर वह हँसी के द्वारा, राग-रागिनियो के द्वारा व्यक्त किया जाता है। गीत जीवन का साथी है। नाना झझटो के भार को एक गीत हल्का कर देता है, क्लान्ति को मिटाता है। अवश्य यही शास्त्र बन गया है, इस शास्त्रीय सगीत का मूल स्रोत लोकगीत है।

उत्कल करीब १॥ कोटि जन-बस्ती का छोटा सा प्रान्त है, जिसकी आपनी प्राय ११ वी शताब्दी से लिपिबद्ध की गई भाषा है, उसे अपने पडोसी हिन्दी प्रान्त बिहार, मध्यप्रान्त और बगला-तैलग प्रान्तो के साथ वास करने चलने-फिरने को अवसर मिला है। उत्कल के लोकगीतो मे वहाँ के निवासियो के जीवन की व्याख्या है। गीतो मे हृदय के भार और अधरो की मुस्काने खेलती है—

एक मा पुत्र-वियोग की व्यथा व्यक्त करती हुई कहती है—

येउँ दिनरु मास गला मो गडि
चिन्तारे मोह देह पडिला भाडि ॥१॥
येते बेले घडिरे हेलु जनम
पाखे रखिथिसि बहुत जन ॥२॥
बहुत जन याक मोते कहिले
हृदयरु चिन्ता छाड बोलि बोइले ॥३॥
तोते चाँहिले पेट पुरिला मोर
चउ दिन शूल मोर गला पाशोर ॥४॥

जिस दिन से मास बीता, उसी दिन से चिन्ता ने मेरी सारी देह तोड दी ॥१॥ जिस दिन तेरा जन्म हुआ था बहुत आदमी पास थे ॥२॥ अनेक आदमियो ने मुझसे कहा—तुम चिन्ता मन मे छोड दो ॥३॥ तुझे देखते ही मेरे उदर का दर्द चौथे दिन ही मिट गया था ॥४॥

विवाह पश्चात कन्या के ससुराल गमन का अव्यक्त आनन्द-मिश्रित रुदन कैसा होता है। कन्या माता-पिता, भाई-भोजाई से लिपटकर कहती है—

मूलगीत	अर्थ
थाली मारिदेले छउल पाणि बोउलो दूरदेश बन्धु के यिब आणि बोउलो	पानी से भरी थाली को धक्का देने से जिस प्रकार पानी उछल जाता है उसी प्रकार दूर देश मुझे भेज दिया है।
दूरदेश बन्धु करिच हाते बोउलो	भला भाई कभी मुझे लाने के लिये जा सकेगा।
	हे माँ, तुमने दूर देश मे बन्धुत्व किया है, मानो—
से फुल फुटइ चइत राते बोउलो	चैत्र मास की रात्रि मे उस फूल को फुलाया है।
से फुल मउले खरा तेजकु बोउलो	वह फूल जिस प्रकार रवि के तेज मे कुंभला जाता है।
सिउ मउल बधा पदकु बोउलो	उसी प्रकार इस बात को याद कर कन्या ससुराल जायेगी।
कुआ खाये धान पिढारे बसी बोउलो	कौवे छत पर बैठकर धान खाते है और वही मिलते है
कुआ मेलण आम्ब तोटारे बोउलो कन्या मेलण बाप कोटारे बोउलो	कौवे अमराई मे भी बैठकर मिलते है कन्याओ का मिलन होना बाप के घर मे।

यह कहा जाता है कि कन्याए २० वर्ष जिस घर मे रहती है उसे ससुराल रहने के २० घण्टे मे भूल भी जाती है। एक हद तक बात सही भी है। लेकिन केवल यही कथन सत्य नही है। याद रहती है, दूरदेश वास करने वाली कन्याए कोयल को दूत बनाकर भेजने की कल्पना करती है। कालिदास ने मेघ को दूत बनाया है। हरिऔध जी ने पवन को दूत माना है। लेकिन उत्कल की कन्याओ ने कोयल को दूत माना है। इस भाव-गम्भीरता की ओर कल्पना की जरूरत है। दूत जायेगा, मीठी बोली बोलकर मालिक का काम बनायेगा, भला सोचिये तो कितनी मधुर-सरल सुन्दर सूझ है, वह कोयल से कहती है——

	अर्थ
कोइलि लो मोह पाइ उडि उडि यिबु मो बहु ननाकु कहि मान उद्धरिबुलो कोइलि ॥ १ ॥	हे कोयल, तू मेरे लिये उडकर जा, मेरी माता और पिता जी से कहना मेरा मान रखना। हे कोयल!
कोइलि लो बोउ येवे जन्म करिथान्ता सते न देखिले मोरे सपने देखन्ता लो कोइलि ॥ २॥	ओ कोयल, अगर मा ने मुझे सत्य जन्म दिया होता तो आँखो से न देखकर स्वप्न में भी तो देखती।
कोइलि लो सपनरे कहन्ता ननाकु विकल हे उछि मन आणन्त झिअकु लो कोइलि ॥ ३॥	हे कोयल, अगर मुझे जन्मा होता तो पिता को स्वप्न मे भी तो कहती——मेरा मन विकल होता है बिटिया को जाकर लिवा-लाओ।
कोइलि लो नना येवे जन्म करिथान्ते कान्धे छता हाते वाडि सखोलि आसन्ते लो कोइलि ॥ ४॥	हे कोयल, अगर पिता ने पैदा किया होता तो वह कांधे पर छाता रख और हाथ में छडी लेकर मुझे लेने के लिये जरूर आते।
कोइलि लो भाईना मो राढ पज कला	हे कोयल, मेरे भाई ने भी अभिमान

छ मासकु कण्ट करि
वरषे रहिला लो
कोइलि ॥ ५॥

किया है। छ मास मे आने के लिये कहा था। एक साल हो गया, नही आये।

इसीप्रकार शबर स्त्री-पुरुषो के सवादात्मक गीत बहुत ही मार्मिक होते हैं। नीचे एक आदिवासी 'आइ हाइ' गीत की कुछ पक्तिया इस प्रकार हैं—

स्त्री—उनलुनजेगिइलम्वि डेनसि ड्रिननिजालिकाकु, डेसिड्रिनिजालि॥

पु०—अहजिजिना जेरखालम लविसिनाड्रिना निजलामकाकि, डेसिड्रिनिजालाग॥

स्त्री—आइ हाइ बाबुल नजेगिइलबिडे मिलानिरजालिकाकु डेमिचलान निजालि।

पु०—अह जानाननेर गालामलवि मियलान निरजालाम काकिडे मियलान निरजालाम।

स्त्री—आह, यह देखो मेरे शरीर मे कपडा नही है।

पु०—आह, तू तो पहिनना जानती ही नही इसीलिये तेरे शरीर पर कपडा नही है।

स्त्री—आह, यह देखो मेरे सिर में तेल नहीं है।

पु०—तू तेल लगाना जानती नही इसीलिये तेरे सिर में तेल नही है।

माटिआ, वण्टा और कन्ध जाति के लोग अपनी गीत-प्रीति के लिये अति प्रसिद्ध हैं। उनकी कोमल भावना और सदाशयता उल्लेखनीय होती है। कन्ध जाति के प्रेम-सम्भाषण के समय का यह गाया जानेवाला एक गीत है।

काखि काखि मो मागरे वाहिलेमि।
तागि शिखाइवि उतो इम्वि वेहानि॥
कइ उगु खटि काडु राजा हिले नानु कादु।
ए विति चेमारु काडु इलुकाण्डा आते पाडु॥

अर्थात् मै मामा की लडकी को घसीट कर ले जाऊगा॥
तू अपने भाई बहनो को मत कहना॥
मै मुरगी का गोश्त और शराब नही खाऊगा॥
अगर मै शराब खाऊगा तो घर नष्ट हो जायगा॥

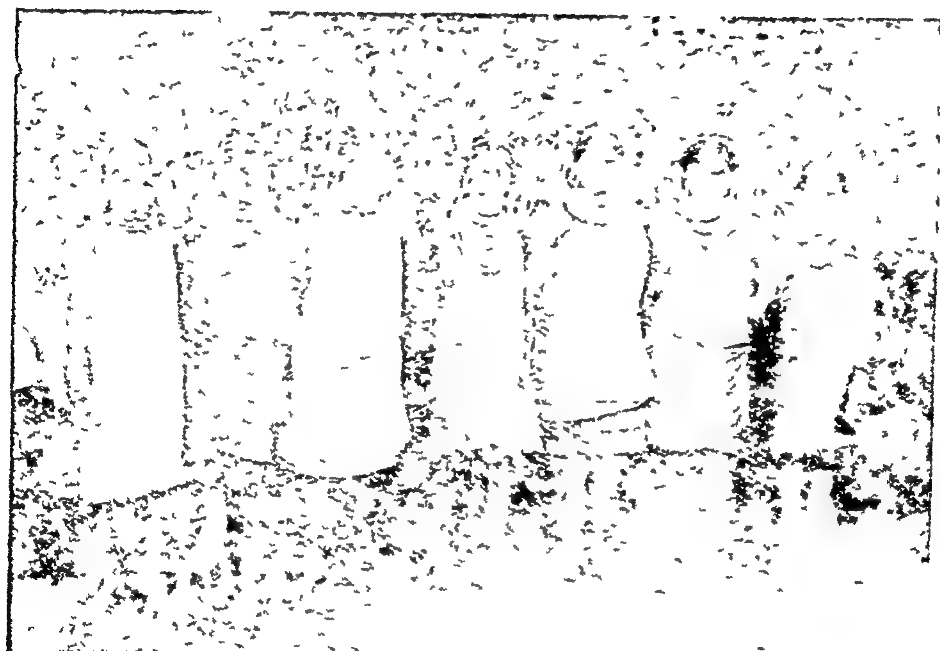
गदवा जाति माता-पिता के प्रेतात्मा को शान्त करने के लिए गाय बैल आदि मार कर पूजा करते हैं, नाचते है, और गाते हैं। इसी समय का यह गीत है —

तिनि पुटी घूलीवन क्तेतक वानुग।
डुलगनमुवे चारि पुटी काचरा॥
क्नेने डुडि गुनम टुल्ग।

नमुवे वातिरि पदा वनाथावे।
सिलिदि पदा वनाचावे॥१॥

कितना सोते हो, यहा वहुत धूल है। ऐसी मैली जगह पर कैसे सोते हो।
खीर और खाद्य सामग्री आदि सब वाहर चले जायें॥१॥

यह "भडिआ परजाओं" का गीत है। इसमें देवर भौजाई की दिल्लगी की बात-चीत है। वे परस्पर कहते है —



गदवा जाति की युवतियों का पग-घुघुरू-रहित नृत्य

ए मित्त भिल भिल भिलइर
तिनि गडा कदुलि भिलरे,
सारि गड़ा कदुलि नुनि,
टिपरो डोरु वान्दा
भिल आम्वेरी गेरआइलेरे भिल हो
विने गेरु बान्दुने भिल
बिने गुरु बासन्दुवे हो॥१॥
साजु दारु अगारु, बिजा दारु अगारु।
तोरि परा मुसुकिमारा जहिआ पिन्दु,

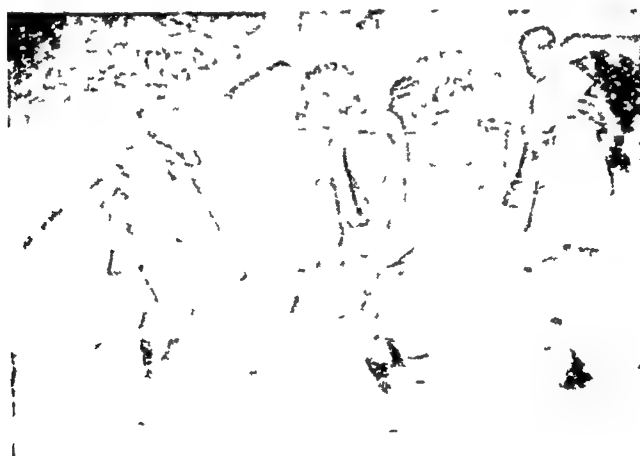
निलाइ झिल कगारुवे निलाइ माँ माडि कगारु हो ॥२॥
धान नुनि सुलेरु माञ्डिआ सुलेरु
तोर कुल वश पचारि कइदेबे टोकि
आमे नाग कुलेरु ॥३॥
खसा डाबा फूल नुनि जुग डाबा फुलु
आमारि घरे अबेलरे ननि पाडा ननि बुलवे ॥४॥

कदली का तीन धौर है, उसे रस्मी से बाध वहगी (कामर) मे हमारे घर लाओ। रे लडकी मै तेरे लिये एक अलग घर वनवा दूगा ॥१॥

'माहाज' लकडी लाते थे और 'विजा' भी लकडी लाते थे, मै उसे जलाती थी। तेरे रहते समय वह मेरे लिये अँगूठी, अलकार ला देता था। अब चोर मुझे ले गया है ॥२॥

धान लाने के लिये जो कामर है माडिआ लाने के लिये भी वही कामर। हमारा कुल तो नागवश है। तुम्हारा कुल क्या है ? ॥३॥

मै तुम्हे वहुत सा फूलो का गहना पहनाऊगा ॥४॥



वडा जाति का नृत्य

ऊपर जिन गीतो का उल्लेख है वह साधारण है। इस के अलावा प्रत्येक जातियो के अपने नियम हैं धार्मिक विश्वास है। कन्धो का एक अन्ध विश्वास है कि नर-बलि से धान धीन (पृथ्वी) तृप्त होती है। उत्कल के लोकगीतो मे विभिन्न संस्कृतियो का समन्वय है और उत्कल की ऐतिहासिक संस्कृतिक परम्पराओ का इतिहास और दर्शन है।

पूर्वी बंगाल के ग्राम्य-गीतों में रागात्मक अनुभूति

श्री बेनीप्रसाद वाजपेयी

सुजला सुफला बग-वसुधा कोमल हृदय, कोमल भाव और कोमल वाणी की जननी है। कदली पत्रो की भाँति चचल वगीय हृदय की जिन सलज्ज धड़कनो को लेखक ने सुना है, सराहा है और आत्मसात् किया है, उन्ही मे से एक का चित्रण इस लेख मे है। —सपादक

पूर्वी वगाल के लोक गीतो में मयमनसिह जिला के ग्राम्य गीतो की ही प्रधानता है। सच कहा जाय तो इन्ही गीतो मे ही वगला साहित्य के प्राथमिक प्रेमकाव्य की रूप रेखा वर्तमान है। मयमनसिह के ग्राम्य गीतो मे ऐसी प्रणय-वेदना की कहानी है जिसमे स्वच्छन्द हृदय का ही आकर्षण अपना कार्य करता है। प्राचीन वगला साहित्य मे वैष्णव काव्य के अतिरिक्त अन्यत्र उतना प्रेम का विकास नही हुआ है, जितना मयमनसिह के ग्राम्य गीतो मे। उदाहरण के लिए ये पक्तिया उद्धृत की जाती है —

मेवा मिश्री सकल मिठा, मिठा गगा जल।
तार थाक्या मिठा देख, शीतल डावेर जल॥
तार थाक्या मिठा देख, दुखेर परे सुख।
तार थाक्या मिठा यखन, भरे खालि बुक॥
तार थाक्या मिठा यदि, पाय हारानो धन।
तार थाक्या अधिक मिठा, विरहे मिलन॥

मेवा, मिश्री सभी मीठे है और गगाजल भी मीठा है किन्तु देखो, उसमे भी मीठा कच्चे नारियल का शीतल जल होता है और देखो, उससे भी अधिक मीठा दु ख के बाद सुख होता है और जब खाली कोख भरती है तब वह उससे भी अधिक मीठी हो जाती है किन्तु यदि खोया हुआ धन मिल जाता है तो वह उससे भी अधिक मीठा हो जाता है और जब विरह के बाद मिलन होता है तब वह उससे भी अधिक मीठा हो जाता है।

मयमनसिंह के ग्राम्य गीतो मे इतिहास, पुराण, दर्शन, धर्मतत्त्व तथा समाजतत्त्व आदि सभी सन्निहित हैं किन्तु कवित्व के रस मे मनुष्य के हृदय का दुख-सुख तथा प्राणो की पीड़ा के साथ प्रेम-विरह जो वर्णित है वह निस्सदेह लोकोत्तर उत्कर्ष का द्योतक है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित सम्वादात्मक पक्तिया उपस्थित की जा रही है।

"जल भर सुन्दरी कइन्या, जले दिछ मन,
काइल ये कइछिलाम कथा, आछे नि स्मरण।"

युवक ने युवती से प्रश्न किया—

"हे सुन्दरी कन्या! तुम जल भर रही हो और जल मे ही मन को अर्पित कर रही हो किन्तु कल मैंने जो बाते कही थी वे याद हैं या नही?"

"शुन शुन, भिन देशी कुमार, बलि तोमार ठाँइ।
काइल वा कि कइछिला कथा, आमार मने नाइ॥"

युवती ने उत्तर दिया—

"भिन्न देश के रहने वाले कुमार, तुमसे कह रही हूँ कि कल तुमने कौन-सी बात कही थी वह मुझे याद नही है।"

"नवीन यइवन कइन्या, भुला तोमार मन।
एक रातिरे एइ कथाटा, हइले विस्मरण।"

युवक ने कहा—

"तुम नव यौवना कन्या हो और तुम्हारा मन भोला है। इस बात को तुम एक ही रात मे भूल गई हो!"

"तुमि त भिन देशी पुरुष, आमि भिन्न नारी।
तोमार सगे कइते कथा, आमि लज्जाय मरि।"

युवती ने कहा—

"तुम तो भिन्न देश के पुरुष हो और मैं भिन्न देश की नारी हूँ। ऐसी दशा मे तुम्हारे साथ बाते करने मे मुझे बड़ी लज्जा हो रही है।"

"जल भर सुन्दरी कइन्या, जले दिछ ढेउ।
हासि मुखे कओना कथा, सगे नाइ मोर केउ॥
केबा तोमार माता कइन्या, केबा तोमार पिता।
एइ देशे आसिबार आगे, पूर्वे छिलि कोथा?"

युवक ने प्रश्न किया--

"हे जल भरने वाली सुन्दरी कन्या, तुम यों जल में लहरें पैदा कर रही हो। मेरे साथ कोई नहीं है फिर, तुम क्यों प्रसन्न हो कर बातें नहीं कर रही हो? हे कन्या! तुम्हारी माता कौन है और तुम्हारे पिता कौन हैं। इस देश में आने से पूर्व पहिले तुम कहां रहती थी?"

"नाहि आमार माता पिता, गर्भ सुदर भाइ।
सुतेर हेवला अइया भाइस्या बेड़ाइ॥
कपाले आछिल लिखन, वाइद्यार सगे फिरि।
निजेर आगुने आमि, निजे पुरइया मरि॥
एइ देशे दरदी नाइरे, कारे कइब्रम कथा।
कोन् जन बुझिबे आमार,पुरा मनेर वेथा॥
मनेर सुखे तुमि ठाकुर, सुन्दर नारी लइया।
आपन हाले करछ घर, सुखेते बान्धिया।"

युवती ने कहा--

"न तो मेरे माता पिता हैं और न सगा भाई ही है। जिस प्रकार स्रोत का सेवार इधर-उधर फिरता है उसी प्रकार मैं भी संसार के प्रवाह में बहती रहती हूँ। भाग्य में जो लिखा है उसी के अनुसार बहेलिया के साथ घूमा करती हूँ और मैं अपनी ही ज्वाला में अपने आपको जलाया करती हूँ। इस देश में सहानुभूति करने वाला कोई भी नहीं है किससे अपनी बातें कहूँ? मेरे मन की व्यथा कौन समझेगा? हे ठाकुर (देवता) सुन्दरी स्त्री ले कर तुम तो मन चाहे सुख का भोग कर रहे हो और अपना घर भी सुखमय बना रहे हो (फिर मेरे कष्ट को सुन कर क्या करोगे?")

ठाकुर बले, कइन्या तोमार शाने बान्धा हिया।
मिछा कथा कइछ तुमि, ना कइराछि बिया॥

ठाकुर (देवता) ने कहा--"हे कन्या! तुम्हारा हृदय तो पत्थर का है इसीलिए तुम मिथ्या भाषण कर रही हो। (सच बात तो यह है कि) मैंने विवाह ही नहीं किया है।"

"कठिन तोमार माता पिता, कठिन तोमार प्राण।
एमन यइबन तोमार, याय अकारण॥
कठिन तोमार माता पिता, कठिन तोमार हिया।
एमन यइबन काले, नाहि दिछे बिया॥"

युवती ने कहा--

"तुम्हारे माता-पिता बड़े कठोर हैं और तुम्हरे प्राण भी कठोर हैं। इसीलिए तुम्हारा ऐसा यौवन व्यर्थ मे नष्ट हो रहा है। तुम्हारे माता-पिता की कठोरता और तुम्हारे हृदय की कठोरता को क्या कहूँ? ऐसी यौवनावस्था मे भी तुम्हारा विवाह नही कर रहे हैं।'

"कठिन आमार माता पिता, कठिन आमार हिया।
तोमार मत नारी पाइले, करि आमि बिया॥"

युवक ने कहा—

"इसमे सन्देह नही कि मेरे मातापिता कठोर हैं और मेरा हृदय भी कठोर है। मैं तुम्हारे समान स्त्री पाने पर ही विवाह कर सकता हूँ।"

"लज्जा नाइरे निर्लज्ज ठाकुर, लज्जा नाइरे तोर।
गलाय कलसी बाइन्धा, जले डुब्या मर॥"

युवती ने धिक्कारते हुए कहा—

"रे निर्लज्ज ठाकुर (देवता)! तुझे लज्जा नही आ रही है, तू तनिक भी लज्जित नही हो रहा है। (रे निर्लज्ज!) गले में घड़े को बाँध कर जल मे डूब कर मर जा।'

कोथाय पाव कलसी कइन्या, कोथाय पाव दडी।
तुमि हउ गहीन गाग, आमि डुब्या मरि।"

युवक ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—

"हे कन्या! मैं कहाँ घड़ा पाऊँगा और कहाँ रस्सी पाऊँगा। मैं चाहता हूँ कि तुम्ही गहरी गंगा बन जाओ और मैं तुम्ही मे डूब कर मर जाऊँ।'

मयमनसिंह के ग्राम्य गीतो मे पूर्वराग की ही अधिकता है और किसी भी दशा मे प्रेम का अपमान नही किया गया है। पूर्वराग मे प्रेमी और प्रेमिका के प्रेम का वर्णन जिस शैली मे वर्णन किया गया है वह माधुर्य रस से परिपूर्ण है। ऐसा ग्राम्य साहित्य सर्वत्र सुलभ नही है।

लोकगीतों में काव्यगत सौन्दर्य

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा

अतुकान्त कविता की भाँति अपने व्यक्तित्व और पारिजात पुष्प की भाँति रुपहली सुनहली रचनाओ के कारण श्री लक्ष्मीकान्त नई पीढ़ी के लेखको मे अपना स्थान वना रहे है। कविता, आलोचना, और निवंध-रचना के क्षेत्र मे इनकी अपनी निजी विशेषताए है, उनका निदर्शन इस लेख मे भी है।

—सपादक

यद्यपि भारतीय जीवन की सरल किन्तु अनुभूतिमय अभिव्यजना का वास्तविक और सरस वर्णन भारतीय लोकगीतो की विशेषता है, किन्तु इसे काव्यगत मान्यताओ के अनुरूप स्वीकार करने मे अधिकाश लोगो को आपत्ति रही है और शास्त्रीय ढग से सोचने के नाते किन्ही अनावश्यक सकीर्णताओ के कारण उनका विश्वास इनकी काव्यात्मक प्रौढ़ता पर नही रहा है। तथ्य जो कुछ भी हो, सत्य यह है कि काव्य की व्याख्या किसी एक बन्धन मे बाँध कर नही की जा सकती, उसका एक सीमित माप-दण्ड निर्धारित करना और उसके माध्यम से नापना-जोखना काव्य की एवम् अनुभूतियो की हत्या करना होगा, क्योकि काव्य भावना-प्रधान होता है और भावनाये व्यक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है, इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व की छाया काव्य पर पड़ना अनिवार्य होता है। इसीलिये जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रधानता होगी वहाँ शिल्प, कला, अभिव्यक्ति, शब्द विन्यास, छन्द विन्यास, रस परिपक्वता, प्रतीक, सम्बोधन, उद्बोधन, आलम्ब, आधार सब को एक साचे मे ढालना व्यक्ति की मर्यादा को नष्ट करना होगा। फिर लोकगीतो की रचना, शैली, अभिव्यक्ति सभी कुछ सामूहिक चेतना और अनुभूति पर आधारित रहे है इसलिए उनमे एकरूपता अथवा शास्त्रीय प्रौढ़ता की रूढिवादी परम्परा की छाया ढूढना गलत होगा। जहाँ तक इनकी मर्मस्पर्शी भावना, आलम्बन और अभिव्यक्ति का प्रश्न है, लोकगीतो मे सीधी अभिव्यक्ति का गुण विशेष महत्त्व का है, क्योकि अलकार और रस इनमे साधन के रूप मे व्यक्त होते है, साध्य के रूप मे नही।

'ज्ञेयता' लोकगीतो की दूसरी विशेषता है, क्योकि लोकगीतो की रचना बन्द कमरे मे नही हुआ करती, वे खेतो मे, झिलमिलाती धूप मे, भीगते हुए वर्षा मे, ठिठुरते हुए जाड़े मे, गावो की चौपालो और सुलगते हुए कौड़ो के चारो ओर जमा हुए समूह द्वारा निर्मित हुए है।

जिनमे सब की अनुभूतियाँ है और सभी की अभिव्यक्तियाँ है। भावनाओ के प्रति स्वाभाविक ईमानदारी भी लोकगीतो मे सहज उद्दीप्त हो कर व्यक्त हुई है। लोकगीतो की मनोव्यथा उन्मुक्त हुआ करती है, इसमे सभ्यता का मिथ्या आवरण नही लिपटा रहता, साथ ही मर्यादा और परम्परा की रक्षा भी लोकगीतो मे निहित रहती है। पलायनवादी प्रवृत्तियो की सर्वथा निन्दा और चिरन्तन सत्यो पर आरूढ रह कर सघर्षों के प्रति जागरूक रहना ही लोकगीतो मे निहित आत्म-साधना है। मर्यादाओ और मान्यताओ के प्रति विद्रोह है, किन्तु इस विद्रोह मे सघर्ष की शक्ति है, कायरता नही। समाज और लोक के प्रति दृढ विश्वास ही लोकगीतो की चेतन शक्ति है। इसमे पीडा की अभिव्यक्ति है, किन्तु जनसाधारण मे बैठी सास्कृतिक चेतना मे कही भी, किसी भी परिस्थिति मे द्रोह अथवा गद्दारी नही है।

प्रणय गीतो मे स्वस्थ सामाजिक रीति-नीति की परम्परा का प्रतिपादन है, इसीलिए उनमे पतनोन्मुख अश्लील एव घृणामय अमर्यादित सवेदना का बहिष्कार कर के भारतीय गार्हस्थ्य जीवन का सजीव चित्रण है। किन्तु यथार्थ चित्रण मे सत्य की अभिव्यक्ति निर्भीक होकर हुई है। सृजनात्मक सौन्दर्य-बोध द्वारा विश्व की कामना कितनी तीव्र हो सकती है, इसका पता लोकगीतो मे डूबने से ही मिलता है। शाश्वत सौन्दर्य-भावना द्वारा व्यक्त सौन्दर्य, आदर्शो मे मासल और परिपक्व सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म शाश्वत सौन्दर्य की अभिव्यजना का बाहुल्य है।

काव्यगत सौंदर्य की मान्यताये साहित्यिक दृष्टिकोण से केवल विशिष्ट-साहित्य मे ही देखी गयी है किन्तु जितनी सफल अभिव्यजना हमे लोकगीतो मे मिलती है उतनी और कही नही मिलती। इस सफलता के पीछे भी काव्यगत एकात्मानुभूति, रसात्मक अनुभव, स्वाभाविक उक्तियो की भाषागत परिपक्वता, सुथरे हुए मुहावरो और प्रचलित कथाओ की सकेतात्मक शैली का विशेष महत्व है। अनुभूति और अभिव्यक्ति मे इतनी एकरूपता है कि उनमे सीधे चुभ जाने की क्षमता है। व्यजना मे इतनी मार्मिक सवेदना होती है, कि उनके प्रभाव के लिए मानसिक तर्क-वितर्क की आवश्यकता नही, वह सीधे हृदय मे चुभ जाते है और उन पर अपने अनुकूल रस का बोध सहज ही करा देते है।

लोकगीतो की रचना मे कई बातो का प्रभाव पडता है पहली बात तो यह है कि विभिन्न गीतो मे भावनाओ के साथ अवसर और स्थान का ध्यान रखा गया है। जाँत के गीत, निरवाही के गीत, सोहर के गीत, साँझ और भोर के गीत, मल्हे के गीत इन सब के स्वर, लय, गति, छन्द का अन्तर इनके शिल्पगत तत्वो को प्रभावित करता है।

ग्राम्यगीत गीत-प्रधान तत्वो मे परिपूर्ण होते है किन्तु इस गीतात्मक भावना मे एक प्रकार की सामान्य भावनाये ही प्रदर्शित होती है क्योकि किसी न किसी रूप मे प्राय सभी गीतो की भावना ग्रामीण जीवन के व्यापक पहलुओ मे मिलती-जुलती है। सास ननद का दुर्व्यवहार, पति का परदेश जाना, अथवा चूल्हा चक्की के समय, जल भरने के समय की

सामूहिक भावनाये समान होती है इसलिए उनकी अन्तर्निहित मार्मिक सवेदनाओं का रस-बोध भी सब को समान होता है।

ग्राम्य-गीतों मे प्रतीक शैली—

ग्राम्य गीतो मे विभिन्न प्रतीकों का बडा सफल प्रयोग मिलता है और इनके माध्यम से वातावरण के सयोजन, भावनाओ को तीव्रता प्रदान करने का सम्बल, अनुभूतियो की गहराई और साकेतिक वर्णन थोडे ही मे बहुत कह जाने की प्रौढ शैली से परिपूर्ण होते हैं। इन प्रतीको का प्रयोग भावो मे और लोक जीवन की अभिव्यक्ति मे स्वस्थ और गभीर बन कर व्यक्त हुआ है। जैसे—

नीर चुवै बाबा नीर चुवै नीर चुवै आधीरात।
मात पिता कैसई नीन्द परत है जेहि घर कन्या कुआरि॥

नीर के माध्यम से गभीर वर्षा मे चूती हुई झोपडी के प्रतीक को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। जैसे वर्षा मे चूती हुई झोपडी मे नीद खण्डित होती है और समस्त शीतलता और वातावरण की सरसता का आकर्षण होते हुए भी उसका आनद नही लिया जा सकता वैसे ही जिसके घर मे सयानी कन्या अविवाहित है उसके लिए घर का सारा सुख तुच्छ हो जाता है क्योकि एक ओर विवाह की चिन्ता, द्रव्य का सग्रह, वर की खोज की चिन्ता रहती है, किन्तु विवाह के सुख की भावनात्मक कल्पना भी रहती है।

लऊग चुवै बाबा लऊग चुवै लऊग चुवै आधीरात।
लऊगा मैं बिन चुन ढेर लगायो लादि चले बनजारि॥

एक दूसरी अभिव्यक्ति जो यौवन के स्वप्नो और कल्पनाओ को प्रस्तुत करती है वह लौग के नन्हे कोमल और असख्य फूलो के प्रतीक माध्यम से व्यक्त हुई है जिसमे स्नेह, रोमाच सुगध, कोमलता, स्निग्धता सब कुछ है। युवावस्था मे अविवाहित कन्या इन्ही स्वप्नो को बटोरती रहती है और विवाह होने पर अपने पति के जीवन के सघर्ष, उत्कर्ष, आनन्द और दुख के साथ मिला देती है। उपर्युक्त पक्तियो मे इस दृष्टिकोण से बनजारि का विशेष महत्व है क्योकि प्रस्तुत गीत मे कन्या को जो वर मिला है वह शिव के समान भस्म रमाये हुए कठोर तपस्वी का प्रतीक है जिसके जीवन मे कुश और कटको के सिवा कुछ नही है। इस मार्मिक अनुभूति को केवल एक छोटे से प्रतीक मे व्यक्त करने का प्रयास सराहनीय है।

पूरब पच्छू बाबा के सगरवा पुरईन हलर देई पात रे।
तेहि बैठि दुल्हे रे धोतिया पछारे पुरई दुल्हिन देई बात रे॥

लोक गीतोमे सागर (तालाब) समृद्धि का प्रतीक ही माना गया है किन्तु सागर मे पुरईन का

होना इसलिए आवश्यक है कि पुरईन 'सतान' की प्रतीक है। दूसरे सागर जल, तृप्ति, शीतलता के भाव का भी द्योतक है। कमल उसकी शृंगार की फलित भावना का प्रतीक है । लहराने मे आनन्द की सक्रिय व्यजना है। धोती ग्रामीण भाषा मे मर्यादा का प्रतीक माना गया है। बहुधा लोग यह कहते है "अरे ! ओकर कौन बात जेकर धोती अकासे झुराला" धोती आकास झुराने का मतलब है कीर्ति और यश गाथा की पराकाष्ठा। इस गीत मे भी धोती मर्यादा की पवित्रता का प्रतीक है। कन्या के पिता के सागर मे, जो पल्लवित, पुष्पित और फलित है मर्यादा शुद्ध करने की भावना बडी ही उच्च ओर उज्ज्वल है। इस गीत मे इन दो पक्तियो की पृष्ठभूमि मे न जाने कितनी सवेदनाएँ निहित हैं।

आधे तलवा मे हस चुनै आधे मे हसिन।
तबहू न तलवा सुहावत एक रे कमल बिनु॥
छापक पेड छिउलिया त पतवन गहबर।
अरे राम, तेहितर बैठि हरिनियाँ त मन अति गहवर--

[यहा पर छापक छिउल का पेड केवल यो ही नही रख दिया गया है बरन् यह उन समस्त भावनाओ का प्रतीक है जो सुख, सन्तोष ओर समृद्धि का द्योतक है। इस एक पक्ति मे जो सूचनात्मक भावना है उसकी गभीर अभिव्यक्ति किसी अन्य चित्र द्वारा प्रस्तुत करना कठिन और अस्वभाविक होता।]

कहवाँ उपजै बाबा अगर चन्दन कहवाँ लहर पटोर।
कहवाँ उपजै भौंरा के झप्पा बटिया चलत लहराय॥

[अगर कीर्ति का प्रतीक है, चन्दन यश का, पटोर लज्जा, शीलता, शालीनता और कुल-मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा का। कीर्ति सतकर्मो से मिलती है, यश भी उसी के द्वारा प्राप्त होता है। इन प्रतीको के द्वारा व्याही जाने वाली कन्या अपने भावी जीवन के विषय मे सब-कुछ जान लेना चाहती है और पिता भी उन्ही प्रतीको मे दामाद के कुल-मर्यादा की सारी बातें बताते हुए विवाह को उन सब रीति नीति और परम्परा के अनुरूप बताता है जो कि आवश्यक है क्योकि सामाजिक प्रतिष्ठा बिना न तो पण्डित के यहा से चन्दन ही मिल सकता है न पटोर ही मिल सकता है और न उसकी प्रतिष्ठा रह सकती है, न उससे स्वतन्त्रता मिल सकती है।]

हे दादा (ऐंन लाला) बसँवा कटाई दँव डलरी बिनाय दँव ते फुलवा के लोटन जाव बेटी जो तू जादू फूल लोटे बसवा कटाय देवू डलरी बिनाय देवू फूल लोटे तुम जायो एक वन गइलिउ दूसर वन तीसर कुज वन बेटी अचरा सूत रह्यो। गहिर कुजन वन में

× × ×

·१

फुलवा लोटत वावा भइले खडी दुपहरिया वावा हार गूथत सारी रात।
तो वहिरे कुंजा वना मे वावा मिल गये राम लखन तो वितायो सारी रात।।

[वाँस की प्रतिष्ठा अमरता और वंश वढने के रूप मे गावो मे वहुत प्रचलित है। किसी भी नवजात शिशु की नाभि जब गिरती है तो सर्वत्र वंसवारे मे ही डाली जाती है। सभवत इसलिए कि वाँस सदैव हरा रहता है और उसमे नई खुटिया वरावर निकलती रहती है। कुल की मर्यादा की डलरी मे कन्या इच्छाओ के फूल चुनने जाना चाहती है और पिता से आज्ञा मागती है। पिता यौवन की चेतावनी देता हुआ उस आचल की ओर सकेत करता है जो स्त्री के मान की रक्षा करता है और गहिर कुज और वन यौवन की तूफानी कामनाये है जहा फूल लोढते लोटते वह खडी दोपहरिया अर्थात् यौवन का अनुभव करती है।]

कुछ भावना-प्रधान गीतों की सफलता

लोकगीतो की रचना शैली मे प्रथम स्थान भावनाओ को मिला है। गीत वही प्रभावपूर्ण और लोकप्रिय है जिनमे भावनाये तीव्र रूप मे व्यक्त हुई है। इसके वाद स्वाभाविकता को दूसरा स्थान मिला है। इन दोनो के आधार पर ही लय, स्वर और ध्वनि का सयोजन किया गया है। लोकगीतो मे कोई भी भावना वर्जित नही मानी गई है और न ही उसमे कोई शास्त्रीय प्रतिवध है पर प्रचलित गीतो मे दो वाते सदैव मिलेगी पहली तो रस-वोध की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरी चीज लोक-मर्यादा का सरक्षण। जैसे—

हटियै सेन्दुरा महँग भये वावा चुन्दरी भये अनमोल
यहि सेन्दुरा कें कारन रे वावा छोड़ेउँ मैं देस तुम्हार
वावा कहे वेटी दस कोस वैहों भैया कहै कोस पांच
माय कहै वेटी नगर अयोध्या नित उठ प्रात नहाऊ
वावा दिहिन अनधन सोनवां माय दिहिन लहर पटोर
भैया दिहिन चढन कै हौ घोडवा भौजी ने अपना सोहाग
वावा कै सोनवा नवै दिन खावै फट जैहे लहर पटोर
भैया कै घोड़वा नगर खोदेवौं भौजी कै वाढै अहिवात
वावा कहै वेटी नित उठ आयो माय कहै छठे मास
भैया कहे वहिनी काज विआहे भौजी कहै कस वात।

भारतीय लोक साहित्य मे अन्य देशो और राष्ट्रो से भिन्न जिस वस्तु का निरूपण किया गया है उस मे दाम्पत्य जीवन, गार्हस्थ जीवन के प्रति आस्था ही सर्वमान्य है। पाश्चात्य लोक-गीतो से विभिन्न भारतीय लोकगीतो मे सामाजिक सगठन की भिन्नता के नाते विवाह सम्व-

न्धित पिता के वियोग, भाई के स्नेह की जो स्वभाविकता मिलती है वह अपनी अलग विशेषता को प्रतिपादित करती है। विवाह के अवसर पर उत्साह-उल्लास के साथ साथ यह वियोग लोक-गीतो को और भी भावुक बना देता है।

भांवर के समय ठीक इसी भावना को व्यक्त करने वाला निम्नांकित गीत शायद ही किसी और साहित्य मे मिले ---

बाबा बाबा गोहराओ बाबा नहि जागे
देत सुनर एक सेन्दुर भइउँ पराई
भैया भैया गोहरावौं भया नहि बोलें
देत सुघर एक सेन्दुर भइउँ पराई
बन मे फूली बेइलिया अतिहि रूप अगार
मलियै हाथ पसारा तो होवौ हमार
जनि छुओ अे माली जनि छुऔ अबहि कुमार
आधीरात फूले बेइला तो होवै तुम्हार
जनि छुओ ये दुल्हा जनि छुऔ अबही कुवारि
जब मोर बाबा सकल्पै तो होवें तुम्हारि

वियोग के वर्णन मे भी संस्कृति की अभिव्यक्ति मिलती है। उसमे केवल रोना, पीटना, मरना, जीना, आत्म-हत्या इत्यादि का वर्णन नही मिलता। इसके विपरीत उसमे साधना, प्रतीक्षा और उपासनात्मक उलाहना भी है। शास्त्रीय काव्य मे स्वकीया, परकीया इत्यादि नायिका भेद पाये जा सकते है किन्तु लोकगीतो मे नारीत्व का केवल वही रूप मिलेगा जिसमे सीता, सावित्री और पार्वती का आदर्श होगा। पूर्व कवियो मे वासना, काम और सौन्दर्य का उत्तेजनात्मक रूप ही अधिक सफल हुआ है किन्तु लोकगीतो मे शालीनता और पवित्रता का महत्वपूर्ण चित्रण ही सर्व-प्रधान है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह कम भले ही माना जाय किन्तु सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से इन तत्वो का विशेष महत्व है और जिस प्रकार जीवन की झलक हमे इन लोकगीतो मे मिलती है वह साहित्यिक कृतियो से कही महत्वपूर्ण है।

बयार बहेला पुरवइया तो सिकियो न डोले ला हे राम
अहो रामा, मोरा परभू गइले बिदेसवा कइसे जियरा बोधब हे राम ॥१॥
अंगुरिन मँगिया निवरबू नयनन भरि काजरि हो राम
अहो राम अस कहि जिअरा बुझाइबो कि जग हरि बाडे हो राम ॥२॥
होइतौं मैं जल कै मछरिया जल ही बीचे रही जइतो हो राम
अहो रामा, मोरा हरि अइतें असननवा चरन चूमि लेइतौं हो राम ॥३॥

फुलवा लोढत वावा भइले खडी दुपहरिया वावा हार गूंथत सारी रात।
तो वहिरे कुजा वना मे वावा मिल गये राम लखन तो बितायो सारी रात ॥

[वॉस की प्रतिष्ठा अमरता और वश वढने के रूप मे गाँवो मे वहुत प्रचलित है। किसी भी नवजात शिशु की नाभि जव गिरती है तो सदैव वँसवारे मे ही डाली जाती है। सभवत इसलिए कि वॉस सदैव हरा रहता है और उसमे नई खूटिया वरावर निकलती रहती है। कुल की मर्यादा की डलरी मे कन्या इच्छाओ के फूल चुनने जाना चाहती है और पिता से आज्ञा मागती है। पिता यौवन की चेतावनी देता हुआ उस आचल की ओर सकेत करता है जो स्त्री के मान की रक्षा करता है और गहिर कुज और वन यौवन की तूफानी कामनाये है जहा फूल लोढते लोढते वह खडी दोपहरिया अर्थात् यौवन का अनुभव करती है।]

कुछ भावना-प्रधान गीतों की सफलता

लोकगीतो की रचना शैली मे प्रथम स्थान भावनाओ को मिला है। गीत वही प्रभावपूर्ण और लोकप्रिय है जिनमे भावनाये तीव्र रूप से व्यक्त हुई है। इसके वाद स्वाभाविकता को दूसरा स्थान मिला है। इन दोनो के आधार पर ही लय, स्वर और ध्वनि का सयोजन किया गया है। लोकगीतो मे कोई भी भावना वर्जित नही मानी गई है और न ही उसमे कोई शास्त्रीय प्रतिवध है पर प्रचलित गीतो मे दो वाते सदैव मिलेगी पहली तो रस-वोध की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरी चीज लोक-मर्यादा का सरक्षण। जैसे—

हटियै सेन्दुरा महँग भये वावा चुन्दरी भये अनमोल
यहि सेन्दुरा के कारन रे वावा छोड़ेउँ मै देस तुम्हार
वावा कहै वेटी दस कोस वैहो भैया कहै कोस पाच
माय कहै वेटी नगर अयोध्या नित उठ प्रात नहाऊ
वावा दिहिन अनधन सोनवां माय दिहिन लहर पटोर
भैया दिहिन चढन कै हौ घोडवा भौजी ने अपना सोहाग
वावा कै सोनवा नवै दिन खावै फट जैहै लहर पटोर
भैया कै घोडवा नगर खोदेवौं भौजी कै वाढै अहिवात
वावा कहै वेटी नित उठ आयो माय कहै छठे मास
भैया कहै वहिनी काज बिआहे भौजी कहै कस वात।

भारतीय लोक साहित्य में अन्य देशो और राष्ट्रो से भिन्न जिस वस्तु का निरूपण किया गया है उस मे दाम्पत्य जीवन, गार्हस्थ जीवन के प्रति आस्था ही सर्वमान्य है। पाश्चात्य लोक-गीतो से विभिन्न भारतीय लोकगीतो मे सामाजिक सगठन की भिन्नता के नाते विवाह सम्व

न्वित पिता क वियोग, भाई के स्नेह की जो स्वभाविकता मिलती है वह अपनी अलग विशेपता को प्रतिपादित करती ह। विवाह के अवसर पर उत्साह-उल्लास के साथ साथ यह वियोग लोक-गीतो को और भी भावुक बना देता हे।

भाँवर के समय ठीक इसी भावना को व्यक्त करने वाला निम्नाकित गीत शायद ही किसी और साहित्य मे मिले ––

बावा बावा गोहराओ बावा नहि जागे
देत सुनर एक सेन्दुर भइउँ पराई
भैया भैया गोहरावौ भैया नहि बोलै
देत सुघर एक सेन्दुर भइउँ पराई
वन मे फूली बेइलिया अतिहि रूप अगार
मलियै हाथ पसारा तो होवौ हमार
जनि छुऔ ए माली जनि छुऔ अवहि कुमार
आधीरात फूले वेइला तो होवै तुम्हार
जनि छुओ ये दुल्हा जनि छुऔ अबही कुवारि
जब मोर बावा सकल्पे तो होवें तुम्हारि

वियोग के वर्णन मे भी संस्कृति की अभिव्यक्ति मिलती है। उसमे केवल रोना, पीटना, मरना, जीना, आत्म-हत्या इत्यादि का वर्णन नही मिलता। इसके विपरीत उसमे साधना, प्रतीक्षा और उपासनात्मक उलाहना भी है। शास्त्रीय काव्य मे स्वकीया, परकीया इत्यादि नायिका भेद पाये जा सकते है किन्तु लोकगीतो मे नारीत्व का केवल वही रूप मिलेगा जिसमे सीता, सावित्री और पार्वती का आदर्श होगा। पूर्व कवियो मे वासना, काम और सौन्दर्य का उत्तेजनात्मक रूप ही अधिक सफल हुआ हे किन्तु लोकगीतो म शालीनता और पवित्रता का महत्वपूर्ण चित्रण ही सर्व-प्रधान ह। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह कम भले ही माना जाय किन्तु सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से इन तत्वो का विशेष महत्व हे और जिस प्रकार जीवन की झलक हमे इन लोकगीतो म मिलती ह वह साहित्यिक कृतियो मे कही महत्वपूर्ण है।

बयार बहेला पुरवइया तो सिकियो न डोलेला हे राम
अहो रामा, मोरा परभू गइले विदेसवा कइसे जियरा बोधव हे राम ॥१॥
अगुरिन मँगिया निकरबू नयनन भरि काजरि हो राम
अहो राम अस कहि जिअरा बुझाइबो कि जस हरि बाटें हो राम ॥२॥
होइतौं मै जल कै मछरिया जल ही बीचे रही जइतो हो राम
अहो रामा, मोरा हरि अइते असननवा चरन चूमि लेइती हो राम ॥३॥

सठिया कुटाय भात रन्हितो मुगीया दरि दलिया हो राम
अहो राम मोरा प्रभु अइतें जेवनवा नजर भरि देखि लेतेउँ हो राम ॥४॥
होतो मैं घर के लउडिया घर ही वीचे रहि जइतो हो राम
अहो रामा मोरा प्रभु अइतैं सुतन खा तो सेजिया बिछाई देतेउँ हो राम ॥५॥
जो मैं होतिउ वन की कोइलिया, वनैं रे वन वहतिउ रे ना
मेरा हारे जातें अहेरिया तो सबद सुनौतिउँ होना

उपर्युक्त पक्तियों मे वियोग की इस अमर अभिव्यक्ति की शुद्ध कामना सराहनीय है इसमें न तो सयोगकी कामना है न ओर किसी भाव की। नायिका को केवल अपने पति का सामीप्य ही चाहिए जिसे वह केवल दूर से देख कर शब्द द्वारा व्यक्त कर के सन्तोष करना चाहती है। हो सकता है आधुनिक रोमान्सवादी प्रकृति वाले लोग इन दोनो पक्तियों को महत्व न दे किन्तु इस भावना की सराहना तो करनी ही पडेगी।

एक फूल फूलै खड़ी दुपहरिया दूसर फूल फूलै आधी रात—हो गोरिआ
फुलवा बिन में रसा गरायो हौदा भरा रस होय हो गोरिआ
वही रसा कै मैं चुनरी रगायौं चुनरी भई रगदार हो गोरिया
चुनरी पहिरि मै ओलरयो ओसरवां पिवआक मन ललचाय हो गोरिया
चोर के नैया पिया लुकि लुकि आवै जेकर मैं बारी बियाही
तेहू पख फोरवा

घरेलू वातावरण मे ग्रामीण जीवन की यह अनुभूति भी कितनी सरल और कितनी मार्मिक है। वहुधा गाँवो मे गुरुजनो के कारण दाम्पत्य जीवन का वह स्वातन्त्र्य नहीं रहता जो आज के आधुनिक समाज मे प्रचलित है। उस कौतूहल और रोमान्स के प्रणयभाव की व्यग्यात्मक अभिव्यजना समस्त गीतात्मक तत्वो के साथ कितनी सजीव और सशक्त है।

अमवा महुलिया घन वेड जेहि रे बीचे राह परी
रामा तेहि तर ठाढी एक तिरिया मनै माँ वैराग भरी
पूछे लागै बांट के बटोहिया अकेले धन काहे खडी
भैया, चले जाहु बाट के हनै रे तुहै व्याह परी

× × ×

भैया दे गये कुपवन तेल हरपवन सेन्दुर
भैया दै गये चन्दन चरखवा उठाई गज ओवरि

× × ×

भैया चुके लाग कुपवन तेल हरपवन सेन्दुर
भैया धुने लागं चन्दन चरखवा ढहइ गज ओवरि

वियोग मे वैराग्य भाव का आना स्वाभाविक है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कितने मार्मिक ढग से की गई है। प्रस्तुत गीत मे प्रश्न पूछने वाला एक बटोही है जिसे वियोगिन भैया कह के सम्बोधित करती है। साथ ही इसमे तेल, चन्दन, सेन्दुर के सास्कृतिक प्रतीको के माध्यम से वियोग काल का परिचय दे देना उत्कृष्ट ही काव्यात्मक शैली का परिचय देता है।

दूसरी ओर सुहागरात के गीत मे शृगारात्मक मिलन से ओत-प्रोत नायिका के मनोभावो मे प्रकृति के माध्यम से समय और काल से मक्त होने की मगल कामना की रसात्मकता भी कम भावना-प्रधान नही है —

आज सुहाग की रात चदा तुम उइहौ
चदा तुम उइहो सुरुज मत उइहौ
मोर हिरदा विरस जनि किहेउ मुरुग मत बोले
मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तू पह जनि फाटेउ
आज करेहु वडि राति चदा तुम उइहौ
धीरे धीरे चलि मोरा सुरुज विलम करि आइहौ

प्रयोगवादी काव्य में लोकगीतों की अभिव्यक्ति

श्री सर्वेश्वरदयाल एम० ए०

नये नये प्रतीकों और प्रयोगो मे अभिव्याप्त कविता आजकल नयी कविता, प्रयोगवादी, प्रतीकवादी यथार्थवादी कविता आदि नामो से व्यक्त होती है। सर्वेश्वरजी इस नयी धारा और नयी कविता के पथ पर चलने वाले उत्साही तरुण कवि हैं। कुछ प्रयोगवादी कविताओ के उदाहरणो द्वारा आपने नयी कविता मे लोकगीतो की अभिव्यक्ति का जिक्र किया है। —संपादक

गीति काव्य की सर्व प्रधान विशेषता उसकी आत्मानुभूति ही मानी गई है, किन्तु इस अनुभूति की पृष्ठभूमि मे तीन प्रधान तत्व है जिनकी अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे गीत काव्य मे हुई है:—

(१) सस्कारगत मन स्थिति के विभिन्न प्रकार
(२) 'स्व' की चेतन अर्द्ध चेतन स्तरो की व्यजना
(३) रागात्मक प्रवृत्तियो मे विभिन्न आन्तरिक मनोभावो का उद्वेग।

लोकगीतो का प्रभाव आधुनिक हिन्दी काव्य पर सस्कार के रूप मे व्यक्त हुआ है। सस्कार के स्तर मे चेतन अर्द्ध चेतन स्वानुभूति भी अपने आप ही व्यक्त हो गई है इसीलिए समस्त रागात्मक प्रवृत्तियो मे आन्तरिक मनोभाव भी सहजरूप मे व्यक्त हो सके है। सहज इसलिए कि अभिव्यक्ति के साधारणीकरण मे सहजता और स्वाभाविकता उपेक्षित रहे है। आज की नयी कविता छायावाद के शब्द आडम्बर और सगीत से मुक्त होकर लोकगीतो की सहजता एवम् सरलता से उतनी ही प्रभावित है जितनी कि नयी व्यजना से।

नयी कविता पर लोकगीतो के इस प्रभाव को हम मोटे तौर से चार भागो मे बाँट सकते है;—

(१) लोक सरलता
(२) लोक भाषा
(३) लोक प्रतीक
(४) लोक सगीत

ये चारो प्रभाव नयी कविता मे विभिन्न रूपो मे व्यक्त हुए है। किसी ने गीतो मे

उनकी सहजता का आधार लिया है, किसी ने भाषा का नया सप्रयो रूप लिया है, किसी ने लोकगीतो के प्रतीक के माध्यम से नयी चेतना देने की चेष्टा की है औ किसी ने उसके संगीत का आधार लेकर रागात्मक अभिव्यक्ति को तीखा बनाने का प्रयास किया है।

लोक सरलता

लोक सरलता का आधार है संस्कार की अभिव्यक्ति। जो लोक जीवन हमारे चारो ओ है जिसमे सौन्दय है, दर्द है, वेदना है, पीडा है सुख दुख है औ जिसकी अभिव्यक्ति केवल कह कर अपने निकट से निकट को सुनाक रजी हल्का कने मे होती है, यदि वह अभिव्यक्ति उनकी सहानुभूति उनका सहयोग भी बँटा लेती है तो वह सफल है। औ यह सफलता ही सहजता है क्योकि जो कुछ कवि व्यक्त कना चाहता है वह अपनी ही शाति के लिए नही वरन् अपने आसपास के जन समूह के लिए भी—जैसे

ओ पिया, पानी बरसा
ओ पिया, पानी बरसा
घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर सी
झूमी मधु मालती
झर पडे जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना विरानी

मेरा जिया तरसा
ओ पिया पानी बरसा

(अज्ञेय—इत्यलम्)

उपर्युक्त कविता मे लोकगीतो की सहजता ही साहित्यिक कृतित्व मे महत्वपूर्ण बन कर उभरी है। जहा एक ओर इसमे शास्त्रीय बन्धन से मुक्ति का मार्ग ढूंढा गया है वही उनकी मानिक अनुभूति मे लोकगीतो का संस्कार भी उभरा है। नयी कविता के प्रतिनिधि कवि अज्ञेय मे इनका काफी प्रभाव मिलता है, अन्य कवियो मे भी है, किन्तु अज्ञेय ने तो भाषा, व्यजना और प्रतीको को अपने ढग से अपनाया है—इत्यलम् और हरी घास पर क्षण भर मे इनके उदाहरण भरे पडे है। उनकी विवरणात्मक कविताओ मे तो यह अत्यन्त स्पष्ट है।

लोक भाषा

भाषा का प्रश्न आज के साहित्यिक के सामने बडे अजीब ढग से आता है। साहित्यिक क्षेत्र मे आज काफी शब्द संस्कार भ्रष्ट हो चुके है। उनके स्थान पर नयी भावनाओ को व्यक्त

करने के लिए नये शब्दो की आवश्यकता पड़ती है और इसमे सदेह नही कि ऐसे शब्दो का तो भण्डार लोकगीतो मे भरा पडा है। छायावाद की रचनाओ मे जो कृत्रिम भाषा हमे मिलती है उसका वहुत कुछ प्रभाव नयी कविता पर नही है।

सहमे पछी चिहुँक उठे हैं नीड में
दरद गीत में सधा रहा   अज्ञेय
झाय झाय करती दुपहरिया नाच रही थी
जलती हुई। भौर की गर्मी की पगडडी
मुझे ले गई आमों की वारी में   त्रिलोचन

भाषा के साथ साथ रूप का भी आधार वडी सफलता से अपनाया गया है और जहाँ तक रूप आकार की ज्ञेयता का प्रश्न है आधुनिक युग के काव्य प्रयोग मे वह कई प्रकार मे उभरा है जसे—

हाथी   घोड़ा   पालकी
जै   कन्हैया   लाल   की
आज   बढेगे   साथ   कदम
निश्चय   विजयी   होगे हम
गिरने दो   जापानी   बम।
बोलो   वन्दे   मातरम्!

(रामबिलास शर्मा—पहला सप्तक)

यहाँ पर वच्चो के खेल के रूप मे काव्य को अभिव्यक्ति मिली है। व्यग्य के साथ साथ भाव की गभीरता से केवल इसलिए उतरते है क्योकि रूप को सीधा सादा अपना लेने से उनकी अनुभूति भी स्पष्ट हो जाती है।

लोक गीत का रूप नयी कविता मे कई रूपो मे प्रस्तुत हुआ है जिनमे से कुछ तो वडे ही महत्वपूर्ण प्रयोग है जैसे—

(१) युगल गीत, (२) नृत्य गीत, (३) शोक गीत, (४) विशुद्ध गीत, (५) युद्ध गीतो मे—आल्हा की नकल।

लोक प्रतीक

लोक प्रतीको को नयी कविता मे वडी स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिली है। इन प्रतीको मे परम्परा से लोक जीवन की सार्थक सज्ञाए मौजूद है और इनकी अवहेलना आज के जीवन मे भी करना असभव है। भारतीय जीवन की सास्कृतिक तत्वो की सरल अभिव्यक्ति भी निखर कर प्रस्तुत हो सकती है जैसे—

हम बोयेगे हरी चुनरिया कजरी मेहदी
राखी के कुछ सूत और सावन की पहली तीज (भारती--ठडा लोहा)

चुनरी, मेहदी मे शृगार की अमर भावानुभूति, राखी मे विशुद्ध प्रेम का भारतीय आदर्श, तीज मे साधना और आत्मोत्सर्ग की भावना हमारे जीवन के रोम रोम मे समायी है। नयी से नयी कविता एक स्तर पर आकर इससे मुक्ति नही पा सकती और वास्तव मे आज की नयी कविता मे यही तत्व है जो उसे जीवित रक्खेगे। भारती के 'डोले का गीत' ओर 'फागुन की शाम' मे भी ये लोक जीवन के प्रतीक उभरे है।

(ब) भोर बेला धरती को रौदकर
हारिल उडा था जो --(अज्ञेय इत्यलम्)

(स) कॉय कॉय कॉय
घनेरे नास जाय !
मुंह से निकले है यही मेरे
सच मुह अधेरे,
सबेरे सबेरे --(अज्ञेय--हरी घास पर क्षण भर)

ग्रामीण जीवन और भारतीय आत्मनिष्ठा मे हारिल और हारिल की लकडी का विशेष महत्व है। वस्तुत हारिल, पपीहा, कोयल , मैना और काग का एक स्थान है जो सदा हमारे मनोभावो के सुख दु ख की अभिव्यक्त का माध्यम रहा है। कौए की कॉय काय मनहूमियत का प्रतीक है।

एक लहर मधुवन पर बरसो
सूखा वंशी वर लहराए

एक लहर आगन में बरसो
घर के राग द्वेष वह जाये ('कोकिल'--सुहागिन)

कृष्ण का जीवन भारतीय लोक जीवन का आदर्श रहा है और यही कारण है कि लोक गीतो म और साहित्यिक गीतो मे मधुवन और वशीवट का सम्मान प्रतीको मे व्यक्त होता रहा है। आगन का प्रतीक भी बडा भावाभिव्यजक है।

ऊच महल पर सोना साना
नीच झोपडिया बनी मसाना
सुलग सुलग धूआ से सग
घुर घुट जागा मन चगा
हर गगा
हर गंगा
--लक्ष्मीकान्त वर्मा

रूप विधान (के साथ साथ यहाँ लोक प्रचलित प्रतीकों में जीवन का वैषम्य और सास्कृतिक उद्‌बोधन की चेतना है। गाँव गाँव घूम कर 'एकतारा' पर गाए जाने वाले भिखारियो की लोक प्रचलित धुन है।

छंद और संगीत

आधुनिकतम काव्य प्रयोगो मे गीतकारो ने लोकगीतो की 'धुनो' को ले कर छद और सगीत के कुछ वडे सफल प्रयोग किए है। गीत काव्य की भावभूमि और अभिव्यक्ति के मूल तत्वो को सुरक्षित रखते हुए नये प्रयोगो की लोक गीतो से प्रेरणा लेना एक सर्वथा नयी प्रवृत्ति है जिसे अभी तक उपेक्षित रखा गया था। इस प्रयोग की पृष्ठभूमि मे हिन्दी काव्य को भाषा भी नयी मिली है और शिल्प भी। लोकगीतो की मँजी हुई धुनो के कारण ऐसे गीतो मे मन पर प्रभाव डालने की अद्‌भुत क्षमता है और यह नि सकोच कहा जा सकता है कि ये धुन ही लोक गीतो के प्राण हैं——

टेर रही प्रिया तुम कहां?
किसके ये कांटे रे?
किसके ये पात रे?
बैरी के कांटे रे।
केले के पात रे।
विरम रहा हिया, तुम कहां? ——(शंभूनाथ सिंह)

लोक गीतो के प्रश्न और उत्तर की शैली मे साधारण सकेतो द्वारा गहरे मनोभावो का चित्रण चिर प्रचलित लोक धुन के कारण अत्यत मर्मस्पर्शी है। इसी प्रकार 'पुरवैइया धीरे बहो' मे लोक गीतो के छन्द और सगीत दोनो ही व्यक्त हुए है। निस्सदेह इन अनुभूतियो मे तीव्र व्यजना ज्ञेय होने के साथ साथ प्रभावपूर्ण केवल इसलिए हुई है कि इनकी गति और स्वर योजना मे लोक गीतो का छद स्पष्ट रूप से उतरा है।

कास के फूल अकास के तारे
धरती के माथे के छवि उजियारे
जगमग जगमग जागे जुन्हाई
शरद रितु आई ——(लक्ष्मीकांत वर्मा)

इस नृत्य गीत मे सगीत की गति, नृत्य की मुद्राएँ और थाप सभी लोक गीत पर आधारित है। सगीत की ध्वनि और आरोह अवरोह मे यहाँ केवल साहित्यिक Touch दिया गया है।

उनए उनए भादरे
बरखा की जल चादरें
फूल दीप से जले
कि झुरती पुरवैइया की याद रे
मन कूएँ के कोहरे सा
रवि डूबे के बादरे। —(नामवर सिह)

लोक गीतो की सीधी शैली मे 'रे' का अन्त बहुत ही प्रचलित है। नामवर सिह ने जहाँ लोक भाषा को अपनाया है वही 'रे' के सगीतात्मक महत्व को भी सफलतापूर्वक निभाया है। यही नही, उनमे पूर्ण रूप से छन्द और भावो के प्रयोग का सफल प्रयास भी है और वातावरण के चित्रण मे भी लोक जीवन के तत्वो की अवहेलना नही की है।

कुछ लोगो का यह कहना कि लोक गीतो मे छन्द नही है, सो बात नही, क्योकि छन्द को एक रूप तक सीमित शास्त्रीय मान्यता तक ही सीमित नही किया जा सकता। लोक गीतो मे भावो के आरोह अवरोह के साथ स्वर से गति चलती है और इस गति मे छन्द का वह रूप जो मात्राओ मे बधा हुआ है भले ही भग हो जाता हो किन्तु उनमे एक व्यापक 'सम' का अन्तराल तो होता ही है जो छद का आभास ही नही देता वरन् उसकी योजना का क्रम भी प्रस्तुत करता है।

पिघली-सी पगडंडी, खिसकी आंख लजीली री।
इन्द्रधनुष रंगरंगी, आज मैं सहज रँगीली री।
रुनझुन बिछिया आज, हिला डुला मेरी बेनी री।
ऊँचे ऊँचे पेंग, हिंडोला सरस नसेनी री।
और सखी सुन मोर। विजन वन दीखे घर-आरी।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।
(भवानी प्रसाद मिश्र—दूसरा सप्तक)

लोक जीवन के सरल उपादानों के साथ साथ लोक संगीत के कारण यहाँ काव्य [illegible] में रस निष्पत्ति की अद्भुत क्षमता आ गई है। कविता मे वातावरण की सृष्टि होने के [illegible] लोक गीतो के अधिक समीप लगती है। लोक गीतो मे वातावरण की भूमिका उनका [illegible] है, इस वातावरण से हट कर संगीत और छंद की कल्पना करना व्यर्थ होगा।

वातावरण की अभिव्यक्ति

[illegible] के प्रति वातावरण का विद्रूप ही नये प्रयोग के रूप मे स्वीकार [illegible] इस प्रयोग के [illegible] न हो कर अनुभूति की सरलता पर अधिक [illegible] प्रयोग के [illegible] अभिव्यक्ति की [illegible]

को व्यक्त करने का वल दिया है वही उसने उस दिशा की ओर भी संकेत दिया है जहा अत्यधिक स्वाभाविकता केवल वातावरण के आधार पर ही जीवित है। जैसे—

सावन की उनहार
बरसे आँगन पार
मधु बरसे, हुन बरसे
बरसे स्वाँति पार
आँगन पार।
आँगन धार। —(शमशेर बहादुर सिंह—प्रतीक)

शमशेर की उपर्युक्त कविता मे "आगन पार" "स्वातिधार" और "हुन बरसे" मे केवल उस वातावरण की व्यजना ही मिलती है।

लोकगीतों में नारी जीवन की अभिव्यक्ति

कुमारी सरोज एम० ए०

वंशानुक्रम से आगत संस्कारों ने जिनकी प्रतिभा को आस्तिक और अम्लान बनाया है, गार्हस्थ्य जीवन की सात्विकता ने जिनके साहित्यिक जीवन को सँवारा है, ऐसी हैं कुमारी सरोज, जो अपनी अनुभूतियों में विषय-विश्लेषण में प्रवीण और वस्तुवाद से अभिभूत हैं। लोकगीतों में नारी जीवन निखर कर कितना प्रस्फुटित हुआ है, यही इस लेख में इन्होंने व्यक्त किया है। —संपादक

लोकगीतों की भावभूमि

प्राप्त होती है। ये गीत कथात्मक अधिक होते है, वर्णनात्मक कम। जो गीत स्त्रियाँ गाती है वे प्राय स्त्रियो के हो बनाये हुए होते हैं। इनमे ऊहापोह को स्थान नही मिलता, इनमे इतिवृत्तात्मकता नही वरन् चित्रात्मकता होती हैं। इन गीतो मे नारी जीवन की स्वकथित कहानी मिलती है जो हमे उनके तत्कालीन सामाजिक जीवन मे प्रवेश कराती हैं।

सनातन भावनाओं का संरक्षण

ये गीत पुरातन काल से चले आ रहे है, ग्राम गीतो का कोई लिखित साहित्य नही। ये मौखिक एव परम्परावद्ध हैं, अतएव इनमे स्वाभाविक परिवर्तन भी यत्र-तत्र हुए हैं। लोकगीत सनातन काल से चले आ रहे है। इन गीतो का वातावरण प्राचीन है तथा उनमे निखरते हुए जीवन की कथा भी पुरानी है। युग-युग से चले आते हुए भाव ही इन गीतो का पृष्ठपोषण करते है। इन गीतो की 'नारी' मे सीता की तपस्या है, सावित्री की लगन है तथा उर्मिला का त्याग है। इनमे आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता मे पगी हुई रमणी का चित्र नही। लोकगीतो की 'नारी' तो एक सुलझी हुई कथा है, जिसमे सरलता से पैठ हो सकती है। ये गीत अनसूया और गाधारी के देश मे पल्लवित हुए हैं। गीतो मे वर के प्रतीक राम और कन्या की प्रतीक सीता मानी गई है। गृहस्थी मे ससुर के लिए दशरथ, सास के लिए कौशल्या तथा देवर के लिए लक्ष्मण अप्रस्तुत रूप मे आये है। स्वय ये प्रतीक ही उनकी मर्य्यादा के द्योतक है।

बालिका रूप में नारी

ग्रामगीतो मे कन्या का जन्म लेना वहुत ही कम देखने मे आता है। वालिका की उत्पत्ति हमारे पुराने समाज मे अच्छी नही मानी जाती थी, जितने भी सोहर आदि प्राप्त होते है उनमे पुत्र के उत्पन्न होने की ही कथा है अतएव यह तो स्वयसिद्ध है कि कन्या का जन्म उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।* गीतो मे नारी जीवन की कथा वही से आरम्भ

---

*लोक सस्कृति में नारी पुत्री, वधू और माता के रूप में सर्वत्र समादृत हुई है। माताएँ पुत्री की उत्पति के लिए लालायित होती है, उनका लालन पालन बड़े प्यार से करती है। इस सवंध में अनेक लोक-गीत प्रचलित है। निम्नाकित भोजपुरी लोकगीत में माता पुत्री होन की कामना रखती है। पर पुत्र होजाने से वह सोठ पीपर खाना बद कर देती है—

अदिया एक हम रोपल, मन छल धिया होइतीरे।
ललनारे जनमल होरिलानरायन, सबे मन हरखितरे।
सोइरी बइसल तो हें पुतहु कि तोरीं मोरा पुतहु है।
पिबहु पिबहु सोठि पिपरी कि होरिला के दुध हेत रे
सोठिया खाइन ठोठ फाटल कि कंठ दगफ भेल रे
कपुर भीं गूगल अछिदांत, बलैया पितइ पिपरीरे ॥—संपादक

होती है जब वह विवाह के योग्य हो जाती है। ग्राम गीतो की कन्याये निर्भीक एव नि सकोच है। वे अपनी भावनाओ मे स्वतत्र है, तथा उनका उचित उपयोग करती है। उन्हे भावो को छिपाने की आवश्यकता नही है, इसके विपरीत उनमे सीधी अनुभूतियो की आवरणहीन अभिव्यजना है। बालिका अब युवती हो गई है, यौवन मे पदार्पण कर दिया है और वह अब अपनी अवस्था मे सचेत है। उसे अब एक स्वामी की आवश्यकता है, किन्तु उसे इस योग्य होना चाहिए जो उसकी नाव को पार कर दे। अपने भावी पति के रूप मे वह श्रीराम की प्रतिष्ठा करती है और सवर के समान औढरदानी को प्रसन्न कर वर मागती है—

देउ न मोरि माई बांसे क डेलैया फुलवा लोढन हम जाब
फुलवा लोढन भइली खडी दुपहरिया हरवा गछत भइली साभ रे
घुमिर घुमिर सीता फुलवा चढावै शिव बाबा देलेन असीस
जौन मागन तुहू मागो सीतल देई उहै मागन हम देव।
अनधन चाहैं जो दिहा शिव बाबा स्वामी दिहा सिरीराम।
पार लगावै जो मोरि नवरिया जेहि देखि जियरा जुड़ाइ।

उसे धन सम्पत्ति की चाह नहीं। धन चाहे जितना ही क्यो न दे किन्तु पति उसका श्रीराम ही की तरह होना चाहिए। श्रीराम के समान रूप की उसे चाहना नहीं, वह तो गुण चाहती है।

कन्या बड़ी हो गई है अतएव पिता को उसके विवाह की चिन्ता हो गई है।

जेहि घर कन्या कुवारि नींद कैसे आवइ।

बेचारे पिता को कितनी चिन्ता है कन्या के विवाह के लिए। जब तक उसके सिर पर अविवाहिता कन्या का भार है भला उसे नींद कैसे आ सकती है। कन्या के पिता को कितना नम्र होना पड़ता है। जिस [illegible] पिता ने कभी शीश न झुकाया उसे भी झुकाना ही पड़ता [illegible] कन्या के विवाह हेतु। [illegible] कन्या-जन्म पर शोक रूप नहीं प्रकट करते थे।

सिरि नवे पर्वत नवे हम कबहू ना नये
बेटी तोहरे कारनवा हम सेइ माथ नवाये।

[illegible] है पिता का [illegible]। फिर भी पिता अपनी पुत्री के लिए बड़े घरों [illegible] उसे कहीं नहीं दिखाई पड़ता।

पूरब हेरलों पच्छिम हेरलों हेरलों मैं कोसवा पचास रे
बेटी के बर नहिं पावों [illegible] भुइया चिराग

पिता की चिन्ता को देख कर पुत्री भी निश्चेष्ट नही रहती। वह स्वय भी अपनी अवस्था पर विचार करती है तथा नि सकोच हो कर पिता को सात्वना एव धीरज देती है—

काहे का बाबा पछिताला त मन में दु.खित होला
अब हम पुजिबों भवानी त राम वर पाइब।

कन्या कहती है कि हे पिता तुम क्यो दुखी होते हो, अब मै देवी की पूजा करूँगी और राम को वरूँगी। प्राचीन समय मे देवी-देवता, वरदान आदि पर लोगो को विश्वास था इसी-लिए कन्या भी उसी अमोघ अस्त्र का प्रयोग करने को कहती है। उसकी वाणी मे देवी की आराधना पर असीम विश्वास झलकता है। कितनी सरल तथा नि सकोच बालिका है पिता से शात होने को कहती है और उसे भी विश्वास दिलाती है कि देवी उसकी मनोकामना को अवश्य ही पूरा करेगी। इस प्रकार गौरी-पूजन तुलसीदास जी ने भी अपनी सीता जी से कराया है।

प्राचीन भारत मे चित्रकला का घर-घर प्रचार था। चित्रकला का जानना कन्या की शिक्षा का एक आवश्यक अग समझा जाता था। तत्कालीन कन्याये ऐसे चित्र बना सकती थी जो देखने वालो के हृदय मोह लेते थे। वर भी चित्र की उत्तमता की परख ही नही करते थे वरन् चित्रकार को अपना लेने का भी हृदय रखते थे। चित्र पर मुग्ध होने के साथ ही वह चित्रकार पर भी मोहित हो जाते थे। कला की ऐसी प्रतिष्ठा थी कि धन-सपत्ति का लोभ परित्याग कर वह कलाकार की ही माग करता था—

सब कोइ देखेल बाग बगइचा देखेल फुल फुलवारि हो
रामचंद्र देखेलें बाबा के.झझरी के अइसन झझरी डरेह रे।
दान दहेज सासु कुछ नाही लेबो हो ना लेबो चढने के घोड़ रे
जउन तिवइया यहि झझरी डरेहले तिन्हका मै सग लइजाव हो।

समाज मे पुत्र का कन्या से अधिक आदर था, यह एक विदा होती हुई बालिका के मधुर उलाहन से पता चलता है—

बिरना कलेउआ रे अम्मा हंसी खुशी दिहलेउ
हमरा कलेउआ ए अम्मा दिहेउ रिसियाइ।

कन्या का यह निरादर कदाचित् विवाह की रुढिगत कुप्रथा दहेज के ही कारण थी जो अब भी वर्तमान है—

नीले नीले घोडवा छैल असवरवा कुरखेने हनमइ निसान
खिरकी उघेरि के अम्मा जो देखै धियादस आउरि होय

होइगा वियाह परा सिर सेंदुर नो लाख दाइज थोर
भितरा कइ मागु बाहर दइ मारी सतरु के धिया जिनि होइ।

दामाद को देख कर मां यह सोचती है, कि उसके दस और कन्यायें होती किन्तु जब दहेज का प्रश्न उठा और कन्या के सिर में सेंदुर पड़ा तो उसे ऐसा विक्षोभ हुआ कि वह कहती है कि शत्रु को भी कन्या न हो।

पत्नी रूप में नारी

कन्या का विवाह हो जाने पर वह परायी हो जाती है। सिन्दूर लगा कर ही वर कन्या को अपना करता है और वह अपने माता-पिता सब से अलग हो जाती है। देखिये, एक पिता अपनी विदा होती हुई पुत्री से पूछता है कि वह क्यों उदास है, उसका दहेज कम है या भाई ने डांटा है तब वह कन्या कहती है—

ना मोरे बाबा दायज थोरा नाही भय्या बोले रिसियाइ रे
ना मोरे बाबा हो नेवा में चूकली यहि गुन मुहँवा उदास।
तब तो कह्यो बाबा नियरे बिअहबे बिअह्यो देसवा के ओर रे
नैहर लोग [illegible] हुँहैं बाबा रहबै बिसूरि बिसूरि

ऐसा भी कहा है कि कन्या का विवाह हो जाने पर वह दूसरे की सम्पत्ति हो जाती है और मायके के लोग छूट से जाते हैं। किन्तु [illegible] का नियम ऐसा विचित्र है, कि विवाह हो जाने पर पति ही [illegible] हो जाता है। [illegible] साथ ही रहने पर उसे संसार के सब सुख मिलते हैं। पति [illegible] माता-पिता को छोड़ने को तैयार हो जाती है, [illegible] हो गया।

विवाह के पश्चात [illegible] साध्वी स्त्री भी साथ जाना चाहती [illegible] किन्तु वह विस्मरित नहीं होती। वह कहती है—

हमरे के [illegible] मोरा तोरा जुरा है सनेह
[illegible] बिसराय
[illegible] ना मोरा माई न बाप।

है। पति का समाज भी ऐसा कभी नही करेगा किन्तु पत्नी सदा ही अपने पति को क्षमा करती आयी है। यह उसके उच्च मनोवल का द्योतक है।

वह अपने को सास की दासी कहते हुए कहती है कि वह अपने पति का पता लगाने जाना चाहती है जो व्यापार करने गया हुआ है। वह सास की आज्ञा चाहती है। आज्ञा पा जाने पर वह सास के द्वारा इंगित मार्गो पर चल कर पति के पास पहुचती है तो उसे वह एक मालिन मे रत देखती है, किन्तु वह क्षमाधात्री अपने पति के दुराचरण को विष की घूट के समान पी जाती है और उसको क्षमा कर देती है। यही नही, उससे कुछ नयी आज्ञाये पा कर तथा उन्हे शिरोधार्य करके वह प्रत्यावर्तन करती है—

सासु गोसांई बड़ी ठकुराइन लागौं मैं चेरिया तुहारि रे
जौनी बनिज सासू तोरे पुत गे सो बाटा देउ बताइ।
हाथ कै लेहु बहुआ तेलवा फुलेलवा अउर गंगा जल नीर रे,
पूंछत पूंछत तुम जायउ जहां बसे कंथ तुहारि रे।

वहाँ पहुँच कर वह देखती है—

घोड़वा न बांधे वहि घोड़सरिया हथिनी लौंग की डारि
अपना तो सूते मलिनियां के कोरवां मालिन बेनिया डुलाय
कहउ तो स्वामी मोरे लाउ तेलवा फुलेलवां कहउ तो दाबउं पाउ रे
कहउ तो एक छिन बेनिया डोलाऔं कहउ लवटि घर जाउ रे

और तब—

उंचवे उंचवे जायउ री रनियां खलवैं पैग जनि दीन्हेउ रे
पराये पुरुष जीन चितयउ रनिया आखिर होवै तुहारि

'आखिर होवैं तुहारि' की आशा पर सती पतिव्रता घर लौट जाती है और पति के अपराध को भुला देती है। प्रिय के अपराध भी प्रिय होते है, प्रेम के शूल भी फूल के समान होते हैं।

स्त्री अपने पति के मान-अपमान और सुख-दुःख सब मे संगिनी होती है। पिछवाड़े लौंग का बाग है, दूल्हा उसमे लौंग तोड़ने आया है। कन्या का भाई तीर धनुप ले कर निकला और उसे फूल तोड़ने के लिए डाटता है किन्तु इतने मे कन्या निकल आती है और भाई के विरुद्ध पति का पक्ष लेती है—

भितरा से निसरैं बेटी के भय्या हाथे धनुख मुख पान रे
कस तुहु आयो मोरे दरवजवां तुरहु लवंगवा के फूल रे।
भितरा से बोलीं बेटी सुलाछिनि हथवा गजरा मुख पान रे
जिनि भय्या डाटौ जिनि गरिआओ फुलवा मैं देव्यो बटोरि रे।

सयोग काल मे पति पत्नी मे छोटे मोटे परिहास भी हुआ करते थे जो उनके पशुओ गृहस्थी आदि तक ही सीमित थे। पत्नी कहती है—

कहत कहत मै हारेउ रे सामी बात न मोरि जनाउ रे
भइसि बेंचि राजा गहना गढवतेउ सोवतिउ गोडवा पसारि।

इस पर पति कहता है—

एक वचन मै कहौं मोरि धनिया औरे सुनौ चित लाय।
तुहऊँ बेंचि के भइसी बेसहतेऊ पसरा चरउतेउ आधी रात

इसमे किसान स्त्री-पुरुष का विनोद है। एक बात और इसमे ज्ञात होती है वह है स्त्रियो का गहनो के प्रति चाव।

प्राचीन काल मे विवाह के पश्चात पुरुष वाणिज्य के लिए चले जाया करते थे ओर घर मे उनकी स्त्रिया गृहस्थी का बोझ सम्हाले उनकी प्रतीक्षा किया करती थी। इस वियोग काल मे ही हिन्दू नारी का प्रेम निखरता है। प्रतीक्षा की लम्बी अवधि मे ही उसके प्रेम की पुष्टि होती है। जात निरवाही आदि के गीतो मे अधिकतर प्रोषितपतिका स्त्री की ही कथा है किन्तु उसमे ऊहा नही, विरह की मात्रा का अनुमान नही वहा तो एक अनुभूतिमय सश्लिष्ट योजना है, विरहिणी की भावना का चित्र है। [illegible] पर पातिव्रत धर्म का निर्वाह हिन्दू स्त्री गृहस्थी म तन्मय होकर करती है। ऐसे [illegible] मे लोक-गीतो का अधिकाश भरा पडा है।

गहिरी नदिया वे हरि जी अगम बहै राम पनिया
पियवा जे [illegible] देखवा बिहरेला करेजुआ
जो हम [illegible] हरी जी [illegible] परदेसवा
[illegible] निरमोहिया प्रेम [illegible]

[illegible] 'हरि परदेश चले जायेगे तो वह उन्हे [illegible]

[illegible] हरी जी नान्ही नान्ही [illegible]'

[illegible] विरहिणी स्त्री वियोग के दिन [illegible]

[illegible] राम [illegible] हो।
[illegible] बिनदवट हो।

[illegible]

चकई पूछै सुनु चकवा भोर कब होइहइ सुरज कब उइहइ रे
चकई रुकमिनि हरि परदेस घरहि कब अइहइ रे
तौं खेलत मेलत के बेटौना त भैया मोर लागउ रे
भैया हरि कै लगाइ नवरंगिया तौ ठाढि सुखाति न्है
हाथ के रे काढ़ेन ककनवा पायन केर नूपुर रे
ये हो सिर धरि लिहेनि घइलना नौरंग सींचे चलि भइ रे
पेड धरि सीचै नवरंगिया डार धरि भेंटै हो
ये हो आइ गै हैं हरि के सुरतिया तो छतिया बेहाल भई हो।

पति-द्वारा लगाई हुई नारंगी पति का स्मृति-चिह्न है अतएव वह भी पत्नी के प्रेम का पात्र है। पेड का तना पकड कर वह नारंगी सींचती है और डाल पकड कर भेटती है। इतने म प्राणेश्वर की सुध आ जाती है तो वह विह्वल हो जातीहै। कभी विरहिणी अपने प्रेम को विरवा मान कर पति को आवाहन कर कहती है—

'प्रेम पिरित रस विरवा रे, तुम पिया चलेउ लगाइ।
सीचन कइ सुधिया राखेउ, देखेउ मुरझि न जाइ।

यह गीत प्रेमरस से ओतप्रोत है।

एक स्त्री का पति द्वार पर नीम लगा कर चला गया है। यह वृक्ष उसके पति के प्रवास की अवधि बताता है।

कवनी उमिरिया सासु निबिया लगावेंन
कवनी उमिरिया विदेसवा गये हो राम।
खेलत कूदत बहुवरि निबिया लगाये
रेखिया भिनत गै विदेसवा हो राम।
फरि गै निमिया लहसि गये डरिया,
तबहू न आये तोर विदेसिया हो राम।

नीम का वृक्ष बडा हो गया, उसमे फूल भी लग गये किन्तु पति वापस न आये। प्रकृति अपना व्यापार सपन्न करती जाती है, किन्तु उसके स्वामी का व्यापार नहीं समाप्त होना है।

प्रोषितपतिका स्त्रिया अपने पति को पत्र भी भेजा करती थी। चील, कौवा बटोही आदि उनके पत्र-वाहक होते थे। एक स्त्री चील द्वारा पत्र भजती है—

सोवत बाटा कि जागत बरधिया के नायक
तोरि धनिया चिठिया पठायेनि उठहु किन बांचहु।

वर्षा ऋतु आ गई। विरहिणी को सब से अधिक कष्ट वर्षा में होता है।

हमरा मदिलवा केन छवइहें रे,
जेकर पियवा विदेस।

कैसा मर्मस्पर्शी भाव है। जिसका प्रिय परदेश में है उसका महल कैसे छाया जा सकता है। महल को छाने की आवश्यकता नहीं होती किन्तु विरह पीड़ा के आधिक्य में विरहिणी को महल और झोपड़ी एक समान लगती है। यह एक हिन्दू नारी की भावना है जिसे प्रिय के सिवा संसार ही निःसार ज्ञात होता है।

गृहिणी नारी

गार्हस्थ्य जीवन नारी के शील की कसौटी है। सम्मिलित कुटुंब की व्यवस्था प्राचीन काल में थी। कुटुंब में सास, ससुर, ननद, देवर सब की सेवा का भार बहू पर होता था। बहू घर की लक्ष्मी मानी जाती थी। वह सब की नम्रतापूर्वक सेवा करती और अपने पति को भी ऐसी ही प्रेरणा देती थी।

एक पति अपनी स्त्री से कहता है कि वह गंगा नहाने जायेगा। उसके माता पिता वृद्ध हैं अतएव पत्नी कहती है—

घरही में कुइया खनाउ मोरे राजा घरही में गंगा नहाउ
मात पिता के धोतिया पखारो उनहीं हैं गंगा तोहार।

पुत्र और बहू के लिए माता पिता की सेवा ही गंगा स्नान के समान है। पतिगृह जाने से पूर्व ही कन्या को उसकी माता, भाभी आदि कर्तव्यशीलता, सेवा के सुन्दर उपदेश दिया करती थीं। माँ कहती है—

छोड़ देउ बेटी गुन अवगुनवा सिखि लेउ राम रसोई।
सासु ननद तोरी सेवा करियावइ हैं लिहो अचरा पसारि।

कर सके। किन्तु इतना होने पर भी सास, बहू, ननद, भौजाई मे खटपट हो ही जाया करती है। गीतो मे सास का चित्र बहुत बुरा खीचा गया जिसके साथ बहू को रहना होता है। यद्यपि स्त्रियो को ननद-भौजाई एव सास क्रमश बनना ही पड़ता है किन्तु फिर भी इन तीनो मे बहुत कम पटती है। प्रत्येक सास कभी बहू हो चुकी होती है और प्रत्येक ननद को बहू होना पड़ता है फिर भी इन लोगो का व्यवहार अच्छा नही होता।

एक गीत मे बहू अपने भाई से अपने कुटुम्बियो का चित्रण करती है—

सासु तो ए मैया बुढ़िया डोकरिया आजु मरै कि काल रे
ननदी तो ए भय्या वन की कोइलिया आजु उड़ै कि तो कालि रे
जेठानी तो ए भय्या कारी बदरिया छिन बरसे छिन घाम रे
देवरानी तो ए भय्या कोने क बिलरिया छिन निकसे छिन पैठ रे

एक नव-विवाहिता से उसका भाई मिलने आता है। बहन ने उससे अपनी गृहस्थी का मार्मिक वर्णन किया है—

बैठौ न मोरे भइया मलिनी ओसरवां रे ना
भय्या मोरा दुख कहे मालिन घेरिया रे ना।
कै मन कूटों भय्या कै मन पीसौं रे ना।
भय्या कै मन सिझवौं रसोइया रे ना।
सासू खांची भरि बसना मजावें रे ना
सासू पनिया पताल रे भरावें रे ना।
सबका खिआओ भय्या सबका पिआवो रे ना।
भय्या बचि जावै पछिली टिकरिया रे ना
भय्या ओहू मां ननदी कल्योना रे ना
भय्या ओहू मां कुकुरा बिलरिया रे ना।
पहिरौं मैं भय्या मोरे सब क उतरवा रे ना
भय्या सरी गली गली फटही लुगरिया रे ना।
भय्या ओहू माहें देवरा कछौंटिया रे ना।

गृहणी बहन को इतना कष्ट है फिर भी वह उसे किसी से कहने को मना करती है।

ई दुख जिनि कह्यो भय्या भौजी के अगवां रे ना
भौजी दुइ चारि घर कहि अइहौं रे ना।
ई दुख जनि कह्यो भय्या माई के अगवा रे ना
माई छतिया बिदारि मरि जैहै रे ना।

ई दुख जिनि कहयो भय्या बाबा के अगवां रे ना।
सभवै बैठि बाबा रोइहैं रे ना।
ई दुख कह्यो भय्या अगुआ के अगवा रे ना
जिन मोरी करी अगुवइया रे ना
ई दुख तुम भय्या मनही में राखेउ रे ना
भय्या करम लिखा तस भोगब रे ना
सब दुख बाधेउ भय्या अपनी मोटरिया रे ना
भय्या नदिया दिहा पौड़ाइ रे ना॥

इस गीत में अत्युक्ति का एक शब्द भी नहीं है। इसमें गृहणी की सच्ची मर्मव्यथा है। उसके हृदय की अन्तर्पीड़ा का सत्य रूप है। गाँवों में कितने ही घरों की ऐसी ही दशा है। बहन ने अपने भाई से सब बातें खोल कर की। वह कदापि नहीं चाहती कि उसकी यातनाओं का समाचार उसके मायके के लोगों को मालूम हो और वे लोग उसके पतिगृह की निंदा या उपहास करें। अतएव वह अपने भाई को निषेध करती है कि वह उसके कष्टों को घर पर किसी से न कहे। मां सुनेगी तो उसकी छाती फट जायगी, बाबा रोयेंगे, भौजी दो-चार और घरों में कह आयगी। अंतिम पंक्ति तो सहनशीलता की पराकाष्ठा है। वह नहीं चाहती उसका दुख नदी के दूसरे पार पितृदेश में पहुँचे इसलिए वह भाई से मन में ही रखने को कहती है। उसे यह आशा भी है कि भाई इस समाचार को गोपनीय रख सकेगा किन्तु इससे भाई स्वयं तो दुखित होगा ही इसीलिए वह कहती है कि इन बातों की मोटरी रास्ते ही में नदी में डाल देना। संपूर्ण गीत करुणा से ओतप्रोत है। कभी-कभी बहुओं को वर्णनातीत कष्ट होता है, किन्तु सनातन नारी इसे सदा ही सहती आ रही है।

जहाँ पर अन्तरकलह नहीं है वहाँ गृहणी का जीवन बहुत सुखमय भी होता है। एक प्रमदविह्वला गृहणी कहती है कि मैं साठी का चावल और मूँग की दाल बना कर रखती हूँ और जब मेरे पति खाते हैं मैं आँख भर कर देखती हूँ। मैं घर की दासी हूँ जब पति शयनागार में जाते हैं मैं सेज लगा देती हूँ।

रसोइया घरि मैं भात रींधौं मूँगिया दरि दलिया हो राम
जहाँ राम मोरा प्रभु आवे जेवनवा नजर भरि देखौं हो राम
हौं मैं घर के टहलिनि घर ही में रहौं हो राम
जहाँ राम मोरा प्रभु आवे सुतनवा मैं सेजिया बिछाओं हो राम

नारी का मातृत्व

माता का स्थान नारी जीवन मे सब से महत्वपूण एव प्रतिष्ठित है। मातृत्व मे ही नारी की पूर्णता है, मातृपद नारी जीवन की पूर्णाहुति है। नारी का हृदय कोमल भावनाओ से भरा हुआ है और सतान होने के पश्चात् अपने हृदय का सारा प्रेम वह उस पर उँडेल देती है। जब तक नारी हृदय की सचित कोमलता की अभिव्यजना नही होती वह तब तक अधूरी रह जाती है। सतान की लालसा स्त्रियो मे बडी प्रबल होती है—

गंगा गहबर पिअरी चढ़इबै होरिल जब होइहै हो।
गंगा देउ भगीरथ पूत जगत जस गावइ हो।

हिन्दू स्त्री का लक्ष्य कितना ऊचा है। पुत्र के जन्म के पहले ही उसका आदर्श स्थिर कर रखना यह हिन्दू गृहस्थ की एक सुन्दर छटा है। गृहणी के समादृत होने के लिए भी उसे सतानवती होने की आवश्यकता है। नि सतान गृहणी कितनी भी कुशल क्यो न हो उसे लोग आदर की दृष्टि से नही देखते थे।

रानी खिडकी मे बैठी है उससे राजा कहते है कि हमारे कोई सतान नही इसलिए हम जोगी होगे। तब रानी पिछवाडे रहने वाले बढई से कहती है कि वह एक लकडी का पुतला गढ कर ला दे जिससे वे अपना मन बहलावे। उसके पुत्र तो होगा नही क्योंकि वह पूर्व जन्म मे वधिक और वधिकिन थे।

मोरे पिछवरवां बढइया वेगि ही चलि आवउ हो
वढ़ई गढि देउ काठ क बलकवा मै जियरा बुझावउ मन समुझावउ हो।
काठे क बालक गढि दिहलै अगने धरि दिहलौ हो
बाबुल मोरे अंगने रोइ न सुनावौ मै बँझिनी कहावउ रे
दैव गढल जो मै होतेउ तो रोइ सुनउतेउ हो
रानी बढई के गढल होरिलवा रोवन नहि जानइ हो।

इस गीत मे सतति हीन माता-पिता का कैसा करुणापूर्ण परिहास है। नि सतान होना नारी जीवन मे सब से बडा कलक है। वध्या का सभी तिरस्कार करते है, वह समाज मे हेय दृष्टि से देखी जाती है। प्रकृति भी उसे ग्रहण करने मे सकोच करती है।

यहा तक कि पृथ्वी जिसने सब को धारण किया है वह भी कहती है—

बाझिनि तुहका जो हम राखि लेइब हमहु होब ऊसर हो।

भारतीय परपरा की रूढिग्रस्त नि सतान नारी की उपेक्षा की विडबना भी कैसी करुण है कि नि सतान नारी को पृथ्वी भी शरण नही देना चाहती। जिस माता ने उत्पन्न किया वह

भी द्वार से तिरस्कृत कर देती है। भीषण यंत्रणा से पीड़ित बाँझिनि को कहीं भी शरण नहीं। सर्वत्र ही उसे अपदस्थ होना पड़ता है। मनुष्यों का ही बनाया हुआ समाज मनुष्य के प्रति कितना कठोर हो जाता है।

यदि बहुत दिनों के पश्चात् किसी स्त्री को पुत्र हो जाता था तो समाज में उसका फिर आदर बढ़ जाता था। उसका पति भी उसे आदर करने लगता था। माता का समाज में आदर होता था। मातायें भी आदर्श होती थीं जो पुत्रों को सदाचार के मार्ग पर ले जाती थीं।

पूर्वकालीन नारी दूसरों के दुख समझती थी तथा दुखी के प्रति सच्ची सहानुभूति भी रखना जानती थी। दूसरों के लिए बड़े-बड़े त्याग करना आर्य ललनाओं को ही सम्भव था। अपना बालक देकर दुखी बहन के बालक की रक्षा करना लोकगीतों की नारी अच्छी तरह जानती है।

देवकी कहती है—

सात [illegible] देव देहलेन हम लइतो लेहन हो
[illegible]हिनी अठम [illegible] [illegible] से इहो हरि लेइहैं हो

यशोदा उत्तर देती है —

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मुह पोछत हो
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जियाइब हो।

नारी का मातृत्व

माता का स्थान नारी जीवन मे सब से महत्वपूर्ण एव प्रतिष्ठित है। मातृत्व मे ही नारी की पूर्णता है, मातृपद नारी जीवन की पूर्णाहुति है। नारी का हृदय कोमल भावनाओ से भरा हुआ है और सतान होने के पश्चात् अपने हृदय का सारा प्रेम वह उस पर उँडेल देती है। जब तक नारी हृदय की सचित कोमलता की अभिव्यजना नही होती वह तब तक अधूरी रह जाती है। सतान की लालसा स्त्रियो मे बडी प्रवल होती है—

गंगा गहबर पिअरी चढ़इबै होरिल जब होइहैं हो।
गगा देउ भगीरथ पूत जगत जस गावइ हो।

हिन्दू स्त्री का लक्ष्य कितना ऊचा है। पुत्र के जन्म के पहले ही उसका आदर्श स्थिर कर रखना यह हिन्दू गृहस्थ की एक सुन्दर छटा है। गृहणी के ससादृत होने के लिए भी उसे सतानवती होने की आवश्यकता है। नि सतान गृहणी कितनी भी कुशल क्यो न हो उसे लोग आदर की दृष्टि से नही देखते थे।

रानी खिडकी मे वैठी है उससे राजा कहते है कि हमारे कोई सतान नही इसलिए हम जोगी होगे। तव रानी पिछवाडे रहने वाले वढई से कहती है कि वह एक लकडी का पुतला गढ कर ला दे जिससे वे अपना मन वहलावे। उसके पुत्र तो होगा नही क्योकि वह पूर्व जन्म मे वधिक और वधिकिन थे।

मोरे पिछवरवा बढइया वेगि ही चलि आवउ हो
वढ़ई गढ़ि देउ काठ क बलकवा मैं जियरा बुझावउ मन समुझावउ हो।
काठे क बालक गढ़ि दिहलै अगने धरि दिहलौं हो
बाबुल मोरे अगने रोइ न सुनावौ मैं बँझिनी कहावउ रे
दैव गढल जो मैं होतेउ तो रोइ सुनउतेउ हो
रानी बढई के गढल होरिलवा रोवन नहि जानइ हो।

इस गीत मे सतति हीन माता-पिता का कैसा करुणापूर्ण परिहास है। नि सतान होना नारी जीवन मे सब से बडा कलक है। वध्या का सभी तिरस्कार करते है, वह समाज मे हेय दृष्टि से देखी जाती है। प्रकृति भी उसे ग्रहण करने मे सकोच करती है।

यहा तक कि पृथ्वी जिसने सब को धारण किया है वह भी कहती है—

बाझिनि तुहका जो हम राखि लेइब हमहु होब ऊसर हो।

भारतीय परपरा की रूढिग्रस्त नि सतान नारी की उपेक्षा की विडवना भी कैसी करुण है कि नि सतान नारी को पृथ्वी भी शरण नही देना चाहती। जिस माता ने उत्पन्न किया वह

भी द्वार से तिरस्कृत कर देती है। भीषण यत्रणा से पीडित वाभ्किनि को कहीं भी शरण नही। सर्वत्र ही उसे अपदस्थ होना पडता ह। मनुष्यो का ही बनाया हुआ समाज मनुष्य के प्रति कितना कठोर हो जाता हे।

यदि बहुत दिनो के पश्चात् किसी स्त्री को पुत्र हो जाता था तो समाज मे उसका फिर आदर वढ जाता था। उसका पति भी उसे आदर करने लगता था। माता का समाज मे आदर होता था। मातायें भी आदर्श होती थी जो पुत्रो को सदाचार के मार्ग पर ले जाती थी।

पूर्वकालीन नारी दूसरो के दुख समझती थी तथा दुखी के प्रति सच्ची सहानुभूति भी रखना जानती थी। दूसरो के लिए वडेवडे त्याग करना आर्य ललनाओ को ही सभव था। अपना वालक देकर दुखी वहन के वालक की रक्षा करना लोकगीतो की नारी अच्छी तरह जानती है।

देवकी कहती है—

सात वलक दैव देहलेन कस लइतो लेहन हो
वहिनी अठम रहल गरभ से इहो हरि लेइहैं हो

यशोदा उत्तर देती है —

चुप रहु चुप रहु देवकी आचर मुह पोछहु हो
वहिनी आपन वालक हम देवै तुहार जियाइव हो।

भारतीय माता का हृदय कितना विशाल है। स्वय माता होकर दूसरी माता के हृदय का वह अनुमान कर लेती है और उसके कष्ट के निवारण हेतु वह अपने ही शिशु का वलिदान करने को तत्पर हो जाती है।

पुत्र के लिए मा का प्रेम अगाध होता है। एक स्त्री को पहला ही पुत्र हुआ है। उसे ससार मे प्रेम करने के लिए एक नयी वस्तु मिली। उसने अभी पुत्र-प्रेम को जाना न था इसलिए वह उससे कहती हे कि मै सात भाइयो की वहन वाप की इकलौती वेटी तुझे खोजने न आऊगी। वालक चला गया, जव देर हुई तो माता का हृदय छटपटाने लगा। माता के हृदय मे नये व पुराने प्रेम-पात्रो मे सघर्ष होने लगा, उसमे पुत्र-प्रेम ने विजय पायी और वह खोजने निकल पडी—

पेर मे सोहे पैजनिया कमर करधनिया
ललन दूरि खेलन जनि जाव ढूढन हम नाअउवे॥
सात विरन के वहिनिया वाप धिया एकै
हरिजी के परम पियारी ढुढन कैसे अइवे॥
भोर भये भिनुसार कलेवना की जुनिया

होइ गे कलेवना के वेर ललन नही आये ॥
अगिया तो फाटै वदै वद अचरा करै कर
छतिया उठी हहराय ढूढन हम आइन।
सात विरन की वहिनिया वाप कै एकै
मैया वावू के परम पियारि ढूढन कैसे आइउ ॥
छाड़ेउ मैं सातौ विरनवा वाप के नइहर,
छोड दिन्हो हरि की सेजरिया ढूढन हम आइन ॥
जैसे कुम्हार के अउआ न भभकि भभकि रहै
बेटा वैसे माई क करेजवा त धधकि धधकि रहै ॥

सचमुच मा का हृदय पुत्र के लिए कुम्हार के आवा के समान धधकता रहता है। आख की ओट होने पर पुत्र के लिए मा के हृदय मे भाँति-भाँति की आशकाये उठा करती है।

समाज और नारी

समाज के दो मुख्य अग है नर और नारी। दोनो की ही अपने अपने स्थान पर कुछ विशेपताए होती है। स्त्री के विना पुरुप एव पुरुप के विना स्त्री दोनो ही अपूर्ण है। ग्राम गीतो मे जिस समाज की स्थापना हुई है, उसमे 'नारी' का स्थान 'नर' से नीचा है। नारी को सव मे अधिक उच्चता उसके मातृत्व प्राप्त करने पर मिली है अन्यथा उसके लिए —

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आँखो में पानी।'

ही अधिक सत्य है। आधुनिक युग की 'नागरी' मे ग्राम गीतो की नारी मे अतर है। आधुनिक युग मे स्त्रिया पुरुपो के समान स्तर पर आने का प्रयत्न कर रही है किन्तु पूर्वकालीन नारी ने ऐसा कभी न किया।

पूर्व काल मे कन्या का उत्पन्न होना ग्रहण लगने के समान वताया है—

धेरिया गरहनवां वेटी औधट लागै कव धौं उगरह होइ

इस ग्रहण का कारण यह है कि उस समय भी दहेज की कुप्रथा थी, जिसकी सामर्थ्य न होने पर पिता पुत्री से दुखी हो जाता था—

गगा पैठि वावा सुरुज से विनवइ मोरे वूते धेरिया जिनि होइ
धेरिया जनम तव दीहा विधाता जव घर सपति होइ।

जव सपत्ति हो तभी कन्या का जन्म हो क्योकि पिता को दहेज देना पड़ेगा।

पुत्र पिता की सपत्ति का अधिकारी होता था और कन्या विवाह हो जाने पर दूसरे की सपत्ति हो जाती थी—

भइआ क लिखला के अम्मा बावा के रे राज
हमरा लिखला हे अम्मा अति वडि दूर

पूर्व काल मे विवाह की प्रथा प्रकृति के नियमो के अनुकूल थी। वर कन्या एक दूसरे को देख कर उन्हे वरण कर लेते थे और पिता कन्यादान सपन्न कर देता था। स्वयवर की प्रथा भी कभी प्रचलित थी। ग्राम गीतो मे ज्ञात होता हे कि पूर्व काल मे विवाह के पहले वर की योग्यता की परीक्षा हो जाने के पश्चात् पिता अपनी कन्या का सकल्प करते थे।

नदी के किनारे खडा वर नाव मागता है तब ससुर कहते हैं—

नाही मोरे नय्या नेवरिया नाही मोरे केवट रे
जो मेरी धेरिया क चाहे पइरि गगा आवड रे।

गृहणी के रूप मे नारी को सम्मिलित कुटुब का निर्वाह करना पडता था। उसी मे समाज उसे प्रतिष्ठा देता है। विवाह के वाद स्वामी परदेश चले जाते थे तब पत्नी को सास ससुर देवर जेठ पर निर्भर रहना पडता था। कभी देवर या जेठ अपनी भ्रातृवधू पर मोहित हो जाते थे और अपने भाई को मार भी डालते थे किन्तु पतिव्रता स्त्रिया आत्म-समर्पण न करती थी। पति प्रेम के साथ उन्हे समाज की आलोचना का भी भय रहता था अतएव वे भी सती हो जाया करती थी।

समाज मे सव से अधिक आदर नारी के मातृत्व का था। माता का स्थान ऊचा था। उसी मे नारीत्व की सार्थकता समझी जाती थी। वध्या के प्रति समाज वहुत कठोर था।

प्रोषितपतिकाओ पर समाज का वडा कठोर नियत्रण था। उन्हे न तो हास-परिहास करने की ही स्वतत्रता थी और न शृगार ही की।

"सइयां हमारे परदेसवां किस पै करिहौं सिंगार।"

इतने कठोर सयम से रहने पर भी परदेश से लौटने पर स्त्रियो के सत की परीक्षा ली जाती थी। अग्नि, कडाही के जलते हुए तेल आदि मे प्रवेश कर सती को परीक्षा देनी पडती थी। इन परीक्षा मे स्त्री के भाई, पिता आदिकी साक्षी होती थी। यदि कन्या असती प्रमाणित हुई तो उसके पितृपक्ष के लोगो के लिए सव से अधिक लज्जा की वात होती। श्वसुर पक्ष के लोगो के सम्मुख कन्या के पिता, भाई का स्थान नीचा था इसीलिए परीक्षा होते समय भाई कहता है—

ऊंचे ऊंचे वैठे वावा ससुरे के लोगवा रे ना।
रामा खलवा वैठे भय्या वावा रे ना॥
जो चदा वहिनी तू पक्की ठहरवू रे ना।
वहिनी तोहे जोगे डडिया फनउवे रे ना॥
जो चदा वहिनी तू कच्ची वहरवू रे ना।
तोहका जिअनइ गड़ना गढइवे रे ना।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण ग्राम-गीतो मे मिलते है। नारी के सतीत्व के प्रति समाज सदा ही सदिग्ध रहा है।

स्त्री के आचरण पर तो समाज का इतना ध्यान रहता था किन्तु पुरुषो मे बहु विवाह की प्रथा थी। कही-कही लोकगीतो मे सौतो का भी नाम आया है—

देहु सवति तुम अपनी असिसिया
बहिनी भय्या उतरै पार।
दिहिन सवतिया अपनी असिसिया
बहिनी भय्या डूबे मझधार॥

सौतिया डाह भी स्त्रियो मे हुआ करती थी जो स्वाभाविक ही था।

लोक-गीतो मे हमे तत्कालीन नारी जीवन की विशद अभिव्यजना मिलती है। ग्रामीण नारी मे हिन्दू नारी का चित्र हमे प्राप्त हुआ है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नारी जीवन की महजता और कोमलता व्याप्त है। अपनी पूत महत्ता को लिये हुए ग्राम-गीतो मे युग-युग की चिरतन नारी जीवन-पथ पर अग्रसर होती जा रही है।

लोककला

भारतीय लोक-संगीत की आत्मा

सगीताचार्य श्री ओङ्कारनाथ ठाकुर

जिनकी दीर्घकालिक स्वर-साधना पर मानव-हृदय की निगूढ मर्मभावनाए तैरती है और जिनके कण्ठ मे आकर सगीत मृदुलता एव माधुर्य के माध्यम से बोलता है, अनेक नूतन राग-रागिनियो के आविष्कारक, मुसोलिनी-जैसे रूखे व्यक्ति को अपने सगीत से निद्रालु कर देने वाले और भारतीय सगीत की विजय-पताका दूर देशो मे उडाने वाले प० ओङ्कारनाथ न केवल स्वर-साधक वर भारतीय विद्या एव वाङ्मय के मर्मज्ञ है। इस लघु लेख मे प्रकट उनके विचार मनन के योग्य है। —सपादक।

स्वर-संगीत

बीज से ही वृक्ष का उद्भव और विकास होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक 'षड्ज' स्वर मे ही अन्य छ स्वरो का उद्भव हुआ है। इसीलिए उसे छ स्वरो के जन्मदाता के रूप मे, 'षड्ज' कहा जाता है। सामवेद भी प्रारम्भ मे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरो मे निवद्ध था, पश्चात् क्रमश पाच, छ और सात स्वरो का विकास हुआ जो 'गौतमस्य परकम् कश्यपस्य वर्हिपम्' की सज्ञा से सम्वोधित है। इसके वाद से ही सप्त स्वरो के स्थान गान के समय परिवर्तन किये जाने लगे। इसी प्रकार सामगान की सहस्र शैली पतञ्जलि के कथनानुसार 'सहस्त्रवर्त्मा सामवेद' कही जाने लगी। वैदिक सगीत के विकास की परम्परा बीज द्वारा ही हुई है। आगे चल कर विकासप्राप्त वैदिक सगीत के क्रमश निवद्ध गीत, प्रवन्ध गीत और मार्गीय सगीत नाम भेद हुए।

देशी सगीत

देशी सगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोक सगीत है। जिस देश या जाति का सवेदनशील मानव जिस समय अपने हृदय के भावो को अभिव्यक्त करने के लिए उन्मुख हुआ उसी अवसर पर स्वयम्भू स्वर, लय प्रकृत्या उसके मुख से उद्भूत हुए और उन्ही स्वर गीत और लय को नियमवद्ध कर उनका जो शास्त्रीय विकास किया गया वही 'देशी सगीत' वना। श्री मतग रचित 'वृहद्देशी' ग्रथ देशी सगीत का प्रामाणिक और पुरातन ग्रथ है। मेरी धारणा है, कि आज भी यदि शोध किया जाय तो प्रचार मे गाये जाने वाले रागो का उत्पादक 'लोक सगीत'

ही सिद्ध होगा। लोक सगीत मे प्रेम, भक्ति, अनुराग, धर्म आदि मानव जीवन के सभी अवयवो का सन्निवेश है। आधुनिक प्रचलित गुर्जरी, सोरठ, सौराष्ट्र टक, गान्धारी, भोपाली, मुलतानी, वग भैरव, कन्नड आदि राग अपने नाम-आख्या भेद के अनुसार ही तत्तज्जनपदो और देशो के लोक सगीत का प्रतिनिधित्व करते है। यदि हमारा जनतत्र राज्यशासन लोक सगीत के सभी अगो के विकास की यथेष्ट चेष्टा करे तो भारतीय सस्कृति के विकास का एक ऐसा अनुशीलनप्रधान इतिहास निर्मित हो जाय जिससे समस्त मानव जाति को प्रेरणा और लोकोत्तर आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

शब्द शक्ति का प्रभाव

'शब्द गुणकत्वमाकाशम्' इस लक्षण के अनुसार शब्द (स्वर) आकाश की भांति व्यापक और अखण्ड है। स्वर-ज्ञान उद्भिज, अण्डज, पिण्डज सभी प्राणियो को समान भाव से हुआ करता है। इस ज्ञानार्जन मे भाषा और लिपि की विभिन्नता व्याघात नही उत्पन्न करती। इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अभी अभी आफग़ानस्थान मे हुआ। भारतीय भाषा मे नितान्त अपरिचित अफगानस्थान की साधारण जनता मेरे हृदय की भाषा और भावो को इतनी तन्मयता, उत्सुकता और एकाग्रता से ग्रहण करती थी कि उनके रोम-रोम से आनन्द छलक रहा था। राग-स्वरो का प्रभाव वनस्पतियो पर कितना पडता है इसका अनुभव मैने सर जगदीशचन्द्र वसु की लेब्रोटरी मे किया है। मेरा अनुभव है, मेरी दृढ धारणा है कि राग और स्वर का प्रभाव व्यक्ति पर विना किसी जाति, सस्कार, धर्म और देशभेद के पडा करता है। मेरा अपना विश्वास है, कि लोक सगीत के माध्यम से समस्त-विश्व मे मानवता, आत्मीयता और ऐक्य की स्थापना की जा सकती है। क्योकि, सगीत एक ऐसा माध्यम है जो सभी प्रकार के विभेदो से अतीत है और यही अभेदतत्व भारतीय सगीत की आत्मा है।

थापे

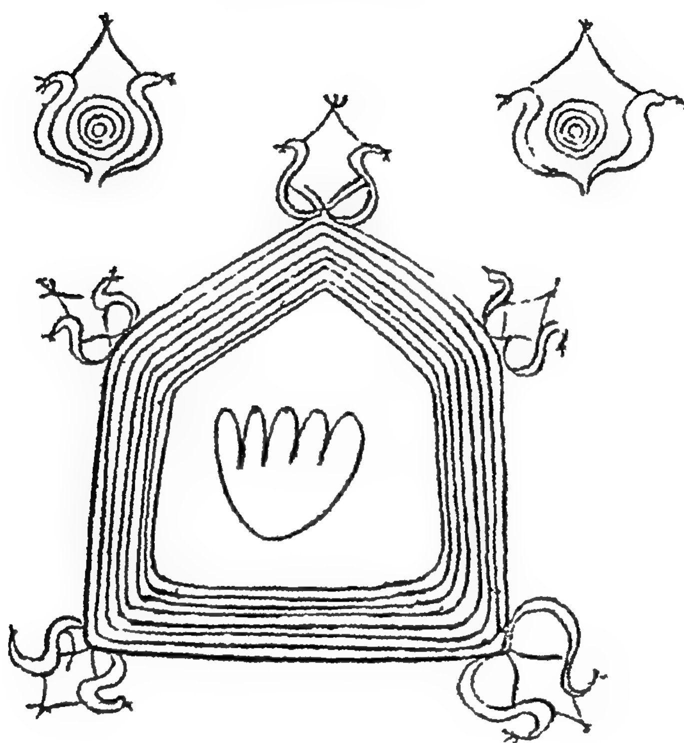
महापंडित राहुल सांकृत्यायन

भारतीय संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व और भारतीय वाङमय के शोधक, विचारक श्रीराहुलजी हिन्दी साहित्य के बहुमुखी विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान कर रहे हैं। भित्तिचित्रों के कतिपय रूपों के अस्तित्व और आशय पर आप ने रोचक ढंग से यह लेख प्रस्तुत किया है।
—संपादक

पर्व-त्यौहार, ब्याह-शादी के समय मंगल-चिह्न दीवारों में या भूमि पर अंकित करना बहुत पुराना रवाज है। भारतवर्ष के किसी भी भाग में चले जायँ, हिन्दुओं के घरों में ऐसे चिह्नों को अंकित पायेंगे। अब भी इन चिह्नों में अपने भावों के प्रकट करने की शक्ति है, लेकिन उनकी कला का ह्रास लोगों की कला के प्रति रुचि और अरुचि के अनुसार कम-बेशी देखने में आता है। धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को चौका या रंगोली (रंगवल्ली) कहते हैं, और दीवारों पर अंकित किये जानेवाले चित्रों को थापा या ठापा। हरेक बड़े त्यौहार या शादी-ब्याह में भिन्न-भिन्न प्रकार के थापे अंकित किये जाते हैं। इनमें से कोई केवल लाल या सफेद रंग के बनाये जाते हैं और कुछ में कई और रंगों का मिश्रण होता है। कहीं-कहीं जनपद के अनुसार थापों में भेद देखा जाता है, लेकिन हमारी कई जातियां अनेक जनपदों में बिखरी हुई हैं, और उनके थापों में कितनी ही समानता भी होती है। रामनमाईस आदि हिन्दी की कहानियों और गीतों को जमा करते समय मैंने उनसे कुछ थापे भी लिये थे, जो अगरवालों की राजवंशी शाखा के हैं। दूसरी शाखाओं में इनमें भेद भी हो सकता है। अघोई पूजा कातिक महीने में दीवाली से एक सप्ताह पहले वाली अष्टमी को होती है। उस दिन महिलायें, विशेषकर पुत्रवती मातायें अघोई माता की बड़ी श्रद्धा से पूजा करती हैं। एक विशेष प्रकार का थापा बनाया जाता है। पूजा के साथ अघोई माता की कहानी भी कहने-सुनने का माहात्म्य है। कुरु जनपद (मेरठ कमिश्नरी) के दक्षिण वाले इलाके में यह कहानी निम्नलिखित प्रकार है—

'देवरानी-जेठानी छ रानियां थीं। बच्चे छओं के होते थे, पर छोटी रानी के लड़के बरस-भर के होते-होते अघोई आठें को मर जाते थे। इसी प्रकार सात बच्चे पैदा हुए और मर गये। आठवां पैदा हुआ। छठी की रात को बेमाता आई। मां ने उसके पैर पकड़ लिये। बहुत गिड़गिड़ा कर उसने बेमाता से आठवें पूत के जीवन की भीख मांगी। बेमाता द्रवित हुई और

बोली------'बेटी, यह मेरे बस की बात नहीं है। अघोई आठे को स्याउ माता आवेगी। उसी के हाथ में सब-कुछ है। तू आठ नादोमे मिठाई, खीर, फल आदि भरवा रखना। वह एक-एक को बड़े मन से खा कर अघा जायगी। आठवीं नाद के बाद चारपाई बिछा कर बिस्तरा लगा रखना। स्याउ-माता खा-पीकर थक गई रहेगी और चारपाई देख कर वहा सो जायगी। फिर धीरे-धीरे

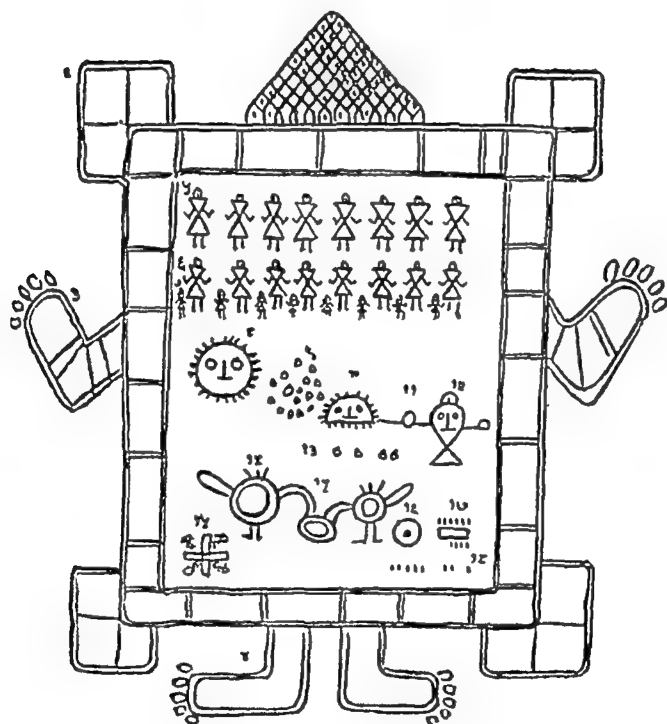


ब्याह का थापा

उसके पैर ना-ना कहने पर भी दबाती रहना। साथ ही बच्चे को चूटी काट कर जब-तब रुला भी देना। स्याउ-माता के पूछने पर तब तक कुछ न कहना, जब तक वह तिरवाचा न भर दे। स्याउ-माता से तिरवाचा भरवा कर कहना, यह तुम्हारे कान की फुरेरी मागना है। स्याउ-माता फुरेरी दे देगी। फिर तू एक नहीं, आठ जीते पूतो की मा हो जायगी।'

वेमाता छठीकी रातको आकर चली गई। बच्चा बढने लगा। कातिक का महीना अघोई आठे का सवेरा आया। पाचो जेठानियो ने कहा—"जल्दी-जल्दी अघोई आठे पूज लो नहीं तो मदरोई (सदा रोने वाली) रोने लगेगी। वे जानती थीं, कि अघोई माता देवरानी के आठवे बच्चे को उठा ले जायगी और वह फिर रोना-धोना शुरू करेगी। लेकिन उनकी देवरानी ने अब की बड़ी तैयारी की थी। आठो नादे मधुर भोजनो से भरी थीं। सुन्दर पलग पर साफ नरम बिछौना

बिछा था। स्याउ (साप) माता आई। नाद मे बढिया मिठाई देख कर लपक पडी। खूब खाया। अगली नाद मे उससे भी अच्छा, तीसरी और आगे की नादो मे ओर अधिक स्वादिष्ट भोजन था। अघोई मानने वाली नही थी, वह खाती ही रही। आगे बिछी चारपाई देख कर उस पर पड रही। रानी ने बैठ कर पैर दबाना शुरू किया। अघोई माता चलने को तैयार हुई, तो रानी ने कहा—'जरा बालो मे तेल डाल दू, खुले सिर न जाइये।' रानी ने बालो मे तेल डाला। फिर वह बाल काढने लगी और साथ-साथ बच्चे को चूटी भी काटती जा रही थी। बच्चा रोने लगता, तो स्याउ-माता रोने का कारण पूछती। रानी ने कहा—"काहे को पूछती हो ? जो वह मागता है, उसे क्या तुम दोगी ?" स्याउ-माता ने कहा—"दूगी।" रानी ने तिरवाचा भरवा कर कहा—"यह तुम्हारे कान की फुरेरी मागता है।" स्याउ-माता देती नही तो क्या करती। फुरेरी देते ही पहले के सातो मरे लडके एक-एक कर के धरती पर कूद पडे। स्याउ-माता ने कहा—"तूने मुझे ठग लिया।"

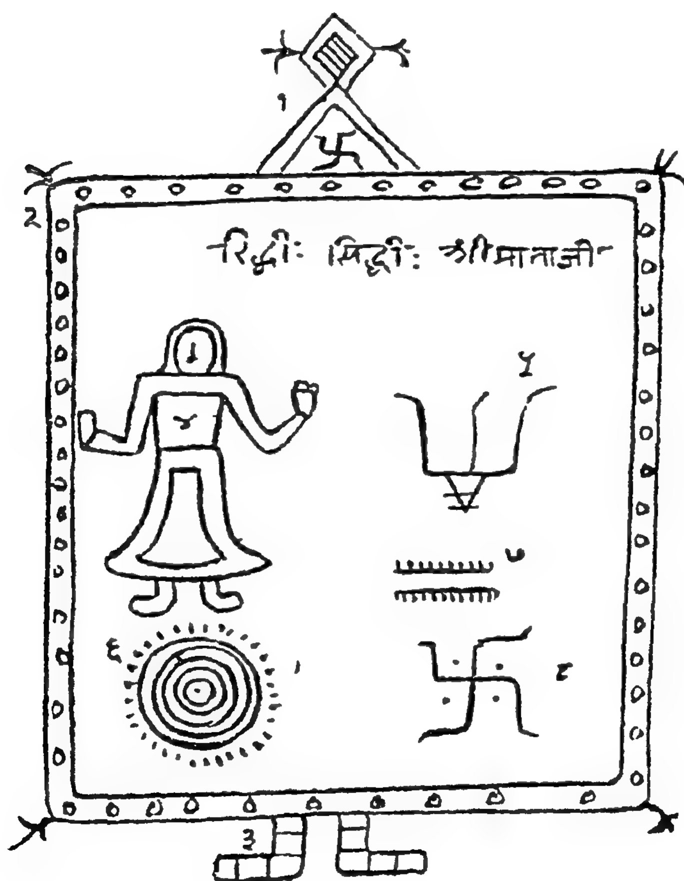


अघोई आठे का थापा

"रानी के आगन मे आठो लडके खेलने लगे। उसकी खुशी का क्या कहना ! उसने दर्जी बुलवाये कपडे सीने के लिए, गाना-बजाना करने वाले बुलाये नाच-उत्सव मनाने के लिए, हलवाई बुला कर पापडी-पूआ तयार करवाने लगी। मान (बूआ, ननद आदि को) देने के लिए पापडी,

पूआ, साडी, वर्त्तन, रुपये आदि आठों चीजे तैयार होने लगी। जेठानिया पूजा कर चुकी, लेकिन मदरोई के रोने की आवाज नही सुनाई पडी। उन्हे बडा अचरज हुआ। उन्होंने यह कह कर के बच्चो को भेजा कि देखो तो, चाची रोती नही, उसके घर मे क्या हो रहा है? बच्चो ने जा कर देखा। वहां खूब गाना-बजाना हो रहा था। हलवाई की भट्ठी चल रही थी। आगने मे आठ-आठ बच्चे खेल रहे थे। छोटी रानी ने जेठानियो के बच्चो को भेज कर उनकी माताओ को बुलाया, खिलाया-पिलाया। स्याउ-मैया ने जैसा उसका किया, वैसा सब का करे।"

अघोई की पूजा कुरु जनपद मे भी होती है, जिसे रामन माई "होईमाई" की पूजा बतलाती है। रामन माई की होई की कहानी छोटी सी है,



होई का थापा (माहेश्वरी)

"होई के दिन नणद-भावज दोनो मट्टी लेणे गई, खुदाणे मे। नणद ने जो खुरपा मारा, तो स्याव के बच्चे लिकले सात। नणद ने सात्तो ई बच्चे मार दिये। पिच्छे ने होई निकली उसने कया अक—"मेरे सात्तो ई बच्चे तेने मार दिये, मैं तुझे खाऊगी।" जब भावज ने कया

—"इसे तो तू खावे मती, यो तो सात भइयो की एकई भैन्ना है। इसके बदले मे जो मेरे बच्चे होगे, उने तू लेनी रइये।"

"उनने अपणे सातो बच्चे होई कू दे दिये। होई ने कया—"तू बौत इमानदार है। तन्ने अपणी नणद के बदले कोख के बच्चे दे दिये। मैं तुझकू तेरे सात्तो ई बच्चे देत्ती ऊ।"

भिन्न-भिन्न जातियो और जनपदो के थापो और चोको की तुलना से हम थापो के ही सबध को नही, बल्कि उन लोगो के सबध को भी कुछ-कुछ जान सकते है, जिनके यहा यह प्रचलित है। थापो के चिह्न-सकेत हमे प्रागैतिहासिक काल मे ले जाते है, जिस तरह गोदने और दूसरे सकेत। कोई आश्चर्य नही, यदि इनमे से कुछ हमारे पुराने पचमार्क सिक्को से होते सिधु-उपत्यका के सकेतो तक पहुच जाये। कुछ थापे निम्नलिखित है —

१ नाग पचमी, २ सावन पूरनमासी, ३ होई, ४ दीवाली, ५ कातिक एकादशी, ६ आठे थापा, ७ देवी का थापा, ८ नवमी का थापा, ९ व्याह का थापा, १० शादी का चोका।

भारत की शास्त्रीय और लोक-कला का मूल

श्री के० एम० रामस्वामी शास्त्री

दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री दर्शन, राजनीति, इतिहास के मनस्वी विद्वान् और प्रख्यात विचारक है। भारतीय शास्त्रो और सस्कृति पर जैसी आपकी निष्ठा है, उसी प्रकार योग्यता भी है। आपने भारतीय शास्त्रीय और लोक-कला के मूल आधार का विद्वत्तापूर्ण विवेचन इस लेख मे किया है। —सपादक

भारतीय कला भी, चाहे वह शास्त्रीयकला हो या लोककला, भारतीय सस्कृति के कतिपय प्रमुख लक्षणो से अनुरजित है। भारतीयकला का मूल ईश्वर-भक्ति मे है और उसने धर्म के प्रति निष्ठावान् होने से कभी मुँह नही मोडा। भारतीय कला ने 'कला कला के लिए' का झडा कभी नही उडाया और नैतिक मूल्यो की श्रेष्ठता से कभी इनकार नही किया। परम्परा की महत्ता की अवहेलना न करते हुए भारतीय कला ने सदा परम्परा की नीव पर ही निर्माण करने की चेष्टा की और साथ ही उन परम्पराओ को सुसस्कृत और परिमार्जित करने का प्रयत्न भी करती रही। ये तीन प्राणभूत तत्व दर्शन और धर्म की भाँति भारतीय साहित्य और कला को भी अनुप्राणित करने वाले सिद्धान्त रहे है।

अन्य प्राणियो की भाँति भूख और यौन-पिपासा मनुष्य मे भी होती है किंतु वह उत्पादन और पुनरुत्पादन से ही सन्तुष्ट हो कर बैठा नही रहता बल्कि सत्य शिव और सुन्दर को जीवन का श्रेयस् समझने की लालसा भी रखता है। वह सत्य शिव और सुन्दर को प्राप्त करने की कामना करता है और उसे तब तक चैन नही पड़ता जब तक वह पूर्ण ज्ञान न पा ले और सारे प्राणियो से प्रेम न करने लगे। भारतीय सस्कृति और धर्म की भाषा मे वह रजस और तमस के स्तर से सन्तुष्ट न होकर सत्व के स्तर तक पहुँचने की अभिलाषा रखता है।

भाव, रस और ध्वनि की धारणा भारतीय कला की एक विशेषता है। स्थापत्य, मूर्ति-कला, चित्रकला, काव्य, नाटक, सगीत, नृत्य और नृत्य-सगीत आदि भारतीय कलाओ के विविध रूप इन्ही धारणाओ पर आश्रित है। ये धारणाये लोक-कला मे भी कलाकारो और श्रोताओ के मन को अनुरजित करती है, चाहे वे इसे अनुभव करते हो या न करते हो। प्रधान सकरी भाव की अभिव्यक्ति भाव से सवधित होती है। रस भाव-जन्य सौन्दर्योपभोग का नाम है। ध्वनि रस की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षत न कर सूक्ष्म सकेतो द्वारा परोक्ष रूप से करती है। चूंकि

इन धारणाओ का विषय अत्यन्त विशद और बहुमुखी है जिसे विकसित होने मे लगभग तीन हजार वर्ष लगे है इसलिए मै यहाँ उनका निर्देश मात्र कर के ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा।

मैंने ऊपर कहा है कि भारतीय कला की अभिव्यक्ति स्थापत्य आदि अनेक दिशाओ मे अनेक प्रकार से हुई है। भारत मे प्रत्येक कला को विकसित होने मे कई शतिया लगी है। उनका उचित निरूपण कर सकने के लिए हमे उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। किंतु भारत की हर ललित कला इतनी सम्पन्नता ओर विविधता से कुसुमित हुई है, कि उसका वर्णन अनेक जिल्दो मे ही हो सकता है। जिस प्रकार उपनिषदो और गीता का देश दर्शन और धर्म मे ससार का अग्रणी बनने का दावा कर सकता है उसी प्रकार जिस देश मे एलोरा की मूर्त्ति-कला, अजन्ता की चित्रकला, वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, कालिदास के काव्य ओर नाटक, मीराबाई ओर त्यागराज के गीत है वह देश भी कला मे ससार का अग्रणी बनने का दावा कर सकता है।

यहा मै अपना ध्यान लोक-सगीत, लोक-नृत्य और लोक-नाटको तक ही सीमित रक्खूंगा। लोक कलाओ मे शास्त्रीय कला का महिम और जटिल प्रतिरूप चाहे न हो किंतु उनको प्रेरित करने वाली आधारभूत भावना वही है ओर उनमे जनसाधारण को वर्वस विभोर कर देने वाली स्वाभाविकता है। उनकी इस स्वाभाविकता ने शास्त्रीय कला के पडितो तक का हृदय मोह रक्खा था। यह तमिलनाद के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यकार कम्बोर की एक घटना से स्पष्ट है। एक दिन जब वह खेतो मे हो कर जा रहे थे कि उन्होने कुछ ग्रामीणो का जो खेत को सींचने के लिए कुएँ मे पानी उलीच रहे थे, एक लोक-गीत सुना। गीत साधारण और सरल तमिल मे था और लय की गति स्वाभाविक ओर लुभावनी थी। कवि उस गीत को प्रशसाभरी प्रसन्नता मे सुनते रहे और उन्होने जामुन के कुज मे ओस-कणो की निद्रा का वर्णन सुना तो वह ठगे से रह गये। उस दिन की सिचाई दूसरे दिन तक के लिए स्थगित हो गई। विमोहित कवि दूसरे दिन गीत का शेष अश सुनने गये और उन्होने देखा कि गीत वही से शुरू हुआ जहाँ वह पिछले दिन समाप्त हुआ था आर उतना ही स्वाभाविक, विमोहक और कर्णप्रिय था।

भारतीय साहित्य से हमे पता चलता है कि शास्त्रीय नृत्य उच्च और कुलीन लोगो मे ही क्या राजकीय मडलियो तक मे प्रिय था। मालविकाग्निमित्र नाटक मे कालिदास ने राजकुमारी मालविका को एक कुलीन और कुशल नर्तकी के रूप मे चित्रित किया है। रानी मीराबाई कृष्ण के सम्मान के लिए नाचती ओर गाती थी। अमर गीतिकाव्य गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव अपने छन्दो को गाते थे और उनकी पत्नी पद्मावती उन छदो को अपने नृत्य मे उतारती थी। जयदेव को इस बात का बडा अभिमान था और वह बडे गर्व से अपने को 'पद्मावती चरण चारण चक्रवर्ती' कहते थे। बाद मे नृत्य कला गणिकाओ द्वारा एकाधिकृत किये जाने से नैतिकता से वचित होकर कुख्यात हो गई। मद्रास राज्य में श्रीमती रुक्मिणी

देवी ने अपने नृत्यो द्वारा इस कला का पुनरुद्धार किया। यह कला अब सर्वप्रिय है और अपनी प्रतिष्ठा और सार्वभौम रोचकता की पराकाष्ठा तक पहुँच गई है।

नृत्य कला के कत्थक, मणिपुरी, भारत नाटचम और कथाकली आदि रूप भारत के उत्तर-दक्षिण, उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम मे विकसित हुए है किंतु इन सब को अनुप्राणित करने वाली प्रेरणा भरत कृत नाटचशास्त्र से ही मिली है। मुद्राओं और चरण-चालन की सर्वोत्तम प्रविधि भरत नाटचम् मे ही मिलती है। हमे मद्रास राज्य मे तजौर जिले के गाँवो मे विकसित भागवत माला नाटक, आन्ध्र क्षेत्र के कुरवंजि नाटक, कुछिपुदी नृत्य और मदिर मे उत्सवो मे अभिनीत होने वाले नृत्य-नाटक उपलब्ध है। अधिक पुराने इनसे भी कुम्मि और कोलत्तम गीत है जो लडकियो मे विशेष रूप मे प्रिय है। इसी प्रकार पुराने जो वन चराई नृत्यो की भी बात है। मैंने स्वय कुछ वैष्णव मदिरो मे आल्वार कहे जाने वाले कर्मचारियो को नृत्य-द्वारा आल्वार सतो की शिक्षाओ को मूर्त्त करते देखा है। यह प्रथा अब लगभग मिट गई है। गणेश, सुब्रह्मण्य और अन्य देवताओ के समक्ष किये जाने वाले कौस्तुभम नामक नृत्यो की प्रणाली भी बहुत कर के नि शेष हो गई है।

इन सब के अतिरिक्त कठपुतलियो के बोमवालत्तम् या नृत्य नाटक भी थे। वे भी अब मिट चुके है। मैंने अपनी युवावस्था मे हरिश्चन्द्र नामक बोमवालत्तम् देखा था जिसे मैं कभी नही भूल सकता। उसकी मेरे ऊपर अमिट छाप पडी थी। उसको हजारो ने मुफ्त मे देखा था क्योकि वह एक सडक पर खुले मे किया गया था। डोरी से चलाई जाने वाली कठपुतली का प्रारम्भिक नृत्य तो आश्चर्य मे डाल देने वाला था।

भारतीय महाकाव्यो पर आधारित सडको पर खेले जाने वाले अन्य जनप्रिय नाटक भी थे किंतु वे अब नही रहे है। उत्तरी भारत के रामलीला-नाटक आज तक एक जीवित शक्ति बने हुए है।

भारतीय संगीत का मूलाधार : लोक-संगीत

श्री कुमार गन्धर्व

लोक-सगीत भारतीय जन-जीवन का प्राणदायी स्रोत बन कर लोक-सस्कृति को अमृत बनाने मे सक्षम हुआ है। देवास (मध्यभारत) के विख्यात सगीताचार्य श्री कुमार गन्धर्व ने अपने दीर्घकालिक मनन, अध्ययन और अनुशीलन के आधार पर इस लेख मे लोक-संगीत को भारतीय सगीत का मूलाधार सिद्ध किया है। —सपादक

आजकल लोगो का ध्यान विशेष रूप से गाँवो की ओर आकृष्ट होता जा रहा है। विभिन्न दृष्टियो से ग्राम्य-विशेषताओ को प्रकाश मे लाने की चेष्टा की जा रही है। लेखक, शोधक, कलाकार आदि ग्रामो की सस्कृति के सम्बन्ध मे खोज करने के लिए अग्रसर हो रहे है। सगीत-क्षेत्र मे भी इसका अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव दिखाई दे रहा है। विशेष रूप से लोक-सगीत की चर्चा की जाती है और यदाकदा लोक-सगीत मे निहित मूल धुनो को व्यक्त करने के प्रयास सामने आ रहे है। किन्तु क्या इसे हम सगीत क्षेत्र मे प्रगति का सकेत समझ ले? केवल लोक-धुनो को एकत्र करना या उन्हे उनके मूल रूपो मे अपनाने मात्र से सगीत-शास्त्र मे कोई उन्नति सम्भव नही। यदि वास्तव मे किसी प्रकार की प्रगति सगीत-क्षेत्र मे अपेक्षित है तो लोक धुनो के सहारे नया-सृजन होना चाहिए। यह बात सर्व-विदित है कि हमारे शास्त्रीय सगीत की उत्पत्ति इसी लोक-सगीत से हुई है। कैसे हुई?—इस सम्बन्ध मे आजतक किसी ने जानने का प्रयत्न नही किया। यदि इस जिज्ञासा की पूर्ति पहले की गई होती तो आज हमारा सगीत बहुत-कुछ आगे बढा हुआ होता। दुर्भाग्य की बात है कि हमारे सगीताचार्यो ने केवल पुरातन काल से प्राप्त पूजी को ही सम्हालने का प्रयत्न मात्र किया है। वस्तुत यह प्रयत्न भी बिना सोचे समझे किया गया, अत व्यर्थ ही रहा। व्यर्थ इसलिए कि चिन्तन के अभाव मे उसमे विकृति आ गई। आजकल के अनेक प्रचलित रागो को सगीतज्ञ अनजाने ही विकृत रूपो मे गाते आ रहे है। हमारे पास यह बात जानने के लिए कोई साधन भी नही कि हम निश्चयपूर्वक कह सके कि जो कुछ गाया जाता है वह प्रामाणिक है। इसीलिए रागो के विषय मे अनेक मतभेद प्रचलित है। इन सब बातो को सही-सही जानने के लिए लोक-सगीत के सम्बन्ध मे परिचित होना अत्यावश्यक है। लोक-सगीत के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण शोध अभी यही है कि यह जाना जाये कि उसमे से शास्त्रीय रागो की उत्पत्ति कैसे हुई।

इतना गर्व करते है उसमे इतने थोड़े रागो का होना वास्तव मे दुर्भाग्य का विषय है। हमारे रागो की पूजी आखिर इतनी कम क्यो है? इसका कारण यही प्रतीत होता है कि रागो के निर्माण और विकास के सम्बन्ध मे सोचा नही गया। जो कुछ हमारे पूर्वजो द्वारा छोड़ा गया है उसी को अपने सिर पर लाद कर हमने अपने को धन्य समझा। इतना ही नही, सगीत-विद्या का कठ-मात्र से सम्बन्ध होने के कारण क्रमश अनेक विकृतियाँ और अशुद्धियाँ भी उसमे आती गयी। सगीताचार्य लोक-सगीत की इन दिनो चर्चा करते हैं। कोई-कोई लोक-सगीत मे पाच-स्वरो का सारग ही अधिक देखते है और इसलिए बिना समझे बूझे सर्वप्रथम सारग राग ही बना होगा, इस बात की कल्पना करते है। अतएव नये रागो के उल्लेख के सिलसिले मे लोक-सगीत सम्बन्धी प्रचलित चर्चा का उल्लेख प्रसगानुकूल मानकर ही मैने यह बात कही है।

इधर कुछ वर्षो से मै जो खोज कर रहा हूँ उससे अनेक नवीन रागो को प्रकाश मे आने का अवसर मिलेगा। सगीत-शास्त्र के प्रति जो लोग छोटी-सी पूंजी की बात करते है उन्हे कदाचित् भविष्य मे शिकायत करने का मौका न मिलेगा। मेरा अनुमान है कि जिन सगीताचार्यो ने केवल सगीत-सबधी प्रचलित मतो को ही सब कुछ माना है उन्हे अवश्य आश्चर्य होगा।

लोक-धुनो की विशेषताएँ

(क) साधारणतया लोक-धुने चार-पाच स्वरो मे सीमित है। क्वचित् धुनो मे ही छ स्वर मिलते है, जिनकी सख्या निश्चय ही बहुत कम है।

(ख) लोक-धुने लयबद्ध होती है। लय-सूचक कोई वाद्य लोक-धुन गाते समय न बजाया जाने के कारण ऐसा भास होता है कि केवल धुनो मे स्वर का महत्त्व है, परन्तु अधिक ध्यान दिया जाय तो लय स्पष्ट दिखाई देती है। नृत्य के साथ जो धुने गाई जाती है उनमे लय ढोलक की सगति के कारण स्पष्ट व्यक्त होता है। आश्चर्य की बात यह है कि लय के अनेक प्रकार लोक-धुनो मे मिलते है। समान भाग की लय, जो कि सरल होती है और क्लिष्ट विभाजन की लय जिसके हिस्से समान नही होते है, ऐसे दोनो ही प्रकार लोक-धुनो मे पाये जाते है। शास्त्रीय सगीत मे भी दोनो प्रकार के ताल है।

(ग) लोक-धुनो के स्वर समय के अनुरूप होते है। प्रात काल, मध्याह्न, सायकाल और रात्रि के अनुसार स्वर-साम्य लोक-धुनो मे स्वाभाविक है। शास्त्रोक्त सगीत मे यह अत्यन्त महत्त्व का विषय समझा गया और रागो का समय-विभाजन उनके स्वरो के अनुसार किया गया है।

(घ) लोक-धुन प्राय सरल होते है। परन्तु किसी किसी धुन मे रागो का सम्मिश्रण भी मिलता है। जैसे कि शास्त्रोक्त सगीत मे अनेक रागो के सम्मिश्रण से मिश्र